गृह्य-मन्त्र और उनका विनियोग

डॉ॰ कृष्णलाल

अध्यक्ष, सस्कृत विभाग

प॰ गि॰ दयानन्द एग्लो वैदिक कॉलेज

नई दिल्ली

••

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

मूल्य चालीस रुपये
प्रथम संस्करण सं० २ २७ (१९७)



प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२/३५ अन्सारी रोड दरियागंज दिल्ली ६

मुद्रक राधा प्रेस दिल्ली ३१

पूज्या माँ को

प्राक्कथन

डा० कृष्णलाल-रचित 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन से सभी वेदाध्यायियों को सामान्यतया और मुझे विशेषतया हर्ष का अनुभव हो रहा है, क्योंकि डा० कृष्णलाल ने लगभग चौदह वर्षों के अनथक तथा धैर्यपूर्ण अनुसन्धान द्वारा गृह्यमन्त्रों से सम्बद्ध उन जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है जो 'इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज' के निर्माण के समय मेरे सामने उपस्थित हुईं और जिन्हें वैदिक कल्पसूत्रों के सभी विद्यार्थी चिरकाल से अनुभव करते रहे हैं। यह सुविदित है कि गृह्य तथा श्रौतसूत्रों का समस्त क्रिया-कलाप विशेष मन्त्रों के विनियोग से जुटा हुआ है। उन में से कुछ मन्त्र वर्तमान वैदिक संहिताओं से लिये गये हैं, जब कि शेष मन्त्र ब्राह्मणों, आरण्यकों, मन्त्रसंग्रहों इत्यादि में मिलते हैं। सम्भवतः इनमें से कतिपय मन्त्र उत्सन्न वैदिक शाखाओं से लिये गये होंगे। इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं। सूत्रकारों ने गृह्य कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों का चयन कहाँ-कहाँ से किस आधार पर किया होगा? एक ही स्रोत से लिये गये समान मन्त्रों में इतने पाठ-भेद क्यों हैं? समान गृह्यकर्म के लिये सूत्रों में विभिन्न मन्त्रों का विनियोग क्यों मिलता है और एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यकर्मों में क्यों विनियुक्त किया गया है? गृह्यमन्त्रों से सम्बद्ध इन सभी समस्याओं पर डा० कृष्णलाल ने प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति से सूक्ष्म और विशद विवेचन किया है। पन्द्रह अध्यायों में लगभग सभी प्रमुख गृह्यकर्मों से सम्बद्ध एक सहस्र से ऊपर गृह्यमन्त्रों का विवेचन किया गया है। डा० कृष्णलाल के इस सूक्ष्म अन्वेषण से प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति के विकास की (तथा कुछ अंशों में ह्रास की भी) एक महत्त्वपूर्ण स्थिति का परिचय मिलता है। एक ओर तो वैदिक मन्त्रों के प्रति इतनी अगाध आस्था थी कि उनके उच्चारणमात्र को सब सिद्धियों तथा सफलताओं का मूल आधार माना जाता था। दूसरी ओर उन मन्त्रों के अर्थज्ञान तथा पाठशुद्धि पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकाण्ड के आधिक्य ने अर्थज्ञान के पक्ष को दुर्बल कर दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से पाठक को उस काल के कर्मकाण्ड का भी यथेष्ट ज्ञान होगा।

डा० कृष्णलाल का ग्रन्थ वैदिक साहित्य तथा धर्म-परम्पराओं के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ का अपना स्वतन्त्र तथा मौलिक

महत्त्व तो है ही। इसके साथ-साथ यह ब्लूमफील्ड के 'वैदिक कान्कार्डेन्स' का भी कुछ अंशों में पूरक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिस अन्वेषण-परम्परा का सूत्रपात किया गया है उसे श्रौतसूत्रादि अन्य ग्रन्थों में विनियुक्त मन्त्रों के अध्ययन में लागू करने की महती आवश्यकता है।

डा० कृष्णलाल का यह श्लाघ्य प्रयास सर्वथा सराहनीय है और वैदिक अनुसन्धान के इतिहास में यह ग्रन्थ सर्वदा एक महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक उपक्रम का प्रतीक माना जायगा। इस प्रशंसनीय शोध-कृति के लिये डा० कृष्णलाल सभी वैदिक अन्वेषकों की हार्दिक बधाई के सुयोग्य पात्र हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि डा० कृष्णलाल इस शोधकार्य को इसी प्रकार आगे बढ़ाते हुए वैदिक ऋषियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते रहेंगे और वैदिक अध्ययन की पावन परम्परा को जीवित रखेंगे।

—रामगोपाल

रीडर संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़।
१५ अप्रैल १९७

भूमिका

सत्यान्वेषण का क्षेत्र कभी सीमित नहीं हो सकता। गृह्य मन्त्रों के अध्ययन का बहुविध महत्त्व है। इस अध्ययन की सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमे विभिन्न गृह्य और श्रौत कर्मों मे मन्त्रविनियोग के पीछे कर्मकाण्डियो की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है। इससे समग्र वैदिक साहित्य मे मन्त्र विनियोग का इतिहास बनता है। विभिन्न ग्रन्थो में वेदमन्त्रो के पाठान्तरो का अध्ययन वेद की व्याख्या के निमित्त भी महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रविनियोग के अध्ययन मे श्रौत और गृह्य कर्मकाण्ड का परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है। इससे यह स्पष्ट है कि गृह्य कर्मकाण्ड की विभिन्न क्रियाओ के विश्लेषण से गृह्यमन्त्रो का अध्ययन किसी प्रकार कम महत्त्व का नही है।

इस विषय पर अब तक जो थोडा कार्य हुआ है, उसमे 'ऋग्वेद-मन्त्रज इन दी गृह्यसूत्रज' नामक फेय् की कृति केवल छः के लगभग गृह्यसूत्रो के ऋग्वेदीय मन्त्रों तक सीमित है। डॉ० आप्टे की दो लघु पुस्तको (दे० सहायक ग्रन्थो की सूची) का सम्बन्ध केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र के मन्त्रो से है। डॉ० पिल्ले ने केवल विवाह-संस्कार के ऋग्वेदेतर मन्त्रो के विनियोग का विवेचन किया है। परन्तु इस समय मुद्रितरूप मे प्राप्य सभी गृह्यसूत्रो द्वारा सभी प्रमुख गृह्यकर्मो मे विनियुक्त गृह्यमन्त्रो का विस्तृत और तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नही किया गया है। इस ग्रन्थ मे ऐसे ही अध्ययन का प्रयास किया गया है। यहाँ गृह्यमन्त्र शब्द गृह्यसूत्रो द्वारा विभिन्न कर्मों मे विनियुक्त सभी पद्यात्मक और गद्यात्मक मन्त्रो के लिये प्रयुक्त किया गया है। केवल देवनाम के चतुर्थ्यन्त रूप के आगे स्वाहा जोडकर बनाये जाने वाले मन्त्रो को छोड दिया है क्योकि उनसे न तो कोई पाठसम्बन्धी और न ही कर्मसम्बन्धी समस्या उत्पन्न होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग ११०० मन्त्रो का विविध दृष्टियो से विवेचन किया गया है। यदि इनमे पाठान्तरो की भी गणना की जाये तो यह संख्या चौगुनी हो जायेगी। मन्त्रो की उपर्युक्त संख्या मे वे मन्त्रसमूह, सूक्त अथवा अनुवाक भी सम्मिलित नही हैं जिनका पूर्ण पाठ न देकर केवल आद्य शब्द दे दिये गये है। यथासम्भव इन सभी मन्त्रो के आदिस्रोत जानने का प्रयत्न किया गया है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समस्त प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य यथा संहिताओ, ब्राह्मणो,

आरण्यकों और श्रौत सूत्रों का यथेष्ट उपयोग किया गया है । इस प्रकार विवेचित मन्त्रों का सम्पूर्ण इतिहास यहा प्राप्त होता है । इसके आधार पर ही यहाँ गृह्यसूत्रों तथा अन्य ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध की झाँकी भी मिलती है । कहीं कहीं यह देखने मे आता है कि एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यसूत्रो मे ही नहीं अपितु एक ही गृह्यसूत्र मे भी विभिन्न कर्मों में विनियुक्त हुआ है । अत मन्त्रो के इस प्रकार के बहुविध प्रयोग का सम्भव आधार बताने का प्रयत्न भी किया गया है । कुछ स्थलो पर प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे से उद्धृत मन्त्रो का विनियोग मन्त्र के केवल एक शब्द की ध्वनि के आधार पर किया गया है । इससे मन्त्रो और कर्मों के ऊपरी सम्बन्ध का सकेत मिलता है । इस प्रकार के ऊपरी विनियोगो का कारण जानने का प्रयास भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है । इस अध्ययन के परिणामस्वरूप स्वत एव यह ज्ञात होता है कि गृह्यसूत्र मन्त्रो के उद्धरण के विषय म अपने वेद की विशिष्ट शाखा पर किस सीमा तक निर्भर रहे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे न केवल विभिन्न गृह्यसूत्रो के अपितु सहिताओ ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो के मन्त्रो के पाठान्तरो का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । इन पाठान्तरो क कारण ढूढने का प्रयास भी किया गया है । मैने यह जानने का प्रयत्न भी किया है कि गृह्यसूत्रो मे केवल अपनी शाखा की सहिता से उद्धृत मन्त्रों के पाठ ही स्वेच्छापूर्वक परिवर्तित किये गए हैं या इतर सहिताओ से उद्धृत मन्त्रपाठ भी ? यहा यह उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा कि अथर्ववेद के मन्त्रों के पाठ गृह्यसूत्रो म शाखा निरपेक्ष रूप से स्वेच्छापूर्वक तथा पौन-पुन्येन परिवर्तित किये गये हैं । इस प्रसग म यह भी ध्यान देने योग्य है कि सहिता-मन्त्रो के गृह्यसूत्रो मे प्राप्त पाठान्तर सदैव अधिक अच्छे नही होते । इसके विपरीत उनसे बहुधा मूल मन्त्रों का भाव एव छन्द भी विकृत हो जाता है । गृह्यसूत्रो मे मन्त्र स्वराकित नही हैं अत मैने भी इस ग्रन्थ म मन्त्रो के स्वरो को अंकित नही किया है ।

पाठान्तरो से ही सम्बद्ध समस्या मन्त्रो के अर्थ की भी है क्योंकि पाठभेद से अर्थभेद होना स्वाभाविक है । यद्यपि मन्त्रों का अर्थ अपने आप मे एक बृहती और जटिल समस्या है तथापि इस ग्रन्थ के विनियोगसम्बद्ध होने के कारण उनका केवल विनियोग-परक अर्थ देकर मैंने सतोष किया है । जहाँ कहीं किसी अन्य विद्वान् का मन्तव्य उद्धृत किया है वहाँ अन्त म उसका नामसकेत है । मन्त्र उद्धृत करने में प्राय उनके प्राचीनतम स्रोत या सुस्पष्ट विनियोग को प्रमुखता प्राप्त हुई है ।

मनुष्य इस ससार मे कोई भी कार्य नितान्त एकाकी होकर नही कर सकता ।

किसी न किसी रूप में उसे समाज के सभी वर्गों से या तो सहायता स्वत मिलती है, या लेनी पडती है। इस ग्रन्थ के प्रणयन मे भी जिन प्राचीन ऋषियो तथा आधुनिक विद्वानो की कृतियाँ सहायक सिद्ध हुई हैं उनके प्रति आभार प्रदर्शन मेरा पवित्र कर्तव्य है। इनमे से आधारभूत ग्रन्थो की सूची सक्षेप-सहित प्रारम्भ मे, और सहायक ग्रन्थो की सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है।

और गुरु के मार्गदर्शन के अभाव में तो सारा ज्ञान निरर्थक हो जाता है। पजाब विश्वविद्यालय मे सस्कृत-विभाग के रीडर डॉ० राम गोपाल जी से मैंने बी ए ऑनज और एम ए मे ही शिक्षा प्राप्त नही की, अपितु वे इस शोधकार्य मे दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से मेरे निरीक्षक भी थे।* वस्तुत यह शोधकार्य उनकी सत्प्रेरणा का ही फल है। उन्होने ही मुझमे अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न की। उनकी सत्यपरता और उनके कर्मठ व्यक्तित्व ने सदैव मेरा पथप्रदर्शन किया है। उनके व्यक्तिगत निर्बाध मार्गदर्शन के अतिरिक्त मैंने बार-बार उनके ग्रन्थ 'इडिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्रज' से दिशासकेत प्राप्त किया है। और अब इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर उन्होने मुझ पर दोहरा अनुग्रह किया है। ऐसे पूज्य उदात्त गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं स्वय को धन्य मानता हूँ।

इसके साथ ही अपने दिवगत गुरु श्री महेन्द्र कुमार सरकार का नामस्मरण मेरे लिये अपरिहार्य हो जाता है। उन्होने ही महर्षियो की इस देववाणी के अध्ययनार्थ मुझे प्रेरित किया। परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे एम ए के अध्ययन के मध्य ही उनका स्वर्गवास हो गया। उस पुण्यात्मा से आंशिक शिक्षा प्राप्त करके भी मैं अपने आप को कृतकृत्य समझता हूँ।

इस पुस्तक के लेखन और मुद्रण के समय मेरी पत्नी श्रीमती शशिप्रभा ने विद्यालय की सेवा करते-करते जो गार्हस्थ्य का अतिरिक्त भारवहन किया है और मुद्रणार्थ जो विपुल धनराशि व्यय करने की अनुमति दी है, उससे उनका भारतीय नारी का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है।

---

* प्रस्तुत पुस्तक दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पीएच डी की उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबन्ध 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी गृह्यमन्त्रज विद स्पेशल रेफरेंस टु देयर रिचुअल एप्लिकेशन' पर आधारित है।

पुस्तक के मुद्रणार्थ आवश्यक और हितकर सुझाव देने के लिये अपने हितैषी मित्र श्री भीमसेन शास्त्री का विविध सहायताओं के लिये अपने सहपाठी श्री विश्व मोहन का और ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने म सहायता के लिये श्री प्रह्लादकुमार का धन्यवाद करते हुए मुझे अवर्णनीय सुख का अनुभव होता है।

शोधकार्य म जो सहायता मुझे दिल्लीविश्वविद्यालय हसराज कालेज और प गि द ए व कालेज के पुस्तकालयों से प्राप्त हुई उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मुद्रणकार्य म जो सुविधायें मुझे राधाप्रेस के स्वामी श्री व्यासनन्दन जी से प्राप्त हुई वे उनकी धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप ही हैं। इस पुस्तक का अक्षरयोजन करने वाले सभी कर्मचारी और विशेषरूप से उनके अग्रणी श्री तिलकराज जी मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इस पुस्तक का अक्षरयोजन विशेषतया प्रयत्नसाध्य था।

विद्वान् पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे मुझे पुस्तक के दोष और त्रुटियों से अवगत कराने का कष्ट कर।

—कृष्णलाल

क्रम

आधारग्रन्थ
(नामसंक्षेपसहित)

क संहिताएं

अथर्व —अथर्ववेद शौनकसंहिता स सातवलेकर।
अथर्व प —अथर्ववेद पप्पलाद संहिता स रघुवीर लाहौर १९३६।
ऋ —ऋग्वेद शाकलसंहिता स मैक्स म्यूलर १८६१ ६२।
स सातवलेकर, औंध १९४ ।
कपि स —कपिष्ठलकठ संहिता स रघुवीर लाहौर १९१२।
का० सं —काठकसंहिता स सातवलेकर।
जै० सं —जैमिनीय संहिता स कलड ब ठर्लों १९०७।
तै० स —तैत्तिरीय संहिता स सातवलेकर।
मै सं —मैत्रायणी संहिता सं सातवलेकर।
वा० स —वाजसनेयी संहिता स सातवलेकर पारडी १९५७।
साम —सामवेदसंहिता स सातवलेकर पारडी १९५६।

ख ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्

ऐ० ब्रा —ऐतरेय ब्राह्मण स औफ क्त बॉन १८७९।
ऐ आ —ऐतरेय आरण्यक स ए बी कीथ ऑक्सफोर्ड १९ ९।
कौ ब्रा —कौषीतकि ब्राह्मण स बी लिण्डनर येना १८८७।
गो ब्रा —गोपथ ब्राह्मण स डी गास्त्रा लीडन १९१९।
जै ब्रा —जैमनीय ब्राह्मण स लोकेशचन्द्र नागपुर १९५ ।
ताण्ड्य ब्रा या प ब्रा —ताण्ड्यमहाब्राह्मण या पञ्चविंशब्राह्मण स ए चिन्न स्वामी शास्त्री वाराणसी १९३५।
तै आ —तैत्तिरीय आरण्यक पूना।
तै ब्रा —तैत्तिरीय ब्राह्मण पूना।
बृ उ —बृहदारण्यक उपनिषद् गीताप्रेस गोरखपुर स २ १२।
श० ब्रा —शतपथ ब्राह्मण स चन्द्रधर शर्मा काशी स १९९४ ९७।
ष ब्रा —षड्विंश ब्राह्मण स एच एफ ईलसिंह लीडन १९ ८।
साम ब्रा —सामविधान ब्राह्मण ए सी बर्नेल लन्दन १८७३।

ग. श्रौतसूत्र

आ० श्रौ० —आश्वलायन श्रौतसूत्र स गणेश शास्त्री, पूना, १९१७ ।

आप० श्रौ० —आपस्तम्ब श्रौतसूत्र स आर गार्बे, १८८२-१९०२ ।
जर्मन अनुवाद, कैलेंड, गोटिंगन, १९२१, एम्स्टर्डम, १९२४, २८ ।

का० श्रौ० —कात्यायन श्रौतसूत्र स विद्याधर शर्मा, वाराणसी, स० १९८७ ।

बौ०श्रौ० —बौधायन श्रौतसूत्र स कैलेंड, १९०४-२३ ।

भा० श्रौ० —भारद्वाज श्रौतसूत्र वैदिकसशोधन मण्डल, पूना ।

मा० श्रौ० —मानवश्रौतसूत्र स गेल्डर, नई दिल्ली, १९६१ ।
उसी लेखक द्वारा आग्लानुवाद, नई दिल्ली, १९६३ ।

ला० श्रौ० —लाटयायन श्रौतसूत्र स आनन्द चन्द्र, कलकत्ता, १८७२ ।

वै० श्रौ० —वैखानस श्रौतसूत्र स कैलेंड, कलकत्ता, १९४१ ।

वैतान० —वैतानसूत्र स तथा जर्मन अनुवाद, आर गार्बे, लन्दन, स्ट्रास्बर्ग, १८७८ ।

शां० श्रौ० —शांखायन श्रौतसूत्र स ए हिल्लेब्रांट, कलकत्ता, १८८६-८९ ।
आग्लानुवाद, कैलेंड, नागपुर, १९५३ ।

घ गृह्यसूत्र

आ० गृ० —आश्वलायन गृह्यसूत्र (नारायण भाष्य) स. वी एस एस रानाडे, पूना, १९३६ ।
(जर्मन-अनुवाद-सहित) स. ए एफ स्तेन्त्ज्लर, लीप्त्सिग, १८६४ ।
(हरदत्तभाष्य-सहित) स टी गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२३ ।
आग्लानुवाद—एच ओल्डनबर्ग, से बु ई, ऑक्स्फोर्ड, १८८६ ।

आग्नि० गृ०—आग्निवेश्य गृह्यसूत्र, स एल ए रवि वर्मन्, त्रिवेन्द्रम्, १९४० ।

आप० गृ० —आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, स एम विन्तरनित्ज, विएना, १८८७ ।
(हरदत्त-सुदर्शनाचार्य-भाष्यसहित), स चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, १९२८ ।
आग्लानुवाद—एच ओल्डनबर्ग, से बु ई, ऑक्स्फोर्ड, १८९२ ।

का० गृ० —काठकगृह्यसूत्र, स कैलेंड, लाहौर, १९२५ ।

कौ० गृ० —कौषीतकि गृह्यसूत्र (प वासुदेवकृत साख्यायन गृह्यसग्रह सहित), स रत्नगोपाल भट्ट, वाराणसी, १९०८ ।
कौषीतक गृह्यसूत्र, स टी आर चिन्तामणि, मद्रास, १९४४ ।

कौशिक —कौशिकसूत्र (अथर्ववेदीय) स एम ब्लूमफील्ड न्यू हेवन १८९० ।
खा गृ —खादिर गृह्यसूत्र स ए महादेव शास्त्री और श्रीनिवासाचार्य मसूर १९१३ ।
आंग्लानुवाद—एच ओल्डनबर्ग से बु ई ऑक्सफोर्ड १८८६ ।
गो० गृ —गोभिल गृह्यसूत्र (भट्टनारायण भाष्यसहित) स चिन्तामणि भट्टाचार्य कलकत्ता, १९३६ ।
(जर्मन अनुवाद-सहित) सं एफ क्नॉअर डोर्पाट १८८४ ८६ ।
आंग्लानुवाद—एच ओल्डनबर्ग से बु ई ऑक्सफोर्ड १८९२ ।
ज गृ —जैमिनि गृह्यसूत्र (आंग्लानुवादसहित) स कलैंड लाहौर १९२२ ।
द्रा गृ —द्राह्यायण गृह्यसूत्र (हिन्दी-अनुवादसहित) स ठा उदय नारायण सिंह मुजफ्फरपुर १९३४ ।
पा० गृ —पारस्कर गृह्यसूत्र (पञ्चभाष्योपेत) स महादेव गंगाधर बक बम्बई, १९१७ ।
(जर्मन अनुवाद सहित) सं ए एफ स्तेञ्जलर १८७६ ७८ ।
आंग्लानुवाद—एच ओल्डनबर्ग से बु ई ऑक्सफोर्ड १८८६ ।
बौ गृ —बोधायन अथवा बौधायन गृह्यसूत्र स आर शाम शास्त्री मसूर १९२ ।
भा गृ —भारद्वाज गृह्यसूत्र स जे डब्लू सलोमोन्स लीडन १९१३ ।
मा गृ —मानवगृह्यसूत्र (अष्टावक्रभाष्योपेत) स रामकृष्ण हर्ष जी शास्त्री बड़ोदा १९२६ ।
स एफ क्नॉअर सेंट पीटर्सबर्ग १८९७ ।
आंग्लानुवाद—एम जे ड्रेस्डन, बटाविया १९४१ ।
लौ गृ —लौगाक्षिगृह्यसूत्र (देवपालभाष्योपेत) स मधुसूदन कौल शास्त्री, श्रीनगर १९२८ १९३४ ।
वा गृ —वाराह गृह्यसूत्र स रघुवीर लाहौर १९३२ ।
स आर शाम शास्त्री बड़ोदा १९२ ।
वै गृ —वैखानस गृह्यसूत्र स कैलैंड कलकत्ता १९२७ ।
आंग्लानुवाद—कैलैंड कलकत्ता १९२९ ।
शां गृ —शाङ्खायन गृह्यसूत्र (जर्मन अनुवाद सहित) एच ओल्डनबर्ग लीप्जिग १८७८ ।
सं सीताराम सहगल नई दिल्ली १९६ ।
आंग्लानुवाद—ओल्डनबर्ग से बु ई ऑक्सफोर्ड १८८६ ।

अन्य संक्षेप

इ० व०कल्प —इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्रज।
इ० स्टू —इण्डिशे स्टूडियन।
ओ० व० —ओल्डनबर्ग।
गु० वि० —गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रब्राह्मण—भाष्यकार)।
ज० रा० —जयराम (पारस्कर गृह्यसूत्र—भाष्यकार)।
तु० —तुलना कीजिये।
दे० —देखिये।
दे० पा० —देवपाल (काठकगृह्यसूत्र भाष्यकार)
पा० टि० —पादटिप्पणी।
प्रि० र० —प्रियरत्न (लेखक पमपितृपरिचय)।
भू० —भूमिका।
वि० ई० ज० —विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल।
वै० इ० —वैदिक इण्डेक्स।
वै० कॉन्० —वैदिक कॉन्कॉर्डेंस।
वै० प्रा०स्टू० —वैदिक प्राइमर फॉर स्टूडेंट्स।
सं० वि० —संस्कारविधि।
से० बु०ई० —सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट।
स्वा० द० —स्वामी दयानन्द।
ह० मि० —हरदत्त मिश्र।

विद्ययैवाप्यस्ति प्रीतिस्तदेतत्पश्यन्नृषिरुवाच—

प्रगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्य वच ।
घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥
(ऋ० ८।२४।२०)

इति वच एव म इद घृताच्च मधुनश्च स्वादीयोऽस्ति प्रीति स्वादीयोऽस्त्वित्येव तदाह ।

प्रा ते प्रग्न ऋचा हविर्हृदा तष्ट भरामसि ।
ते ते भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत ॥
(ऋ० ६।१६।४७)

इति एत एव म उक्षाणश्च ऋषभाश्च वशाश्च भवन्ति । य इम स्वाध्यायमधीयत इति यो नमसा स्वध्वर इति नमस्कारेण वै खल्वपि, न वै देवा नमस्कारमति, यज्ञो वै नम इति हि ब्राह्मण भवति ॥
(श्रा० गृ० १।१।५)

प्रथम अध्याय

मन्त्र-विनियोग

यास्क (नि० ७।१२-मन्त्रा मननात्) तथा अन्य विद्वानो के द्वारा मन् धातु से निरुक्त शब्द मन्त्र सर्वप्रथम ऋग्वेद मे अनेक अर्थों मे आया है यथा पवित्र वाणी, प्रार्थना, स्तुति-गान, मन्त्रणा, योजना, यज्ञ-शपथ इत्यादि। परन्तु ऋग्वेद मे मन्त्र शब्द का सर्व-प्रमुख भाव ऋषियो द्वारा विरचित प्रार्थना अथवा स्तुति है। इस अर्थ मे मन्त्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे एक दर्जन से अधिक सन्दर्भों मे हुआ है (दे० ग्रासमैन, वोर्तरबुख त्सुम ऋग्वेद)। क्योकि समस्त वैदिक और वैदिकोत्तर वाङ्मय के विपुल भाण्डार मे मन्त्र शब्द के इतिहास और प्रयोग का सुविस्तृत अन्वीक्षण करना प्रस्तुत प्रबन्ध के क्षेत्र से बाहर का विषय है, अत यहा हमारे विमर्श का सम्बन्ध केवल मन्त्रो के यज्ञपरक प्रयोग और उनके विनियोग की विभिन्न अवस्थाओ से ही होगा।

जहा तक यज्ञो मे मन्त्रो के प्रथम विनियोग का प्रश्न है, यह सकेत करना उचित होगा कि वह (विनियोग) ऋषियो द्वारा देवताओ की प्रार्थना एव स्तुति के रूप मे उनके प्रथम उच्चारण मे ही अन्तर्निहित था, क्योकि यदि यज्ञ से हमारा अभिप्राय किसी भी रूप मे देवताओ की पूजा हो तो उसका प्राचीनतम रूप प्रार्थनाओ का उच्चारण मात्र रहा होगा। जब मानव को वाणी की उपलब्धि हुई और उसने अपने चारों ओर प्रकृति के चमत्कारो का अवलोकन किया तभी उसने उन शक्तियो के प्रति प्रार्थनाओं का उच्चारण किया होगा जो उसकी नियति की नियामक थी और जो उसके नियन्त्रण तथा अवबोध से परे थी। प्रथम मन्त्र अथवा प्रार्थना का स्रोत सभ्यता के उप काल मे इस प्रकार के प्राचीनतम उद्गारो मे ढूढा जा सकता है। वाक्-शक्ति और चिन्तन-शक्ति के विकास के साथ ही साथ प्रार्थनाए भी आकार मे बढने लगी। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स (खण्ड-१०) मे आदिम-प्रार्थना की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है— "अपने साधारणतम तथा आदिमतम रूप मे प्रार्थना किसी अतिमानुष समझी जाने वाली शक्ति को प्रभावित करने के लिये अभ्यर्थना-रूप मे उपनिबद्ध अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।"

यद्यपि यह निश्चय करना कठिन है कि भारोपीय लोगो के पूर्वजो ने सर्वप्रथम अपने देवी देवताओ के प्रति प्रार्थनाओ का उच्चारण कब प्रारम्भ किया विभिन्न देवताओं के नामो मे तथा कुछ धर्मकृत्यो और प्रथाओ मे आकर्षक समानता इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल मे अवश्य ही किसी प्रकार की उपासना का अस्तित्व रहा होगा। उदाहरणार्थ वेद के द्यौ और द्यौष्पितर् तथा ग्रीक और रोमन ज़ीयस और जुपीटर आकाश अथवा आकाश पिता के भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार वैदिक देवता वरुण का नाम भी ग्रीक औरेनोस का सजातीय है। वैदिक देवता उषस ग्रीक एओस के समान है।[1] जहाँ तक धार्मिक कृत्यो और प्रथाओ का सम्बन्ध है भारतीयो मे प्रचलित पाणिग्रहण कर्म अर्थात् वधू का हाथ पकड़ने का कर्म और प्राचीन रोम के लोगो मे डेक्सट्रम जंक्शो प्रथा बहुत समान हैं। इसी प्रकार विवाह के समय वर-वधू द्वारा अग्नि की परिक्रमा का कर्म शिखा विमोचन कर्म अर्थात् वधू की वेणी को खोलने का कर्म और सप्तपदीकर्म अर्थात् वर वधू दोनो का एक साथ सात पद चलना यह सभी कर्म भी अन्य भारोपीय परिवार की जातियो मे किसी न किसी रूप मे विद्यमान हैं।[2] यह बहुत सम्भव है कि इन कर्मों के साथ साथ विशिष्ट प्रार्थनाओ का उच्चारण होता होगा। ईसापूर्व चतुर्दश शताब्दी के प्रारम्भ मे घोषित हिटाइट और मितन्नी राजाओ के मध्य की संधियो मे मित्र वरुण इन्द्र और नासत्यौ जैसे वैदिक देवताओ की स्तुति भी भारोपीय परिवार की जातियो मे प्रार्थनाओ के द्वारा देवताओ की पूजा को प्रमाणित करती है।[3]

अवेस्ता और वेद के देव-शास्त्र तथा कर्मकाण्ड की समानताओ से स्पष्ट पता चलता है कि भारतीयो और ईरानियो के पृथक होने से बहुत पूर्व ही मन्त्रोच्चारण से युक्त यज्ञ-कर्मों का पूर्ण विकास हो चुका था। अधिकतर देवताओ आदि के नाम समान हैं यदि कोई भेद है तो वह केवल ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी है, यथा वैदिक सोम—अवेस्ता हओम वैदिक मित्र—अवेस्ता मिथ्र वैदिक यम—अवेस्ता यिमा वैदिक यज्ञ—अवेस्ता यस्न वैदिक होतर—अवेस्ता ज़ओतर् आदि। यह समानता केवल देवताओ पुरोहितो और कर्मों के नामो तक ही सीमित नही है अपितु कुछ अवेस्ता गाथाएं भी वैदिक मन्त्रो के समान हैं और यदि एक दो स्थलों पर कुछ ध्वनि-परिवर्तन कर दिये जायें तो ठीक उन जैसा ही उनका पाठ हो

---

१ हिन्दुइज़्म (मोनियर विलियम्स) पृष्ठ १५ १७

२ इ स्ट्ड वॉ ५ पृ २७७-३२१ आल्ट० हौस० पृ ४६ ५३

३ हि० आ इ लि खण्ड १ पृ० ३ ४ (विंटरनित्स)

जायगा। उदाहरणार्थ अवेस्ता की अधोलिखित गाथा प्रासङ्गिक ध्वनि-परिवर्तनों में ठीक वैदिक मन्त्र के समान प्रतीत होगी —

"यो यथा पुथ्र तउरुन हओम वन्दएते मस्यो फ्र
आव्यो तनुब्यो हओम विसऐते वएसजे ॥"
यो यथा पुत्र तरुण सोम वन्दते मर्त्य प्र
आस्यस्तनुभ्य सोमो विशते भेषजाय ॥ [१]

रोम की प्राचीन संस्कृति में भी प्रार्थनाओं, आहुतियों, पशुबलि आदि जैसे तत्त्वों का पता चलता है। प्रार्थना अथवा कर्म की शुद्धता का पूरा ध्यान रखा जाता था क्योंकि ऐसा न होने पर अपेक्षित फल की प्राप्ति में बाधा होती थी। आगे चल कर स्तोत्र इतने रूढ हो गये कि पुरोहित उनका अर्थ समझे बिना भी उनका उच्चारण करता था।[1]

ऋग्वेद में एक स्थान पर होता, पोता, नेष्टा, अग्निध्, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, इन सात पुरोहितों का नामोल्लेख हुआ है।[2] एक अन्य स्थान पर होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, इन चार प्रमुख पुरोहितों के कार्यों का भी उल्लेख किया गया है। और उससे यह स्पष्ट है कि यज्ञ में होता ऋचाओं का पाठ किया करता था और उद्गाता सामगान किया करता था।[3] पारिभाषिक शब्दावली में इन मन्त्रों को शस्त्रों की संज्ञा दी गई है।[4] निम्नलिखित वाक्यों में भी यह बात प्रकट होती है कि ऋग्वेदकाल में यज्ञों में मन्त्रों का प्रयोग होता था —

बृहद्वदेम विदथे सुवीरा (ऋ० २।१।१६ आदि) [३]
स होता यस्य रोदसी चिदुर्वी यज्ञं यज्ञमभिवृधे गृणीत ॥(ऋ० ३।६।१०)[४]

इससे इस बात की पुष्टि होती है कि होता का कर्म प्रत्येक यज्ञ में (यज्ञं यज्ञम्) मन्त्रों का उच्चारण (गृणीत) था। आगे चलकर केवल ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण

---

१ दि रोमन्ज, पृ० १५, १७

२ तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायत ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ [२]
(ऋ० २।१।२)

३ ऋचां त्व पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्व ॥ [५]
(ऋ० १०।७१।११)

४ वैदिक इण्डेक्स ख० २, पृ० ५०८।

होता के लिए निर्धारित कर दिया गया।[1] यास्क भी इस बात को स्वीकार करता है कि संहिताओं के मन्त्र स्वयं अपने विनियोग की बात कहते हैं। इस सम्बन्ध में वह एक ब्राह्मण का सन्दर्भ (गो ब्रा २।६ ऐ ब्रा० १।१३।२८) उद्धृत करता है। उसका अर्थ इस प्रकार है— निश्चय ही यह यज्ञ की पूर्णता है कि उसके रूप की पूर्णता अर्थात् उसमें किये जाने वाले कर्म का संकेत ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद का मन्त्र ही कर देता है।[2] इस सन्दर्भ के उदाहरणस्वरूप वह ऋ (१।८५।४२) के क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि को उद्धृत करता है।

शा गृ १।१६।१२ में विधान है कि इस मन्त्र से लेकर शेष सूक्त के द्वारा वधू को वर के बन्धु-बान्धव घर में प्रविष्ट कराते हैं। आप गृ २।८।१ (म पा १।८।८) के अनुसार गृहप्रवेश के अवसर पर वर-वधू द्वारा अर्पित की जाने वाली आहुतियों में इसका विनियोग है।

श्रौत यज्ञों में मन्त्र विनियोग की यह परम्परा परवर्ती संहिताओं ब्राह्मणों और सूत्रों में निर्बाध चलती रही है। यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद के सारे मन्त्र मूल रूप में यज्ञों में विनियोग के लिए रचे गये थे अथवा श्रौत यज्ञों के विकास के कारण परवर्ती काल में यज्ञों में मन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। यद्यपि सायण जैसे भारतीय भाष्यकारों ने ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग दिखाने का प्रयत्न किया है तथापि ऋग्वेद के मन्त्र इस बात की पुष्टि नहीं करते कि उन सबकी रचना यज्ञों में उनके प्रयोग के आधार पर हुई। ऋग्वेद में मन्त्रों का क्रम भी इस बात की पुष्टि करता है कि न तो उनकी रचना और न ही उनका संकलन यज्ञकर्म के उद्देश्य से हुआ क्योंकि मन्त्रों का क्रम किसी भी यज्ञ के कर्मों के अनुकूल नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यजुर्वेद के मन्त्रों का क्रम प्राय दर्शपौर्णमास अग्न्याधान आदि प्रमुख श्रौत यज्ञों के कर्मों के क्रम के अनुकूल ही है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में बहुत से ऋग्वेद के मन्त्रों को भी यज्ञों में विनियोग के अनुकूल ढाला गया है। ब्राह्मणों में भी बहुत से ऋग्वैदिक मन्त्रों का श्रौत यज्ञों में विनियोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि यजुर्वेद के मन्त्रों की रचना तथा संकलन मूल रूप में यज्ञों में विनियोग के उद्देश्य से हुए। अथर्ववेद के मन्त्र प्राय ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में वर्णित किसी भी महत्त्वपूर्ण श्रौत यज्ञ में विनियुक्त नहीं देखे जाते और इस सम्बन्ध में गो ब्रा और वैतानसूत्र को अधिक महत्त्वशाली

---

१ हि हि माइ पृ १२२।
२ नि १।१६—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्वा यजुर्वाभिवदति ॥

नहीं माना जा सकता जहाँ उन्ही आथर्वण मन्त्रो को विशेष श्रौत यज्ञो से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ दार्शनिक सूक्तो को छोडकर अथर्ववेद के मन्त्र प्रमुख रूप से गृह्य-कर्मों से ही सम्बद्ध है।

ब्राह्मणो मे यज्ञों मे ऐसे मन्त्रो का भी विनियोग प्राप्त होता है जो किसी भी उपलब्ध सहिता मे प्राप्य नही। यद्यपि श्रौत यज्ञो के वणन म प्राय श्रौतसूत्रो ने ब्राह्मणो का ही अनुसरण किया है तथापि उनमे उद्धृत बहुत से मन्त्र न तो किसी उपलब्ध सहिता मे और न ही ब्राह्मण म प्राप्त होते ह। यह बहुत सम्भव ह कि ये मन्त्र या तो ऐसी सहिताओ से लिये गये होगे जो अब विलुप्त हो गइ अथवा अन्य ऐसे स्रोतो से जिनका हमे ज्ञान नही। यह विश्वास करना कठिन है कि ब्राह्मणो या श्रौतसूत्रो के रचयिताओ ने स्वय उन मन्त्रो की रचना की। पूर्वमीमासा (२।१।३४) मे तो ऊहयुक्त मन्त्रो को भी वस्तुत मन्त्र नही माना गया—उन्ह केवल सहायक मन्त्र की सज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दो मे कल्पसूत्रो के मानव रचयिताओ द्वारा ऊह तक किये जाने पर भी मन्त्र का मन्त्रत्व नही रहता, फिर उन्ह पूर्ण मन्त्रो की रचना का तो अधिकार ही कैसे सम्भव है ?[1]

यज्ञपरक प्रविधि और पारिभाषिक शब्दावली मे गृह्यसूत्र ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो का अत्यधिक अनुसरण करते है और उनके समान ही अपनी अपनी शाखा की सहिताओ के मन्त्रो का विनियोग करते हैं। कुछ गृह्यकर्मों का भी सर्वप्रथम वणन ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रो मे हुआ है। उदाहरणार्थ उपनयन का वणन श० ब्रा० ११।३-५ तथा जातकम और पुसवन का वणन श० ब्रा० ४।३,५ मे हुआ है—और इन कर्मों के अनेकों मन्त्र गृह्यसूत्रो तथा ब्राह्मणो मे समान है। राजा के द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के प्रसङ्ग मे ऐ०ब्रा० ८।२७ मे मधुपर्क के समान एक कम का वणन हुआ है। और शा० श्रौ० ४।२१ ने तो मधुपर्क का ही वणन किया है। अत इस कर्म के भी बहुत से मन्त्र ऐ० ब्रा०, शा० श्रौ० और गृह्यसूत्रो मे समान है। आहिताग्नि के दाहकर्म का वणन सामान्यतया ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे किया ही गया है।[2] अत यह बहुत स्वाभाविक ही है कि गृह्यसूत्रो मे इन कर्मों के अधिकाश मन्त्र ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो के मन्त्रो के समान ही होगे। श्रौत और गृह्य कमकाण्ड के

---

१ पू० मी० २।१।३२—अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभाग स्यात् (रामेश्वर सूरिविरचिता जैमिनिसूत्रवृत्ति—अधिकरण ६) (पूर्वमीमासा इन इट्स सोर्सेज—म० म० गङ्गानाथझा पृ० ३४०)

२ वि० इ० ज० खण्ड १, अक २, पृ०२६१-२६८ (इन्फ्लुएस ऑफ दि ब्राह्मणज ऑन दि गृह्यसूत्रज—डा० रामगोपाल)

इन समान यज्ञों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सामान्य गौण कर्म भी हैं जो श्रौत और गृह्य यज्ञों में या तो वही हैं या समान हैं। परन्तु गृह्यसूत्र ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों से उन मन्त्रों के विषय में भिन्न हैं जो या तो अथर्व से उद्धृत हैं या ऐसे स्रोतों से लिये गये हैं जो उन (ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों) के द्वारा अस्पृष्ट रहे। गृह्यकर्मोंमें विनियुक्त ऋग्मन्त्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अवधारण नहीं किया जा सकता कि मूलरूप में उनकी रचना गृह्यकर्मों के लिये हुई थी। इस विषय में प्रतिष्ठित विद्वानों ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ ओल्डनबर्ग के मतानुसार ऋग्वेद काल में गृह्यकर्म उन काव्यात्मक वाक्यों के पाठ से सज्जित नहीं होते थे जिनसे वे आगे चलकर संयुक्त होने लगे। वह इस बात को स्वीकार करता है कि ऋग्वैदिक मन्त्रों का कुछ अंश निस्सन्देह उसी गृह्यकर्म के लिये विरचित सिद्ध होता है जिसमें गृह्यसूत्रों में उसका विनियोग हुआ है परन्तु ये मन्त्र ऋग्वेद के पुरातन अंशों से अधिक अर्वाचीन हैं। ओल्डनबर्ग ने छन्द सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर भी इन मन्त्रों का अर्वाचीन उद्भव सिद्ध करने का प्रयास किया है। दूसरी ओर विंटरनित्स के मतानुसार ऋग्वैदिक सूक्तों के रूप में उपलब्ध ब्राह्मणों का कृत्रिम काव्य और आथर्वण प्रथाओं तथा गृह्यकर्मों से सम्बद्ध अथर्ववेद संहिता में उपलब्ध लोककाव्य भिन्न प्रणालियों में बहने वाली उन दो धाराओं के समान है जो कभी तो एक दूसरे से मिल जाती हैं और कभी दूरान्तरवर्तिनी हो जाती हैं। विंटरनित्स के विचारों से सहमत डा० राम गोपाल ने यह मत अभिव्यक्त किया है— यह असम्भव नहीं है कि ऋग्वेद काल में गृह्यकर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर जिन मन्त्रों का उच्चारण होता था वे इतने सामान्य एवं प्रचलित थे कि असामान्य एवं दुर्लभ सूक्तों के सग्रहभूत ऋग्वेद में उनका समावेश आवश्यक नहीं समझा गया। हाँ विवाह और दाहकर्म से सम्बद्ध कुछ अत्युत्तम सूक्तों का समावेश दशम मण्डल में कर लिया गया जिसे अपनी विषय वस्तु के आधार पर विविध विषयों की सञ्चिति की संज्ञा दी जा सकती है। गृभ्णामि ते सौभगत्वाय इत्यादि तथा सुमङ्गलीरियं वधू इत्यादि जैसे मन्त्रों के वर्ण्य विषयों से प्रकट होता है कि इन मन्त्रों की रचना पाणिग्रहण और प्रेक्षकानुमन्त्रण कर्मों के लिये हुई और ऋग्वेद काल में इनका उच्चारण इन्हीं कर्मों पर होता था। कयू और आप्टे ने गृह्यकर्मों में विनियुक्त ऋग्वैदिक मन्त्रों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। कयू के अनुसार

---

१ से० बु० ई०, ख० ३० पृ० IX—XIV

२ मन्त्रपाठ भूमिका पृ० liv से।

३ ई० न० कल्प पृ० १६।

इन मन्त्रो को निम्नोक्त चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

१ प्रथम वर्ग मे 'मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता मात्र होती है और वह जिस अवसर पर विनियुक्त देखा जाता है उसके साथ साथ किसी भी कल्पनीय अवसर पर काम दे सकता है।'

२ द्वितीय वर्ग मे 'मन्त्र की विशेष विनियोगार्हता होती है।'

३ तृतीय वर्ग मे मन्त्रो 'का कर्म से लेशमात्र भी सम्बन्ध नही होता परन्तु केवल अकस्मात् सूत्र से सम्बद्ध किसी एक शब्द के मन्त्र मे आ जाने से उनको उक्त कर्म के साथ जोड दिया जाता है।'

४ चतुर्थ वर्ग मे 'कभी कोई मन्त्र किसी विश्वास के प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया जाता है—बहुत कुछ उसी प्रकार जैसे आजकल वैधानिक उद्धरण होते है अथवा बाइबल के सिद्धान्त सम्बन्धी अध्ययन मे प्रमाण ग्रन्थ।'[1]

फेय् का अनुसरण करते हुए आप्टे ने इन मन्त्रो को निम्नोक्त पाच वर्गों मे विभाजित किया है —

१ सस्कार वर्ग मे 'उन मन्त्रो का समावेश है जिनकी सस्कारगत स्थिति अथवा प्रसङ्ग ऋग्वेद मे उसके समान है जैसी आ० गृ० मे है जहाँ पर ये उद्धृत किये गये हैं।

२ स्तुति वर्ग 'सामान्यतया आशीर्वचन के लिये प्रार्थना से युक्त मन्त्रो अथवा सूक्तो वाला है।'

३ देवता वर्ग—उन मन्त्रो के उद्धरण जो किसी कर्म मे मुख्यतया इसलिये उपयुक्त होते हैं क्योकि वे उस कर्म से सम्बद्ध देवता के प्रति सम्बोधित होते हैं।'

४ आहुति वर्ग—इस वर्ग मे उन मन्त्रो का समावेश है 'जो किसी यज्ञ-कर्म मे अग्नि के प्रति आहुति के कारण उसके उपयुक्त होते है।'

५ ऊपरी वर्ग अथवा असम्बद्ध वर्ग—वे मन्त्र 'जिनका यज्ञसन्दर्भ के साथ एक मात्र सूत्र किसी एक शब्द अथवा वाक्याश के रूप मे कोई ऊपरी समानता होती है यद्यपि उसका अर्थ से कोई सम्बन्ध न हो।'[2]

परन्तु आगामी पृष्ठो मे मन्त्रो के सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के मन्त्रो के वर्गीकरण का कोई उचित आधार नही है क्योकि वही

---

१ ऋग्० मन्त्र० गृ०, पृ० १४-२२।

२ ऋग्० मन्त्र० आ० गृ०, पृ० ३-४

एक मन्त्र विविध यज्ञकर्मों मे विनियुक्त देखा जाता है। और फिर इस प्रकार का वर्गीकरण प्राक्-गृह्यसूत्र वाङ्मय मे उन मन्त्रो के विनियोग को भी दृष्टिगत नही करता। उदाहरणार्थ ऋ ८।१ १।१५ के माता रुद्राणाम् इत्यादि मन्त्र को सस्कार वर्ग मे रखा गया है[1] परन्तु इसके अर्थ और ऋ मे इसके प्रसङ्ग से केवल मात्र उस मधुपर्क के साथ इसके सम्बन्ध का कोई सकेत प्राप्त नही होता जहाँ गृह्यसूत्रों मे इसका विनियोग हुआ है। ऋग्वेद के उक्त स्थल मे सामान्यतया गौ को न मारने की बात कही गई है। और आगामी मन्त्र (ऋ ८।१ १।१६) मे स्पष्ट रूप से वाणी की स्तुति की गई है जिससे यह सकेत भी प्राप्त हो सकता है कि पहला मन्त्र भी वाणी से सम्बद्ध होगा। त आ (६।१२।१) मे यद्यपि गौ को मुक्त करने के अवसर पर ही इसका विनियोग किया गया है तथापि यहाँ भी प्रसङ्ग मधुपर्क का न होकर दाहकर्म का है। केवल इस आधार पर कि मन्त्र की देवता गौ है हम सस्कार वर्ग मे इसका अटल वर्गीकरण नही कर सकते। इसी प्रकार से ऋ १ १६३ १ सुत्रामाण पृथिवीम् इत्यादि मन्त्र को भी किसी वर्गविशेष मे सीमित नही किया जा सकता क्योकि जहाँ इसका सम्बन्ध नौकारोहण से है वहाँ यह ऊपरी वर्ग के अन्तर्गत होगा और जहाँ इसका विनियोग पृथ्वी सम्बन्धी कर्म मे हुआ है वहाँ यह देवता वर्ग के अन्तर्गत होगा।

दूसरी ओर अथर्व के मन्त्रो की रचना मूल रूप से गृह्यकर्मों के लिय की गई प्रतीत होती है। यजुर्वेद के मन्त्रो का उद्देश्य प्रमुख रूप से श्रौत यज्ञ है और इसीलिए जब कभी भी गृह्यसूत्रो मे उनका विनियोग मिलता है तो वहा श्रौत और गृह्ययज्ञो मे कोई सामान्य गौण कर्म ही उनके मध्य सयोजक-सूत्र होता है। उदाहरणार्थ ये कर्म अग्नि मे आहुति विसर्जन किसी पदार्थ का पवित्रीकरण पितृकर्मों मे पितरो को पिण्डदान किसी पदार्थ का ग्रहण करना इत्यादि है।

गृह्यसूत्रो के रचयिताओ ने अपनी अपनी शाखा की सहिता से ही यथासम्भव अधिकतम मन्त्र ग्रहण करने का प्रयास किया है परन्तु जहाँ भी वे अपनी सहिता से कोई उपयुक्त मन्त्र प्राप्त करने मे समर्थ नही हुए वहा उन्होने दूसरी शाखाओ अथवा दूसरे वेदो से भी मन्त्र ग्रहण करने मे सकोच नही किया।

---

१ ऋग् मन्त्र आ गृ पृ २२ से
२ दे मन्त्र स ९३
३ वचोविद वाचमुदीरयन्ती विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवी देवेभ्य पर्येयुषी गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता॥ (ऋ ८।१ १।१६)
४ दे मन्त्र सं २ १ १ २५ १ २६

उदाहरणार्थ शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध होने पर भी पारस्कर गृह्यसूत्र ने तैत्तिरीय सहिता, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से भी अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं।[1] इसी प्रकार वृषोत्सर्ग के वणन मे शा० गृ० (३।११।१४) ने तै० स० (३।३।६।१) के एक मन्त्र का विनियोग किया है। इसी रीति से साम० से सम्बद्ध जे० गृ० ने भी इतर वेदो से भी मन्त्र उद्धृत किये हैं।[2] जैसा कि पहले ही सकेत किया जा चुका है, अथर्ववेद से प्राय सभी गृह्यसूत्रो ने मन्त्र उद्धृत किये हैं। गृह्यसूत्रो मे विनियुक्त कुछ मन्त्र केवल ब्राह्मणो और सूत्रो मे प्राप्य हैं और निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि ये मन्त्र कभी किसी वैदिक सहिता का अग थे या नही। गृह्यसूत्रो मे विनियुक्त दूसरे कुछ मन्त्र केवल गृह्यसूत्रो अथवा केवल गृह्यकर्मो के लिये सगृहीत मन्त्रो के सकलनो यथा आपस्तम्बीय मन्त्र पाठ और सामवेद मन्त्र ब्राह्मण (अथवा छान्दोग्य ब्राह्मण) मे ही उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त दोनो प्रकार के मन्त्र या तो उन सहिताओ के अग थे जो अब विलुप्त हो गई हैं या वे लोक मे प्रचलित रहे और सहिता-रूप मे कभी उनका सकलन किया ही नही गया।

इस बात की ओर सकेत करना भी आवश्यक है कि गृह्यसूत्रो के रचयिताओ ने कुछ गृह्यकर्मो मे कुछ ऐसे मन्त्रो के उच्चारण का विधान भी किया है जो उस कर्म से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नही। उदाहरणार्थ समशन कर्म मे दधिभक्षण के निमित्त गृह्यसूत्रों में दधि से आरम्भ होने वाले मन्त्र का विनियोग किया गया है।[3] इस मन्त्र के विनियाग का एक मात्र आधार इसमे विद्यमान दधि वणसमूह ही प्रतीत होता है, अन्यथा इस कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही। सुत्रामाण पृथिवीम् इत्यादि मन्त्र का विनियोग नौकारोहण कर्म मे केवल नावम् शब्द के आधार पर हुआ है।[4] इस प्रकार के उदाहरणो से प्रकट होता है कि वैदिक मन्त्रो के अर्थ अति प्राचीन काल से ही अस्फुट होने लगे थे जैसा कि यास्क ने भी कहा है कि—"जो वेदो का अध्ययन करके भी उनके अर्थ नही समझता, वह ठूंठ निश्चय ही बोझा ढोने वाला है।"[5]

पुरोहितों के इस अज्ञान और उपेक्षा का वर्णन आदित्य दशन द्वारा अपनी पाकयज्ञविवृति मे उल्लिखित शब्दो मे अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है।

---

१ दे० मन्त्र स० ६२, ६३, ६०३, ८६६, ६००
२ दे० मन्त्र स० १५६
३ दे० मन्त्र स० २८६
४. दे० मन्त्र स० २०६
५ नि० १।१६—स्थाणुरय भारहर किलाभूत्, अधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम् ॥

एक मन्त्र विविध यज्ञकर्मों में विनियुक्त देखा जाता है। और फिर इस प्रकार का वर्गीकरण प्राक्-गृह्यसूत्र वाङ्मय में उन मन्त्रों के विनियोग को भी दृष्टिगत नहीं करता। उदाहरणार्थ ऋ० ८।१०१।१५ के माता रुद्राणाम् इत्यादि मन्त्र को संस्कार वर्ग में रखा गया है[1] परन्तु इसके अर्थ और ऋ० में इसके प्रसङ्ग से केवल मात्र उस मधुपर्क के साथ इसके सम्बन्ध का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता जहाँ गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग हुआ है।[2] ऋग्वेद के उक्त स्थल में सामान्यतया गौ को न मारने की बात कही गई है। और आगामी मन्त्र (ऋ० ८।१०१।१६) में स्पष्ट रूप से वाणी की स्तुति की गई है जिससे यह संकेत भी प्राप्त हो सकता है कि पहला मन्त्र भी वाणी से सम्बद्ध होगा।[3] श० ब्रा० (६।१२।१) में यद्यपि गौ को मुक्त करने के अवसर पर ही इसका विनियोग किया गया है तथापि वहाँ भी प्रसङ्ग मधुपर्क का न होकर दाहकर्म का है। केवल इस आधार पर कि मन्त्र की देवता गौ है हम संस्कार वर्ग में इसका अटल वर्गीकरण नहीं कर सकते। इसी प्रकार से ऋ० १०।६३।१० सुत्रामाणं पृथिवीम् इत्यादि मन्त्र को भी किसी वर्गविशेष में सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि जहाँ इसका सम्बन्ध नौकारोहण से है वहाँ यह अधरी वर्ग के अन्तर्गत होगा और जहाँ इसका विनियोग पृथ्वी सम्बन्धी कर्म में हुआ है वहाँ यह देवता वर्ग के अन्तर्गत होगा।

दूसरी ओर यजुः के मन्त्रों की रचना मूल रूप से गृह्यकर्मों के लिए की गई प्रतीत होती है। यजुर्वेद के मन्त्रों का उद्गम प्रमुख रूप से श्रौत यज्ञ है और इसीलिए जब कभी भी गृह्यसूत्रों में उनका विनियोग मिलता है तो वहाँ श्रौत और गृह्ययज्ञों में कोई सामान्य गौण कर्म ही उनके मध्य संयोजक-सूत्र होता है। उदाहरणार्थ ये कर्म अग्नि में आहुति विसर्जन किसी पदार्थ का पवित्रीकरण पितृकर्मों में पितरों को पिण्डदान किसी पदार्थ का ग्रहण करना इत्यादि हैं।

गृह्यसूत्रों के रचयिताओं ने अपनी अपनी शाखा की संहिता से ही यथा सम्भव अधिकतम मन्त्र ग्रहण करने का प्रयास किया है परन्तु जहाँ भी वे अपनी संहिता से कोई उपयुक्त मन्त्र प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए वहाँ उन्होंने दूसरी शाखाओं अथवा दूसरे वेदों से भी मन्त्र ग्रहण करने में संकोच नहीं किया।

---

१ ऋग्० मन्त्र आ० गृ० पृ० २२ से

२ वै० मन्त्र सं० ६३

३ वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः॥ (ऋ० ८।१०१।१६)

४ वै० मन्त्र सं० २६१ १२५ १२६

प्राय सभी पुरोहित वेद पढने मे लगे रहते है परन्तु कभी भी उसमे से एक शब्द का भी अर्थ नही समझते। वेद के पठन मात्र से ही अपने आप को कृतकृत्य समझते हुए वे घर म उसी प्रकार से निष्फल गर्जना करते है जसे शरदृऋतु के मेघ। वे परस्पर एक दूसरे को कहते हैं कि हमे वेद के अर्थ से क्या लेना और यह कहकर वेदार्थज्ञान मे लगे हुए अर्थज्ञ विद्वानो का उपहास करते है।[1] यद्यपि आदित्य दर्शन के इस कथन म केवल कर्मकाण्ड मे लगे हुए पुरोहितो की ओर सकेत है तथापि इससे मन्त्रो के अर्थों के प्रति कुछ मात्रा मे गृह्यसूत्रो के उपेक्षाभाव का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरे स्थानो पर जहाँ श्रौत और गृह्य कर्मों के मध्य कोई समान आधार विद्यमान है वहाँ गृह्यसूत्रकारो ने मन्त्र विनियोग का विधान करने मे श्रौत परम्परा का अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ ऋग्वे (१।६ ।६ ८) के मधु वाता ऋतायते इत्यादि तीन मन्त्रो के समूह का विनियोग कुछ गृह्यसूत्रो ने मधुपर्क आलोडन के लिये किया है। इस विनियोग की तुलना श ब्रा (१४।६।३।११ १३) मे इन मन्त्रो के विनियोग से की जा सकती है जहाँ श्रीमन्थकर्म म मन्थपान के निमित्त इनके उच्चारण का विधान है। यह विनियोग श्रौतसूत्रो के विनियोग के भी समान है जिनके अनुसार अग्न्याधान कर्म मे मधु मिश्रित दधि से कछुए की अनुलेपन क्रिया के समय इन मन्त्रो का उच्चारण किया जाना चाहिए। यहाँ पर स्मरणीय है कि दधि और मधु मधुपर्क के भी घटक हैं।

कभी कभी एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यकर्मों मे विनियुक्त देखा जाता है। उदाहरणार्थ विवाह और उपनयन कर्मों मे बहुत से मन्त्र समान हैं। 'देवस्य त्वा सवितु इत्यादि मन्त्र का विनियोग वधू का और ब्रह्मचारी का भी हाथ ग्रहण करने के लिये हुआ ह। इसी प्रकार मम व्रते ते हृदयम् इत्यादि मन्त्र के उच्चारण का विधान

१ इहैते ब्राह्मणा प्राय सर्वे वेदमधीयते। पठन्त्येकमेतस्मान्न बुध्यन्ते कदाचन ॥
पाठमात्रेण वेदस्य मन्यमाना कृतार्थताम्। गर्जन्ति श्रोत्रिया गेहे निष्फलं शरदभ्रवत् ॥
अर्थेन किं नो वेदस्य वदन्ति इति ते मिथ । अर्थज्ञानसमासक्तानर्थज्ञान् विहसन्ति च ॥
(प मधुसूदन कौल द्वारा लौगाक्षिगृह्यसूत्र की भूमिका (पृ ७ ८) में पाण्डुलिपि में से उद्धृत।)

२ वे मन्त्र स ६४ ६६।

इन छह मन्त्रो के लिए का स के १७।११ १६ अनुवाको की ओर संकेत किया है।[1] गो गृ खा गृ आप गृ व गृ आदि कुछेक गृह्यसूत्रो ने गृह्यकर्मों मे विनियुक्त मन्त्रो के लिये अपनी अपनी शाखाओ के संग्रहो की ओर प्रतीक के द्वारा संकेत किया है। इन मन्त्र-संग्रहो मे मन्त्रो का क्रम कर्मों के क्रम के अनुसार है। आप गृ मे तो प्राय मन्त्र का प्रतीक भी नही दिया गया है। वहाँ अभीष्ट मन्त्र का संकेत उसकी क्रमसंख्या द्वारा किया गया है यथा प्रथम दो के द्वारा (आदितो द्वाभ्याम् १।४।२) तीसरी ऋचा को (तृतीयाम्—ऋचम्) चौथी के द्वारा (चतुर्थ्या) इत्यादि। इन गृह्यसूत्रो मे भी कुछेक छोटे मन्त्रो का सम्पूर्ण पाठ दिया गया है यथा गो गृ (१।३।१—३) मे अधोलिखित मन्त्र सकलपाठेन उद्धृत किये गये है —

अदितेऽनुमन्यस्व ॥ अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥

कलँड ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि का गृ के सम्मुख भी कोई मन्त्र-संहिता रही होगी। उसके इस अनुमान का प्रमुख आधार इस गृह्यसूत्र मे मन्त्रो की उद्धरण-पद्धति है यथा काठक संहिता से बाहर के मन्त्रो का निर्देश प्रतीक द्वारा किया गया है इसके पश्चात् सूत्र निर्देश है और फिर सम्पूर्ण मन्त्र। कलँड के मतानुसार— सम्भवत यह मन्त्र (कल्पित) मन्त्राध्याय मे विद्यमान था और मूल रूप मे सूत्र मे दोनो स्थान पर केवल प्रतीक द्वारा उद्धृत था परन्तु इस ग्रन्थ के भाष्यकारो ने सुविधा के लिये न केवल यहाँ (का गृ ४१।१८) अपितु अन्य कई स्थलो पर भी मन्त्र का सम्पूर्ण पाठ दिया है। उसका अनुमान है कि अपने कर्मकाण्ड के ग्रन्थ यज्ञ-सूत्र के अंग रूप मे कठशाखावलम्बियो के पास यह मन्त्राध्याय विद्यमान था जो कि गृह्य अध्याय का पूर्वगामी था और आधिपत्य मन्त्रो से जिसका श्रीगणेश होता था।[2] प्रथम सूत्र पर अपने भाष्य की भूमिका मे आदित्यदर्शन भी इस प्रकार का संकेत देता है— सूत्र के पूर्वगामी भाग मे श्रौत कर्मों का उपदेश दिया जा चुका है। अब इस अध्याय से स्मार्त कर्मों का उपदेश दिया जा रहा है। अग्निर्भूतानामधिपति इत्यादि मन्त्रो का विनियोग नही हुआ है। वे अपने चिह्नो क्रम और विधान के अनुसार गर्भाधान आदि संस्कारो मे और पाकयज्ञो मे विनियुक्त होते है।[3] परन्तु क्योकि इस प्रकार का मन्त्राध्याय उपलब्ध नही है अत यह

१ वे म ब स ८५६।

२ का गृ (कलँड संस्करण) भूमिका पृ ६-७

३ पूर्वसूत्रभागेन श्रौतकर्माण्युपदिष्टानि। इदानीमनेनाध्यायेन स्मार्तान्युपदिश्यन्ते। अग्निर्भूतानामधिपतिरित्येवमादयो मन्त्रा अविनियुक्ता। ते लिंगक्रमसमाख्यानबलात् संस्कारेषु गर्भाधानादिषु पाकयज्ञेषु च विनियुज्यन्ते॥

बहुत संदेहास्पद है कि मन्त्र मूल रूप मे मन्त्राध्याय में विद्यमान था अथवा गृह्यसूत्र मे ही मूल रूप मे उसका सम्पूर्ण पाठ दिया हुआ था।

कुछ स्थलो पर गृह्यसूत्रो मे वैदिक मन्त्रो के बहुत ही रोचक और साथ ही साथ उलझन वाले पाठ-भेद प्राप्त होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद आदि संहिताओ के मन्त्र बहुधा गृह्य परम्परा के सरक्षको के अज्ञान और उपेक्षा के कारण भ्रष्ट हो जाते थे। और यह भी असम्भव नहीं कि कुछ स्थानो पर गृह्यसूत्रो के रचयिताओ अथवा उनके पुरोगामियो या अनुगामियो ने गृह्यकर्मो मे विनियोग के औचित्य की दृष्टि से वैदिक मन्त्रो मे कही कही परिवर्तन जान बूझकर तथा सोच समझ कर किये हो। उदाहरणार्थ ऋ० ८।९१।७ मन्त्र की परीक्षा की जा सकती है।

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥ [६]

यह मन्त्र गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित परिवर्तनो के साथ प्राप्त होता है —

खे रथस्य खेनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रि पूत्वंकृणोत् सूर्यत्वचम्॥ (मा० गृ० १।८।११)
खेऽनसः खेरथः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रि पूत्व्यंकरत् सूर्यवर्चसम्॥ (म० पा० १।१।६)
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रिष्पूत्वा करोतु सूर्यवर्चसम्॥ (का० गृ० २५।६)
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अबालामिन्द्रस्त्रि पूत्वंकृणोत् सूर्यवर्चसं॥ (वा० गृ० १४।१)

मा० गृ० और म० पा० ने मूल अकृणो को प्रथम पुरुष एक वचन के रूप मे परिवर्तित कर दिया है और मूल पूत्वी भी भ्रष्ट हो गया है। तदनुसार मा० गृ० ने सम्बोधनरूप इन्द्र को प्रथमारूप इन्द्रः मे परिवर्तित कर दिया है, परन्तु म० पा० के रचयिता से यह आवश्यक परिवर्तन छूट गया और वहाँ मूल सम्बोधनरूप इन्द्र ही प्राप्त होता है। म० पा० का प्रमाद यह है कि यहाँ मूल षष्ठ्यन्त रूप रथस्य प्रथमान्त रूप रथः मे परिवर्तित कर दिया गया है और साथ ही प्रथम पाद में अनसः का क्रम भी परिवर्तित हो गया है। का० गृ० ने अकृणो को करोतु मे परिवर्तित किया है और इसके परिणामस्वरूप इन्द्र को इन्द्रः मे। गृह्यसूत्रो मे ऐसी प्रवृत्ति भी लक्षित होती है कि उनके पाठकों अथवा रचयिताओ को जो शब्द-रूप कठिन अथवा आद्य (अप्रचलित) प्रतीत हुए उनके स्थान पर उन्होंने अधिक सरल शब्द

रख दिये हो। प्रस्तुत मन्त्र मे भी मूल सूर्यत्वचस् के स्थान पर म पा० और का गृ० मे सूयवचसस् दिया गया ह और का गृ ने तो मूल वधिक पृत्वी के स्थान पर परवर्ती रूप पृत्वा भी दिया हैं। एक परवर्ती गृह्यसूत्र वा गृ तो वदिक शब्द अपाला के स्थान पर अवाला देकर परिवतन की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। गृह्यसूत्रो में इस प्रकार के उदाहरणो का बाहुल्य है।

इतने अधिक पाठ भेदो के कारणों के विषय मे डॉ पिल्से के साथ साथ यह मानना कठिन है कि सभी स्थलों पर मूल वदिक मन्त्रो से नये मन्त्र निर्माण करने का जानबूझ कर प्रयास किया गया है। डॉ० पिल्से के मतानुसार इममश्मानमारोह आदि मन्त्र विभिन्न वदिक मन्त्रो के पादो को एकसाथ जोडकर बनाया गया है।[1] वस्तुत यह केवल अनुमान मात्र है। उन मन्त्रो के कथित पाद इस मन्त्र के पादों के समान नही है बहुत सम्भव है कि इस सूत्र के कर्ता ने किसी ऐसे प्राचीन स्रोत से मन्त्र उद्धृत किया हो जो अब अनुपलब्ध है। इसी प्रकार से स्टॅन्लर सहित पा गृ (१।२।११) के सभी भाष्यकार सगृहीत विभिन्न मन्त्रो के प्रतीको को एक अकेला मन्त्र मानने का प्रमाद करते हैं[2] :—

अयाश्चाग्नेवषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिच देवागातुविद ॥ [७]

वस्तुत ये प्रतीक निम्नलिखित मन्त्रो की ओर सकेत करते हैं —

अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।
अया नो यज्ञ वहास्यया नो धेहि भेषजम् ॥ [८]

ऋ सं ६।४।१

वषट्कृतमत्यनूक्तं च यज्ञ। अतिरिक्त कर्मणो यच्च हीनम्।
यज्ञ पर्वाणि प्रतिरन्नेति कल्पयन् स्वाहाकृताहुतिरेतु देवान् ॥ [९]

त० ब्रा ३।७।११।१

यत् कर्मणाऽत्यरीरिच यद्वा न्यूनमिहाकरम्।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्ट सुहुत करोतु ॥ [१०]

श ब्रा० १४।९।४।२४

---

१ नॉन ब्रग् मन्त्रज इन मरेज पृ० ८१ से।

२ वे से० बु० ई सं २९ पृ २७२ सूत्र ११ पर टि ओल्डनबर्ग ने भी यहाँ चार मन्त्रों की सम्भावना स्वीकार की है परन्तु वह उन चारों को पृथक नहीं कर सका। भी ४ के समान ही ब्लूमफील्ड ने भी (अ कान्०) वषट्कृतम् तक एक ही मन्त्र माना है।

देवा गातुविदो गातु विश्वा गातुमित।
मनसस्पत इम देव यज्ञ स्वाहा वाते धा ॥ [११]
वा० स० ८।२१

गृह्यसूत्रो के अध्ययन मे इस प्रकार के प्रमादो से बचना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे यह तथ्य बहुत आकर्षक है कि जितने पाठ-भेद अथर्व० मे उद्धृत मन्त्रो के प्रकट होते हैं उतने ऋ० मे उद्धृत मन्त्रो के नही। उदाहरणार्थ अथर्व० १४।१।४५ के निम्नलिखित मन्त्र के बहुत से पाठ भेद है। केवल प्रमुख भेद नीचे दिये जा रहे हैं —

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सव्ययन्त्वायुष्मतीद परिधत्स्व वास ॥
या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ।
तास्त्वा देव्यो जरसा सव्ययन्तु आयुष्मतीद परिधत्स्व वास ॥
म० ब्रा० १।१।५

या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाहरन् याश्चान्या देव्योऽन्तानभितो ऽततन्त।
तास्त्वा देव्यो जरसे सव्ययन्त्वायुष्मतीद परिधत्स्व वास ॥
मा० गृ० १।१०।८

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितोऽततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे सव्ययस्वायुष्मतीद परिधत्स्व वास ॥
पा० गृ० १।४।१३

सम्भवतया अथर्व० मन्त्रो की कोई सुदृढ परम्परा नही थी। सायण ने अपने भाष्य मे सैकडो स्थलो पर ऐसे पाठ दिये हैं जो अब उपलब्ध सहिता पाठ अथवा पद पाठ में विद्यमान नही हैं। अथर्व० के मन्त्रो के पाठभेदो की सख्या सर्वाधिक है।

यद्यपि वैदिक पाठ-भेदो के अध्ययनार्थ निश्चित रूप से गृह्यसूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि इस दिशा मे पदक्रम करने के लिये सावधानी बरतना और श्रौत कर्मो से सम्बद्ध पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे प्रयुक्त कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि-विधान का ज्ञान होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। गृह्यसूत्रो मे सुरक्षित पाठान्तर अथर्व० के पाठ सम्बन्धी अध्ययन के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

❁

द्वितीय अध्याय

प्रारम्भिक विवाह कर्मों में विनियुक्त मन्त्र

विवाह कर्मों मे मन्त्रों का विनियोग अत्यन्त प्राचीन है। यह बात प्राय सभी गृह्यसूत्रो द्वारा विवाह कर्म मे विनियुक्त ऋ (१०।८५) तथा अथर्व (१४।१, २) के विवाह सूक्तो से स्पष्ट हो जाती है। इन सूक्तो के मन्त्रो तथा विवाह कर्म मे प्रयुक्त अन्य मन्त्रो से सूत्रकालीन विवाहित जीवन के आदर्शों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। जैसा कि मम व्रत आदि मन्त्र से स्पष्ट है यह अपेक्षा की जाती थी कि पत्नी को मनसा वाचा कर्मणा पति का अनुसरण करना चाहिये। पति पत्नी के मध्य दाम्पत्य सम्बन्धो की दृढ़ता के आदर्श को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। अश्मारोहण तथा ध्रुवदर्शन के अवसर पर उच्चारित मन्त्र इस भावना के प्रतीक है। क्योंकि यह सन्देह किया जाता था कि कहीं वधू वर के परिवार के लिये अशुभ अथवा विनाश का कारण न हो अत बहुत से कर्मों मे वधू के शुभ होने तथा परिवार के लिये समृद्धि की सम्पादयित्री होने के लिये देवताओ से प्रार्थना की गई है। कुछ मन्त्रो मे विशेष रूप से वर-वधू के हृदयो को संयुक्त करने के लिये प्रार्थना निहित है। बहुत से मन्त्रो मे सामान्य समृद्धि दीर्घ आयु और सन्तान की कामना व्यक्त की गई है।

इस अध्याय मे प्रारम्भिक विवाह कर्मो मे विनियुक्त मन्त्रो पर विमर्श किया गया है।

कन्या की परीक्षा

यह विधान है कि विविध स्थानो से लिये गये मिट्टी के चार से लेकर आठ तक ढेले कन्या के सम्मुख रखे जाते हैं। फिर उसे उनमे से किसी एक का स्पर्श करने को कहा जाता है और जिस ढेले का वह स्पर्श करती है उसके आधार पर विवाह के लिये उसकी योग्यता का निर्णय किया जाता है। निम्नलिखित मन्त्र[1] के द्वारा ढेलो के अभिमन्त्रण का विधान है —

ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्।
यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत् सत्यं तद् दृश्यताम् ॥[१३]

---

१ आ गृ १।५।४ गो गृ २।१।३ का गृ १४।६।

ऋत ही सब से पहले उत्पन्न हुआ, ऋत पर सत्य की प्रतिष्ठा है। यदि यह कुमारी कुलीन है तो यह यहाँ स्वीकार की जाये। जो बात सत्य है वह दिखाई दे जाये।

गो० गृ० और का० गृ० मे यह मन्त्र ईषद्-भिन्न रूप मे प्राप्त होता है।[1] परन्तु मा० गृ० का उपरिलिखित पाठ इस प्रसग मे उपयुक्ततम प्रतीत होता है क्योकि इसमे कन्या और उसके द्वारा देने के वरण की ओर स्पष्ट सकेत है।

यह मन्त्र पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होता, केवल ऋते सत्य प्रतिष्ठितम् वाक्याश वहाँ से उद्धृत प्रतीत होता है।[2] यह वाक्याश म० ब्रा० (२।४।१०) मे गो० गृ० (४।५।३१) द्वारा एक काम्य कर्म मे प्रयुक्त मन्त्र के अश के रूप मे (ऋत सत्ये पाठ के साथ) प्रकट होता है।[3]

कन्या का वरण

वर पक्ष के व्यक्तियो के कन्या के वरण के लिये उसके घर को प्रस्थान करने पर ऋ० (१०।८५।२३) के निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाता है[4] —

अनृक्षरा ऋजव सन्तु पन्था येभि सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सम्भगो नो निनीयात् स जास्पत्य सुयममस्तु देवा ॥ [१५]

---

१ ऋतमेव प्रथमम् ऋत नात्येति कश्चन।
ऋत इय पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयात् ॥ गो० गृ० [१४]
का० गृ० मे प्रथमम् के स्थान पर परमेष्ठि और कश्चन के स्थान पर किञ्चन पाठ है, द्वितीय पक्ति गो० गृ० के समान है, केवल इदम् और असौ के मध्य इयम् का समावेश है। इस पाठ का स्रोत तै० ब्रा० १।५।५।१ प्रतीत होता है क्योंकि यह इसके बहुत समान है।

२ तै० स० ७।१।१८।२, तै०ब्रा० ३।७।७।४, वा० स० ११।४७, आप० श्रौ० ८।४।२।

३ उस काम्य कर्म में विधान है कि यदि कोई व्यक्ति चाहे कि उसके हाथी और घोडों की सख्या मे वृद्धि हो तो उसे सूर्य के प्रभामण्डल रहते, तले हुए धान की आहुति देनी चाहिए।

४ अथर्व० १४।१।३४ मे केवल प्रथम पक्ति है। दे० शा० गृ० १।६।१, आप० गृ० २।४।२ (म० पा० १।१।१, २), बौ० गृ० १।१।१५, वा०गृ० १०।८-९, का० गृ० २५।१, आग्नि० गृ० १।५।१,५, ६।१, जै० गृ० १९।१२ मे प्रथम पक्ति मे येभि के स्थान पर एभि और द्वितीय पक्ति मे निनीयात् के स्थान पर अनुनीयात् पाठ है।

जिन मार्गों मे हमारे मित्र वरण के लिये जा रहे हैं वे कण्टकरहित और ऋजु हों। अर्यमा और भग हमे वहां पहुँचा दें। हे देवो दाम्पत्य सबन्ध सुदृढ हो।

इस मन्त्र का अंतिम पाद वैदिक संहिताओं मे अन्यत्र भी प्राप्त होता है। इन स्थानो पर अन्तिम दो शब्द अस्तु देवा' के स्थान पर आ कृणुध्व हैं।[1]

का गृ मे इस मन्त्र के उच्चारण का विधान उस समय है जब कोई व्यक्ति वधू के लिये पवित्र जल लाने जाता है। कौशिक (७५।१२) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करके वधू के सरक्षक को भेजा जाना चाहिए। अस्तु सभी प्रयोगो मे मन्त्र से सम्बद्ध क्रिया जाने की है। इस क्रिया मे मन्त्र का विनियोग उसके अर्थ के अनुकूल ही है क्योंकि इसमे मार्ग पर रक्षा की प्रार्थना की गई है और कन्या के वरण कर्ताओं (वरेयम्) का स्पष्ट संकेत है। व गृ (३।२) के अनुसार इसका उच्चारण वर को उस समय करना चाहिये जब वधू उसका ईक्षण कर रही हो। परन्तु मन्त्र मे ऐसा कोई शब्द नही है जिससे प्रेरित होकर व गृ के रचयिता ने यह विशिष्ट विनियोग किया हो यद्यपि सुदृढ दाम्पत्य सम्बन्ध के लिये सामान्य वैवाहिक प्रार्थना इसमे है।

उपर्युक्त क्रिया के लिए ऋ (१०।३२।१) मन्त्र का विनियोग अकेले एक शा गृ (१।१।१४) ने किया है —

प्र सु ग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिवरां अभि षु प्रसीदत ।
अस्माकमिन्द्र उभय जुजोषति यत्सोम्यस्यान्धसो बुबोधति ॥ [१६]

इन्द्र अपने आगमनार्थ चिन्तित मुझ यजमान के शोभन यज्ञ मे आते हुए अपने दोनो अश्वों को प्रेरित करते है। वरणीय मार्गों से आहुतिद्रव्य प्राप्त करने वाले मुझ यजमान की आहुति और स्तुति के प्रति शोभनरूप से इन्द्र आ जाय। आकर जब वे सोमसम्पादक हमारे अन्नरूप सोम का आस्वादन करते हैं तब वे हमारी आहुति और स्तुति—दोनो का सेवन करें॥ मा

यद्यपि कुल मिलाकर मन्त्र का भाव प्रस्तुत क्रिया का सहगामी नही है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रसग मे इसका विनियोग केवल ग्मन्ता (जाने वाला) और वरेभिवरान् (वरणकर्ताओं के साथ वरणकर्ताओं को) शब्दो के आधार पर हुआ है।

---

१ ऋ ५।२८।३ अथर्व ७।७३।१ वा स ३३।१२ म स ४।११।१ का स २।१५

वैं० गृ० (३।२) के अनुसार जब प्रथम बार वर वधू का ईक्षण करे उस समय उसे (वर को) इसका उच्चारण करना चाहिये। परन्तु इस विनियोग को भी उससे अच्छा नही कहा जा सकता।

शा० गृ० (१।६।५) मे निर्देश है कि दोनो पक्षो के सम्बन्ध के लिये सहमत हो जाने पर वरण-कर्ताओ को पुष्प, अक्षत, जौ और सुवर्ण से मिश्रित जल से परिपूर्ण कलश का अभिमर्शन (स्पर्श) निम्नलिखित मन्त्र द्वारा करना चाहिये —

अनाधृष्टमस्यनाधृष्ट्य देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा
अनभिशस्तेऽन्यमञ्जसा सत्यमुपगेष सुविते मा धा ॥ [१७]

तुम अनाधृष्ट हो, तुम देवताओ के धर्षण के अयोग्य ओज हो, तुम पाप रहित हो और पाप से रक्षक हो। हे पापरहित, मैं शक्ति के द्वारा सत्य को प्राप्त होऊँ। तुम मुझे सत्प्रेरणा मे स्थापित करो ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्रसग मे मन्त्र का विनियोग करने के लिये सूत्रकार ने पूर्ववर्ती साहित्य[1] का आश्रय लिया है क्योकि वहाँ इसका विनियोग पुरोहितों के द्वारा तनूनप्ता को समर्पित आज्य का स्पर्श करने की क्रिया मे हुआ है। इस क्रिया के द्वारा वे सगठित होकर रहने का व्रत लेते है। इस श्रौत कर्म मे और प्रस्तुत गृह्य कर्म मे केवल स्पर्श की क्रिया समान है। अन्यथा मन्त्र के अर्थ से उन पदार्थों का कोई विशिष्ट सम्बन्ध लक्षित नही होता जिनसे कलश भरा जाता है। यद्यपि शा० गृ० ऋग्वेद से सम्बद्ध है तथापि यह मन्त्र उस सहिता मे प्राप्त नही होता। अत यह प्रतीत होता है कि इसका गृह्य विनियोग श्रौत विनियोग के आधार पर ही किया गया है।

ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत वधू की औपचारिक स्वीकृति के अवसर पर उच्चारणार्थ नि सन्देह का० गृ० (१५।५) मे अधिक उपयुक्त मन्त्रो का विनियोग हुआ है। इन मन्त्रों का उच्चारण दोनो पक्षो के लिये ऋत्विक् ही करता है —

समाना व आकूतानि समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥ [१८]

---

१ दे० वा० स० ५।५, तै० स० १।२।१०।२, ६।२।२।३, मै० स० १।२।७, का० स० २।८, श० ब्रा० ३।४।२।१४, गो० ब्रा० २।२।३, आ० श्रौ० ४।५।३, शा० श्रौ० ५।८।२, आप० श्रौ० ११।१।२, मा० श्रौ० २।२।१।४, तै० स०, आ० श्रौ०, आप० श्रौ० और मा० श्रौ० में प्रथम पक्ति मे अनभिशस्ति और दूसरी पक्ति मे अन्यम् नहीं है, मै० स० और का० स० मे अन्यम् है परन्तु अनभिशस्ति नहीं।

स यो मनांसि स व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥[१९]

तुम्हारे विचार हृदय तथा मन समान हों जिससे तुम सब का एक साथ निवास सुखकर हो। मैं तुम्हारे मन व्रत तथा चित्तों को संयुक्त करता हूँ। ये जो तुम में विरुद्ध आचार वाले है उन्हें भी हम सदाचारी बनाते है।—देवपाल

प्रथम मन्त्र ऋ० १०।१९१।४ के समान है। द्वितीय मन्त्र में ऋ० १०।१९१।२ ३ मन्त्रों के कुछ तत्त्व है। मा० गृ० (१।८।१०) मे ऋग्वेद के इन ही मन्त्रों का विनियोग हुआ है। उपरिलिखित का० गृ० के मन्त्रो के बहुत अधिक समान पाठ अथर्व० में स० तथा का० स० मे प्राप्त होता है।[1] इन मन्त्रों का विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है। ऋत्विक द्वारा हृदयो को संयुक्त करने की बात गृह्यकर्म जैसी है क्योकि वहाँ नये सम्बन्ध की स्थापना हो रही है।

आज्याहुतियाँ

मा० गृ० (१।४।४) का विधान है कि निम्नलिखित तीन मन्त्रो[2] के उच्चारण से आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें —

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥[२०]
अग्निरृषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम् ॥[२१]
अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम् ॥[२२]

हे अग्नि देव! आप आयु की रक्षा करते है। हमे बल और अन्न प्रदान कीजिये। रोगादि राक्षसों को दूर रोकिये॥ अग्नि ऋषि (सर्वद्रष्टा) है शोधक है सभी जनो के लिये हितकर है और सब का नेता है। उस अत्यन्त प्रशंसनीय को हम प्राप्त होते है। हे शुभ कर्म वाले अग्नि देव!

---

१ अ० सं० २।३०।२ का० स० १०।१२ अथर्व० ३।८।५ ६।९४।१—द्वितीय पंक्ति में इन संहिताओं मे तान् वः के स्थान पर तान् व पाठ है। दे० त० ब्रा० २।४।४।५।

२ ऋ० ९।६६।१९ २१ वा० स० १९।३८ ३५।१६ २६।९ ८।३८ तै० सं० १।३।१४।८ ५।५।२ ६।६।२ मे केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र हैं। पोषम् शब्द दधत् और रयिम् के मध्य आ गया है। मा० श्रौ० १।५।१—तीनों मन्त्र इसी क्रम में। का० स० ४।११ और ७।१६—प्रथम और अन्तिम क्रमशः दे० तै० ब्रा० २।६।३।४ तै० ब्रा० २।५।१।

हमारे बल और पराक्रम को शुद्ध कीजिये। मुझमे धन और (शारीरिक तथा मानसिक) पुष्टि धारण कराइये।

ऐसा प्रतीत होता है कि य मन्त्र ऋग्वेद से सीधे ही लिये गये ह क्योकि वहाँ भी मूल रूप मे उनका यही क्रम है। जहाँ तक विनियोग का सम्बन्ध है, तै० स० मे वे काम्येष्टियो मे आहुतियो की याज्याओ के रूप मे दिये गये हैं। मै० स० मे ये मन्त्र अग्नि-उपस्थान (पूजन) के निमित्त रखे गये हैं। का० स० ६।२ मे प्रथम मन्त्र का विनियोग दो आज्य-भागो के साथ है—आज्य-भागो मे इस मन्त्र का विनियोग उपयुक्ततम माना गया है क्योंकि आज्य-भागो के देवता अग्नि और सोम दोनो ही इस मन्त्र के भी देवता हैं। कौ० ब्रा० (११।४) और श० ब्रा० (२।२।३।३२) मे भी प्रथम मन्त्र का विनियोग आज्य–भागो के साथ ही किया गया है। आ० श्रौ० (२।३।२६) मे तीनो मन्त्रो का विनियोग पुत्र-प्राप्त्यर्थ काम्य यज्ञ मे किया गया है। का० श्रौ० (२५।१६) में तथा वा० गृ० (४।५) मे गोदान सस्कार मे आहुतियो के लिये इन मन्त्रो का विनियोग हुआ है। अग्नि को सम्बोधित होने के कारण आहुतियो मे ये मन्त्र सामान्यतया विनियोगोपयुक्त हैं।

गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१२१।१०) के द्वारा एक और आहुति का विधान है[1] —

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्॥ [२३]

हे प्रजापति, आप से अन्य कोई और इन सब उत्पन्न (प्राणियो तथा पदार्थों) को अपने अधिकार मे नही कर सकता। जिस कामना को लेकर हम आहुति प्रदान करते है, हमारी वह कामना (पूर्ण) हो। हम (दान योग्य) धन के स्वामी हो जायें।

आ० गृ० (२।४।१४) ने इस मन्त्र का प्रयोग अष्टका मे भी स्थालीपाक के अशो की आहुति देने के लिये किया है।

यह मन्त्र समस्त वैदिक वाङ्मय मे उपलब्ध होता है। ऋ० मे यह हिरण्यगर्भ सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। प्रसङ्गानुसार प्रजापति सर्व शक्तिमान् हिरण्यगर्भ मे भिन्न और कोई नहीं। अथर्व० मे[2] यह मन्त्र पूर्णिमा तथा अमावस्या से

१ आ० गृ० १।४।४, का० गृ० २२।२, आग्नि० गृ० १।५।४, बौ० गृ० १।४।३३, भा० गृ० १।१४, मा० गृ० १।१०।११।

२ अथर्व० ७।८०।३, प्रथम पक्ति मे जातानि परिता बभूव के स्थान पर रूपाणि-परिभूर्जजान, अथर्व० ७।७९।४, प्रजापते के स्थान पर अमावास्ये।

सम्बद्ध सूक्तो मे विद्यमान है यद्यपि इस मे वर्णित विशेषताये इन देवताओ के लिये अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं। यजुर्वेद संहिताओ में इस मन्त्र का विनियोग यजमान के द्वारा पवित्र जल के छींटो की आहुति मे किया गया है। म स और का स० में इस मन्त्र के पाठो से प्रकट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे ही विनियोग क्षत्र मे इस मन्त्र ने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था। तै स (३।२।५।६) मे इस मन्त्र का विनियोग सोम याग मे पितरो को आहुति देने म हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मण और श्रौत साहित्य मे भी इस मन्त्र का उपर्युक्त आहुतियो मे विनियोग हुआ है। परन्तु श ब्रा १४।९।३।१३ मे इसका विनियोग किसी महत्त्वाकाक्षा की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म मे किया गया है।

अत यह प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार मुख्यतया पूर्ववर्ती विनियोग ही है। इसके पूर्ण विवेचन के लिये देखिये मन्त्र स ३९१ और ३९३ तथा १ ९१ और १ ९२ के मध्य।

आ० गृ और आप गृ ने एक अन्य आज्य आहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ५।३।२) का विधान किया है —

त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि ॥ [२४]

हे अग्नि जब तुम कन्याओ के (सम्बन्धी) होते हो तो तुम अर्यमा होते हो। और हे आहुति रूप अन्न वाले तुम अपना गुप्त नाम वैश्वानर धारण करते हो। क्योकि तुम दम्पती को सममनस्क बनाते हो अत (सभी जन) दुग्धादि गोविकारो से सुस्थित मित्र के समान तुम्हारी सेवा करते हैं॥ सा

---

१ वा० स १ १२ त स १।८।१४।२ म स २।६।१२ का स १५।८ वा स —जातानि के स्थान पर रूपाणि। श स पूर्णतया ऋ० के समान।

२ म स द्वितीय पक्ति में यत्कामास्ते के स्थान पर यस्मै कम्, इस पक्ति के दोनो पादों के मध्य असा अमुष्य पुत्रोऽमुष्यासौ पुत्र का समावेश है। का सं में भी यह समावेश है परन्तु प्रथम पक्ति मे न त्वदेतान्यन्य के स्थान पर न हि त्वदन्य एता।

३ श ब्रा २।८।१।२ ३।५।७।१ आप श्रौ १८।१६ श्रौ श्रौ १२।१ ।११ मा श्रौ ९।७।३ का श्रौ १५।६।११।

४ आ गृ १।७।७ आप गृ २।५।९ (मं पा १।५।१२)

विवाह प्रसग मे इस मन्त्र का विनियोग सगत प्रतीत होता है क्योकि यह अर्यमा के प्रति सम्बोधित है। अयमा को कई स्थानो पर विवाह से सम्बद्ध कहा गया है। उसका सम्बन्ध सन्तान प्राप्ति के लिये दम्पती के प्रति आशीवचन से भी है।[1] अत वा० गृ० (१६।७) के द्वारा इस मन्त्र का सीमन्तोन्नयन सस्कार मे विनियोग भी सगत है क्योकि वह सस्कार भी सन्तान से सम्बद्ध है।

वधू का स्नान अभिषिञ्चन और प्रक्षालन

भा० गृ० (१।१८) और आग्नि गृ० (१।६।१) मे विधान है कि वर के माता पिता के द्वारा शुल्कदेया कन्या की औपचारिक स्वीकृति के पश्चात् निम्नलिखित चार मन्त्रो का उच्चारण करते हुए उसका जलाभिषिञ्चन करना चाहिये —

हिरण्यवर्णा शुचय पावका यासु जात कश्यपो यास्विन्द्र ।
अग्नि या गर्भं दधिरे विरूपास्ता न आप श स्योना भवन्तु ॥ [२५]

यासा राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
मधुश्चुत शुचयो या पावकास्ता • ॥ [२६]

यासा देवा दिवि कृण्वन्ति भक्ष या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
या पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्रास्ता • ॥ [२७]

शिवेन मा चक्षुषा पश्यताप शिवया तन्वोपस्पृशत त्वच मे ।
सर्वां अग्नींरप्सुषदो हुवे मयि वर्चो बलमोजो निधत्त ॥ [२८]

जिनमे कश्यप उत्पन्न हुआ, जिनसे इन्द्र उत्पन्न हुआ, जो अग्नि को गर्भ रूप मे धारण करते है, सुवर्ण वण वाले, शुद्ध, पवित्र और विविधरूप वाले वे जल हमारे लिये सुख-शान्ति जनक हो। जिनका राजा वरुण जनो के सत्य और झूठ का अवलोकन करता हुआ (सबके) मध्य विचरण करता है, जो मधु (आनन्द) प्रदान करने वाले, शुद्ध, और पवित्र है वे जल । स्वर्ग मे देवता जिनका पान करते है, जो अन्तरिक्ष मे बहुगुणित होते हैं, जो पृथ्वी को भिगो देते है, वे शुद्ध जल । हे जल ! आप मुझे कल्याणमय दृष्टि से देखिये, कल्याणमय शरीर से मेरी त्वचा का स्पर्श कीजिये। मै जल मे निहित सभी (विद्युत्, वडवानल आदि) अग्नियो का आह्वान करता हूँ। मुझमे तेज, बल और ओजस्विता निहित कीजिये।

---

१ ऋ० १०।८५।३६, अथर्व० १४।१।१७, २।१३—अर्यमा त्वादुर्गाहपत्याय। वे० मन्त्र स० १३७।

का० गृ १६।५ मे यह विधान है कि जब शुल्कदेया कन्या के शुल्क के रूप में प्राप्त जल से पूर्ण कास्य पात्र मे निहित सुवर्ण का स्पर्श कन्या के सभी बान्धव करते हैं तब इस मन्त्र-समूह का उच्चारण करना चाहिये।

इन मन्त्रो का समान पाठ तै स और म स में उपलब्ध है और वही से उपर्युक्त गृह्यसूत्रो ने इन्हे उद्धृत किया है। इन मन्त्रो का आदि रूप अथर्ववेद मे और बीज ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। अथर्व १।३३ मे प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध ही द्वितीय तथा तृतीय मन्त्रो के उत्तरार्ध के रूप मे प्रकट होता है। प्रथम मन्त्र मे अथर्व मे कश्यपो यास्विन्द्र के स्थान पर सविता यास्वग्नि पाठ है। इस वेद मे उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध चतुर्थ मन्त्र का भी उत्तरार्ध है। और यही द्वितीय मन्त्र ऋ (७।४६।२) के निम्नलिखित मन्त्र के समान है —

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुत शुचयो या पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

इस समस्त ऋग्वेदीय सूक्त की देवता आप है अतएव प्रतीत होता है कि इसी सूक्त के आधार पर कृष्णयजुर्वेद मे उपरिलिखित मन्त्रो की रचना हुई। इस सूक्त के चारो मन्त्रो का अन्तिम पाद ता आपो देवी इत्यादि समान है और इस पाद का तै स के मन्त्रो के अन्तिम पाद ता न आप शस्योना भवन्तु से अत्यन्त निकट का भाव-साम्य भी है।

आपस्तम्ब ने इन मन्त्रो का विनियोग उस अवसर पर किया है जब वधू के सिर पर निहित सुवर्णमणि से युक्त युगच्छिद्र मे से जल प्रवाहित करके उसके द्वारा उसको स्नान कराया जाता है। गृह्यसूत्रो के मध्य म पा मे इन मन्त्रो की प्राचीनतम परम्परा सुरक्षित प्रतीत होती है क्योकि यहाँ मन्त्रो का अथर्ववेदीय मन्त्रो से अत्यधिक साम्य है। जैसे अथर्व० मे प्रथम मन्त्र मे इन्द्र के स्थान पर अग्नि पाठ है उसी प्रकार यहाँ भी। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध मे म पा० मे विरूपास्ता न के स्थान पर सुवर्णास्तास्ते पाठ है। यहाँ ते पाठ अपेक्षित ही है क्योकि यहाँ इन मन्त्रो के द्वारा वधू का सम्बोधित किया गया है। हि गृ (१।२१।५) मे सप्तपदी के पश्चात् इन मन्त्रो से वर के द्वारा वधू के अभिषिञ्चन का विधान है।

विवाह के अतिरिक्त इन मन्त्रो का विनियोग गृह्यसूत्रो के द्वारा जल से सम्बद्ध अन्य कर्मों मे भी किया गया है। इसी के साथ साथ यह ध्यान

१ तै सं ५।६।१।१ २ म० स २।१३।१।
२ आप गृ० २।४।८ (म० पा १।२।२ ५)।

देने योग्य बात है कि इन मन्त्रो का विनियोग केवल कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रो मे ही हुआ है।

बहुत से गृह्यसूत्र[1] इन मन्त्रो का विनियोग समावर्तन सस्कार मे स्नातक के स्नान कर्म मे करते हैं। आपस्तम्ब के अनुसार[2] समावर्तन म ही स्नातक प्रथम मन्त्र से उपधान सहित सुवर्णमणि को जलपात्र मे तीन बार प्रदक्षिण विधि से घुमाता है और द्वितीय मन्त्र से उस मणि को ग्रीवा मे बांधता है। कुछ गृह्यसूत्रो में[3] इस मन्त्र-समूह का विनियोग वार्षिक अध्ययनावकाश के अवसर पर उत्सर्ग कर्म मे किया गया है। तदनुसार शिष्य और आचार्य इन मन्त्रो का जाप करते हुए नदी मे अवगाहन करते हैं।

वा० गृ० (४।३) इनका प्रयोग चूडाकर्म (मुण्डन) मे उदक-पात्र का अभिमन्त्रण करने के लिये करता है। बौ० गृ० (१।११।६) मे इन मन्त्रो का विनियोग सीमन्तोन्नयन सस्कार मे हुआ है। और आग्नि० गृ० (२।५।१२) मे बीजवपन कर्म मे इनका विनियोग बल के द्वारा हल इत्यादि के धोने के लिये किया गया है। कौशिक सूत्र मे इन मन्त्रो के आधार भूत सूक्त (अथर्व० १।३३) का विनियोग उन अनेक कर्मो मे हुआ है जिनमे जल का प्रयोग होता है। एक स्थान पर (६०।६) इस सूक्त को हिरण्यवर्णा ऋच भी कहा गया है।

यह बहुत आश्चर्यजनक बात है कि यद्यपि इन मन्त्रो के अर्थ से जल के साथ इनका सम्बन्ध स्पष्ट ही अभिव्यक्त होता है तथापि स्रोतोभूत तै० स० और तै० ब्रा० (२।८।६।३) मे इस सम्बन्ध को ध्यान में नही रखा गया। यथा तै० स० मे वेदीचयन के अवसर पर चिनी गई कुम्भेष्टकाओ का इन मन्त्रो से अभिमन्त्रण का निर्देश है। और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पशुकल्प मे वपा (चर्बी) की आहुति के अवसर पर प्रथम मन्त्र पुरोनुवाक्या के रूप मे और द्वितीय मन्त्र याज्या के रूप मे निर्दिष्ट है। इसी पशुकल्प प्रसग मे पुरोडाश की आहुति के अवसर पर तृतीय और चतुर्थ मन्त्र क्रमश पुरोनुवाक्या और याज्या निर्दिष्ट हुए हैं।

इस सम्बन्ध मे यह स्वीकार करने मे हमे सकोच नही होना चाहिये कि इन

---

१ मा० गृ० १।२।११, का० गृ० ३।५, वा० गृ० ६।६, मा० गृ० २।१६, हि० गृ० १।१०।२, आग्नि० गृ० १।३ ३।

२ आप० गृ० २।१२।८ (म० पा० २।७।१६, १७)।

३ मा० गृ० ३।८, हि० गृ० २।१८।६, आग्नि० गृ० १।२।२।

४ कौशिक० ७।१४, ६।१,४, १८।३, ४१।१४, ५४।६, ६०।६, १२१।१, १३६।८।

मन्त्रो के उपयुक्त विनियोग की दृष्टि से गृह्यसूत्र अधिक मौलिक है। उन्होने मन्त्रो के भाव का पूर्ण रूपेण अनुसरण किया है। इन मन्त्रो का गृह्य-मूल इस बात से भी सिद्ध होता है कि इनका मूल प्रमुख रूप से गृह्यमन्त्रो के सग्रह–भूत अथर्ववेद मे विद्यमान है। इन मन्त्रो का किसी सुवर्णमय पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने मे सम्भवतया गृह्यसूत्रो का आधार हिरण्यवर्णा' शब्द रहा होगा। जल को स्वर्ण के समान वर्ण वाला कहने का भाव ऋग्वेद जितना प्राचीन है क्योंकि वहाँ भी (ऋ २।३५।६) यह्वियो (नदियो) को हिरण्यवर्णा कहा गया है।[1]

ये मन्त्र कृष्णयजुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदो से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे क्यो नहीं विनियुक्त हुए इस प्रश्न के सम्बन्ध मे ऐसा प्रतीत होता है कि शब ऋ (१०।९।१-३) के आपोहिष्ठीय मन्त्र अधिक प्रचलित थे क्योंकि जिन कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे हिरण्यवर्णा इत्यादि मन्त्रो का विनियोग है उन मे ही उसी प्रसग मे आपोहिष्ठीय मन्त्रो का विनियोग भी है। (दे मन्त्र स १८६—१८८)

गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र-समूह के साधारण विनियोग का अपवाद का गृ (४३।४) मे प्राप्त होता है जहाँ चतुर्होतृक व्रत के अन्तर्गत अग्नि मे समिदाधान करते हुए इसके उच्चारण का विधान है। सम्भवतया इस विषय मे गृह्यसूत्र ने त स का अनुसरण किया है क्योंकि वहाँ भी मन्त्रोके साथ (इष्टकाओ के) आधान की क्रिया सम्बद्ध है।

इसी मन्त्र-समूह के साथ साथ आप गृ (२।४।८) मे वधू के सिर पर जल प्रसेचन करने के लिये एक समान रूप मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है। म पा (१।२।१) के अनुसार उस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है —

हिरण्यवर्णा शुचय पावका प्र चक्रमुर्हित्वावद्यमाप ।
शत पवित्रा वितता ह्यासु ताभिष्ट्वा देव सविता पुनातु ॥ [२६]

सुवर्ण के समान वर्ण वाले शुद्ध तथा पवित्र जल दूषित तत्त्व का त्याग कर प्रवाहित हो रहे है। इनमे सकडों पवित्र (तत्त्व) फले हुए है।

---

१ इस सम्बन्ध मे वदिक सम्पत्ति के प्रकट रघुनन्दन शर्मा का मत स्मरणीय है। वे ऋग्वेद मे जल का स्वर्ण-वर्ण रूप में वर्णन देखकर तथा जल उक्त वर्ण वाला नहीं होता यह विचार करके यह निर्णय करते हैं कि ऋ में आप' अथवा नदियाँ जल रूप में वर्णित न करके महा प्रकाश-किरण-रूप वर्णित की गई हैं। उनका वर्ण भी सुवर्ण जैसा दृष्टिगोचर होता है।

सवितृ देव उनके द्वारा तुम्हे पवित्र करें।

का० गृ० (३।५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण समावर्तन संस्कार मे स्नातक के स्नान के अवसर पर अन्य मन्त्रो के साथ साथ होना चाहिये।

स्वल्प पाठ-भेद सहित यही मन्त्र मं० ब्रा० (१।२।१) मे प्राप्त होता है। वहाँ वितता हि के स्थान पर विततानि और त्वा के स्थान पर मा पाठ है।

आप० श्रौ० (१०।६।१) मे भी गृह्यसूत्र के समान ही इस मन्त्र से जल क्रिया सम्बद्ध है। वहाँ सोमयाग की दीक्षा मे यजमान इस मन्त्र के द्वारा जल का अभिमन्त्रण करता है।

इस मन्त्र के विनियोग प्रसंग मे भी का० गृ० ४३।४ अपवाद है क्योंकि वहाँ चतुर्होतृ व्रत के अन्तर्गत समिदाधान के निमित्त इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना पूर्वोक्त मन्त्र-समूह के आधार पर ही हुई। अत इस मन्त्र को भी मूल रूप मे गृह्य-मन्त्र ही कहा जा सकता है।

इन सभी मन्त्रो के विषय मे यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन मन्त्रो के बहुविध प्रयोग का क्या कारण है। यह पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि कुछ भी कर्म हो या कोई भी संस्कार, सर्वत्र इन मन्त्रों का जल के साथ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। यह बात विचारणीय नही है कि जल से क्या क्रिया सम्पादित होती है—वह क्रिया स्नान हो, या मार्जन हो, अभिषेक हो या स्नान, जल का ही अभिमन्त्रण हो अथवा जल मे किसी पदार्थ का प्लावन हो—उन सभी स्थलो पर जल ही प्रधान है। जहाँ भी इन मन्त्रो का विनियोग हुआ है वहाँ जल आवश्यक है।

वधू द्वारा विभिन्न वाद्यों का वादन

वधू के स्नान तथा अलंकृत करा दिये जाने पर परिवार का आचार्य कुछ विशेष देवताओ को स्थालीपाक आहुतियाँ अर्पित करता है।[1] इसके पश्चात् वधू निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करती हुई विभिन्न वाद्यो को बजाती है[2] —

शुन वद दुन्दुभे सुप्रजास्त्वाय गोमुख प्रक्रीडयन्तु कन्या.
सुमनस्यमाना सहेन्द्राण्या कृतमङ्गला ॥ [३०]

हे दुन्दुभि, अच्छी सन्तान की प्राप्ति के लिए चारु शब्द करो, हे गोमुख, जिनका मङ्गल कार्य हो गया है ऐसी शुभ मन वाली कन्याए इन्द्राणी के साथ खेले।

---

१ का० गृ० १७।१, मा० गृ० २।१३।६

२ का० गृ० या लौ० गृ० १७।२

ऐसा प्रतीत होता है कि सौ० गृ के रचयिता ने यहाँ शुनम् को अस्पष्ट समझकर उसके स्थान पर स्वनम् शब्द दिया है यद्यपि इस परिवर्तन की विशेष आवश्यकता नहीं। इसी शब्द के स्थान पर सम्भवतया उपर्युक्त कारण से वा पृ० (१३।४) मे शुभम् पाठ है। वा गृ मे प्रकीडयन्तु (प्रेरणायक) के स्थान पर प्रक्रीडन्तु पाठ है जो कि निस्सन्देह अधिक ग्राह्य है। इसमे कुलमङ्गला के स्थान पर स्वयस समोदा पाठ है तथा अन्त म ये पंक्तियाँ भी जोडी गई है —

प्रजापतिर्यो वसति प्रजासु प्रजास्तन्वते सुमनस्यमाना।
स इमा प्रजा रमयतु प्रजात्यै स्वयं च नो रमतां शं ददान ॥ [३१]

जो प्रजापति सभी प्रजाओ मे निवास करता है और शुभ मन वाली प्रजाओं का विस्तार करता है वह सन्तानोत्पत्ति के निमित्त इन प्रजाओं को आनन्दित करे और हमे शान्ति प्रदान करता हुआ स्वय भी आनन्दित हो।

सब मिलाकर वा गृ का पाठ उत्तम प्रतीत होता है क्योंकि विवाह के अवसर पर शुभ की कामना बहुत उपयुक्त है। इनके अतिरिक्त प्रजापतिय इत्यादि पंक्तियाँ भी बहुत उपयुक्त हैं क्योंकि न केवल प्रजापति विवाह का अधिष्ठातृ देव है अपितु इन पंक्तियो मे सन्तानोत्पत्ति की कामना भी दाम्पत्य जीवन का प्रमुख अङ्ग है।

गायन

का गृ २२।१ मे विधान है कि विवाह-पूर्व रात्रि को कुमारियो अथवा अविधवाओ को निम्नलिखित मन्त्र गाना चाहिये —

क्रीड व शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्रगायत ॥ [३२]

हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षियो आप अपने निमित्त रथ पर सुशोभित भ्रातृव्यरहित विहरणशील मरुत्समूहसम्बन्धी बल का सब ओर प्रकृष्ट स्तुतिगान कीजिये ॥ सा

ऋग्वेद मे यह मरुत् देवता वाले सूक्त का प्रथम मन्त्र है। ऐ० ब्रा० शा श्रौ० और शा० श्रौ० मे इसका प्रयोग साकमेध यज्ञ मे क्रीडी रूपी मरुतो के लिए आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप मे हुआ है।[1] परन्तु इस विनियोग से मन्त्र के गृह्य विनियोग की पुष्टि नही होती। यद्यपि मरुतो को भी गायक माना गया है,[2] तथापि इस प्रसग

---

१ ऋ १।३७।१ त स ४।३।१३। मै स ४।१०।५। का स २१।१३ ऐ० ब्रा० ५।१९।१६ शा श्रौ २।१।१६ शा० श्रौ ३।१५।१५

२ वैदिक देव शास्त्र (मैक्डॉनल) मरुद्गुवता सम्बन्धी टिप्पणी।

मे ऐसा प्रतीत होता है कि का० गृ० ने यह गृह्य विनियोग 'अभिप्रगायत' शब्द के आधार पर किया है।

वधू के सिर के ऊपर रथ के जुए को पकड़ना

आप० गृ० और का० गृ०[1] के अनुसार वधू के सिर के ऊपर रथ के जुए के पकडे जाने के समय ऋ० (८।९१।७) के निम्नलिखित मन्त्र[2] का उच्चारण करना चाहिए —

खे रथस्य खेऽनस खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिप्पूत्व्यकृणो सूर्यत्वचम् ॥ [६]

हे शतक्रतु, रथ के छिद्र मे से, बैलगाडी के छिद्र मे से और जुए के छिद्र में से अपाला को तीन बार पवित्र करके हे इन्द्र, तूने सूर्य के समान त्वचा वाली बना दिया है।

मा० गृ० १।८।११ के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण से कास्य पात्र मे स्थापित जल के द्वारा वधू का अभिषिञ्चन किया जाना चाहिए।[3] शा० गृ० और का० गृ०[4] मे इस मन्त्र का विनियोग वधू के पति-गृह को प्रस्थान के समय रथ के छिद्रो मे वृक्ष की शाखाएँ लगाने के लिए किया गया है।

मा० गृ० के विनियोग को छोडकर अन्य सभी स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारो के मस्तिष्क मे मन्त्र मे वर्णित रथादि के छिद्रो का भाव विद्यमान था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ध्यान मे वह परम्परागत कथा भी थी जिसके अनुसार इन्द्र ने अपाला नाम की एक स्त्री को रथ के, बैलगाडी के तथा जुए के छिद्रो मे से तीन बार खीचकर निकाला और उसे सूय के समान तेजस्वी त्वचा प्रदान की। इसके गृह्य विनियोग की पृष्ठभूमि मे भी सम्भवतया यह भावना रही होगी कि वधू भी इसी प्रकार की तेजोयुक्त त्वचा प्राप्त करे। या फिर इस मन्त्र का समावेश विवाह कर्म मे केवल इसलिए कर लिया गया क्योकि यह अथर्व० (१४।१) के विवाह सूक्त मे है।

---

१ आप० गृ० २।४।८ (म० पा० १।१।९) प्रथमपाद—'खेऽनस खेरथ', पूत्व्यकृणो के स्थान पर पूत्व्यकरत्, का० गृ० २५।६ द्वितीय पक्ति —अपालामिन्द्र त्रिप्पूत्वा करोतु सूर्यवर्चसम्॥

२ दे० अथर्व १।४।१।४१—निष्पूत्व्यकृणो के स्थान पर त्रिष्पूत्वाकृणो।

३ मा० गृ० इन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणो के स्थान पर इन्द्रस्त्रि पूर्त्यवकृणोत्।

४ शां० गृ० १।१५।६, का० गृ० २६।३

डॉ॰ राम गोपाल ने ऋ॰ ८।९१ की आख्यान विहीन व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार इसमें पार करने में कठिन अपाला अथवा अपाला नदी का वर्णन है। तदनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

रथ (आकार शिला) के विवर में से बैल गाड़ी (-आकार शिला) के विवर में से और युग (-आकार शिला) के विवर में से इस नदी को तीन बार पवित्र करके इन्द्र ने उसके ऊपरी तल को सूर्य के समान उज्ज्वल कर दिया।[1]

का॰ गृ॰ ने[2] इसका विनियोग वधू को नव परिधान प्रदान करने की क्रिया में किया है। इस विनियोग की पुष्टि न तो किसी पूर्व परम्परा से और न ही मन्त्रार्थ से होती है।

वधू-गृह के प्रति वर-यात्रा

का॰ गृ॰ २३।१ ४ में वधू गृह के प्रति वर यात्रा का विशद तथा पूर्ण वर्णन दिया गया है। तदनुसार प्रस्थान करने से पूर्व वर और उसके सम्बन्धी निम्नलिखित मन्त्र[3] का उच्चारण करते हुए किसी जलाशय पर जाते हैं—

पूषा मा प्रपथे पातु पूषा मा पशुपाः पातु पूषा माधिपतिः पातु। [३३]

पूषा मार्ग में मेरी रक्षा करे, पशुओं का रक्षक पूषा मेरी रक्षा करे, (सबका) स्वामी पूषा मेरी रक्षा करे।

मन्त्र का यह पाठ का॰ सं॰ से उद्धृत है। आप॰ श्रौ॰ के षष्ठ काण्ड में इसका विनियोग अग्निहोत्र कर्म में सभी लोकों के उपस्थान में हुआ है। सप्तम काण्ड में

---

१ वि॰ इ॰ ज॰ खण्ड २ अंक १ (ए नॉन लिजेण्डरी इंटरप्रिटेशन ऑफ दि अपाला सूक्त पृ॰ ५५-७२)।

२ का॰ गृ॰ १४।१ द्वितीय पंक्ति-मवालामिन्द्रस्त्रि पूर्व्यकृणोत् सूर्यत्वचम्॥ अधिकतर उपरिलिखित पाठ-भेद भ्रष्ट पाठ के प्रयोग हैं। दे॰ डॉ॰ राम गोपाल नान लिजण्डरी इंटरप्रिटेशन ऑफ दि अपाला सूक्त वि॰ इ॰ ज॰ खण्ड २ अंक १ पृष्ठ ५६।

३ म॰ सं॰ १।५।४ ११ का॰ सं॰ ७।२ ६ आप॰ श्रौ॰ ६।१८।३ ७।२३।६ मा॰ श्रौ॰ १।६।२।१३। (म॰ सं॰ प्रपथे और अधिपति के स्थान पर क्रमशः पथिपा और अधिपा आप॰ श्रौ॰ म॰ सं॰ के समान पूषा माधिपतिः पातु भी जोड़ता है।

पशुबन्ध यज्ञ में जब आहुति के लिये पशु के खण्डो का अधिश्रपण (पाचन) किया जाता है, तो यजमान पुरोहित से तीन बार पूछता है कि आहुति का अधिश्रपण हो गया है या नही, प्रत्येक बार जब वह यह प्रश्न पूछता है तो वह क्रमश इस मन्त्र के एक एक अश का उच्चारण करता हुआ कुछ पद आगे बढता है। सम्भवतया इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार आ० श्रौ० का श्रौत विनियोग है क्योकि दोनो स्थलों पर मन्त्र से गमन क्रिया ही सम्बद्ध है।

जलाशय पर पहुँचने के पश्चात् यह विधान है कि ऋ० १०।९।४ के उच्चारण से उन सबको अपने सिर पर जल का अभिषिञ्चन करना चाहिये और उसका आचमन करना चाहिये —

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शयोरभिस्रवन्तु न ॥ [३४]

जल देवता हमारी इच्छा के अनुकूल हमारी रक्षा के लिये शान्त हो। वे हमारे लिये शान्त और सुख पूर्ण होकर प्रवाहित हो।

इस मन्त्र का विनियोग अन्य गृह्यसूत्रो मे विभिन्न कर्मों मे हुआ है। आ० गृ० (४।७।११) के अनुसार इसके द्वारा मासिक श्राद्ध में जल का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। कौशिक० १४०।५ मे इन्द्रमहोत्सव मे राजा तथा ब्रह्मा पुरोहित के द्वारा जल का आचमन करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। हि० गृ० १।५।७ मे उपनयन सस्कार के अन्तर्गत जब आचार्य और शिष्य जल द्वारा अपना मार्जन करते हैं उस समय इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है।

तै० स० और मै० स० के अतिरिक्त यह मन्त्र सभी सहिताओ मे विद्यमान है।[1] विशेष वेदो के अध्ययन के लिये विशेष मन्त्रो के प्रयोग के विषय मे विचार करते हुए गो० ब्रा० (१।२९) ने कहा कि है अथर्ववेद के अध्ययन का प्रारम्भ उपरि-लिखित मन्त्र का उच्चारण करके करना चाहिए क्योकि जल अथर्ववेद का आयतन है और यह मन्त्र भी जल की स्तुति है। इसके महत्त्व का वर्णन करते हुए आगे चल कर कहा गया है कि सभी प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, इसीलिये यह सब जल से परिपूर्ण—भृग्वङ्गिरा से युक्त हो गया है। कुछ अन्य ग्रन्थो मे अग्न्याधान कर्म मे वेदी का जल द्वारा अभिषिञ्चन करने के लिये इस मन्त्र का विनियोग हुआ है।[2] मा० श्रौ० (६।१।५।२०) के अनुसार वेदीचयन कर्म में इस मन्त्र का उच्चारण

---

१ अथर्व० १।६।१, वा० स० ३६।१२, का० स० १३।१६, ३८।१३

२ तै० ब्रा० १।२।१।११, ३।५।८।५, तै० आ० ४।४२।४, आप० श्रौ० ५।४।१, १६।१४।१।

करते हुए होता जल द्वारा अपना मार्जन करते हैं। और शां० श्रौ० विभिन्न यज्ञों मे जल द्वारा वक्ष स्थल के मार्जन की क्रिया के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान करता है।[1]

इस मन्त्र के इतने अधिक और विविध प्रयोगों का आधार भिन्न भिन्न कर्मों मे जल का प्रयोग है इस मन्त्र का देवता जल है ही।

जलाशय पर अभिषिञ्चन के पश्चात् वे अभीष्ट दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और उस समय जिस दिशा मे भी उन्हें जाना हो उसके अनुसार निम्नलिखित मन्त्रों मे से किसी एक का उच्चारण करते हैं[2] —

प्राची दिगग्निर्देवताग्नि स ऋच्छतु यो मतस्या दिशोऽभिदासति ॥१॥
दक्षिणा दिगिन्द्रो देवतेन्द्र " ॥२॥
प्रतीची दिक सोमो देवता सोम ॥३॥
उदीची दिङ्मित्रावरुणौ देवता मित्रावरुणौ ॥४॥
ऊर्ध्वा दिग बृहस्पतिर्देवता बृहस्पतिम् ॥५॥
इय दिगदितिर्देवतादितिम् ॥६॥ [३५ ४०]

(यह) प्राची दिशा है इसकी देवता अग्नि है जो मुझे इस दिशा से बाधित करता है वह (विनाश के लिये) अग्नि को प्राप्त हो॥ (यह) दक्षिण दिशा है इसकी देवता इन्द्र है ॥ (यह) पश्चिम दिशा है इसकी देवता सोम है ॥ (यह) उत्तर दिशा है इसकी देवता मित्रावरुण है ॥ (यह) ऊर्ध्व दिशा है इसकी देवता बृहस्पति है ॥ (यह) मही दिशा है इसको देवता अदिति है ॥

म० सं० और का स० मे ये मन्त्र उसी स्थल पर उपलब्ध होते हैं जहाँ पृथा मा अपचे इत्यादि मन्त्र है। इन मन्त्रो का मूल स्रोत ये संहिताएँ ही प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलो पर इन संहिताओं में केवल दिशाओ और उनके अधिष्ठाता देवताओ के नाम दिये गये हैं।[3] त ब्रा (३।११।५।१ २) मे नाचिकेताग्नि के चयन कर्म मे विशिष्ट आहुतियाँ प्रदान करने के लिये इनका

---

१ शां श्रौ० ४।११।६ ९।१९ ८।६।७।

२ पि ले केवल पूर्व दिशा और प्रथम मन्त्र का उल्लेख करता है (नॉन ऋग मन्त्रज इन मरेस पृ ११७-११८) जबकि सूत्र (का० गृ २३।४) मे स्पष्टतया यथादिशम् निर्देश है।

३ म० सं० २।७।२० २।१३।२१ का० सं ३९।७।

विनियोग हुआ है। आप० श्रौ० और मा० श्रौ० मे[1] अग्निहोत्र कर्म मे विभिन्न दिशाओ के उपस्थान के लिये इनके उच्चारण का विधान है। आप० श्रौ० मे अन्य स्थलो पर भी ये मन्त्र प्राप्त होते है।[2]

वधू-गृह से वर का स्वागत मधुपर्क

मधुपर्क से अभिप्राय दही, मधु और घी के मिश्रण से है। यह मिश्रण वर तथा अन्य विशिष्ट अतिथियो के सम्मान मे उपहृत किया जाता है। अर्घ्य अर्थात् अतिथि सत्कार कर्म का प्रमुख तत्त्व मधुपर्क उपहृत करना ही है। परन्तु इसके अपहरण से पूर्व और इसके पश्चात् अतिथि-सत्कार के लिये आवश्यक अन्य पदार्थ भी उसे उपहृत किये जाते हैं। सत्कार-कर्ता द्वारा दिये जाने पर और अतिथि द्वारा उन पदार्थों के स्वीकार किये जाने पर विशेष मन्त्रो का उच्चारण किया जाता है जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

विष्टर अथवा आसन

अतिथि को विष्टर प्रदान किये जाने पर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस पर बैठ जाना चाहिये[3] —

अहं वर्ष्म सजातानां विद्युतामिव सूर्यः ।
इदं तमधितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ।। [४१]

मैं सभी सहजात व्यक्तियो मे श्रेष्ठ हूँ जिस प्रकार चमकने वाले पदार्थों में सूर्य श्रेष्ठ है। जो कोई भी मुझे बाधित करता है, यह मैं उसको दबा देता हूँ।

मन्त्र का यह पाठ आ० गृ० मे दिया गया है। दूसरे गृह्यो के पाठों मे कुछ भेद हैं। यथा मा० गृ० में विद्युताम् के स्थान पर उद्यताम्, सजातानाम् के स्थान पर सदृशानाम् और अधितिष्ठामि के स्थान पर अभितिष्ठामि पाठ है। वा० गृ० मे पाठ मा० गृ० के पाठ के बहुत समान है। केवल भेद उद्यताम् के स्थान पर उद्यतानाम् और अभितिष्ठामि के स्थान पर अधरम् करोमि है। इसमे इदम् और तम् के मध्य अहम् का समावेश भी किया गया है। पा० गृ० के पाठ मे मा० गृ० के निकट होते हुए भी अधिक भेद है। इसमे प्रथम पाद

वर्ष्मोऽस्मि समानानाम् [४२]

---

१ आप० श्रौ० ६।१८।३, मा० श्रौ० १।६।२।१४।

२ आप० श्रौ० १७।२।२, ३।६, २०।१४।

३ आ० गृ० १।२४।८, मा० गृ० १।९।८, वा० गृ० १२।७, पा० गृ० १।३।८।

है और मन्त्र के उत्तरार्ध में इदम् के स्थान पर इमम् और कश्च के स्थान पर कश्चित् पाठ है।

सम्भवतः इस गृह्य विनियोग का मूल श्रौत विनियोग में है क्योंकि शा० श्रौ० (४।२१।२) में भी आसन पर बैठने के लिए इसके उच्चारण का विधान है। शा० गृ० का पाठ शां० श्रौ० के निकटतम है। केवल भेद यह है कि शा० श्रौ० में सजातानाम् के स्थान पर सदृशानाम् और मा कश्च के स्थान पर अस्मान् पाठ है। इस मन्त्र के अर्थ से यह प्रकट होता है कि आसन पर बैठना अतिथि के शत्रुओं के दमन का प्रतीक था।

का० गृ० (२४।७) में विष्टर पर बैठने से पूर्व उसको फैलाने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है —

विष्टरोऽसि मातरि सीद॥ [४३]

तुम आसन हो माता (पृथ्वी) पर स्थान ग्रहण करो।

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि मातरि शब्द भूमि के प्रति मातृत्व की भावना की ओर संकेत करता है। यह गृह्यसूत्र विष्टर पर बैठने की क्रिया के साथ किसी भी मन्त्र के उच्चारण का विधान नहीं करता।

गोभिल और खादिर विष्टर के फैलाने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान करते हैं[1] —

या ओषधी सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
ता मह्यमस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्म यच्छत॥ [४४]

जिनका राजा सोम है ऐसी जो सैकड़ों दृष्टि वाली बहुत सी ओषधियाँ हैं वे निर्दोष होकर मुझे इस आसन पर शरण दें।

ये गृह्यसूत्र इस प्रकार आस्तृत आसन पर बैठने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग करते हैं[2] —

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
ता मह्यमस्मिन् पादयोरच्छिद्राः शर्म यच्छत॥

जिनका राजा सोम है ऐसी जो ओषधियाँ सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्थित हैं वे निर्दोष होकर इस (आसन) पर मेरे पाँवों को शरण दें।

इन दोनों मन्त्रों के पूर्वार्ध ऋ० और वा० सं० में विद्यमान हैं।[3] अथर्व

१ गो० गृ० ४।१०।१६ (मं० ब्रा० २।८।३) खा० गृ० ४।४।१६।
२ गो० गृ० ४।१०।१७ (मं० ब्रा० २।८।४) खा० गृ० ४।४।१०।
३ ऋ० १०।९७।१८, १९, वा० सं० १२।९२, ९३।

(६।६६।१) में केवल प्रथम मन्त्र का पूर्वार्ध प्राप्त होता है और तै० म० (४।२।६।४-५) में केवल द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध। कौशिक० (३१।२२) के अनुसार मन्त्र के अथर्ववेदीय पाठ का उच्चारण जलोदर रोग के निवारणार्थ क्रिया में किया जाना चाहिये।

परन्तु इन दोनों मन्त्रों का सीधा स्रोत ऐ० ब्रा० (८।२७।५-६) प्रतीत होता है जहाँ इन का पाठ उपरिलिखित पाठ के समान है।[1] इस ब्राह्मण के अनुसार इनका उच्चारण राजा द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के अवसर पर अनुष्ठित कर्म में होना चाहिये। वहाँ भी पुरोहित इन का उच्चारण राजा द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठने के समय करता है।

इन मन्त्रों में सम्भवतया ओषधियों से प्रार्थना इसलिये की गई है क्योंकि अतिथि के लिये उपहृत आसन घास द्वारा निर्मित होता था।

इस आसन के पश्चात् पाद्य (पाँव रखने के लिये आसन) भी प्रदान किया जाता है, परन्तु उसमें किसी मन्त्र का विनियोग विहित नहीं है।

पादोदक अथवा पाद-प्रक्षालनार्थ जल

अतिथि के लिये पाद-प्रक्षालनार्थ जल प्रदान किये जाने पर वह निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा उसका अभिमन्त्रण करता है[2] —

आप पादावनेजनीर्द्विषन्त नाशयन्तु मे।
अस्मिन् कुले ब्रह्मवर्चस्यसानि ॥ [४५]

पाँवों पर बहने वाला जल मेरे शत्रु को नष्ट कर दे, मैं इस कुल में ब्रह्म-तेज से युक्त हो जाऊँ।

कौशिक० (९०।११) में प्रक्षालित चरणों के अभिमन्त्रण के लिये एक इससे मिलते जुलते मन्त्र का विनियोग हुआ है। कौशिक० के मन्त्र में उपरिलिखित मन्त्र का पूर्वार्ध उत्तरार्ध के रूप में है—उसमें नाशयन्तु के स्थान पर निर्दहन्तु पाठ है। उसका पूर्वार्ध निम्नलिखित है —

इमौ पादाववनिक्तौ ब्राह्मण यशसावताम् ॥ [४६]

ये दोनों प्रक्षालित पाँव यश के द्वारा ब्राह्मण की रक्षा करें।

---

[1] इसके द्वितीय मन्त्र में प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध की पुनरावृत्ति है। अच्छिद्रा के स्थान पर अच्छिद्रम् पाठ है, तदनुसार यह शम का विशेषण हो जायगा।

[2] बौ० गृ० १।२।२०, आप० गृ० ५।१३।५ (म० पा० २।९।१०), मा० गृ० २।२३, वै० गृ० २।१६, इसमें इसका विनियोग पाद-प्रक्षालनार्थ किया गया है।

मन्त्र की यह पंक्ति किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे अप्राप्य है। इसी प्रकार उपरि लिखित मन्त्र का उत्तरार्ध भी किसी गृह्यसूत्र-पूर्व ग्रन्थ मे अप्राप्य है। जहाँ तक पूर्वार्ध (आप पादौ आदि) का सम्बन्ध है वह ऐ० ब्रा (८।२७।९) से उद्धृत है जहाँ उसका विनियोग राजा द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के प्रसग मे किया गया है। ऐ ब्रा के अनुसार भी राजा इसका उच्चारण पुरोहित के पाद प्रक्षालन के समय करता है। कौशिक० मे प्राप्त मन्त्र के इस अश का पाठ अन्य गृह्यो के पाठ से प्राचीनतर प्रतीत होता है क्योंकि ठीक ऐ ब्रा के अनुसार इसमे भी मन्त्र मे निवहन्तु मे पाठ ग्रहण किया गया है।

बौधायन और पारस्कर अतिथि के पाद-प्रक्षालनार्थ अधोलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान करते है[1] —

विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्याय विराजो दोह ॥ [४७]

हे जल तुम विराट (महत्ता) का दूध (सार) हो। म विराट के दूध का भोजन करूँ पाँव धोने के लिये विराट का दूध मुझमें (सशक्त होकर रहे)।

शा गृ० (३।७।५) ने विधान किया है कि प्रवास से लौट कर गृहस्थ को पादप्रक्षालनार्थ जल इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ग्रहण करना चाहिये। इसमे पाद्याय के स्थान पर पद्याये पाठ है। बै० गृ० (२।१५) के अनुसार पादप्रक्षालन के पश्चात अतिथि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ का हाथ पकडता है। हि० गृ (१।१३।१) मे भी इसी क्रिया के साथ मन्त्र का प्रयोग विहित है परन्तु वहाँ विराजो दोहमशीय शब्द नही रखे गये और अवशिष्ट मन्त्र को निम्नलिखित रूप मे दो भागो मे विभाजित किया गया है —

विराजो दोहोऽसि ॥ मयि दोह पद्याय विराज ॥ [४८]

क्योंकि उपयक्त सभी प्रसगो मे किसी न किसी प्रकार इस मन्त्र का सम्बन्ध पाँव से है अत ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारो के मतानुसार पद्याय अथवा पाद्याय का अर्थ पाँव से सम्बद्ध अथवा पाँव के निमित्त है।

परन्तु कुछ गृह्यसूत्रो मे इस अर्थ को महत्त्व नही दिया गया और इसीलिए वहां इस मन्त्र का विनियोग पाँव से असम्बद्ध कर्मों मे भी हुआ है। सम्भवतया उन स्थलो पर पद्याय अथवा पाद्याय का अथ पद के पाठो से युक्त हो। तदनुसार आ० गृ (१।२४।१६) ने इस मन्त्र के उच्चारण का विधान मधुपर्क-भक्षण के साथ किया

---

1 बौ० गृ० १।२।२८ पा० गृ० १।३।१२।

है और उसी के अनुसार मन्त्र को निम्नलिखित तीन भागो में विभाजित किया है —

विराजो दोहोऽसि ॥ विराजो दोहमशीय ॥ मयि दोह: पद्यायै विराज ॥

वा० गृ० (१२।५) के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण के साथ अतिथि को मधुपर्क-अवलोकन करना चाहिये। भा० गृ० (१।६।७) मे निर्देश है कि जब अर्घ्य के उपकरण लाये जायें तब अतिथि इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उनका अवलोकन करे। इस गृह्य मे आ० गृ० मे उद्धृत मन्त्र के आगे कल्पताम् जोडा गया है जिससे स्पष्टता आ गई है। का० गृ० (२४।६) के अनुसार अतिथि को इसका उच्चारण तब करना चाहिये जब वे उपकरण उसके पास लाये जा रहे हों। इसमे मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है —

मयि दोहोऽसि विराजो दोह: पाद्यायै विराजो दोहमशीय ॥ [४९]

परन्तु आप० गृ० और भा० गृ० मे इस मन्त्र का सम्बन्ध अर्घोदक ग्रहण करने की क्रिया के साथ जोडा गया है।[1] म० पा० में आ० गृ० के अशीय के पश्चात् मम पद्याय विराज का समावेश किया गया है। म० पा० का यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। जहाँ जहाँ यह मन्त्र पाँवो से सम्बद्ध कर्मो मे विनियुक्त नही किया गया, ऐसा प्रतीत होता है कि उन सभी स्थलों पर गृह्यसूत्रकारों के मस्तिष्क मे विराज का अर्थ उस नाम का छन्द विशेष रहा होगा जो कि पद्य अथवा पाद्य अर्थात् पादो से युक्त है।[2] विराज् की व्याख्या के विषय में शतपथ ब्राह्मण का वह अनुच्छेद देखना चाहिये जहाँ इसे पृथ्वी का विशेषण बनाया गया है।[3]

इस मन्त्र का मूल सम्भवतया श्रौत-कर्मकाण्ड मे है क्योंकि शा० श्रौ० (४।२१।३) मे भी अर्घ्य के अन्तर्गत अतिथि के द्वारा पाद्य जल ग्रहण के समय इसके उच्चारण का निर्देश है। और इस दृष्टि से पाँव सम्बन्धी कर्मो मे इस मन्त्र का प्रयोग अधिक मौलिक प्रतीत होता है।

गोभिल और खादिर का विधान है कि अतिथि को निम्नलिखित मन्त्रों में से प्रथम से अपने वाम-पाद, द्वितीय से दक्षिण-पाद और तृतीय से दोनो पादो का एक साथ प्रक्षालन करना चाहिये[4] —

---

१. आप० गृ० ५।१३।८, (म० पा० २।९।१३) भा० गृ० २।२४।
२ ओल्डन वर्ग, से० बु० ई०, खण्ड २९, पृ० ९७-९८ (पाद-टिप्पणी)
३ श० ब्रा० १।५।२।२०-इयं वै विराट् ॥
४ गो० गृ० ४।१०।१०, ११ (म० ब्रा० २।८।६-८), खा० गृ० ४।४।११, १२, १४

सव्यं पादमवनेनिजेऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे ॥ [५०]
दक्षिणं पादमवनेनिजेऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयामि ॥ [५१]
पूर्वमन्यमपरमन्यमुभौ पादाववनेनिजे ।
राष्ट्रस्यर्द्धया अभयस्यावरुद्धय ॥ [५२]

मैं वाम पाद धोता हूँ (और) इस राष्ट्र में लक्ष्मी को स्थापित करता हूँ। मैं दक्षिण पाद धोता हूँ (और) इस राष्ट्र में लक्ष्मी का समावेश करता हूँ। पहले दूसरा फिर दूसरा (इस प्रकार) दोनों पाद धोता हूँ—राष्ट्र की समृद्धि के लिये (और) अभय के अवरोध के लिये।

ये मन्त्र ऐ० ब्रा० (८।२७।८) में से उद्धृत किये गये हैं क्योंकि वहाँ से पुरोहित की नियुक्ति के अवसर पर राजा इन मन्त्रों के उच्चारण से उसके पाँव धोता है। राष्ट्र शब्द को ब्राह्मण से ज्यों का त्यों ग्रहण करते हुए गृह्यसूत्रकारों ने प्रसंग की ओर उचित ध्यान नहीं दिया है। ब्राह्मण में तो राजा किसी व्यक्ति को राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर रहा है और इसलिये उसके द्वारा राष्ट्र शब्द का उच्चारण उपयुक्त है। परन्तु दूसरी ओर गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग गृह्य-कर्म में हुआ है। इसलिये राष्ट्र का उच्चारण अप्रासंगिक प्रतीत होता है। हा० का० गृ० (२४।१) ने अवश्य इस ओर ध्यान दिया है और वहाँ राष्ट्र के स्थान पर कुले पाठ है। उसमें मन्त्र निम्नलिखित रूप में प्राप्त होते हैं—

दक्षिणं पादमवनेनिज इदमहमस्मिन् कुले ब्रह्मवर्चसं दधामि ॥
उत्तरं पादमवनेनिज इदमहं मयि तेजो वीर्यमन्नाद्यम् प्रजां पशून्
ब्रह्मवर्चसं दधामि ॥ [५३]

मैं दक्षिण पाद धोता हूँ यह मैं इस कुल में ब्रह्मतेज स्थापित करता हूँ। मैं वाम पाद धोता हूँ यह मैं अपने आप में तेज, वीरता, अन्न खाने की शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज स्थापित करता हूँ।

मयि तेज आदि शब्दों की तुलना अधोलिखित मन्त्र से की जा सकती है जिसका विनियोग अधिकांश कृष्ण-यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में उस प्रसंग में किया गया है जब अपने पाँव धोये जाने पर अतिथि स्वयं अपना स्पर्श करता है। मं० पा० में उस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है—

---

१ बौ० गृ० १।२।२४-२५, आप० गृ० ५।१३।१६ (मं० पा० २।६।११), हि० गृ० १।१३।१, भा० गृ० २।२३, आग्नि० गृ० २।६।६।

मयि महो मयि यशो मयीन्द्रिय वीर्यम् ॥ [५४]

शांखि० गृ० ने मह और मयि के मध्य मयि भर्ग का समावेश किया है। हि० गृ० में मन्त्र का निम्नलिखित पाठ प्राप्त होता है —

मयि तेज इन्द्रिय वीर्यमायु कीर्तिर्वर्चो यशो बलम् [५५]

वै० गृ० (२।१६) में हि० गृ० के उपर्युल्लिखित मन्त्र के आगे ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यम् जोड़ा गया है और इसका विनियोग अर्घोदक और आचमनीय जल के ग्रहण में किया गया है।

मयीन्द्रिय वीर्यम् को छोड़कर शेष मन्त्र श० ब्रा० (१२।३।४।६) में उपलब्ध होता है जहां यज्ञों में किये जाने वाले सवनों के अन्त में उसके जाप का विधान है। अन्य ब्राह्मणों और श्रौत सूत्रों में भी यह प्राप्त होता है।[1] मयीन्द्रिय वीर्यम् का स्रोत सम्भवतया मै० स० ८।६।१३ है। श० ब्रा० १४।६।४।६ में विधान है कि पुत्रमन्थ कर्म में यदि यजमान जल में अपना प्रतिबिम्ब देखे तो उसे मयि तेज इन्द्रियम् का उच्चारण करना चाहिये।

जै० गृ० (१८।१५) के अनुसार अपने पांव धोये जाने पर अतिथि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपना स्पर्श करता है —

मयि श्री श्रयता मयि पद्या विराट् ॥ [५६]

मयि श्री श्रयताम् शब्दों का स्रोत सम्भवतया ऋ० खि० ५।८७।१० है।

अर्घ्य जल

गोभिल और खादिर ने विधान किया है कि जब अतिथि को अर्घ्य जल प्रदान किया जाय तो उसे वह (जल) निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्वीकार करना चाहिये[2] —

अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम् ॥ [५७]

हे जल, तुम अन्न के स्वामी हो, मैं तुम्हारा स्वामी हो जाऊँ।

यह मन्त्र किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है।

का० गृ० (२४।११) में अतिथि द्वारा अर्घ्य जल के स्वीकार किये जाने के प्रसंग में प्रसिद्ध आपोहिष्ठीय मन्त्रों (ऋ० १०।६।१-३) का विनियोग किया गया है।

---

१ गो० ब्रा० १।५।१५, १७, शां० श्रौ० ५।१।१०, का० श्रौ० १३।१।१२।
२ गो० गृ० ४।१०।१२ (म० ब्रा० २।८।६), खा० गृ० ४।४।१५।

इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में किया गया है।[1]

पा गृ (१।३।१३) के अनुसार अर्घ्य जल ग्रहण करते हुए अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

आप: स्थ युष्माभि: सर्वान् कामानवाप्नवानि॥ [५८]

तुम जल हो मैं तुम्हारे द्वारा सभी कामनाएँ पूर्ण कर लूँ।

यह मन्त्र गृह्यसूत्र के पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने अतिथि द्वारा जल ग्रहण करने के प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया है[2] —

आ मा गन्यशसा संसृज तेजसा वर्चसा पयसा च।
तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनाम्॥ [५९]

हे जल मेरे पास आओ। मुझे यश से तेज से, वर्चस् से और (पवित्र) जल से संयुक्त करो। उस प्रकार के मुझे प्रजाओं का प्रिय और पशुओं का स्वामी बना दो।

पा गृ (१।३।१४) में पूर्वार्ध में तेजसा पयसा च शब्द नहीं है और उत्तरार्ध के आगे अरिष्टिं तनूनाम् जोड़ा गया है। पा गृ में इसका विनियोग आचमनीय जल का आचमन करने में किया गया है। बौधायन और भारद्वाज के अनुसार इसका उच्चारण अतिथि के द्वारा पाद्य जल से अपने पाँव धोने के समय किया जाना चाहिए।[3]

प्रकट है कि इस मन्त्र के विविध प्रयोग का आधार जल सम्बन्धी विभिन्न कर्मों में इसका विनियोग है। परन्तु म गृ (२।१६) में इसका विनियोग अतिथि को मधुपर्क प्रदान करने के प्रसंग में किया गया है। यह मन्त्र भी किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्घ्य जल को प्रवाहित करना चाहिए —

---

१ दे० मन्त्र सं० १८६ १८८।

२ आप० गृ० ५।१३।८ (मं० पा २।६।१२) हि गृ १।१।३।

३ बौ० गृ १।२।२७ भा गृ० २।२३।

४ बौ० गृ १।२।२९ पा गृ १।३।१४ आप गृ ५।१३।१२(मं पा २।९।१४) हि गृ १।१३।४ भा गृ २।२४।

समुद्र व प्रहिणोमि स्वा योनिमपि गच्छत ।
अच्छिद्र प्रजया भूयास मा परासेचि मत्पय ।। म० पा० [६०]

हे जल, मै तुम्हे समुद्र मे भेजता हूँ, तुम अपने ही जन्म स्थान को जाओ। मैं सन्तान के द्वारा विच्छेदरहित हो जाऊँ, मुझमे जीवनरस दूर न हो।

हि० गृ० और पा० गृ० मे इस मन्त्र के पाठ मे स्वल्प भेद है। हि० गृ० मे प्रहिणोमि और 'स्वास्' के मध्य 'अक्षिता' का समावेश किया गया है और इस प्रकार पूर्वार्ध मे अनुष्टुभ् छन्द विकृत हो गया है। पा० गृ० मे अपिगच्छत के स्थान पर अभिगच्छत पाठ है और तृतीय पाद अच्छिद्र प्रजया भूयासम् के स्थान पर अरिष्टा अस्माक वीरा है। इस प्रकार जहा अच्छिद्रा इत्यादि मे एक अक्षर अधिक है वहाँ पारस्कर ने उसे पूर्ण अष्टाक्षर पाद वाला अनुष्टुभ् बनाकर छन्द मे सुधार किया है। अन्यत्र म० पा० मे भी इस पाद का पाठ पारस्कर वाला ही है। वहा इसके आगे सन्तु जोड़ा गया है और मत्पय के स्थान पर मे धनम् पाठ है। उस स्थान पर इसका विनियोग शाला निर्माण कर्म मे जल कुम्भ मे से जल प्रवाहित करने मे हुआ है।[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ भी मधुपर्क के समान ही मन्त्र जल प्रवाहित करने की क्रिया मे सम्बद्ध है। शा० गृ० (६।६।१३) मे भी तर्पण के अवसर पर जल प्रवाहित करने के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। कौशिक० (६।१६) मे दर्शपौर्णमासेष्टि मे पत्नी के हाथ मे जल प्रवाहित करने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। मा० गृ० (२।११।१८) के अनुसार गृह निर्मित हो जाने पर उसमे प्रवेश के अवसर पर इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ गृहस्थ पूर्वोत्तर दिशा मे स्थापित जल-कुम्भ के निकट एक उद-पात्र स्थापित करता है। कौशिक० १३६।६ मे स्पष्टतया जल-स्थापन से सम्बद्ध सभी कर्मो मे इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

इस मन्त्र की तुलना अथर्व० १०।५।२३ से की जा सकती है। परन्तु इस मन्त्र का सीधा स्रोत श्रौत सूत्र ही प्रतीत होते हैं क्योकि वहा न केवल मन्त्र का पाठ गृह्य-पाठ के समान है अपितु विभिन्न यज्ञो मे जल अथवा दुग्ध प्रवाहित करने की क्रिया मे विनियोग भी गृह्य विनियोग जैसा है।[2]

आचमनीय अर्थात् आचमनार्थ जल

अधिकाश गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित मन्त्रो मे से प्रथम के उच्चारण का विधान मधुपर्क से पूर्व आचमनीय का आचमन करने के लिये किया गया है और द्वितीय मन्त्र

१ शा० गृ० ७।१७।१० (म० पा० २।१५।१६)।

२ आ० श्रौ० ३।११।१६, शा श्रौ० ४।११।१६, ८।६।६, ला० श्रौ० २।१।७ ३।५।१७, आप० श्रौ० ४।१४।४, ६।५।६, १३।१८।१, २०।१२, मा० श्रौ० १।४।३।६, २।५।४।१२, ३।२।२।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोजवः पादयो ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निमृष्ट ॥ [८५]

मेरे मुख मे वाणी नासाओं मे प्राण आँखो मे दृष्टि कानों में श्रवण शक्ति हो अनपके बाल और रुधिर भरण रहित दाँत हो मेरी भुजाओं में बहुत बल हो। जाँघों मे ओज पिण्डलियों मे वेग पाँवो मे स्थय हो मेरे (सब अग) रोग रहित और मेरा पूण शरीर पूण रूपेण स्वस्थ हो।

क्योकि इन मन्त्रों मे अगो की सूची मे और अगो के नाम आ गये हैं अत अथर्व की यह सूची अधिक पूण है।

गो

अन्त मे अतिथि को गौ प्रदान की जाती है। उसके वध की अनुमति देना अथवा उसे मुक्त कर देना अतिथि की इच्छा पर निभर होता है।

आ गृ (१।२४।३१) मे विधान है कि यदि अतिथि उसके वध की इच्छा करे तो उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये —

हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हत कुरुत ॥ [८६]

नष्ट हो गया मेरा पाप पाप मेरा नष्ट हो गया करो।

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे भी उक्त स्थिति मे समान वाक्यों के उच्चारण का विधान है।[1] मा गृ मे हतो मे पाप्मा क्यो का त्यो है तत्पश्चात् पाप्मान मे हत कुरुत पाठ है।

बौ गृ मे निम्नलिखित वाक्य दिया गया है—

गौरस्यपहतपाप्माप पाप्मान नुद मम चामुष्य च ॥ [८७]

तुम पाप नष्ट करने वाली गौ हो मेरे और इस (गृहस्थ) के पाप दूर करो।

भ पा मे यहाँ नुद के स्थान पर जहि पाठ है। अन्य गृह्यों मे भी यही पाठ है। हि गृ० म बौ गृ के वाक्य के आगे हत मे द्विषन्त हतो मे द्विषन् जोडा गया है।

यहा हतम् भ्रष्ट प्रतीत होता है। मा गृ मे जहि और मम के मध्य भी

---

१ बौ गृ १।२।४४ मा गृ १।६।२ आप गृ ५।१३।१६ (अं पा० २।१ ।६) हि गृ १।१३।१ मा० गृ २।२४ का गृ २४।१६ वा गृ ११।२१।

त्वा यशसे श्रियेऽन्नाद्याय ब्रह्मवर्चसाय ॥ [८२]

यश के लिये, लक्ष्मी के लिये, अन्न-प्राशन-योग्यता के लिये, ब्रह्म-तेज के लिये तुम्हारा (मै प्राशन करता हूँ ।)

यह मन्त्र भी पूर्ववर्ती साहित्य मे अनुपलब्ध है । पा० गृ० (१।३।२५) मे विधान है कि मधुपर्क-प्राशन के पश्चात् जल का आचमन करके अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र मे प्राप्त सकेतो के अनुसार अपने विभिन्न अगो का स्पर्श करना चाहिए —

वाङ्म आस्ये नसो प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षु कर्णयो श्रोत्र बाह्वोर्बल-
मूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह ॥ [८३]

मेरे मुख मे वाणी, नासाओ मे प्राण, आँखो मे दृष्टि, कानो मे श्रवण-शक्ति, भुजाओ मे बल, जाघो मे ओज हो, मेरे अग क्षति-रहित हो और मेरे शरीर के साथ (स्वस्थ) शरीर हो ।

इस मन्त्र का मूल स्रोत तै० स० ५।५।९।२ प्रतीत होता है । पा० गृ० में ऊर्वोरोज तक उसका पूण अनुसरण किया गया है, उससे आगे तै० स० मे निम्नलिखित पाठ है —

अरिष्टा विश्वान्यङ्गानि तनूस्तनुवा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिंसी ॥

तै० स० के इस पाठ का पूर्णानुसरण आप० श्रौ० और मा० श्रौ० मे हुआ है जो कि इसके गृह्य-विनियोग के भी मूल स्रोत प्रतीत होते हैं ।[1] इन श्रौतसूत्रो में निर्देश है कि प्राशित्र प्राशन करके जल का आचमन करने के पश्चात् ब्रह्मा-पुरोहित को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अङ्ग-स्पर्श करना चाहिये । इस विनियोग की तुलना तै० आ० १०।७२ के विनियोग से भी की जा सकती है जहाँ भोजन के पश्चात् प्रतिदिन इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है ।

स्वल्प पाठान्तर सहित यह मन्त्र अथर्व० १९।६०।१-२ मे विद्यमान है । कौशिक० (६६।१) के अनुसार शतौदनसव कर्म मे इस मन्त्र द्वारा विभिन्न अगो का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिए । अथर्व० मे यह मन्त्र निम्नलिखित प्रकार से दो मन्त्रों के रूप में आया है —

वाङ्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णो श्रोत्र कर्णयो ।
अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ [८४]

---

१ आप० श्रौ० ३।२०।२-३, मा० श्रौ० ५।२।१५।२०-२१ ।

ओम् इसे मुक्त कर दो घास खाने दो।

ब० गृ (२।१६) में इस मन्त्र का प्रयोग अतिथि द्वारा गो का स्पर्श करने के निमित्त किया गया है। इसमे वाक्य का पाठ हि गृ जैसा है।

इस वाक्य के समान भाव वाला एक वाक्य का श्रौ (१५।७।६) मे भी प्राप्त होता है—पाप्मान तेऽपहन्म ॥ (हम तुम्हारे पाप को नष्ट करते हैं)। का श्रौ के अनुसार राजसूय यज्ञ मे पुरोहितो को यज्ञ–वेन द्वारा यजमान का ताडन करते हुए यह वाक्य बोलना चाहिए। वस्तुत गृह्य विनियोग का आधार ला श्रौ (१।२।१२) है जहाँ इसका विनियोग अतिथि के लिये गो–वध के प्रसङ्ग मे हुआ है।

इस प्रसग मे प्रयुक्त वाक्यो का समालोचन करते हुए यह बात स्पष्टतया ध्यान मे आती है कि गोवध अभीष्ट नही था क्योकि सभी स्थलो पर गो-वध के साथ साथ पाप नष्ट करने की बात कही गई है। शब्दान्तर मे कहा जा सकता है कि ऐसा माना जाता था कि गो-वध से पापभाक होना पडेगा। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मणों अथवा सहिताओ मे यह वाक्य उपलब्ध नही होता। सम्भव है कि गृह्यसूत्र काल मे किन्ही अन्य विदेशी जातियो से प्रभावित होकर गो वध का विधान किया गया हो।

बौ० गृ और आप गृ मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को गौ की वपा (चर्बी) की आहुति देनी चाहिये[1]—

अग्नि प्राश्नातु प्रथम स हि वेद यथा हवि ।
अरिष्टमस्माक कृण्वन् ब्राह्मणो ब्राह्मणेभ्य ॥ [६२]

अग्नि पहले प्राशन करे वह वास्तविक आहुति को जानता है। ब्राह्मणों में से ब्राह्मण वह हमारी नीरोगता सम्पादित करता हुआ प्राशन करे।

इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन द्वादश अध्याय मे आग्रयण के अन्तर्गत किया गया है। (दे मन्त्र स० ६ २)

पा गृ के अतिरिक्त लगभग सभी गृह्यसूत्रो ने विधान किया है कि यदि अतिथि गौ को मुक्त करना चाहे तो उसे निम्नोक्त मन्त्र[2] का उच्चारण करना

---

१ बौ गृ १।२।४८ ४९ आप गृ ५।१३।१६ (म० पा २।१ ।७)।

२ आ० गृ १।२४।२५ बौ गृ १।२ ५० मा गृ १।९।२३ गो० गृ ४।१० ।२ (स का २।८।१४) ज गृ १।१४ कौशिक० ९२।१४ आप गृ ५।१३।१ (म पा २।१ ।६) हि गृ० १।१३।१२ का गृ २४।१९ वा गृ ११।२३ भा० गृ २।२५, आग्नि० गृ २।६।६।

पाप्मानम् का समावेश किया गया है और वाक्य के आगे जहि द्विपन्त हनोथा मम द्विष, कुरुत जोडा गया है।

का० गृ० मे यह वाक्य उपरिलिखित मा० गृ० के अनुसार है, उसके आरम्भ में मम चामुष्य च पाप्मान जहि और जोडा गया है। कौशिक० (६२।१६) ने इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित वाक्य रखा है —

पाप्मानं मे ऽप जहि ॥ [८८]

वा० गृ० मे भी मा० गृ० के अनुसार पाठ है, परन्तु वहाँ उस वाक्य के साथ निम्नलिखित मन्त्र भी जोडा गया है —

या त्वा देवा वसवोऽन्वजीविषुरादित्याना स्वसार रुद्रमातरम् ।
दैवीं गामदितिं जनानामारभन्तामर्हतामर्हणाय ॥ [८९]

जिस तुम्हारे आश्रय पर वसु देवता जीवित रहते है, आदित्य की भगिनी, रुद्रो की माता, उस दिव्य गौ अदिति को पूजनीय जनो के पूजन के लिये (सब मन मे) धारण करें।[1]

यद्यपि यह मन्त्र ज्यो का त्यो किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे अप्राप्य है तथापि यह ऋ० (८।१०१।१५) माता रुद्राणाम् आदि मन्त्र का रूपान्तर प्रतीत होता है।

प्रस्तुत वाक्य (मन्त्र स० ८६ आदि) का विनियोग पा० गृ० और वै० गृ० मे भिन्न प्रकार से हुआ है। पा० गृ० (१।३।२७) के अनुसार यदि अतिथि की इच्छा गो-वध की हो तो माता रुद्राणाम् आदि मन्त्र का उच्चारण करके उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिए —

मम चामुष्य च पाप्मान हनोमि [९०]

मैं अपने और इस (गृहस्थ) के पाप का नाश करता हूँ।

इसकी तुलना का० गृ० के पाठ से की जा सकती है। अगले सूत्र मे पा० गृ० मे कहा गया है कि यदि वह गौ को मुक्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त वाक्य को हनोमि के स्थान पर हत पाठ से बोलकर निम्नलिखित वाक्य भी बोलना चाहिये —

ओमुत्सृजत तृणान्यत्तु ॥ [९१]

---

१ दे० धातु पाठ पाणिनि—रभ रामस्ये (टीकाकार—रामस्यमुपक्रम) उपक्रम—अर्थात् पास पहुँचना, आरम्भ करना। आरम् आलिंगन के अर्थ मे भी आता है। आलिंगन अथवा पास पहुँचना अर्थात् धारण करना।

संलग्न वाक्य सहित इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का स्रोत श्रौत ग्रन्थों में प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी मधुपर्क के अवसर पर गौ मुक्त करने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान है।[1] श० ब्रा (६।१२।१) में भी राजगवी को मुक्त करने के प्रसङ्ग में इसे उद्धृत किया गया है।

मन्त्र से संलग्न वाक्य का स्रोत भी ऋ (१।१६४।४०) में माना जा सकता है। का० गृ ने इसका विनियोग उक्त प्रसङ्ग में किया है। मन्त्र इस प्रकार है[2] —

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वय भगवन्त स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्ववानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ [९८]

हे गौ अच्छी घास खाने वाली तुम धनवती अर्थात् पयस्वती हो हो जाओ और (उससे) हम धनवान् हो जाव। हे अवध्य गौ तुम सर्वदा सर्वत्र घूमती हुई घास खाओ और शुद्ध जल पिओ।

पूर्वार्द्ध मे अथो के स्थान पर अध पाठ सहित यह मन्त्र अथर्व मे भी विद्यमान है।[3] कौशिक० (९२।१५) के अनुसार मुक्त किये जाने के पश्चात् निवर्तमान गौ का इस मन्त्र से अभिमन्त्रण करना चाहिए। गृह्य विनियोग के सम्बन्ध मे अद्धि तृण पिब शुद्धमुदकम् शब्दो पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सम्भवतया गृह्य विनियोग मे ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो का अनुसरण किया गया है क्योंकि उनमे यह विधान है कि दोहन के समय यदि यज्ञ की गौ क्षुधा से रम्भाये तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे चारा खिलाना चाहिये।[4]

बौधायन आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने निर्देश किया है कि यदि गौ को मुक्त कर दिया जाता है तो अन्य मास से तैयार किया गया भोजन अतिथि के लिए परोसना चाहिये। इस स्थिति मे गृहस्थ को भूतम् (हो गया अथवा बन गया) कह कर अतिथि के लिये भोजन का निवेदन करना चाहिए। इसके उत्तर मे अतिथि को निम्नलिखित वाक्य कहना चाहिये[5] —

---

१ ला श्रौ १।२।१२,१३ शा श्रौ ४।२१।२३ २४।

२ लौ गृ में देवपाल ने विश्ववानीम् के स्थान पर विश्वदानी पाठ दिया है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—सवस्य दात्री पयोद्वारेण–दूध के द्वारा सब कुछ देने वाली।

३ अथर्व ७।७३।११ ९।१ १२।

४ ऐ ब्रा ५।२७।६ ७।३।३ कौ ब्रा ८।७ आ श्रौ ३।११।४ शां श्रौ ३।२०।१ का श्रौ २५।१।१ आप श्रौ ९।५।४।

५ बौ गृ १।२।५१ आप गृ ५।१३।१८ (मं पा २।१०।१३ १८) हि गृ० १।१३ १५।

चाहिये —

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।
प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गामनागामदिति वधिष्ट ॥ [६३]

यह रुद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की भगिनी है, अमृत का केन्द्र है। ज्ञानी पुरुष को मैं कहता हूँ कि निर्दोष अदिति रूप गौ का वध न करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि इस गृह्यसूत्र परम्परा के विरुद्ध पा० गृ० (१।३।२७) में गौ का वध करने की स्थिति में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। इस मन्त्र का स्रोत ऋ० (८।१०१।१५) है। उसके पूर्वार्ध की तुलना अथर्व० (९।१।४) के निम्नलिखित पूर्वार्ध से की जा सकती है —

मातादित्याना दुहिता वसूना प्राण प्रजानाममृतस्य नाभि ॥ [६४]

तै० स० के गृह्यसूत्रों में मन्त्र से पूर्व गौर्धेनुभव्या शब्द जोड़े गये हैं। कौशिक० में पूर्वार्ध का पाठ अथर्व० के पाठानुसार है—मात्र भेद प्राण प्रजानाम् के स्थान पर स्वसा रुद्राणाम् है। उत्तरार्ध में नु के स्थान पर नो पाठ है, यद्यपि ब्लूमफील्ड ने कुहन की पाण्डुलिपि के अनुसार नु पाठ भी दिया है।[1] निस्सन्देह नो भ्रष्ट प्रतीत होता है।

सभी गृह्यों में स्वल्प पाठ भेद सहित एक लघु वाक्य इस मन्त्र से संलग्न है। आ० गृ० में यह ओम् उत्सृजत है। तै० स० के गृह्यसूत्रों में इस वाक्य से पूर्व

पिबतूदक तृणान्यत्तु ॥ [६५]

शब्द दिये गये हैं। मा० गृ० में यह वाक्य निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है।

भूर्भुव स्वरोम् उत्सृजतु तृणान्यत्तु ॥ [६६]

का० गृ० में महाव्याहृतियों का अभाव है और उत्सृजतु के स्थान पर उत्सृजत पाठ है। वा० गृ० में का० गृ० के इस पाठ के आगे उदक पिबतु जोड़ा गया है। म० ब्रा० में निम्नलिखित पाठ है —

उत्सृज गामत्तु तृणानि पिबतूदकम् ॥ [६७]

गौ को छोड़ दो, इसे घास खाने दो, जल पीने दो।

इन सभी वाक्यों में गौ को मुक्त करने का भाव व्यक्त किया गया है।

---

१ कौशिक०, पृ० २४५, पा० टि०-३, वै० कॉन्० में भी उसने पृ० ६१५ पर टिप्पणी देकर इसे नु के रूप में शुद्ध किया है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का विनियोग अन्य प्रसङ्गो मे भी हुआ है। ऋ० में यह मन्त्र सूक्त के अन्त मे आता है अत इस वेद से सम्बद्ध गृह्यो ने सम्भवतया इसका अनुसरण करते हुए इसका विनियोग विवाह सस्कार के अन्त मे ही किया है।[1] उनके अनुसार वर के घर मे वधू के प्रवेश के पश्चात् अन्य मन्त्रो के साथ इसका भी उच्चारण किया जाना चाहिए। शा० गृ० (१।१६।५) मे इसका प्रयोग मुख्य विवाह सस्कार के पश्चात् वधू की आँखो मे आज्य का अञ्जन लगाने की क्रिया मे किया गया है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे वर के द्वारा वधू का पाणि-ग्रहण करने के पश्चात् वधू का अभिमन्त्रण करने के लिये निर्दिष्ट मन्त्र-समूह म इस मन्त्र का भी समावेश किया गया है।

बौ० गृ० (१४।३) मे वर द्वारा इस मन्त्र के उच्चारण का उस समय विधान किया गया है जब वह वधू को उठाकर परिणय-सस्कार के लिये निर्धारित स्थान पर ले जाता है। इस गृह्य मे मन्त्र का पूर्वार्ध तो ऋ० मन्त्र के पूर्वार्ध जैसा है, परन्तु निम्नलिखित उत्तरार्ध अन्यत्र अप्राप्य है —

दीर्घायुपत्नी प्रजया स्वर्विदिन्द्रप्रणयीरुप नो वस्तुमेहि ॥ [१ १]

दीर्घायु पति से युक्त सन्तान के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करने वाली तुम हमारे घर इन्द्र की प्रभिकाओ अर्थात् सुन्दर स्त्रियों के पास आ जाओ।

आग्नि गृ० (१।६।२) मे भी पाणि-ग्रहण के पश्चात् वर द्वारा वधू को उठाने के प्रसङ्ग मे इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। परन्तु इस गृह्य मे मन्त्र की रचना विचित्र प्रकार से दो भिन्न मन्त्रो के अर्धांशो को मिलाकर की गई है। उसका पूर्वार्ध तो ऋ० १०।८५।३६ (भगो अर्यमा इत्यादि) मन्त्र का उत्तरार्ध है और उत्तरार्ध उपरिलिखित मन्त्र का पूर्वार्ध है। मन्त्रो की ऐसी रचना गृह्यसूत्रो मे असाधारण बात नही है। और फिर इस प्रसंग मे तो सम्मिलित मन्त्र के अर्थ में भी कोई विकार नही आया। यह भी सम्भव है कि यह सम्मिलित मन्त्र किसी ऐसी सहिता मे से उद्धृत हो जो अब अप्राप्य है।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि विवाह-सूक्त का मन्त्र होने के कारण गृह्यसूत्रो म इसका विनियोग केवल विवाह कर्मों मे हुआ है। विवाह सम्बन्धी कर्मों मे इस मन्त्र

---

१ शां गृ० १।१६।१२ आ गृ० १।८।६।

२ हि गृ० १।२०।२ भा गृ० १।१५ बौ गृ० १।१।२५, मा गृ० १।१०।६ कौशिक ७७।२ गो गृ० २।२।१६ (म ब्रा० १।२।१७)।

तत् सुभूत विराडन्नं तन्मा क्षायि तन्मेऽशीय तन्म ऊर्जं धास्तत् सुभूतम्।। [९९]

वह अच्छा बना विराट् अन्न है, वह नष्ट न हो, अपने उस (अन्न) का मैं प्राशन करूँ, मेरा वह अन्न शक्ति के लिए हो, वह अच्छा बना है।

वै० गृ० (२।१६) मे अन्तिम तत् सुभूतम् का अभाव है। इसके अनुसार अतिथि को उपर्युक्त वाक्य तब कहना चाहिए जब गौ को मुक्त किया जाये। म० पा० मे उपरिलिखित बौ० गृ० के वाक्य से पाठ-भेद है। तदनुसार इसमें दोनो ओर के तत् सुभूतम् शब्दो का अभाव है। विराट् से पहले सा जोड़ा गया है, अन्नम् निकल गया है और तन्मेऽशीय के स्थान पर तस्य ते ऽशीय पाठ है। इन शब्दो की तुलना तै० स० और आप० श्रौ० के तस्य ते भक्षीय शब्दों से की जा सकती है।[1] पा० गृ० (३।१४।२) ने रथारोहण कर्म मे रथ के चक्रो का स्पर्श करने मे सा विराट् का विनियोग किया है।

वर द्वारा वधू का समीक्षण

उपर्युक्त कम के निमित्त कुछ गृह्यसूत्रो ने[2] निम्नलिखित मन्त्र का[3] विनियोग किया है —

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्य सुमना सुवर्चा।
वीरसूर्देवकामा स्योना श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे।। [१००]

हे वधू, तू पति मे विरोध न करने वाली, प्रिय-दृष्टि हो जा, सब पशुओ का मङ्गल करने वाली, पवित्रान्त करणयुक्त, सुन्दर शुभ कर्म गुण स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित, वीर पुरुषो को उत्पन्न करने वाली, देव के गुणो की इच्छुक, सुखयुक्त हो के हमारे दो पाँव वाले (मनुष्यादि) के लिए सुख करने वाली हो। और चार पाँव वाले (पशुओ) को भी सुख देने वाली हो। स्वा० द०

---

१ तै० स० १।६।१।२, ३।२।३,१,३, आप० श्रौ० ६।२५।१०।

२ आप० गृ० २।४।४ (म० पा० १।१।४), पा० गृ० १।४।१६, जै० गृ० २१।७- अपतिघ्नी के पश्चात् मे, पशुभ्य के स्थान पर पतिभ्य और वीरसू के स्थान पर जीवसू पाठ है।

३ ऋ० १०।८५।४४, अथर्व० १४।२।१७-१८-देवकामा और देवृकामा (देवर की अर्थात् नियोग की इच्छा करने वाली) दोनो पाठ हैं। स्वा० द० ने देवकामा पाठ स्वीकार किया है। दे० स० वि० पृ० १८८, पा० टि० १।

अञ्जलि मे जल सेचन करके उसे कन्या दान करता है —

धर्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृप्त्यर्थं प्रजासहत्वकर्मभ्यो ददामि। [१ २]

धर्म और सन्तान की सम्पत्ति के लिये यज्ञ (फल) की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण अथवा ब्रह्मा देवताओं ऋषियों और पितरों के सन्तोष के लिये और सन्तान के साथ रहकर किये जाने वाले सभी गृहस्थी-सम्बन्धी कार्यों के लिये म तुम्हे कन्या दान करता हूँ।

यह मन्त्र निस्सन्देह इस प्रसङ्ग मे सर्वाधिक उपयुक्त और पूर्ण है क्योंकि इसमे विवाह के सभी उद्देश्य और आदर्श निहित है।

प्रजापति स्त्रियं यशः [१०३]

इत्यादि छः मन्त्रो के उच्चारण के साथ जल प्रसेचन करता हुआ वर कन्या को स्वीकार करता है।[1] आग्नि० गृ० (१।६।१) ने भी इसी प्रसङ्ग मे इन मन्त्रो का विनियोग किया है।

मा गृ० और कौशिक मे कन्या प्रदान कर्म मे वर द्वारा कन्या को स्वीकार करने के प्रसङ्ग मे निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2] —

क इद कस्मा अदात् काम कामायादात्।

कामो दाता काम प्रतिग्रहीता काम समुद्रमाविवेश।

कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्त ॥ [१०४]

किसने यह किसको दिया काम ने काम को दिया। काम दाता है काम स्वीकार करने वाला है काम समुद्र म प्रविष्ट हो गया। काम से तुम्हें स्वीकार करता हूँ हे काम यह (सब) तुम्हारा है।

यह मन्त्र केवल अथर्व म स० और का स मे प्राप्त होता है।[3] अधिकाश ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थो के अनुसार दक्षिणा प्राप्त करने वाले पुरोहित को दक्षिणा-रूप प्रत्येक पदार्थ की स्वीकृति पर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। इन सब ग्रन्थो मे से केवल मा श्रौ मे उल्लेख है कि विवाह कर्म मे वधू के स्वीकार

---

१ त० ब्रा २।४।६।५-७ (समृध्यताम् तक)।

२ मा गृ १।८।६ कौशिक ७९।१७।

३ अथर्व ३।२९।७ म स० १।९।४ (आंशिक) का० स ९।१२।

की सामान्य विनियोगार्हता होते हुए भी जिन स्थलों पर इसका विनियोग नेत्र-सम्बन्धी क्रिया में किया गया है, वहाँ विनियोग का आधार केवल अघोरचक्षु शब्द रहा होगा। अन्यथा मन्त्र मे अभिव्यक्त अन्य कामनाओं का केवल नेत्रों से सम्बन्ध न होकर गार्हस्थ्य की सामान्य समृद्धि से है।

उपर्युक्त समीक्षण क्रिया मे ही पा० गृ० (१।८।१६) ने तीन और मन्त्र दिये हैं।[1] इसी प्रकार जै० गृ० (२१।६-१५) मे भी तीन और मन्त्र दिये गये है।[2] इन सब मन्त्रो का विवेचन उपयुक्त स्थलो पर किया जायेगा।

कन्या-प्रदान

इस कर्म का विस्तृत वर्णन केवल का० गृ०, मा० गृ० और वै० गृ० मे प्राप्त होता है।[3] प्रथम दो गृह्यो के अनुसार ब्राह्मदेया (ब्राह्म विधि के द्वारा विवाह मे दी जाने वाली) और शुल्कदेया (शुल्क लेकर वर को दी जाने वाली) कन्याओं के लिये पृथक्-पृथक् कर्म-विधि होती है।

ब्राह्मदेया कन्या के प्रसङ्ग मे दोनो पक्षो के सम्बन्धियो के एकत्र हो जाने पर कन्या का पिता वर के पिता को तीन बार कहता है—ददामि (मैं कन्या देता हूँ)। इस पर वर का पिता उत्तर देता है—प्रतिगृह्णामि (मैं स्वीकार करता हूँ)। एतद्व सत्यम् (तुम्हारा यह कृत्य सत्य हो) शब्दो से आशीर्वचन कहकर पुरोहित दाता और प्रतिग्रहीता की ओर देखता हुआ कुछ मन्त्रो का उच्चारण करता है।[4]

शुल्कदेया कन्या के प्रसङ्ग मे सर्वप्रथम दोनो पक्षो के सम्बन्धी शुल्क निर्धारित करते है। धन-दाता अर्थात् वर का पिता कहता है—प्रजाभ्यस्त्वा (मैं तुम्हे सन्तान की समृद्धि के लिए धन देता हूँ) और धन देता है। प्राप्तकर्ता अर्थात् कन्या का पिता कहता है रायस्पोषाय त्वा (मै तुम्हारे धन की पुष्टि के लिये स्वीकार करता हूँ) और धन स्वीकार कर लेता है। धन को एक जल से भरे कांस्य-पात्र मे रख कर कन्या के सम्बन्धी मन्त्रो का उच्चारण करते हुए जल का स्पर्श करते है।[5]

वै० गृ० (३।२) मे यह कर्म केवल ब्राह्मदेया कन्या के प्रसङ्ग मे विहित है। यहाँ यह विधान है कि कन्या का प्रदाता निम्नलिखित शब्दो को बोलता हुआ वर की

---

१ ऋ० १०।८५।३७, ४०, ४१।

२ ऋ० १०।८५।४३, ३७ और जै० उप० ब्रा० १।५४।६।

३ का० गृ० १५।१६, मा० गृ० १।८।१-११, वै० गृ० १०।१६।

४ दे० मन्त्र स० १८, १६।

५ दे० मन्त्र स० २५-२८

जब सूर्या अपने पति के पास गई तो चित्ति देवता उसकी समृद्धि था (उसकी) दृष्टि उसका काजल थी और पृथ्वी तथा आकाश दोनो उसके कोश थे। सा० जिस प्रकार यह (शलली) शची की या वायु-पत्नी की और जिस प्रकार यह शोभन पुत्रो से युक्त अदिति की तथा अविधवा अपाला की रक्षा करती है उसी प्रकार यह यहा तुम्हारी रक्षा करे। प्रत्येक रूप के अनुसार रूप वाला (यह दर्पण) हो जाता है इसका वह रूप प्रतिबिम्ब देखने के लिये होता है। इन्द्र अपनी मायाओ से बहुत रूपो वाला होकर चलता है इसके (रथ मे) एक सहस्र घोडे जुते हुए है (यहाँ सहस्रकिरण सूर्य का सकेत है।)

इनमे से केवल प्रथम मन्त्र ऋ के विवाह सूक्त म से उद्धृत है।[1] मन्त्र मे नेत्र और अञ्जन के प्रति सकेत है, अत इसका गृह्यविनियोग उपयुक्त प्रतीत होता ह।

द्वितीय मन्त्र किसी अन्य वेद-ग्रन्थ मे उपलब्ध नही। सम्भवतया मन्त्र मे अपाला का उल्लेख ऋ० ८।९१ से सम्बद्ध उस परम्परागत कथा के आधार पर किया गया है जिसके अनुसार इन्द्र ने किसी अपाला नामक स्त्री को रूपवती बनाया था। मन्त्र मे शलली का उल्लेख भी द्रष्टव्य है क्योकि ऋ० ८।९१ पर आधारित (सायण द्वारा उद्धृत) शाट्यायन ब्राह्मण की कथा और बृहद्देवता (६।९९ १ ६) की कथा के अनुसार रथ के छिद्र मे से खीचने पर अपाला की जो त्वचा उतरी वह शलली बन गई। सम्भवतया शलली के प्रति इस सकेत के आधार पर ही गृह्यसूत्र मे इस मन्त्र का विनियोग शलली प्रदान करने म किया गया है।

तृतीय मन्त्र ऋ और श० ब्रा मे विद्यमान है। ऋ मे जिस सूक्त मे यह मन्त्र विद्यमान है वह मुख्य रूप से इन्द्र को सम्बोधित है। श ब्रा० और बृ उप मे इस मन्त्र की दार्शनिक व्याख्या की गई है। सम्भवतया गृह्यकार ने केवल रूप रूप प्रतिरूप शब्दो के आधार पर इस मन्त्र का विनियोग दर्पण प्रदान करने मे किया है क्योकि दर्पण मे भी प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिरूप देखा जाता है। वस्तुत इस मन्त्र मे दार्शनिक तत्त्व अधिक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि गृह्यसूत्रो मे अति स्वल्प समानता होने पर भी मन्त्र का विनियोग कर लिया जाता है। वह समानता चाहे केवल प्रतीयमान ही क्यो न हो।

शा गृ १।१२।८ मे विधान है कि दर्पण प्रदान करने के पश्चात् वधू के सम्बन्धी निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १ ।८५।२८ अथर्व १४।१।२९) का उच्चारण

१ ऋ० १ ।८५।७ अथर्व १४।१।६।

२ ऋ० ६।४७।१८ श ब्रा० १४।५।५।१९ बृ उप २।५।१९।

किये जाने पर भी इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] श्रौत और गृह्य दोनो प्रकार के विनियोगो का आधार (स्वीकरण)क्रिया की समानता प्रतीत होती है। एक ओर दक्षिणा मे प्राप्त पदार्थों का स्वीकरण है और दूसरी ओर कन्या का स्वीकरण।

वधू के लिये वस्त्रादि का उपहार

शा० गृ० (१।२।३) मे विधान है कि वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए वधू को वस्त्रो का उपहार देना चाहिये[2] —

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥ [१०५]

रैभी नाम की ऋचा वधू के साथ विनोदार्थ दी जाने वाली सखी थी, नाराशमी अर्थात् मनुष्यो की स्तुति उसकी सेवार्थ दासी थी। गायन-योग्य गाथा के द्वारा परिष्कृत सूर्या का शुभ वस्त्र (उसके पास) जाता है, अर्थात् सूर्या उसे प्राप्त करती है। सा०

यह मन्त्र ऋग्वेद के विवाहसूक्त मे से उद्धृत है। और उस सूक्त में जिस सूर्या के विवाह का वर्णन है, उसके शुभ वस्त्र की ओर भी मन्त्र मे सकेत है। अत मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार यही विवाह सूक्त प्रतीत होता है।

इसके पश्चात् वही गृह्यसूत्र (१।१२।४-७) अन्य उपहारो को देने के निमित्त निम्नलिखित तीन मन्त्रो को उद्धृत करता है। उनमें से प्रथम मन्त्र का उच्चारण उसे अञ्जन कोश देते हुए, द्वितीय का शलली तथा तीन वल दिये हुए सूत्रो का धागा देते हुए और तृतीय का आदश (दर्पण) देते हुए किया जाता है।

चित्तिरा उपबर्हण चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमि कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥ [१०६]
यथेय शचीं वा वाता सुपुत्रा च यथादितिम्।
अविधवा चापालामेव त्वामिह रक्षतादियम्॥ [१०७]
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दश॥ [१०८]

---

१ श० ब्रा० ४।३।४।३२, प० ब्रा० १।८।१७, तै० ब्रा० २।२।५।५, तै० आ० ३।१०।१,४, मा० श्रौ० ५।२।१४।१३, ला० श्रौ० २।७।१८, आ० श्रौ० ५।१३।१५ आप० श्रौ० १४।११।२।

२ ऋ० १०।८५।६, अथर्व० १४।१।७।

और का० श्रौ० मे सदोनिर्माण प्रसङ्ग मे छत बनाने के लिए आवरण रूप में प्रयुक्त छदियों के विवरो को बन्द करने की प्रक्रिया में इसका विनियोग किया गया है।[1] आग्(गृह्यसूत्र ऋग्वेदीय ग्रन्थो मे इसका विनियोग दो प्रसगो मे किया गया है। एक स्थल पर तो प्रवर्ग्य याग मे उच्चरित किये जाने वाले मन्त्रो मे इसका समावेश है।[2] दूसरे स्थल पर सोम-याग मे दर्भ मास के द्वारा दो हविर्धानो को आवृत करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।[3]

इसके प्रवर्ग्य-सम्बन्धी विनियोग को छोडकर यह स्पष्ट है कि अन्य सभी ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के विनियोग मे परिमवध्वं विश्वत (सब ओर से आवृत कर लें) शब्दों ने प्रमुख प्ररणा प्रदान की है क्योंकि उन विनियोगो में भी आवृत करने की क्रिया के साथ मन्त्र का सम्बन्ध है। इसमे कोई सन्देह नही कि मन्त्र में स्तोता की वाणी कर्ता के रूप मे वर्णित की गई है। ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो के समान ही गृह्यसूत्रो में भी इस मन्त्र के विनियोग का आधार उपर्युक्त शब्द ही प्रतीत होते हैं क्योंकि वस्त्र भी (शरीर को) आवृत करते हैं। (परिमवन्ति)

कुछ गृह्यसूत्रो मे वस्त्र प्रदान के लिये पाठान्तर सहित अथर्व १९।२४।५ का विनियोग किया गया है।[4] पा० गृ और आग्नि० गृ० मे मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है —

जरां गच्छासि परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावती।
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रायश्च पोषमुपसव्ययस्व॥ [१११]

तुम वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त हो वस्त्र धारण करो अप शापों से मानव-कुलों की रक्षक बनो। और ओजोयुक्त होकर सौ वर्षो तक जीवित रहो धन की पुष्टि से अपने आप को आवृत करो।—ओल्डनबर्ग

पा० गृ० में पोषम् के स्थान पर पुत्रान् पाठ इस प्रसङ्ग मे अधिक सगत है क्योंकि विवाह का पुत्रोत्पत्ति से गहन सम्बन्ध है। अन्यथा इस गृह्य मे अन्त मे जोडे गये आयुष्मतीद परिधत्स्व वास शब्दो की अनावश्यक पुनरुक्ति तथा छन्दोभङ्ग का दोष है। पा० गृ के अन्य पाठ-भेद अभिशस्तिपावती के स्थान पर अभिशस्तिपावा और राय के स्थान पर रयिम् हैं।

---

१ श बा ३।६।१।२४ मा श्रौ २।२।३।२६ का श्रौ० ८।६।१२।
२ ऐ बा १।१९।६ कौ बा ८।४ आ श्रौ ४।६।३ शा श्रौ ५।६।१२।
३ ऐ बा १।२९।१८ कौ बा ९।४ आ श्रौ ४।९।६ शा श्रौ ५।१२।१ वै० आप श्रौ ११।८।४।
४ पा गृ १।४।१२ मा गृ १।११ आग्नि गृ १।६।१

करते हुए वधू के कण्ठ मे तीन मणियो से युक्त लाल और काला कण्ठसूत्र पहनाते हैं —

नीललोहित भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातय. पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ [१०९]

कृत्या (नामक विनाशादि अभिचार की देवता का रूप) नीला और लाल होता है। (वधू द्वारा) इसकी आसक्ति का त्याग किया जाता है। (उसके चले जाने पर) इस वधू के स्वजन वृद्धि को प्राप्त होते है और इसका पति सामाजिक बन्धनो मे बध जाता है । सा०

आप० गृ० २।५।२२ (म० पा० १।६।८) के अनुसार विवाह के पश्चात् वर-गृह के प्रति वर वधू के प्रस्थान के समय रथ के दोनो चक्रो के मार्ग पर वर क्रमश नीले और लाल सूत्र रखता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण करता है। क्योंकि उन सूत्रो की सख्या दो है, अत तदनुसार मन्त्र मे भी नीललोहित भवति के स्थान पर द्विवचनान्त पाठ नीललोहिते भवत दिया गया है। बौ० गृ० (१।५।११) के अनुसार वर के घर पहुँचने पर वधू को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सान्ध्य प्रकाश को देखना चाहिए।

यद्यपि विवाह सूक्त मे से उद्धृत होने के कारण इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है, तथापि आ० गृ० और आप० गृ० प्रमुख रूप से आद्य शब्द नीललोहित से प्रभावित प्रतीत होते हैं क्योंकि दोनो मे मन्त्र का सम्बन्ध नीले और लाल पदार्थों मे है। यह शब्द बौ० गृ० के विनियोग का भी आधार कहा जा सकता है क्योंकि सान्ध्य प्रकाश मे भी आकाश का नील वर्ण और सूर्य का लाल वर्ण प्रधान होता है।

अन्य गृह्यसूत्रो मे वधू के उपहार के रूप मे केवल वस्त्रोका उल्लेख है। आप० गृ०[1] मे वस्त्र प्रदान के लिये निम्नलिखित मन्त्र[2] का विनियोग है —

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वत ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टय ॥ [११०]

हे हमारी स्तुति के भोक्ता इन्द्र, सभी कर्मों मे प्रयुक्त आप आयुष्मान् को प्राप्त करके समृद्ध होने वाली ये हमारी स्तुतियां आपको सब ओर से प्राप्त करें, आपके द्वारा सेवित ये हमारी प्रीति का कारण बनें ॥सा०

ऋ० मे यह मन्त्र एक इन्द्र सूक्त के अन्त मे आता है। श० ब्रा०, मा० श्रौ०

---

१ आप० गृ० २।४।८ (म० पा० १।२।६)।

२ ऋ० १।१०।१२, वा० स० ५।२९, तै० स० ३।११।१२, ६।२।१०।७, मै० स० १।२।११, का० स० २।१२

के निकट पहुँच जाता है। अथर्व० के पाठानुसार सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का छन्द बृहतीगर्भा त्रिष्टुभ बताया गया है क्योंकि इसके तृतीय और चतुर्थ पाद में क्रमश बारह अक्षर है। यह सब ध्यान में रखते हुए म शा० का पाठ सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि न केवल वह अथर्व के पाठ के निकटतम है अपितु उसका छन्द भी अधिक सन्तुलित है —

या अकृन्तन्नवयन्या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ ।
तास्त्वा देव्यो जरसा सव्ययन्तु आयुष्मतीदं परिधत्स्व वास ॥

उपरिलिखित पाठ सव्ययन्तु और आयुष्मति मे सन्धि विच्छेद करके दिया गया है। तदनुसार पूर्वार्ध मे जगती छन्द है और उत्तरार्ध मे त्रिष्टुभ्। इसी को आदर्श पाठ माना जाना चाहिये। पा० गृ मे दोनो स्थानो पर देव्य के स्थान पर देवी पाठ है और पूर्वार्ध मे अन्तान् के स्थान पर तन्तून्। उत्तरार्ध मे अथर्व का पाठ सुरक्षित है परन्तु सव्ययन्तु के स्थान पर सव्ययस्व पाठ है। सव्ययस्व (म पु०) से मन्त्र के अर्थ मे बाधा होती है क्योंकि इससे कर्ता (प्र० पु०) और क्रिया (म० पु०) भिन्न हो जाते हैं।[1] ज गृ मे पूर्णतया म० शा जैसा पाठ है-एकमात्र भेद अततन्थ के स्थान पर अवहन्त है।

पा गृ मे मन्त्र का विनियोग वधु को वस्त्र प्रदान करने के प्रसङ्ग मे किया गया है परन्तु पा गृ के अनुसार मुख्य परिधान के पश्चात वर को इस मन्त्र के द्वारा वधू को उत्तरीय ओढ़ने को प्रेरित करना चाहिए।

इनमे से कुछ गृह्यसूत्रों म तथा कुछ अन्य मे भी इस मन्त्र का विनियोग उपनयन सस्कार मे भी किया गया है जहाँ उपनीयमान छात्र को वस्त्र प्रदान किये जाते हैं।[2] भा गृ मे विशेष रूप से वस्त्र के किनारो के स्पर्श के लिये इसका प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का आधार सम्भवतया पूर्वार्ध में विद्यमान शब्द अन्तान् है। क्योंकि उपनयन प्रसङ्ग मे मन्त्र छात्र को सम्बोधित किया जाता है अत आयुष्मति के स्थान पर आयुष्मान् अथवा आयुष्मन् पाठ है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रो मे इसके विनियोग का अभाव आश्चर्यजनक है।

---

१ स्वा द मे स वि (पृ १८५) में पा गृ का पाठ स्वीकार किया है यद्यपि वह दोष युक्त है सम्भवतया इसका कारण यह था कि वे वा० स के अनुयायी थे।

२ मा गृ १।५ आग्नि गृ १।१।२ का गृ १।२२।१ भा गृ ५।१ हि गृ १।४।२ बौ गृ २।५।११ आप गृ ४।१ ।१० (म० पा० २।२।५) वा० गृ में पाठ मा गृ० के समान है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे उपनयन संस्कार मे उपनेय छात्र को नव-परिधान प्रदान करने के प्रसङ्ग मे इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[1] तदनुसार स्त्रीलिंग अभिशस्तिपावती शब्द अभिशस्तिपावा (पु०) मे परिवर्तित किया गया है।

दोनो ही संस्कारो मे अभीष्ट परिवर्तनो के साथ मन्त्र का विनियोग अर्थानुकूल है। परन्तु अथर्व० मे इस मन्त्र की स्थिति को ध्यान मे रखते हुए उपनयन मे इसका विनियोग अधिक उपयुक्त है क्योकि इसके आगे पीछे के मन्त्र आचार्य अथवा छात्र को सम्बोधित हैं।

इस प्रकार वस्त्र प्रदान किये जाने पर अधिकांश गृह्यसूत्रो मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १४।१।४५) का उच्चारण करते हुए वर को वस्त्र-परिधापन के लिये वधू को प्रेरित करना चाहिये[2]—

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तॉं अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥ [१२]

जिन देवियो ने इस (वस्त्र) को काता है, जिन्होने बुना है, जिन्होने फैलाया है और जिन्होने सब ओर इसके किनारो को पहुँचाया है वे देवियां वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु के लिये तुम्हे सम्यक् व्याप्त करें, हे आयुष्मती तुम यह वस्त्र धारण करो।

किसी भी गृह्यसूत्र मे मन्त्र का उपरिलिखित पाठ ज्यो का त्यो नही प्राप्त होता। मा० गृ० मे मन्त्र का पूर्वार्ध निम्नलिखित है —

या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाहरन् याश्चाग्न्या
देव्योऽन्तानभितोऽततनन्त॥ [११२]

उत्तरार्ध मे त्वा और जरसे के मध्य देव्य का समावेश किया गया है। पूर्वार्ध मे अनावश्यक विस्तार किया गया है क्योकि उससे अर्थ मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। दूसरी ओर इससे छन्दोभङ्ग अवश्य हुआ है। उत्तरार्ध मे देव्य का समावेश अच्छा है क्योकि उससे छन्द मे सुधार हुआ है अन्यथा त्रिष्टुभ् का मन्त्रार्ध होने के लिये इसमे तीन अक्षर न्यून थे। यद्यपि देव्य मे भी दो ही अक्षर हैं परन्तु व्यूह प्रक्रिया तथा सव्ययन्तु आयुष्मति उच्चारण से पूर्ण त्रिष्टुभ् बन जाता है। इस प्रकार अथर्व का पूर्वार्द्ध और मा० गृ० का उत्तरार्ध मिलाकर पूर्ण मन्त्र त्रिष्टुभ् पद्य

---

१ आप० गृ० ४।१०।१०, (म० पा० २।२।७) हि० गृ० १।४।२, बौ० गृ० २।५।१२ मा० गृ० १।५, आग्नि० गृ० १।१।२।

२ मा० गृ० १।१३, का० गृ० २५।४, पा० गृ० १।४।१३, मा० गृ० १।१०।८, आग्नि० गृ० १।६।१, गो० गृ० २।१।१७ (म० ब्रा० १।१।५, जै० गृ० २०।२, कौशिक० ७५।४।

गृह्यसूत्रकारो अथवा मन्त्रसग्रह-कर्ताओ ने सहिताओ के पाठ का सूक्ष्मावलोकन नही किया।

पिछले मन्त्र के समान इस मन्त्र का विनियोग भी उपनयन सस्कार में भी समान क्रिया मे किया गया है।[1] यहा भी प्रसङ्गानुसार वाससना शतायुषीम् के स्थान पर वाससन शतायुषम् पाठ है। बा गृ० ५।६ मे पूर्व मन्त्र तथा अथर्व० १९।२४।६ के अशो को मिलाकर एक विचित्र रचना की गई है। वह नव निर्मित मन्त्र इस प्रकार है —

आयुष्मानय परिधत्त वास परिधत्त वच । शतायुष कृणुहि दीर्घमायु ।
शत च जीव शरद पुरूचीवसूनि चाय्यो विभजाय जीवान ॥ [११५]

यह आयुष्मान् वस्त्र पहनो तेज धारण करो। (अपनी) सौ वष की आयु को दीर्घ आयु करो। और बहुत सुन्दर सौ वर्षो तक जीवित रहो और माय धन का भोग करने के लिये जीवित रहो।[2]

विवेच्य मन्त्र परिधत्त धत्त आदि मूल रूप मे उपनयन के निमित्त विरचित प्रतीत होता है। अथर्व० मे इमम् (पु०) पाठ और बृहस्पति का उल्लेख इस विषय मे निर्णायक है। इमम् मे उपनीयमान छात्र के प्रति सकेत है और गृह्य-परम्परा के अनुसार बृहस्पति को विद्या का देवता माना जाता है।

भा० गृ और आग्नि गृ० मे विधान है कि वस्त्र परिधापन के पश्चात् अथर्व० १९।२४।६ द्वारा वर को वधू का अभिमन्त्रण करना चाहिये।[3] इन गृह्यसूत्रो मे मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है —

परीद वासो अधिधा स्वस्तये भूरापीनामभिशस्तिपावती।
शत च जीव शरद पुरूचीवसूनि चार्या विभजासि जीवती ॥ [११६]

तुम कल्याण के लिए इस वस्त्र को धारण करो और सभी प्रकार की आपत्तियों का नाश करके सब बन्धुओं की रक्षक हो जाओ। तुम अति सुन्दर सौ वर्षो तक जीवित रहो और जीवित रहती हुई तुम आर्या धन को प्राप्त करो।

---

१ आग्नि गृ १।१।२ हि गृ १।४।२ आप०गृ ४।१०।१० (म० पा २।२।६) भा गृ १।५ बौ गृ २।५।१२ कौशिक० ५४।७ में चूडाकम के अन्त में वस्त्र-परिधापनाय अथर्व० २।१३।२ ३ का विनियोग किया गया है।

२ अन्तिम तीन शब्द अस्पष्ट हैं सम्भवतया लिपिकार के प्रमाद-वश पाठ भ्रष्ट हो गया है।

३ भा गृ १।१३ आग्नि गृ० १।६।१।

सम्भवतया इसका कारण यह होगा कि यह मन्त्र ऋ० से सम्बद्ध नही है। यद्यपि वस्त्रो से सम्बद्ध सभी विनियोग उपयुक्त है तथापि विवाह के अन्तर्गत वह विनियोग और अधिक सगत और ऐतिहासिक दृष्टि से सम्मत प्रतीत होता है। यह बात अथर्व० के मन्त्र मे मूल रूप मे आयुष्मत्ति (स्त्री०) के अस्तित्व से और भी स्पष्ट हो जाती है। यह शब्द इस बात का प्रमाण है कि मूल रूप मे इस मन्त्र की रचना विवाह सस्कार के लिये हुई थी।

कुछ इने गिने गृह्यसूत्रो मे उपर्युक्त वस्त्र परिधापन क्रिया मे निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]:—

परिधत्त धत्त वाससैनां शतायुषीं कृणुत दीर्घमायु.।
बृहस्पति प्रायच्छद्वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ [११३]

इस सौ वर्षों की आयु वाली को वस्त्र से आवृत करो, इसे स्वस्थ रखो, इसकी आयु दीर्घ करो। बृहस्पति ने निश्चय ही राजा सोम के पहनने के लिए यह वस्त्र दिया है।

यह मन्त्र अथर्व० से उद्धृत है।[2] यहाँ पूर्वार्ध मे वाससैना शतायुषीम् के स्थान पर नो वर्चसेम जरामृत्युम् पाठ है। तदनुसार अथर्व० का छन्द गृह्य-पाठ मे विकृत हो गया है। परन्तु स्पष्टतया प्रसङ्गानुसार यह परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है क्योकि यहाँ (विवाह मे) यह स्त्री को सम्बोधित किया गया है। म० ब्रा० मे उत्तरार्ध इस प्रकार है —

शत च जीव शरद सुवर्चा वसूनि चार्ये विभजासि जीवन् ॥ [११४]

शोभन तेज वाली तुम सौ वर्ष जीवित रहो और हे आर्ये जीवित रहती हुई धन का उपभोग करो।

इस मन्त्र का स्रोत स्पष्टतया अथर्व० १६।२४।६ है। म० ब्रा० के पाठ मे अथर्व० के पुरूची के स्थान पर सुवर्चा पाठ है और प्रसङ्गानुसार बडी निपुणता से चारु (पु०) को चार्ये (स्त्री०) मे परिवर्तित किया गया है। परन्तु फिर भी इस परिवर्तन की अपूर्णता जीवन् (पु०) से प्रकट हो ही जाती है क्योकि भाष्यकार भी इसके स्थान पर जीवन्ती रखता है। अथर्व० के विभजासि और म० ब्रा० के विमृजासि मे अधिक अन्तर नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक स्थलो पर

१ गो० गृ० २।१।१८ (म० ब्रा० १।१।६), भा० गृ० १।१३, आग्नि० गृ० १।६।१।
२ अथर्व० २।१३।२, १६।२४।४।

आ० गृ और शा० गृ मे भी इस मन्त्र का विनियोग समावर्तन संस्कार मे स्नातक को वस्त्र प्रदान करने के लिये किया गया है।[1] इस मन्त्र में मित्र-वरुण द्वारा वस्त्र धारण करने की बात कही गई है। सम्भवतया गृह्यकारो ने इसी आधार पर इसके उपयुक्त विनियोग किये हैं। परन्तु ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रों मे यह मन्त्र मित्र-वरुण अथवा सविता के पशु की वपा की आहुति के लिए याज्या के रूप मे आया है।[2] यहा पीवसा (तृ एक) शब्द वपा का द्योतक है। किन्तु ऊपर दिये गये अर्थ मे हरदत्त मिश्र पीव' शब्द को पीवर-वाचक मानता है। तदनुसार पीवसा प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त रूप है।

भ० गृ ३।२ कुछ कर्मकाण्डी आचार्यों के मतानुसार वधू को विवाहोपहार देने का कुछ भिन्न वर्णन करता है। ऐसा उल्लेख है कि उन आचार्यों के अनुसार उसे सर्वप्रथम वस्त्र गन्ध आभूषण आदि एकत्र करने चाहिय और फिर अपने सम्बन्धियों के साथ

कनिक्रदत् सूक्त [११८]

का जाप करते हुए वधू के घर जाना चाहिये।[3] इसके पश्चात् उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए वधू को आभूषित करना चाहिए।

तेज आयु श्रिय भग्य सुमङ्गल यशस्विनम्।
दशपुत्रमविघ्न कामयते।
इन्द्रापुत्रघ्नीं लक्ष्म तामस्य सवित' सुव॥ [११६]

तेज आयु, लक्ष्मी भाग्य, कल्याण यशस्वी (पुत्र) दश पुत्रों से युक्त अविघ्न की कामना करता है। हे इन्द्र हे सविता इसके लिये पुत्रों का नाश न करने वाली लक्ष्मी उत्पन्न करो।

इस मन्त्र का केवल पूर्वार्द्ध पूर्ववर्ती गृह्यसूत्रो मे उपलब्ध है। वहाँ वर और वधू के प्रथम मिलन के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है।[4]

---

१ आ गृ० ३।८।१ शां गृ ३।१।६।

२ कौ ब्रा १८।१२ त ब्रा० २।८।६।६ आ श्रौ० ३।८।१ शां श्रौ० ८।१२।१८।

३ कैलेंड—पृ० ६८ पर पा टि ७—४ स्तृ सौपर्ण अनुवाद ऋ० २।४२।१ ३ तथा ४३।१ ३ मिलकर कनिक्रदत् सूक्त होता है। तत्पश्चात् ते आ २।७।६।१० (देवी सुष्टुतिंतु) तत्पश्चात् ऋ १।८६।१ १।

४ बौ० गृ० १।१।२४ आप० गृ २।४।२ (म० पा २।१।१) हि ध गृ० ३।२।

आग्नि० गृ० का आर्यां के स्थान पर आर्यं (पु०) विशेषण जीवती के साथ मेल नही खाता । सम्भवतया गृह्यकार ने इस ओर ध्यान नही दिया ।

अथर्व० मे मूल रूप मे अविधा के स्थान पर अविथा, आपीताम् के स्थान पर वापीताम् और अभिशस्तिपावती के स्थान पर अभिशस्तिपा उ तथा चार्यां विभजासि जीवती के स्थान पर चार्यविभजासि जीवन् पाठ है । अथर्व०के अभिशस्तिपा उ, चार और जीवन्(सभी पु०)से प्रकट है कि इस मन्त्र की रचना मूल रूप मे उपनयन के लिए हुई थी ।

इसलिए गृह्यसूत्रो मे जहाँ इस मन्त्र का विनियोग उपनयन सस्कार मे हुआ है वहाँ वह प्राचीन परम्परा का पोषक तथा उस परम्परा द्वारा सम्मत प्रतीत होता है ।[1] इन स्थलो पर मन्त्र मे केवल भेद यही है कि प्रसङ्गानुसार लिङ्ग-परिवर्तन कर दिया गया है ।[2]

वर के लिये वस्त्रों का उपहार

इस कर्म का वणन केवल कौ० गृ० (१।८।३) मे किया गया है और वहाँ इस क्रिया के निमित्त निम्नलिखित ऋ० (१।१५२।१) मन्त्र का विनियोग किया गया है —

युव वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गा ।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ॥ [११७]

हे मित्र और वरुण, स्थूलाकार तुम दोनो वस्त्र धारण करते हो, तुम दोनो के ज्ञान और उत्साह अव्यवच्छिन्न है। तुम दोनो सभी असत्यो का (असत्यवादियो को मार कर) नाश करते हो और तुम ही वृष्टि-उदक से सम्बद्ध होते हो ॥ (इस प्रकार तुम्हारे समान मैं भी वस्त्र धारण करूँ ॥) ह० मि०

---

१ आग्नि० गृ० १।१।२, हि० गृ० १।४।२, आप० गृ० ४।१०।१० (म० पा० २। २।८), भा० गृ० १।५, बौ० गृ० २।५।१२, का० गृ० ४१।७ ।

२ यथा अभिशस्तिपावती और जीवती के स्थान पर क्रमश अभिशस्तिपावा और जीवन् है । हि० गृ० में चार्या के स्थान पर चार्य्य और विभजासि के स्थान पर विभजास—दे० एल० किर्स्ते पा० टि० मे "विभजास के स्थान पर भा० गृ० के अनुसार विभजासि पाठ होना चाहिये", बौ० गृ० मे विभजासुजीवन् पाठ है । का० गृ० में पुत्त्री के स्थान पर सुवीर, आर्य के स्थान पर उग्र और विभजासि के स्थान पर विभजस्व पाठ है ।

इस प्रयोग के विषय मे आप्टे ने उल्लेख किया है कि यहा अञ्ज (अनुलेपन) धातु के दो श्लिष्ट अर्थ लिए गये हैं। एक अर्थ सूत्र के आज्यशेषेण अनक्ति मे तथा दूसरा मन्त्र के समञ्जन्तु विश्वेदेवा मे निहित है। उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि मन्त्र का यह प्रयोग कपटी है।[1] परन्तु मेरे विचार मे अञ्ज् के दोनों अर्थों मे बहुत अधिक अन्तर प्रतीत नही होता—संयुक्त करना अर्थ अनुलेपन का ही विस्तार है। इसकी पुष्टि आप गृ० ३।८।१० (म पा० १।११।२) मे इसके समान प्रयोग से हो जाती है। तदनुसार चतुर्थी कर्म मे पति को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपने तथा पत्नी के हृदय देश का अनुलेपन करना चाहिये।

समञ्जन अथवा अनुलेपन कर्म के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए मुञ्ज अथवा घास की मेखला वधू की कटि पर बाधी जानी चाहिये —

आशासाना सौमनस प्रजा सौभाग्य रयिम्।
अग्नेरनुव्रता भूत्वा सनह्ये सुकृताय कम्॥ [१२१]

मन की प्रसन्नता सन्तान सौभाग्य और धन की आशा करती हुई अग्नि का अनुसरण करती हुई मैं अच्छे कार्य के लिये सुख को बाँधती हूँ।

मन्त्र मे कर्ता स्त्री० मे होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मेखलाबन्धन के अवसर पर इसका उच्चारण स्वय वधू के द्वारा किया जाता था। परन्तु सूत्रो की भाषा से अनुमान होता है कि मन्त्र का उच्चारण वधू के द्वारा नही अपितु वर के द्वारा किया जाता था। आप गृ के टीकाकार तथा का गृ का टीकाकार देवपाल इससे सहमत हैं। परन्तु का गृ० के अन्य टीकाकारो ने मन्त्र के अर्थ का अनुसरण करते हुए यह विधान किया है कि वधू को स्वय मेखला के द्वारा भीतर की ओर से परिधान को बाधना चाहिये।[3] जिन सहिताओ मे यह मन्त्र उपलब्ध होता है[4] उनमे इसके विभिन्न पाठो के अध्ययन से यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार गृह्यसूत्र पाठ के विषय मे तो अपने वेद अर्थात् कृष्णयजुर्वेद का अनुसरण करते है परन्तु

१ ऋ मन्त्रज इन दी आ गृ पृ १५।

२ आप गृ २।४।८ (म पा १।२।७) का गृ २५।४ कौशिक ७६।७।

३ ब्राह्मणबल व आदित्यदर्शन आशासानेति कन्यायास्तेन बध्नाति॥ स्वयमेव कन्या मुञ्जमयेन दर्भमयेन वा दाम्ना वासोऽन्तरतो बध्नाति॥ (आशासाना से लेकर कम् तक मन्त्र का उच्चारण करती हुई कन्या स्वय ही मुञ्ज अथवा दर्भ के सूत्र से परिधान को भीतर से बाँधती है।)

४ अथर्व १४।१।४२ तै स १।१।१०।१ का० स १।१०।

वस्त्रोपहार के पश्चात् प्रजापति सोमम् इत्यादि मन्त्र के द्वारा वर को आभूषणों द्वारा वधू को अलङ्कृत करना चाहिये।[1]

वधू का समञ्जन और मेखला-बन्धन

वधू और वर दोनो के समञ्जन के लिए पा० गृ० और शा० गृ० मे ऋ० १०।८५।४७ का विनियोग किया गया है[2] —

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ [१२०]

सभी देवता समञ्जन करें, जल हम दोनो के हृदयो का समञ्जन करे, मातरिश्वा अर्थात् प्राण-वायु, धाता अर्थात् धारण करने वाला परमात्मा और देष्ट्री अर्थात् उपदेशक हम दानो को समन्वित करे।

इस मन्त्र की प्रार्थना उपर्युक्त कर्म के अनुकूल है। इसी प्रकार से गो० गृ० और खा० गृ० मे भी सप्तपदी के पश्चात् वर और वधू के जल द्वारा अभिषिञ्चन करने के प्रसङ्ग मे इसके उच्चारण का विधान अर्थानुकूल ही है।[3] कुछ सीमा तक अभिषिञ्चन और अनुलेपन को समान क्रियाए माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मन्त्र में आप शब्द से भी जल का सकेत प्राप्त होता है। परन्तु आ०गृ० १।८।९ द्वारा वर के द्वारा दधि-भक्षण के उपरान्त वधू के द्वारा उसके भक्षण के निमित्त इस मन्त्र का विनियोग आश्चर्यजनक है। परन्तु जैसा कि आप्टे ने भी उल्लेख किया है, क्योंकि दधि-भक्षण हृदयो के सयोग का प्रतीक है अत इस प्रसग मे भी इस मन्त्र का उच्चारण उचित ही प्रतीत होता है।[4] इसी स्थान पर गृह्यसूत्र मे यह विकल्प भी दिया गया है कि वर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अवशिष्ट आज्य से अपने और वधू के हृदय देश का अनुलेपन कर सकता है। इस प्रकार से मन्त्रका यह वैकल्पिक प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि यह मन्त्र की प्रार्थना के अनुकूल है। परन्तु

---

१ वै०स्मार्त० अनु० पृ० ६६, पा० टि० १७, "वस्तुत यह मन्त्र नहीं है अपितु एक ब्राह्मण (अर्थात् तै० ब्रा० २।३।१०।१-सीता सावित्री तक) का प्रारम्भ है।"

२ पा० गृ० १।४।१४, शा० गृ० १।१२।५, पा० गृ० के अधिकाश टीकाकारो के अनुसार यह वर-वधू को एक दूसरे के सम्मुख लाने का कर्म है। गदाधर अनुलेपन का समावेश भी करता है (परस्परानुलेपनमिति केचित्)। ओल्डनबर्ग के अनुसार इसका मूल अभिप्राय अनुलेपन ही होगा।

३ गो० गृ० २।२।१४ (म० ब्रा० १।२।१५), खा० गृ० १।३।३०।

४ ऋ० मन्त्रज इन दी आ० गृ०, पृ० १५।

तृतीय अध्याय

प्रमुख विवाह कर्म

विवाह होम का अनुष्ठान

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार जय अभ्यातान और राष्ट्रभृत् नामक मन्त्र समूहों के साथ डाली गई आहुतियों का नाम ही विवाह-होम है।[1] पा० गृ० में जय और अभ्यातान मन्त्र-समूहों का पूर्ण पाठ दिया गया है। हि० गृ० में केवल आद्य मन्त्र उद्धृत किये गये हैं परन्तु अन्य सभी गृह्य केवल उनका नामोल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। का० गृ० २५।१५ में अभ्यातान मन्त्रों को आधिपत्य भी कहा गया है। जय मन्त्रों की संख्या १३ है, अभ्यातानों की १८ और राष्ट्रभृत् मन्त्रों की संख्या १२ है। आग्नि० गृ० में राष्ट्रभृत् मन्त्रों की संख्या ६ बताई गई है। इन तीन मन्त्र-समूहों के आद्य शब्द निम्नलिखित हैं —

चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च ॥ जया ॥ [१२३]
अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावतु इन्द्रो ज्येष्ठानाम् ॥
अभ्यातानाः ॥ [१२४]
ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरस ऊर्जो नाम
स इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहा ॥
राष्ट्रभृतः ॥ [१२५]

मन और विचार शक्ति, अभिलषित पदार्थ और अभिलाषा इत्यादि। अग्नि सब प्राणियों का स्वामी है वह मेरी रक्षा करे। इन्द्र सब बड़ों का स्वामी है इत्यादि॥ अग्नि ऋत का सहायक है, ऋत ही उसका स्थान है, वह गन्धर्व है, ओषधियाँ उसकी ऊर्जा रूपी अप्सराएं हैं, वह इस ब्राह्म तेज और क्षात्र-तेज की रक्षा करे, वे (अप्सराएं) इस ब्राह्म-तेज और क्षात्र-तेज की रक्षा करें, यह आहुति उसको अर्पित है, यह आहुति उनको अर्पित है॥

---

१ बौ० गृ० १।४।२२-२४; पा० गृ० १।५।७-८, १; का० गृ० २५।१३; मा० गृ० १।११।१५; भा० गृ० १।१३; हि० गृ० १।२।८ (१।३।६ १३ सभी होमों में सामान्य रूप से); आग्नि० गृ० १।६।२; आप० गृ० १।२।७।

विनियोग के विषय में वे अथर्व० का उल्लङ्घन नहीं करते। अथर्व० में उत्तरार्ध में अग्ने के स्थान पर पत्यु और सनह्ये सुकृताय के स्थान पर सनह्यस्वामृताय पाठ है। इस अथर्व० पाठ के अनुसार मूल रूप में वधू को मेखला-बन्धन के लिए प्रेरित करता हुआ वर ही मन्त्र का उच्चारण करता है।

श्रौतसूत्रों के अनुसार दर्श पूर्णमास याग में अग्नीध्र के द्वारा मेखला बन्धन किये जाने पर यजमान की पत्नी के द्वारा उच्चरित मन्त्रों में से यह प्रथम मन्त्र है।[1] तै० ब्रा० ३।३।३।२ के अनुसार यजमान की पत्नी को जब उसके पार्श्व में बिठाया जाता है तो वह व्रत के रूप में इस मन्त्र का उच्चारण करती है। यद्यपि इन सभी प्रयोगों में मन्त्र का सम्बन्ध पत्नी के साथ है तथापि इसका गृह्य-विनियोग सीधा अथर्व० पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि वहां यह मन्त्र विवाह सूक्त में ही आया है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में मेखला बन्धन के लिए निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग हुआ है[2] —

स त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्या स त्वा नह्याम्यद्भिरोषधीभि।
स त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सह सन्नद्धा सुनुहि भागधेयम्॥ [१२२]

मैं तुम्हें पृथ्वी के जल से बांधता हूँ, मैं तुम्हें जल से और ओषधियों से बाँधता हूँ अर्थात् संयुक्त करता हूँ। मैं तुम्हे सन्तान से और धन से बाँधता हूँ, इन सब से बंध कर अर्थात् संयुक्त होकर तुम भाग्य को (उज्ज्वल) बनाओ।

अथर्व० के अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों में यह मन्त्र प्राप्त होता है उनमें दीक्षा के अवसर पर यजमान की पत्नी के मेखला-बन्धन कर्म में इसके उच्चारण का विधान है।[3] अथर्व० में यह विवाह-सूक्त में आया है, अतः यही इसके गृह्य-विनियोग का आधार प्रतीत होता है।

---

१ आप० श्रौ० २।५।२, मा० श्रौ० १।२।५।१२।

२ पा० गृ० १४।२, मा० गृ० १।११।६, कौशिक० ७६।७।

३ तु० अथर्व० १४।२।७० (पा० भे० अद्भिरोषधीभि के स्थान पर पयसौषधीनाम्, सह के स्थान पर मा, सुनुहि के स्थान पर सनुहि और भागधेयम् के स्थान पर वाजमिमम्) तै० सं० ३।५।६।१ (पा० भे० पृथिव्या के स्थान पर घृतेन, अद्भि के स्थान पर अप, धनेन के स्थान पर अद्मच और अन्तिम पाद सा दीक्षिता सनवो वाजमस्मे), मा० श्रौ० २।१।२।७, आप० श्रौ० १०।६।१६।

बहुत से गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित ६ मन्त्रो से अन्य ६ आहुतियों का विधान है[1] —

अग्निरतु प्रथमो देवताना सोऽस्य प्रजा मुञ्चतु मृत्युपाशात् ।
तदय राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेय स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् ॥
इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्य प्रजामस्य नयतु दीर्घमायु ।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमान दमभि विबुध्यतामियम् ॥
मा ते गृहे निशि घोष उत्थाद यत्र त्वद्रुदत्य स विशन्तु ।
मा त्व विकेश्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्य ती प्रजां
सुमनस्यमानाम् ॥
द्यौस्ते पृष्ठ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तन धयतस्ते सविताभिरक्षतु ।
आवाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात् ॥
अप्रजस्तां पौत्रमृत्यु पाप्मानमुत वाघम् ।
शीर्ष्ण स्रजमिवो मुच्य द्विषद्भ्य प्रतिमुञ्चामि पाशम् ॥
ब्राह्मण देवकृत कल्पमान तेन हन्मि निवह पिशाचान् ।
क्रव्यादो मृत्युरधरान् पातयामि दीर्घमायुस्तव जीवन्तु पुत्रान् ॥

[१२६—१३१]

देवताओ मे प्रमुख अग्नि यहाँ आए वह इस (वधू) की सन्तान को मृत्यु के पाश से मुक्त करे। और यह राजा वरुण इस काय का अनुमोदन करे जिससे कि यह स्त्री पुत्र सम्बन्धी दु ख से न रोए ॥ गार्हपत्य अग्नि इस (वधू) की रक्षा करे वह इसकी सन्तान को दीघ आयु तक ले जाए। भरी गोद वाली यह जीवित पुत्रो की माता हो और यह सब ओर से पुत्र-सम्बन्धी आनन्द प्राप्त करे ॥ तेरे घर म रात्रि को शोर न उठे रोती हुई स्त्रिया अथवा राक्षसियाँ तुझे छोड कर किसी और म प्रविष्ट हो। केश रहित तू अपनी छाती न पीटे जीवित पति से युक्त तू पति के घर मे शोभित हो और अपनी प्रसन्न मन वाली सतान को देखती रहे ॥ आकाश तुम्हारे पृष्ठ-भाग की रक्षा करे। वायु और अश्विन् तुम्हारी जाघो की रक्षा करें सविता

1 हि० गृ १।१९।७ आप गृ २।५।२ (म पा १।४।७ १२) आग्नि गृ १।६।२ गो गृ २।१।२३ (म ब्रा १।१।८ १४) भा गृ १।३।११ का गृ २८।४ (अन्तिम दो छोड़कर) ज गृ १९।१५ १७ २ ।१ १३, १६ (अन्तिम छोडकर) मा गृ १।१४ पा० गृ १।५।११ (प्रथम दो और दो अन्य) व गृ ३।५ ।

मा० गृ० (१।१०।११) और वा० गृ० (१४।१२) मे केवल जय मन्त्रो का विनियोग किया गया है और वहा उनका पाठ आकूत्यै त्वा इत्यादि है। आप० गृ० ३।८।१० (म० पा० १।१०।६) के अनुसार जय मन्त्रो का उच्चारण चतुर्थी कर्म मे आहुतियो के साथ किया जाना चाहिये।

जय मन्त्र तै० स० ३।४।४ मे, अभ्यातान तै० स० ३।४।५ मे और राष्ट्रभृत् तै० स० ३।४।७ मे प्राप्त होते है। अन्य सहिताओ मे से मै० स० मे केवल जय और राष्ट्रभृत् तथा वा० स० और का० स० मे केवल राष्ट्रभृत् मन्त्र दिये गये है।[1] तै०स० मे जहाँ मन्त्र दिये गये है वहाँ इनके नामो की व्याख्या मे आख्यानक कहे गए है। जय के विषय मे कहा गया है कि प्रजापति ने इन्द्र को जय मन्त्र प्रदान किये, जिनके द्वारा देवताओ ने असुरो पर विजय प्राप्त की। यही कारण है कि इन आहुतियो को जय नाम दिया गया है। अभ्यातान मन्त्रो के विषय मे तै० स० ३।४।६ मे यह आख्यानक है कि देवताओ ने अभ्यातानो के द्वारा असुरो को अभिभूत कर लिया (अभ्यातन्वत)। यही कारण है कि अभ्यातानो का उक्त नाम पडा। राष्ट्रभृत् मन्त्रो के विषय मे यह कथा है कि उनके द्वारा देवताओ ने राष्ट्र प्राप्त किया अत उनका नाम राष्ट्रभृत् हो गया। आगे चल कर इन आहुतियो के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जिस मनुष्य के शत्रु हो उसे ये आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिएँ। निश्चय ही अभ्यातानो के द्वारा वह शत्रुओ को अभिभूत करता है, जयो के द्वारा वह उन पर विजय प्राप्त करता है और राष्ट्रभृत् आहुतियो के द्वारा वह राष्ट्र को जीत लेता है। वह स्वय समृद्ध होता है और उसके शत्रु पराजित होते हैं।"

पा० गृ० १।५।७-८ मे यह कह कर इन आहुतियो को वैकल्पिक बनाया गया है कि यजमान को वे तभी डालनी चाहियें जब उसे उनसे प्राप्त होने वाले फल की अभिलाषा हो।[2]

ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थो मे से आप० श्रौ० ५।२४।१ मे जय मन्त्रो को उद्धृत किया गया है। श० ब्रा०, आप० श्रौ० और मा० श्रौ० मे वेदीनिर्माण के प्रसङ्ग मे राष्ट्रभृत् मन्त्रो को नाम से भी और सकलपाठेन भी उद्धृत किया गया है।[3]

---

१ मै० स० १।४।१४, २।१२।२, वा० स० १८।३८-४३, वा० स० का० २०।२।१, का० स० १८।१४।

२ राष्ट्रभृत इच्छन् जयाभ्यातानाश्च जानन् ॥ येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात् ॥

३ श० ब्रा० ६।४।१।७-१२, आप० श्रौ० १७।२०।१, १६।१७।१८-१९, मा० श्रौ० ६।२।५।३२, बौ० श्रौ० १४।१७-१८।

बृहद्देवता (५।६२) मे प्राप्त प्राचीन परम्परा के अनुसार इस सूक्त का उच्चारण गर्भाधान से सम्बद्ध कर्म में किया जाना चाहिए। मन्त्रो की अधिकाश प्रार्थनाएँ सन्तान सम्बन्धी होने के कारण यह विनियोग सबसे सङ्गत प्रतीत होता है। और सन्तान का आधार विवाह होने के कारण विवाह संस्कार में भी उनकी विनियोगार्हता असन्दिग्ध है।

उपर्युक्त छः आहुतियो के अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों मे निम्नलिखित तीन मन्त्रो के साथ तीन और आहुतियों का निर्देश है[1] —

अग्नये जनिविदे स्वाहा ॥
सोमाय जनिविदे स्वाहा ॥
गन्धर्वाय जनिविदे स्वाहा ॥ [१३२ १३४]

पत्नी के प्राप्तकर्ता अग्नि को यह आहुति अर्पित है ॥ पत्नी के प्राप्तकर्ता सोम को यह आहुति अर्पित है ॥ पत्नी के प्राप्तकर्ता गन्धर्व को यह आहुति अर्पित है ॥

अग्नि सोम तथा गन्धर्व के विशेषण पत्नी का प्राप्तकर्ता के आधार पर इन मन्त्रो का विनियोग सङ्गत है। इन तीनो का विवाह से सम्बन्ध ऋ० के विवाह-सूक्त मे भी लक्षित होता है।[2]

एक अन्य आहुति के लिये अथर्व० (५।२९।१) के निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[3] —

युक्तो वह जातवेद पुरस्तादग्ने विद्धि कर्म क्रियमाण यथेदम्।
त्व भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गा अश्वान् पुरुषान् सनेमि ॥ [१३५]

हे जातवेदा पहले ही उचित प्रकार से (आहुति का) वहन कीजिये हे अग्नि जिस प्रकार यह कर्म किया जा रहा है उसे जान लीजिये।

---

१ आप ए २।५।२ (म पा १।४।१ ३) का गृ २५।११ वा गृ १४।१ भा० गृ १।१३ बौ गृ १।४।१४ १६ मा गृ १।१।८।

२ ऋ १।८५।४। सोम प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर। तृतीयो अग्निष्टे पति।

३ मा० गृ १।१२ भा ए १।१०।१६ बौ गृ १।३।३१ आग्नि गृ० १।५।२। अथर्व० में वस्तुत आरम्भ में पुरस्तात् पाठ है कर्म का अभाव है और गा अश्वान् पुरुषान् सनेमि के स्थान पर गामश्व पुरुष सनेम पाठ है।

सब ओर से तुम्हारे दूध पीने वाले शिशुओं की रक्षा करे। वस्त्र-परिधान से लेकर बृहस्पति और उसके पश्चात् सभी देवता तुम्हारी रक्षा करें॥ जिस प्रकार से सिर पर से माला उतार दी जाती है उसी प्रकार सहज ही मैं संतान हीनता, पौत्रों की मृत्यु, पाप अथवा दुखों को उतार कर वह पाश शत्रुओं के लिए डालता हूँ॥ हे ब्राह्मण! देवताओं के द्वारा बनाया हुआ (जो शस्त्र है) उसके द्वारा मैं बैठे हुए पिशाचों को मारता हूँ। मैं मृत्यु हूँ और कच्चा माँस खाने वाले उनको नीचे गिराता हूँ, तुम्हारे पुत्र दीर्घ आयु तक जीवित रहें॥

आ० गृ० (१।१३।६) में इस मन्त्र-समूह का नाम जीवपुत्र सूक्त दिया गया है। वहाँ इसका विनियोग अनवलोभन कर्म में किया गया है। इस सूक्त के स्रोत के विषय में बृ० दे० (५।६२, पृ० १८६-१६०) के अपने अनुवाद की टिप्पणियों में मैक्डॉनल कहता है कि जीवपुत्र खिल कश्मीरी पा० लि० में प्रजावत् नामक एक अन्य सूक्त के ठीक पश्चात् आता है और उसमें पाँच मन्त्र हैं। सातवलेकर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद में भी यह पञ्चम मण्डल के अन्त में खिल सूक्त के रूप में दिया गया है।[1] पिल्ले के अनुसार इन मन्त्रों का स्रोत ऋ० खि० २।११।१-५ है।[2]

का० गृ० और गो० गृ० में वर के घर में वधू के प्रवेश के अवसर पर अनुष्ठीयमान कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[3] बौ० गृ० (१।४।२०-२३) में विवाह में आहुतियों के लिये इनमें से प्रथम तीन और पाँचवे मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। मा० गृ० (१।१०।१०) में इस सम्बन्ध में केवल प्रथम मन्त्र का विधान है। बौ० गृ० २।१।११ में जातकर्म संस्कार में शिशु द्वारा प्रथम बार माता के स्तन-पान करने के प्रसङ्ग में केवल चतुर्थ मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है।

---

१ ऋ० में न्यग्निषद के स्थान पर न्यग्नि योनिषद, गृन्यु के स्थान पर मृत्युस, पुनान् के स्थान पर पुना पाठ है। तदनुसार ऋ० का पाठ अधिक स्पष्ट और इसीलिए अच्छा है।

२ नॉन ऋ० मन्त्रज इन मरेज, पृ० १६२-१६७। उसने शेफेलोविट्स (दि अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, पृ० ८३) को उद्धृत किया है।

३ का० गृ० में इन मन्त्रों के पाठ में भेद है-१-न रोदात् के स्थान पर निरुन्ध्यात्, २-नयतु दीर्घमायु के स्थान पर मुञ्चतु मृत्युपाशान्, अशून्यापस्था के स्थान पर अरिक्तोपस्था, ३-मा त्व विकेश्युर आ वधिष्ठा को यहाँ से निकाल कर चतुर्थ मन्त्र के पूर्वार्ध में रखा है, जीवपत्नी के स्थान पर जीवपुत्रा, ४-द्यौस्ते अश्विनौ के स्थान पर मा ते कुमारं स्तनन्ध प्रमायि मा त्वम्।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ [१३७]

मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ जिससे कि हम सन्तान से युक्त हों और तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक (सुखी) रहो। भग अर्यमा सविता और पुरन्धि देवों ने गृहस्थ का स्वामी होने के लिए तुम्हे मुझे दिया है।

मा गृ में मन्त्र से पूर्व निम्नलिखित पंक्ति आती है —

यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत् सविता वरुणो भग [१३८]

जिस प्रकार से इन्द्र सविता वरुण और भग ने हाथ ग्रहण किया था।

उक्त प्रसङ्ग मे इस मन्त्र का विनियोग न केवल इसलिये उपयुक्त है कि यह विवाह-सूक्त में विद्यमान है अपितु इसलिए भी कि ऋग्वेदकाल मे इस मन्त्र की रचना उक्त कर्म के लिये ही की गई प्रतीत होती है। रोम आदि मे भी इसी प्रकार का कर्म डक्स्ट्रस जंक्शो विद्यमान है।[1] कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों मे इस मन्त्र के अतिरिक्त अपने ही वेद के[2] एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है[3]—

देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णामि ॥

सविता देवता की प्रेरणा पर अश्विनों की भुजाओ से पूषा के हाथों से मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ।

उपर्युक्त सभी गृह्यसूत्रो मे यह मन्त्र गृभ्णामि ते इत्यादि का पुरोगामी है। वस्तुत विवाह संस्कार मे इसके विशिष्ट प्रयोग का स्थूल आधार नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गृह्यों ने केवल अपने वेद की मुद्रा लगाने के लिये यहाँ इसका समावेश किया है। क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रो मे इसका विनियोग उपनयन संस्कार मे हुआ है अत इस संस्कार से सम्बद्ध आठवें अध्याय मे इसका विस्तृत विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि वस्त्रोपहार कर्म के पश्चात् यह एक और ऐसा कर्म है जिसमे विवाह और उपनयन दोनो संस्कारो के मन्त्र समान हैं।

पाणिग्रहण कर्म के तत्काल पश्चात् कुछ गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित मन्त्र

---

१ वेबर इ स्टू ख ५ पृ २७७ आल्ट हॉस पृ ४६।

२ त स २।६।४।१ ७।१।११।१ ४।७।३।१।

३ मा० गृ १।१५ आग्नि गृ १।६।२ बा गृ १४।१३ भा गृ १।१।१५ का० गृ २५।२१।

आप ओषध के निर्माता वैद्य है, आपके द्वारा मैं गौओ, घोडो और पुरुषो को प्राप्त करूँ ।।

हि० गृ० (१।२।१८) मे इसका प्रयोग उपनयन सस्कार मे एक आहुति के लिये किया गया है । वा० गृ० (१।२३) के अनुसार पाक यज्ञो मे इसके द्वारा आहुति दी जानी चाहिये । यद्यपि अग्नि के प्रार्थना-रूप इस मन्त्र की अग्नि मे आहुति के प्रसङ्ग में सामान्य विनियोगार्हता है, तथापि विवाह सस्कार मे इसके विशिष्ट प्रयोग का सम्यक् आधार नहीं है ।

आप० गृ० और बौ० गृ० मे आहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र भी प्रयुक्त हुआ है[1]—

उत्तिष्ठातो विश्वावसो ऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां स जाया पत्या सह ।। [१३६]

हे विश्वावसु ! यहाँ से उठो और किसी दूसरी (पत्नी) की इच्छा करो । इस पत्नी को पति के साथ समृद्ध करो ।

विश्वावसु एक गन्धर्व का नाम होने के कारण इस मन्त्र का विनियोग विवाह-सस्कार मे उचित ही प्रतीत होता है क्योकि गन्धर्वो का विवाह-सस्कार मे विशेष सम्बन्ध है । इसके अतिरिक्त बृ० उ० मे भी पुत्रमन्थ अथवा गर्भाधान कर्म मे पत्नी के अभिषिञ्चन के लिये इसका विनियोग किया गया है । सम्भवतया पत्नी के साथ मन्त्र के इस सम्बन्ध से ही गृह्यसूत्रकारो को भी विवाह सस्कार के अन्तगत इसके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी ।

पाणिग्रहण

लगभग सभी गृह्यसूत्रो मे यह विधान है कि वधू का पाणिग्रहण करते हुए वर को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६, अथर्व० १४।१।५०) का उच्चारण करना चाहिये[2] —

---

१ आप० गृ० २।५।२, (म० पा० १।४।४), बौ० गृ० १।४।१७, दे० अथर्व० १४।२।३३ ।

२ आ० गृ० १।५।३, शा० गृ० १।१३।२, पा० गृ० १।६।३, हि० गृ० १।२०।१, आप० गृ० २।४।१५ (म० पा० १।३।३), आग्नि० गृ० १।६।२, बौ० गृ० १।४।१०, मा० गृ० १।१५, वा० गृ० १४।१३, मा० गृ० १।१०।१५, का० गृ० २५।२२, वै० गृ० ३।३, गो० गृ० २।२।१५ (म० ब्रा० १।२।१६), खा० गृ० १।३।३१, जै० गृ० २१।१ ।

ज० गृ १।२१ मे विधान है कि अश्मारोहण कर्म के पश्चात् वर को स्वय इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इसमे पृथिवी त्वम् तक मन्त्र का पाठ पा० गृ० के पाठ के अनुकूल है। तत्पश्चात् निम्नलिखित पाठ है —

तावेहि सम्भवाव सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वेत्तव।
मामनुव्रता भव सहशय्या मया भवासौ ॥ [१४१]

आओ हम दोनों संयुक्त हों और पुरुष पुत्र की प्राप्ति के लिए हम दोनों बीज स्थापित करें। अमुक नाम की तुम मेरी अनुगामिनी हो जाओ और मेरे साथ समान शय्या पर शयन करो।

कौशिक० (७९।१०) के अनुसार इस मन्त्र के अथर्व० पाठ के द्वारा वर-वधू को एक दूसरे का स्पर्श करना चाहिए।

यह मन्त्र ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे पाठान्तर सहित उपलब्ध होता है।[1] कुछ स्थलो पर श्रौतयागों में भी इसका विनियोग गृह्यविनियोग के समानान्तर है। तै०ब्रा० और आप श्रौ के अनुसार यदि किसी यज्ञानुष्ठान के मध्य यजमान की पत्नी रजस्वला हो जाए तो तृतीय रात्रि की समाप्ति पर यजमान को इस मन्त्र के द्वारा उसे सम्बोधित करना चाहिये।[2] श ब्रा १४।९।४।१९ मे विधान है कि गुणवान् पुत्र की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित किये जाने वाले एक काम्य याग में पति-पत्नी के समागम के अवसर पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिए।[3] यह ध्यान देने योग्य बात है कि मन्त्र के उपर्युक्त सभी श्रौत और गृह्य विनियोगो मे मन्त्र मे सकेतित दाम्पत्य सयोग का किसी न किसी रूप मे ध्यान रखा गया है। श्रौत और गृह्यसाहित्य में इसके पाठ-भेदों की सख्या देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व और का स० में संगृहीत होने के पश्चात् भी इसका लौकिक रूप समाप्त नही हुआ था और तब भी कर्मकाण्डियों के द्वारा इसमे बडे परिवर्तन किये जा रहे थे।

गाथाओं का उच्चारण

का गृ० २५।२३ मे विधान है कि पाणिग्रहण के पश्चात् वर को एक गाथा अर्थात् सरस्वति प्रेदम् इत्यादि अनुवाक का उच्चारण करना चाहिए। इसके टीकाकार देवपाल ने इस अनुवाक के रूप मे २१ मन्त्र उद्धत किये हैं। उक्त अनुवाक के

---

१ मॉन ऋ० मन्त्रज् इन मरिज पृ २१३ २१५।
२ त ब्रा ३।७।१।९ आप श्रौ ९।२।३।
३ परन्तु ऐ० ब्रा० ८।२७।४ मे राजा के द्वारा पुरोहित के वरण के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है।
४ सो गृ० पृ २५८-२६०।

(अथर्व० १४।२।७१) के उच्चारण का विधान किया गया है[1]—

अमोऽहमस्मि सा त्व सा त्वमस्यमोऽहम् ।
सामाहमस्मि ऋक्त्व द्यौरह पृथिवी त्व तावेहि विवहावहै
सह रेतो दधावहै प्रजा प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टय'
सप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ ।
पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत शृणुयाम शरद शतम् ।। [१३६]

यह मैं हू, वह तुम हो, वह तुम हो, यह मैं हूं । मैं साम हूँ तुम ऋचा हो, मैं आकाश हू तुम पृथ्वी हो, आओ हम दोनो विवाह करे, हम दोनो समागम करें हम दोनो सन्तान उत्पन्न करें और बहुत से पुत्रो को प्राप्त करें। तुम वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त होओ। हम एक दूसरे को प्रिय हो हमारी एक दूसरे मे आसक्ति हो और हमारा मन प्रसन्न रहे। हम सौ वर्ष तक देखें सौ वष तक जीवित रहे और सौ वर्ष तक सुनें।

उपर्युक्त पाठ पा० गृ० का है। आ० गृ० मे प्रथम दो पक्तियां इसके समान है, तृतीय पक्ति से केवल प्रजा प्रजनयावहै लिया गया है, पूर्ण चतुर्थ पक्ति है और पाँचवी पक्ति के स्थान पर जीवेव शरद शतम् पाठ है। शा० गृ० मे पृथिवी त्वम् के आगे सा मामनुव्रता भव जोडा गया है। सह रेतो दधावहै का अभाव है और अन्तिम दोनो पक्तियां ज्यो की त्यो हैं।

आप० गृ० २।४।१७ (म० पा० १।३।१४) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण सप्तपदी कर्म के पश्चात् किया जाना चाहिए। आग्नि० गृ० (१।८।३) में विधान है कि सप्तपदी से पहले वर को वधू के कान मे इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। बौ० गृ० (१।७।४२) मे चतुर्थी कर्म मे पति द्वारा पत्नी के आलिङ्गन के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है। का० गृ० (२५।२७) ने गाथा के ठीक पश्चात् इसे उद्धृत किया है। स्वभावत ही इस गृह्यसूत्र ने अपनी सहिता (का० स० ३५।८) के निम्नलिखित पाठ को स्वीकार किया है—

सा त्वमस्यमोऽहममोऽहमस्मि सा त्व ता एहि विवहावहै ।
पु से पुत्राय कर्तवे रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।। [१४०]

उत्तरार्द्ध—पुरुष पुत्र की प्राप्ति के लिए, धन की पुष्टि के लिए अच्छी सन्तान के लिए और शक्ति के लिए।

---

[1] मा० गृ० १।६।३, आ० गृ० १।७।६, शा० गृ० १।१३।५, वा० गृ० १४।१३, भा० गृ० १।२०, हि० गृ० १।२०।२, मा० गृ० १।१०।१५।

मन्त्र की रचना म स ४।१२।१६ के प्रभाव मे हुई क्योंकि उसका निम्नलिखित पूर्वार्ध बहुत कुछ प्रेवमय इत्यादि के समान है —

प्र ते महे सरस्वति सुभगे वाजिनीवति । [१४५]

अश्मारोहण

पुरोहित के द्वारा अग्नि के उत्तर की ओर शिला रखे जाने के पश्चात् वर वधू को उठने को कहता है और उससे शिला पर पद क्रमण करवाता है इस अवसर पर उच्चारणाय सभी गृह्यसूत्रों[1] मे निम्नलिखित मन्त्र का[2] विनियोग किया गया है —

आरोहेममश्मानमश्मेव त्व स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत ॥ [१४६]

तुम इस शिला पर चढो और तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। जो तुम्हें कष्ट पहुँचाना चाहते है उन्हें नष्ट कर दो और अपने शत्रुओं को वश मे करो।—ओल्डनबर्ग

सामवेदीय गृह्यसूत्रों मे उत्तरार्ध का पाठ यह है —

द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्व द्विषतामध ॥ [१४७]

शत्रु को निरुद्ध करो और तुम शत्रुओं के नीचे अर्थात् वश में न रहो।

इसी प्रकार काठक और मैत्रायणी सहिताओं के गृह्यो मे भी पर्याप्त पाठ-भेद है। उनके अनुसार मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है —

कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरद शतम् ॥ [१४८]

सभी देवता तुम्हारी आयु सौ वर्ष की करदें।

यह पाठ अथर्व २।१३।४ के बहुत निकट है। इस पाठ-भेद के अतिरिक्त इन

---

१ मा गृ० १।७।७ शां० गृ० १।१३।१२ पा गृ १।७।१ हि गृ १।१९।८ आप गृ० २।५।३ ७।१ (म पा १।५।१) भा० गृ १।१६ बौ गृ० १।४।२४ आग्नि गृ १।६।२ व गृ ३।३ मा गृ० १।१०।१६ का गृ २५।२८ वा गृ० १४।१५ गो गृ २।२।४ (म ब्रा १।२।१) खा० गृ १।२।१९ ज गृ० २१।६ कौशिक ५४।८। शां गृ०—प्रथम पाद— एहृश्मानमातिष्ठ म पा और बौ गृ मे आरोह के स्थान पर आतिष्ठ और अववाधस्व के स्थान पर सहस्व हि गृ० मा गृ का गृ और आग्नि० गृ० में उत्तरार्ध—प्रमृणीहि दुरस्यून् सहस्व पृतनायत ॥

२ अथर्व० १४।१।४७।

निम्नलिखित प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग पा० गृ० १।७।२ में भी गाथा के रूप में किया गया है। परन्तु वहाँ अश्मारोहण कर्म के पश्चात् इनके उच्चारण का विधान है[1]—

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
या त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रगायाम्यस्याग्रत.॥ [१४२]
यस्यां सर्वं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य वाचं गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं मन.[१४३]

हे सर्वहितकारिणी ओषधियों से युक्त सरस्वती, इस सारे प्राणि-जगत् की उत्पत्ति से पहले ही स्थित जिस तुम भगवती की मैं स्तुति करता हूँ वह तुम इस कर्म की रक्षा करो॥ जो स्त्रियों के मन का उत्तम प्रकाशन है, जो सर्व प्रथम सृष्टि के आरम्भ में सर्वरूपा हुई और जिस पर यह सारा ससार आश्रित है आज मैं उस सरस्वती की स्तुति करूँगा॥ दे० पा०

अन्य कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में ये दोनों मन्त्र गाथाओं के रूप में नहीं आए अपितु केवल पाणिग्रहण के मन्त्र के साथ साथ उच्चारणार्थ उद्धृत किये गये हैं।[2] मा० गृ० और का० गृ० में निम्नलिखित पक्ति अधिक है —

यस्यां (ऊर्ध्वा) वाक् समवदत् (समभवत्) पुरा देवासुरेभ्य [१४४]

जो ऊर्ध्वा वाणी अर्थात् सरस्वती पहले देवताओं और असुरों से भी पूर्व उत्पन्न हुई।

बौ० गृ० १।४।१ के अनुसार इन मन्त्रों का उच्चारण वधू के दक्षिण कर्ण में किया जाना चाहिये। आग्नि० गृ० में केवल प्रथम मन्त्र ही है और पाणिग्रहण के पश्चात् अश्मारोहण के लिए वधू को खड़ा करते हुए वर के द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। वै० गृ० ३।३ के अनुसार वधू का पाणिग्रहण करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।

यद्यपि उपर्युक्त सभी स्थलों पर मन्त्रों को गाथा नहीं कहा गया तथापि सर्वत्र ये वधू को ही सम्बोधित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रों में इनके मूल प्रयोग का उल्लङ्घन नहीं किया गया। मन्त्रों का स्रोत अज्ञात है। सम्भवतया प्रथम

१ पा० गृ० में प्रगायामि के स्थान पर प्रजायाम्, यस्यां सर्वम् के स्थान पर यस्यां भूतम्, वाचम् के स्थान पर गाथाम् और मन के स्थान पर यश पाठ हैं।

२ मा० गृ० १।१०।१५, का० गृ० १४।१३, हि० गृ० १।२०।१ भा० गृ० १।१६, आप० गृ० २।४।१५ (म० पा० १।३।४-६)।

मन्त्र की रचना ऋ० सं० ५।१२।१६ के प्रभाव में हुई क्योंकि उसका निम्नलिखित पूर्वार्ध बहुत कुछ प्रदमव इत्यादि के समान है —

प्र ते महे सरस्वति सुभगे वाजिनीवति । [१४५]

अश्मारोहण

पुरोहित के द्वारा अग्नि के उत्तर की ओर शिला रखे जाने के पश्चात् वर वधू को उठने को कहता है और उससे शिला पर पद भ्रमण करवाता है इस अवसर पर उच्चारणार्थ सभी गृह्यसूत्रों[1] में निम्नलिखित मन्त्र का[2] विनियोग किया गया है —

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृतनायतः ॥ [१४६]

तुम इस शिला पर चढ़ो और तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। जो तुम्हें कष्ट पहुँचाना चाहते हैं उन्हें नष्ट कर दो और अपने शत्रुओं को वश में करो।—ओल्डनबर्ग

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उत्तरार्ध का पाठ यह है —

द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः ॥ [१४७]

शत्रु को निरुद्ध करो और तुम शत्रुओं के नीचे अर्थात् वश में न रहो।

इसी प्रकार काठक और मैत्रायणी संहिताओं के गृह्यों में भी पर्याप्त पाठ भेद है। उनके अनुसार मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है —

कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ [१४८]

सभी देवता तुम्हारी आयु सौ वर्ष की करदें।

यह पाठ अथर्व० २।१३।४ के बहुत निकट है। इस पाठ-भेद के अतिरिक्त इन

---

१ आ० गृ० १।७।७ शां० गृ० १।१३।१२ पा० गृ० १।७।१ हि० गृ० १।१९।८ आप० गृ० २।५।३ ७।१ (मं० पा० १।५।१) भा० गृ० १।१६ बौ० गृ० १।४।२४ आग्नि० गृ० १।६।२ मा० गृ० ३।३ का० गृ० २५।२८ वा० गृ० १४।१५ गो० गृ० २।२।४ (मं० ब्रा० १।२।१) खा० गृ० १।३।१९ ज० गृ० २१।६ कौशिक० ४४।८। शां० गृ०—प्रथम पाद—एह्यश्मानमातिष्ठ मं० पा० और बौ० गृ० में आरोह के स्थान पर आतिष्ठ और अववाधस्व के स्थान पर सहस्व हि० गृ० भा० गृ० का० गृ० और आग्नि० गृ० में उत्तरार्ध—प्रमृणीहि दुरस्यून् सहस्व पृतनायतः ॥

२ अथर्व० १४।१।४७।

गृह्यसूत्रों में विनियोग मे भी स्वल्प अन्तर है। तदनुसार का० गृ० मे जब पूर्वार्ध मे

अश्मेव त्व स्थिरो भव [१४९]

शब्दो से आरब्ध मन्त्र का पाठ पुरोहित करता है, उस समय वर पहले स्वय अश्मारोहण करता है। इसके पश्चात् वह उपयुक्त मन्त्र [१४६] के द्वारा अश्मारोहण करवाता है। इस स्थल पर उत्तरार्ध का पाठ प्रमृणीहि इत्यादि है। दे० पा० टि० १

मा० गृ० के अनुसार पुरोहित द्वारा वर और वधू से एक साथ अश्मारोहण करवाया जाता है। क्योकि इसके अनुसार क्रिया दो व्यक्तियो द्वारा की जा रही है, अत मन्त्र में कर्ता और क्रिया को भी द्विवचनान्त करके पूर्वार्ध का पाठ निम्नलिखित कर दिया गया है —

एतमश्मानमातिष्ठतमश्मेव युवा स्थिरौ भवतम् ॥ [१५०]

तदनुसार ही उत्तरार्ध मे आयुष्टे के स्थान पर आयुर्वाम् पाठ है। मा० गृ० और का० गृ० का वर वधू दोनो से एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अश्मारोहण करवाने का विचार सराहनीय है। इस प्रकार गार्हस्थ्य के दोनो सदस्यो को एक समान ही स्थिरता की शपथ दिलवाई जाती है।

उपनयन तथा विवाह दोनो सस्कारो मे बहुत से गृह्यसूत्रों द्वारा एक ही क्रिया में प्रयुक्त यह तृतीय मन्त्र है।[1] उपनयन मे भी इसका विनियोग सार्थक है क्योकि वहा भी अध्ययन में स्थिरता का आदर्श सामने रखा गया है। अथर्व० २।१३ के अन्य मन्त्रों की विशेषताओ से प्रतीत होता है कि मूल रूप मे इस मन्त्र की रचना उपनयन के अन्तर्गत अश्मारोहण के लिये हुई थी।

केवल मा० गृ० १।१०।१७ एक मात्र गृह्य है जहा शिला से अवतरण करने का भी विधान है। तदर्थ पुरोहित द्वारा वर को निम्नलिखित वाक्य कहा जाता है।

यथेन्द्र सहेन्द्राण्या अवारुहद्गन्धमादनात्, एव त्वमस्मादश्मनोऽवरोहस्व। [१५१]

जिस प्रकार इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ गन्धमादन पर्वत मे अवरोहण किया था उसी प्रकार तुम भी (वधू के साथ) इस शिला से अवरोहण करो।

इस क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त मन्त्र का विवाह से कोई प्रतीकात्मक सम्बन्ध

---

१ हि० गृ० १।४।१, आप० गृ० ४।१०।९ (म० पा० २।२।२), मा० गृ० १।८, आग्नि० गृ० १।१।२, बौ० गृ० २।५।१०, मा० गृ० १।२२।१२, का० गृ० ४१।८ वै० गृ० ११।८।

नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदर्श दम्पती के रूप में इन्द्र तथा इन्द्राणी से वर वधू की तुलना की गई है।[1]

वर के अवरोहण के पश्चात् जब वधू दूसरी बार अश्मारोहण करती है उस समय पुरोहित निम्नलिखित मन्त्र से उसे सम्बोधित करता है —

आरोहस्व सुमे पादौ अनूर्ध्यायुष्मती कन्ये पुत्रवती भव ॥ [१५२]

हे अनुकूल मन वाली वधू दोनों पाँवों से क्रमशः आरोहण करो हे कन्या! तुम आयुष्मती और पुत्रवती हो जाओ।

लाजहोम अर्थात् खीलों की आहुति

वधू का भ्राता उसके हाथों में खीलें डालता है और वह अञ्जलि बना कर अग्नि में उनकी आहुति देती है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में वधू की इस क्रिया के साथ वर के द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है —

अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत।
स इमां देवोऽर्यमा प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा ॥ [१५३]

यह कन्या जिस दानादि गुण से युक्त अग्रणी अर्यमा की पूजा करती है वह अर्यमा देव इस वधू को माता पिता के पास से मुक्त करादे (परन्तु) इसे मुझसे वियुक्त न करे। ह० मि

यद्यपि आ० गृ० और शा० गृ० दोनों ऋ० से सम्बद्ध हैं तथापि इस मन्त्र का विनियोग चतुर्थी कर्म में आरम्भिक आहुतियों में करके शा०गृ० (१।१८।३) ने आ० गृ० से भेद प्रकट किया है। परन्तु आ० गृ० बौ०गृ० और मा० गृ० के समान ही शा० गृ० में भी दो बार अर्यमा के स्थान पर वरुण और पूषा देवों के नामों के साथ मन्त्र की आवृत्ति की गई है। गो० गृ० में अर्यमा के स्थान पर पूषा के नाम के साथ केवल

1. आदर्श दम्पती के रूप में इन्द्र और इन्द्राणी की कल्पना के लिए दे० ऋ० १०।८६।११ —
   इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
   न ह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
2. आ० गृ० १।७।१३ मा० गृ० १।११।१२ का० गृ० १४।१८ का० गृ० २५। ६ ३५ गो० गृ० २।२।७ (म० ब्रा० १।२।३ ४) खा० गृ० १।३।२३ बौ० गृ० १।४।१८ आप० गृ० २।५।२ ८ (म० पा० १।५।५ ५।७) पा० गृ० १।६।२ (प्रथम पंक्ति में नु नहीं है द्वितीय पंक्ति स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः है) ज० गृ० २२।२।

गृह्यसूत्रों मे विनियोग मे भी स्वल्प अन्तर है। तदनुसार का० गृ० में जब पूर्वार्ध मे

अश्मेव त्वं स्थिरो भव [१४९]

शब्दो से आरब्ध मन्त्र का पाठ पुरोहित करता है, उस समय वर पहले स्वयं अश्मारोहण करता है। इसके पश्चात् वह उपर्युक्त मन्त्र [१४९] के द्वारा अश्मारोहण करवाता है। इस स्थल पर उत्तरार्ध का पाठ अमृणीहि इत्यादि है। दे० पा० टि० १

मा० गृ० के अनुसार पुरोहित द्वारा वर और वधू से एक साथ अश्मारोहण करवाया जाता है। क्योंकि इसके अनुसार क्रिया दो व्यक्तियो द्वारा की जा रही है, अतः मन्त्र में कर्ता और क्रिया को भी द्विवचनान्त करके पूर्वार्ध का पाठ निम्नलिखित कर दिया गया है —

एतमश्मानमातिष्ठतमश्मेव युवां स्थिरौ भवतम् ।। [१५०]

तदनुसार ही उत्तरार्ध मे आयुष्टे के स्थान पर आयुर्वाम् पाठ है। मा० गृ० और का० गृ० का वर वधू दोनो से एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अश्मारोहण करवाने का विचार सराहनीय है। इस प्रकार गार्हस्थ्य के दोनों सदस्यों को एक समान ही स्थिरता की शपथ दिलवाई जाती है।

उपनयन तथा विवाह दोनो संस्कारो मे बहुत से गृह्यसूत्रो द्वारा एक ही क्रिया में प्रयुक्त यह तृतीय मन्त्र है।[1] उपनयन मे भी इसका विनियोग सार्थक है क्योंकि वहां भी अध्ययन मे स्थिरता का आदर्श सामने रखा गया है। अथर्व० २।१३ के अन्य मन्त्रो की विशेषताओ से प्रतीत होता है कि मूल रूप मे इस मन्त्र की रचना उपनयन के अन्तर्गत अश्मारोहण के लिये हुई थी।

केवल मा० गृ० १।१०।१७ एक मात्र गृह्य है जहां शिला से अवतरण करने का भी विधान है। तदर्थ पुरोहित द्वारा वर को निम्नलिखित वाक्य कहा जाता है।

यथेन्द्र सहेन्द्राण्या अवारुहद्गन्धमादनात्, एवं त्वमस्मादश्मनोऽवरोहस्व। [१५१]

जिस प्रकार इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ गन्धमादन पर्वत मे अवरोहण किया था उसी प्रकार तुम भी (वधू के साथ) इस शिला से अवरोहण करो।

इस क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त मन्त्र का विवाह से कोई प्रतीकात्मक सम्बन्ध

---

१ हि० गृ० १।४।१, आप० गृ० ४।१०।६ (म० पा० २।२।२), मा० गृ० १।८, आग्नि० गृ० १।१।२, बौ० गृ० २।५।१०, मा० गृ० १।२२।१२, का० गृ० ४१।८ कौ० गृ० ११।८।

इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम ॥ [१५५]

लाजों की आहुति डालती हुई यह स्त्री प्रार्थना कर रही है कि मेरा पति दीर्घायु हो और मेरे सम्बन्धी समृद्ध हों।

यहाँ भी शाङ्खायन और आश्वलायन में मतभेद है क्योंकि आश्वलायन ने इसका विनियोग ही नहीं किया। अन्यथा न केवल इसके स्रोत (विवाह सूक्त) के आधार पर अपितु इसमें अभिव्यक्त भाव के आधार पर भी इस मन्त्र का विनियोग इस में अत्यन्त सङ्गत है।

लाजाहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग कुछ यजुर्वेदीय गृह्यों में किया गया है[1]—

इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव ।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियम् ॥ [१५६]

(अमुक नाम वाली) मैं तुम्हारी समृद्धि के साधन रूप इन लाजों को अग्नि में आहुति डाल रही हूँ। मेरा और तुम्हारा संयोग हो और अग्नि उस संयोग का अनुमोदन करे।

किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध न होने के कारण यह मन्त्र शुद्ध रूप से केवल गृह्य-परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

अग्नि परिणयन

वर वधू के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करता है अर्थात् अग्नि की ओर अपना दाहिना अंग रखकर उसकी परिक्रमा करता है। इस प्रसङ्ग में बौ० गृ० और आप० गृ० में निम्नलिखित तीन मन्त्रों का विनियोग किया गया है[2]—

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ [१५७]
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ [१५८]

---

१ हि० गृ० १।२। भा० गृ० १।६।२ मा० गृ० १।१६ आग्नि० गृ० १।६।२, व० गृ० ३।३।

२ आप० गृ० २।५।७ ६, १ (मं० पा० १।५।३ ५) बौ० गृ० १।४।२७ २६ ३१।

एक बार आवृत्ति हुई है। का० गृ० के अनुसार प्रति बार जब अग्नि-पर्यंयण करके शिला का स्थापन और फिर लाजहोम किया जाता है, तब उपर्युक्त मन्त्र की आवृत्ति अर्यमा के स्थान पर गन्धर्व के नाम के साथ की जाती है। निस्सन्देह विवाह सस्कार से वरुण और पूषा की अपेक्षा गन्धर्व का सम्बन्ध अधिक है। इस आवृत्ति मे का० गृ० म नु को निकाल कर गन्धर्वं पतिवेदनम् पाठ दिया गया है। इसके अतिरिक्त दोनो स्थलो पर उत्तराध मे इमाम् के स्थान पर अस्मान् और नामुत के स्थान पर मामुष्य गृहेभ्य पाठ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाठान्तरो सहित इस गृह्य-मन्त्र पर अथर्व० १४।१।१७ का पर्याप्त प्रभाव पडा है। अथर्व-मन्त्र निम्नलिखित है —

> अर्यमण यजामहे सुबन्धु पतिवेदनम्।
> उर्वारुकमिव बन्धात् प्रेतो मुञ्चामि नामुत ॥ [१५४]

हम पति के ज्ञाता, शोभन-बन्धु अर्यमा की उपासना करते है। जिस प्रकार खरबूजा अपने बन्धन से मुक्त होता है उसी प्रकार मैं (अपने आप को) यहाँ से मुक्त कराती हूँ, वहाँ (पति के घर) से नही ॥

इस मन्त्र का और गृह्यमन्त्र का भाव भी लगभग समान है। इसके अतिरिक्त आ० गृ० १।७।१७-१८ मे इसके पश्चात् ऋ० १०।८५।२४, २५ उद्धृत किये गये हैं जो क्रमश अथर्व० १४।१।१९, १८ के समान हैं। अत अथर्व० और आ० गृ० दोनो मे ये मन्त्र साथ साथ आने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० ने आ० गृ० को प्रभावित किया होगा।

उपर्युक्त कुछ गृह्यसूत्रो मे[1] तथा कुछ ग्रन्थो मे लाजहोम के लिये निम्नलिखित मन्त्र[2] का विधान है —

---

१ पा० गृ० १।६।२ (दीर्घायु के स्थान पर आयुष्मान्) आप० गृ० २।५।६ (म० पा० १।५।२), का० गृ० २५।२३, मा० गृ० १।११।१२, वा० गृ० १४।१८, गो० गृ० २।२।६ (म० ब्रा० १।२।२), खा० गृ० १।३ २२, जै० गृ० २१।२० (लाजानावपन्तिका के स्थान पर अग्नौ लाजानावपन्ती) शा० गृ० १।१४।१, हि० गृ० १।२०।४, भा० गृ० १।१६, कौशिक० ७६।१७-१८, (पूर्णतया अथर्व० पाठ), अग्नि गृ० १।५।४, बौ० गृ० १।४।२६।

२ अथर्व० मे लाजान् के स्थान पर पूल्यानि और एधन्ता ज्ञातयो मम के स्थान पर जीवति शरद शतम् पाठ है। पूल्यानि का अर्थ भी खीलें हैं। और इसी अर्थ वाला पजाबी शब्द फुल्लियाँ सीधा पूल्यानि से आया प्रतीत होता है।

शिखाविमोचन

शा० गृ० १।७।१७-१८ के अनुसार यदि वधू की दोनों वेणियाँ गुँथी हुई हों तो वर निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ उन्हें खोलता है—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥ [१६०]

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ [१६१]

मैं तुम्हें वरुण के उस पाश से मुक्त करता हूँ जिसके द्वारा सुसमृद्ध सविता ने तुम्हें बाँधा था। ऋत के उत्पत्ति स्थान अर्थात् स्वर्ग में और सत्कार्यों के लोक में पति के साथ मैं तुम्हें स्वस्थ रूप में स्थापित करता हूँ। यहाँ से अर्थात् पितृगृह से मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ इससे अर्थात् वर से नहीं। इसके साथ तुम्हें सुसम्बद्ध करता हूँ। जिस प्रकार हे दयालु इन्द्र ! यह अच्छे पुत्रों वाली और सौभाग्यवती हो जाये ऐसा विधान कीजिये ॥

इस कर्म में वधू के केश माता पिता के साथ उसके सम्बन्ध का प्रतीक है। वर उसे उसी सम्बन्ध से मुक्त कराने का उपक्रम करता है।

कौशिक ७५।२३ में भी इसी कर्म का विधान है परन्तु वहाँ केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है।

आप० गृ०, बौ० गृ० और भा० गृ० के अनुसार जो मेखला-सूत्र आरम्भ में वधू की कटि पर बाँधा गया था पति-गृह की ओर प्रस्थान के समय उस सूत्र की गाँठ खोलते हुए प्रथम मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। आप० गृ० में इसी मन्त्र का यजु पाठ ग्रहण किया गया है। उसमें प्रमुख पाठान्तर प्र त्वा मुञ्चामि के स्थान पर इमं विष्यामि है। शा० गृ० १।१५।१ में वधू के अपने माता पिता के घर से प्रस्थान के समय उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के साथ ऋ० १०।८५।२६ (दे० मं० सं० २३) का विनियोग भी किया गया है। मन्त्रों के अर्थ के अनुकूल ही उनके विभिन्न

१ ऋ० १०।८५।२४-२५ (तु० अ० १४।१।१७-१८) अथर्व १४।१।१९-१८ तु० सं० १।१।१०।२; ३।५।६।१-२ मं० सं० १।५।१६-१७।

२ कौशिक ७६।२८; बौ० गृ० १४।२४; भा० गृ० १।११।१२; आप० गृ० २।५।१२ (मं० पा० १।५।१६-१७) बौ० गृ० में मुञ्चामि के स्थान पर मुञ्चतु, ऋतस्य के स्थान पर धातुश्च, अरिष्टाम् त्वा के स्थान पर हृष्टाम् सम् पाठ है।

विश्वा उत त्वया वय धारा उदन्या इव। अतिगाहेमहि द्विष ॥ [१५६]

तुम्हारे लिए (सब देव) सूर्या को रथ के साथ लेकर आये हैं। हे अग्ने। फिर से तुम पति को सन्तान सहित पत्नी दो॥ फिर अग्नि ने आयु और तेज से युक्त पत्नी को प्रदान किया है। इसका जो पति है वह दीर्घायु होकर सौ वर्ष तक जीवित रहे॥ जिस प्रकार से जल की धारायें सभी कुछ डुबो देती है उसी प्रकार से हम तुम्हारे साथ शत्रुओ का अतिक्रमण करें॥

इनमे से प्रथम दो मन्त्र ऋ० और अथर्व० दोनो मे विद्यमान हैं[1] और तीसरा केवल ऋ० (२।७।३) मे उपलब्ध होता है।

किसी भी ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र के द्वारा इन मन्त्रो का विनियोग न किया जाना आश्चर्यजनक है।[2]

मा० गृ० १।११।१२ मे लाजाहुति के लिए प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग किया गया है। इसी गृह्यसूत्र (१।१८।१) मे सीमन्तोन्नयन के अन्तर्गत पत्नी के केशो का उन्नयन करने के प्रसग मे द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान है। पा० गृ०, भा० गृ० और वा० गृ० मे वर-वधू के द्वारा अग्नि की परिक्रमा करने के प्रसग मे केवल प्रथम मन्त्र का प्रयोग किया गया है।[3] इसी क्रिया के लिए हि० गृ० (१।२०।५) और आग्नि० गृ० (१।६।२) मे केवल अन्तिम मन्त्र का निर्देश है। जै० गृ० (२२-३) मे भी केवल यही मन्त्र आता है परन्तु वहाँ प्रत्येक बार लाजाहुति के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है।

जहाँ तक इन मन्त्रो के विनियोग के औचित्य का प्रश्न है, प्रस्तुत प्रसग मे केवल प्रथम दो मन्त्र सबसे अधिक सगत है। ये दोनो न केवल दोनो वेदो के प्रसिद्ध विवाह सूक्तो से उद्धृत किये गये हैं अपितु इनमे वर और वधू दोनो की समृद्धि और दीर्घायु की प्रार्थना भी की गई है। तृतीय मन्त्र के विषय मे सम्भवतया धारा शब्द से अग्नि की परिक्रमा मे विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। यूँ तो इस मन्त्र का देवता अग्नि ही है।

---

१ ऋ० १०।८५।३८, ३९, अथर्व० १४।२।१, २ (प्रथम मन्त्र में उत्तरार्ध मे पुन के स्थान पर स न)।

२ केवल कौ० गृ० १।८।२० में प्रथम मन्त्र का विनियोग हुआ है।

३ भा० गृ० १।१६, वा० गृ० १४।२०, कौशिक० ७८।१०, पा० गृ० १।७।३-प्रथम मन्त्र में कर्कादि टीकाकारों के अनुसार दा अग्ने के स्थान पर दाग्ने पाठ है। (स० वि० पृ० २०५, पा० टि० २)।

वाक्य समूह से सम्बोधित करता है। अथ सोमक्रयणीविषये प्रयुक्त सूत्रकारेण निष्क्रम्यमाणेषु यजमानो ऽनुवर्तयित्वा इति। तत्र मन्त्रमाह) मन्त्र के अर्थ से यह स्पष्ट है कि यह व्यक्ति की सामान्य सुख-समृद्धि की प्रार्थना है। जिस प्रकार के मन्त्र ऊर्जा नियम सुख पशु और धन की पुष्टि सोमक्रयणी गौ विष्णु के माध्यम से यजमान को उपलब्ध कराएगी उसी प्रकार के इन पदार्थों को प्रत्येक गृहिणी प्राप्त करना चाहेगी। सप्तभ्यो होत्राभ्य से सम्भवतया गृह-यज्ञों की समृद्धि का का अभिप्राय है। और मित्रता के विषय में होने के कारण मन्त्र का दूसरा भाग और अधिक प्रसंगानुकूल है। कुछ गृह्यसूत्रों में इस अंश में प्रशंसनीय ढंग से बहुवचन के स्थान पर द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

तै० ब्रा के मन्त्र के प्रथम भाग के जिन वाक्यों का सातों में से प्रत्येक पद के साथ उच्चारण किया जाता है उनका पाठ बहुत से गृह्यसूत्रों में तै० ब्रा० के समान है।[1] गो गृ और खा गृ में विष्णुस्त्वान्वेतु के स्थान पर विष्णुस्त्वा नयतु का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग निस्सन्देह अधिक अच्छा है क्योंकि इसका अभिप्राय होगा विष्णु तुम्हें अन्नादि के लिए ले जाय अर्थात् अन्नादि प्राप्त करने में वह तुम्हारा सहायक हो। जब कि बौ गृ इत्यादि के द्वारा स्वीकृत तै ब्रा० के वाक्य का अर्थ होता है अन्नादि के लिए विष्णु तुम्हारा अनुसरण करे। सामवेद के ही ज गृ में तै ब्रा का पाठ ग्रहण किया गया है परन्तु तृतीय पञ्चम और षष्ठ पदों के वाक्यों में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं और सातवें पद के वाक्य में आनुषङ्गिक प्रार्थना नहीं रखी गई —

त्रीणि रायस्पोषाय पञ्च प्रजाभ्य षडृतुभ्य सखा सप्तपदी भव।

क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि सामवेदीय गृह्यसूत्रों ने इस प्रसङ्ग में तै स के गृह्यसूत्रों का अनुसरण किया है और उनके पाठ को सुधारने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि आगे दिखाया जायेगा जै गृ का साम्य ऋग्वेदीय गृह्यों तथा यजुर्वेदीय गृह्यों के साथ अधिक है। अन्य विद्वान् भी ज गृ को बौ गृ का ऋणी मानते हैं।[2]

का गृ २५।४२ ज० गृ के समान है। केवल अन्त में दीर्घायुत्वाय सप्तमम् जोड़ा गया है। मा गृ १।११।१८ और वा गृ १४।२३ भी इसके समान

---

१ बौ गृ १।१।२८ हि गृ० १।२१।१ आग्नि गृ १।६।१ भा गृ १।१७ व गृ ३।४ आप गृ २।४।१६ १७ (अ पा १।३।७-१४) षड्राय-स्पोषाय के स्थान पर षड्ऋतुभ्य गो० गृ २।२।११ (म ब्रा १।२।१३) खा० गृ० १।३।२४।

२ वै इ ब कल्प पृ० ३४।

विनियोगो मे खोलने का अथवा वियोग का भाव प्रमुख है। क्योकि ये मन्त्र ऋ० और अथर्व० के प्रसिद्ध विवाह सूक्तो से उद्धृत हैं अत गृह्य प्रसङ्ग मे इनका विनियोग ऋ० जितना प्राचीन प्रतीत होता है। प्रथम मन्त्र का समानान्तर श्रौत विनियोग भी हुआ है। तै० ब्रा० और श्रौतसूत्रो में दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गत यजमान की पत्नी की मेखला को शिथिल करने में इनका विनियोग किया गया है।[1]

सप्तपदी

विवाह सस्कार मे अनुष्ठित सभी वैदिक कर्मो मे सप्तपदी सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। प्राय सभी स्मृतिकारो के द्वारा इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। मनु के अनुसार जब तक सप्तपदी सम्पादित न हो जाए तब तक विवाह पूर्ण नही होता।[2] दूसरे शब्दो मे सप्तपदी को विवाह की चरम अवस्था कहा जा सकता है।

इस कर्म का यह महत्त्व देखते हुए यह बहुत विचित्र लगता है कि इसमे प्रयुक्त मन्त्र सहिताओं से नही लिये गये। एक प्रकार से सप्तपदी के सम्पूर्ण प्रमुख मन्त्र का स्रोत तै० ब्रा० (३।७।७।११-१२) मे निम्नलिखित रूप मे है —

एकमिषे विष्णुस्त्वान्वेतु। द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा । त्रीणि व्रताय ।
चत्वारि मायोभवाय । पञ्च पशुभ्य. । षड्रायस्पोषाय ।
सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्य । सखाय सप्तपदा अभूम। सख्य ते गमेयम्
सख्यात्ते मा योषम्। सख्यान्मे मा योष्ठा । [१६२-१७२]

एक अन्न के लिए, विष्णु तुम्हारा अनुसरण करे। दो ऊर्जा के लिए तीन नियम के लिए । चार सुख-समृद्धि के लिए पाच पशुओ के लिए । छ धन की पुष्टि के लिए । सात सातो यज्ञो के लिए । हम सात पदो के मित्र हो गये है। मैं तेरी मित्रता से पृथक् न होऊँ। तू मेरी मित्रता मे पृथक् न हो।

सायणभाष्य के अनुसार सोमयाग की दीक्षा के प्रसग में जब सोमक्रयणी गौ ले जाई जा रही हो तो यजमान उसके पदचिह्नो पर चलता हुआ उसे इस समस्त

---

१. तै० ब्रा० ३।३।१०।१, बौ० श्रौ० १।१२।३, शा० श्रौ० १।६५।६, आप० श्रौ० ३।१०।६, मा० श्रौ० १।३।५।१७, का० श्रौ० ३।८।२।

२ मनु० ८।२२७

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियत दारलक्षणम्।
तेषा निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भि सप्तमे पदे ॥

व्यक्ति अपनी सप्तपदी की मित्रता की उद्घोषणा कर रहे हैं। इस वर्ग के अवशिष्ट गृह्यसूत्रों में इस परिवर्तन को सुरक्षित रखा गया है। आप० गृ० भा० गृ० और व गृ० में सखायौ सप्तपदावभूव से पूर्व सखा सप्तपदा भव भी जोड़ा गया है। गो गृ और द्रा गृ में यद्यपि सखाय सप्तपदा अभूम अथवा सखायौ सप्तपदावभूव दोनों का ही अभाव है, परन्तु सखा सप्तपदी भव अवश्य रखा गया है। म ब्रा० में मन्त्र के इस भाग का पाठ कुछ भिन्न है —

सख्य ते गमेयम्। सख्य ते मा योषा सख्य ते मा योष्ठया ॥

भट्टनारायण ने इसकी टीका इस प्रकार की है—मैत्रीं तव अह गमेयम्। किञ्च सख्य ते मा योषा मया सह तव सख्यम् अन्या योषा स्त्रियो मा छिन्दन्तु इति शेष। किञ्च सख्य ते मायोष्ठया माय सुख तस्योत्थान मायोष्ठ तत्र भवा मायोष्ठया सुखकारिण्य स्त्रिय त्वया सह मम सख्य कुर्वन्तु इति शेष। सारांश यह कि अन्य स्त्रियाँ मेरे साथ तुम्हारी मित्रता भङ्ग न करें। सुखकरी स्त्रियाँ तुम्हारे साथ मेरी मित्रता सम्पादित करें। गुणविष्णु ने भी इसकी यही व्याख्या की है। परन्तु यह अत्यन्त दूराकृष्ट व्याख्या है और इससे यह स्पष्ट है कि म ब्रा का पाठ भ्रष्ट है। फिर भी सायण की व्याख्या अधिक युक्तियुक्त है —

किञ्च प्राप्त ते सख्य मा योषा। यु मिश्रणामिश्रणयोरिति। मा योष्ठा इत्यस्य स्थाने मा योषा इति छान्दस। तत्रापि व्यत्ययेनोत्तमस्य स्थाने मध्यम। तव सख्याद्वियुक्तो मा भूवमित्यर्थ। आपस्तम्बस्तु सख्यात्ते मा योषमिति पठति। किञ्च ते त्वमित्यर्थ। त्वमपि सख्य मदीय मा योष्ठा। मम सख्यान्मा वियुक्ता भू।

जिन कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में सखा सप्तपदा भव वाक्य प्रयुक्त हुआ है वहाँ यह प्रयोग परम्परागत नहीं प्रतीत होता। पाणिनि के व्याकरण-सम्बन्धी प्रमाण के आधार पर भी इन गृह्यसूत्रों का यह मौलिक पाठ न होकर कहीं से उद्धृत ही सिद्ध होता है। जिन गृह्यों का यह मौलिक वाक्य प्रतीत होता है उनमें सप्तपदा पाठ न होकर सप्तपदी है।[1] पाणिनि के अनुसार ईकारान्त रूप शुद्ध है। इसके सूत्र ४।१।८ (पादोऽन्यतरस्याम्) के अनुसार यदि पाद् शब्द समस्त पद के अन्त में हो तो समासान्त नियम से उसका पद् हो जाता है और फिर स्त्रीलिङ्ग अभीष्ट होने पर

---

१ शां० गृ पा गृ, मा गृ वा गृ का गृ पा गृ ला गृ, कौशिक। वा गृ में अन्तिम पाद यह है —

सखी सप्तपदी भव सख्य ते गमेय सख्यात्ते मा रिषम्।

ही हैं। वा० गृ० गोभिल के समान ही विष्णुस्त्वा नयतु का प्रयोग करता है। पा० गृ० १।८।१-२ का पाठ जै० गृ० के समान ही है। केवल पञ्च प्रजाभ्य के स्थान पर पञ्च पशुभ्य का भेद है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रो की शैली की यह विशेषता है कि उनमे इष एकपदी, ऊर्जे द्विपदी आदि पाठ हैं और विष्णुस्त्वान्वेतु अथवा विष्णुस्त्वा नयतु का नितान्त अभाव है। जहाँ तक पदोके साथ प्रार्थना का सम्बन्ध है, आ० गृ० (१।७।१६) और जै० गृ० मे पूर्ण साम्य है, कौ० गृ० (१।१४) और शा० गृ० (१।१४।६) मे चतुर्थ और पञ्चम पद के लिए क्रमश मायोभवाय चतुष्पदी और पशुभ्य पञ्चपदी पाठ है, और इस प्रकार यह पाठ पा० गृ० के अधिक निकट है।

क्योकि प्रथम दो पदो के लिये सभी गृह्यसूत्रो मे निर्विशेष रूप से क्रमश इष् और ऊर्ज् की प्रार्थना की गई है, अत ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनो शब्दो की पृष्ठभूमि में अत्यन्त प्राचीन परम्परा विद्यमान है और उसी के आधार पर सभी गृह्यसूत्रो ने एकमत होकर इन्हे ग्रहण किया है। आप्टे के अनुसार 'सम्भवतया पदो की सात सख्या का धूमिल स्रोत ऋ० ८।७२।१६ मे है" —

अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरि । सूर्यस्य सप्तरश्मिभि ॥[१७३]

गतिशील तत्त्व ने सूर्य की सात किरणो के द्वारा समृद्ध होने वाली सर्पणशील चरणो वाली इच्छाशक्ति तथा ऊर्जा का दोहन किया है।

"इस मन्त्र में न केवल उपर्युक्त मन्त्र के इषम् और ऊर्जम् शब्द आये हैं, अपितु सप्तपदी ऊर्जा के साथ सूर्य की सात रश्मियो के सम्पर्क का उल्लेख भी हुआ है"[1]

इसी प्रकार मन्त्र के द्वितीय भाग के विषय मे सभी गृह्यसूत्रो के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वह जिसमे ठीक तै० ब्रा० जैसा पाठ है और दूसरा वह जिसमे इसका अभाव है। बौ० गृ० मे तै० ब्रा० के पाठ का अक्षरश पालन हुआ है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० मे भी वही मन्त्र है, परन्तु सखाय सप्तपदा अभूम, को सखायौ सप्तपदावभूव (द्वि०) मे परिवर्तित करके प्रस्तुत सप्तपदी कर्म के प्रसङ्ग के अधिक उपयुक्त बना दिया गया है[2] क्योकि इस कर्म मे वस्तुत वर और वधू केवल दो ही

---

१ नॉन ऋग् मन्त्रज इन आ० गृ०, पृ० १२।

२ म० पा० १।३।१४ मे इन सबके अतिरिक्त और मन्त्र भी हैं परन्तु वहाँ उनके असामान्य और एक मात्र अस्तित्व के कारण यहाँ उनका विवेचन नही किया गया।

मन्त्र जै० उप० ब्रा (१।५४।६) में उपलब्ध होता है। यह मन्त्रांश एक विचित्र प्रसङ्ग में आया है। उपवसथ अर्थात् उपवास की रात्रि को ऋक और साम का जन्म होता है। जब साम का जन्म होने को होता है तो वह ऋक को कहता है— अमोऽहमस्मि ... सा मामनुव्रता भूत्वा प्रजा प्रजनयावहै यहाँ निर्देश है कि उस रात्रि को घर पर नहीं सोना चाहिये। मैत्रायणी और काठक संहिताओं के गृह्यसूत्रों में इसके स्थान पर निम्नलिखित वाक्य दिया गया है —

सुमृडीका सरस्वति [सो] मा ते व्योम सन्दृशि (शौ— मा०गृ० शे का गृ)॥[१७५]

इसका स्रोत अथर्व० ७।६८।२ प्रतीत होता है जहाँ सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है —
शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वती। मा ते युयोम सन्दृशः॥ [१७६]

हे सरस्वती हमारे लिये कल्याणकर सबसे अच्छी शरणदात्री तथा शोभनसुख वाली हो। हम तेरी दृष्टि से पृथक न हों।

गृह्यों में अथर्व के युयोम के स्थान पर व्योम पाठ से अस्पष्टता आ गई है। यह परिवर्तन ज्ञानपूर्वक न होकर भूल प्रतीत होती है क्योंकि प्रसङ्ग में युयोम ही सुसङ्गत है। फिर भी टीकाकारों ने व्योम पाठ मानकर—यथाकथञ्चित् दूराकृष्ट व्याख्या की है यथा लौ गृ में देवपाल द्वारा निम्नलिखित व्याख्या दी गई है—

'हे सरस्वति मा ते तव व्योम आकाशस्य कश्चित् सम्पर्क एव आसीत् पवनान्दोलित वाससो नग्नं वा किञ्चित् प्रवेशय॥

इसी मन्त्र का प्रयोग त ब्रा ४।४२।१ में अवान्तरदीक्षा के अन्तर्गत शान्तिपाठ के लिये किया गया है। उस स्थान पर सायण की टीका उपरिलिखित टीका से अधिक सन्तोषजनक है —

हे सरस्वति ... सुमृडीका सुष्ठु सुखकरी च भव। ते सन्दृशि तव कटाक्षे सति व्योम सुखशून्यत्वं मा भूत्॥ (हे सरस्वती जब तुम मुझ पर कटाक्ष करो उस समय सुख का अभाव न हो।) इसका यह अभिप्राय है कि वधू का कटाक्ष अथवा छोटे से छोटा कार्य भी सुख से रहित न हो। इस व्याख्या का एक और सौन्दर्य यह है कि इसके अनुसार जिन प्रसङ्गों में भी इस मन्त्र का विनियोग हुआ है उन सभी में यह उपयुक्त हो सकता है। त ब्रा १।१।३ २१ ३ में (सायण के अनुसार) यज्ञ में जलरूप इष्टकाओं की स्थापना के कार्य में इसका प्रयोग किया गया है। त ब्रा १।२१।६ में वैश्रवण याग में वैश्रवण की पूजार्थ प्रयुक्त मन्त्रों में से यह भी एक है। ऐ ब्रा भू १(अ) में यह आरण्यक के आरम्भ में शान्ति पा

विकल्प से या तो वह अपरिवर्तित रहता है, या उसके आगे ङीप् (ई) प्रत्यय लगता है। दूसरी ओर उसके अनुसार (पा० ४।१।९—टावृत्ति) आकारान्त पद केवल तभी सम्भव है जब समस्त पद ऋचा का विशेषण हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग मे ऋचा का अभिप्राय तो है नही, यहाँ तो यह शब्द सात पदों का क्रमण करने वाली वधू का विशेषण है। इसी वर्ग के गृह्यो मे (जिनमे सप्तपदी-ईकारान्त पाठ है) दो गृह्यसूत्र ऐसे हैं जिनमे न तो तै० ब्रा० का पाठ है और न ही ईकारान्त पाठ। का० गृ० और पा० गृ० मे सप्तपदा पाठ है। क्या इससे यह प्रकट नही होता कि ये दोनों गृह्य इस वर्ग मे अर्वाचीनतम हैं? अथवा यह भेद शाखा के कारण भी सम्भव है।

कौथुम गृह्य की भूमिका (पृ० ७१) मे डा० सूर्यकान्त लिखते हैं कि "इस प्रकार सप्तम पद के अभाव या उल्लेख और साथ ही साथ उसके द्वारा प्राप्त पदार्थ के आधार पर सुविधापूर्वक गृह्यसूत्रो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, और यह बहुत सम्भव है कि इन दो वर्गों मे मन्त्र दो भिन्न स्रोतों से उद्धृत किये गये हो। इस विभाजन के आधार को आगे चलकर एक मात्र शब्द सप्तपदा के मुकाबले सप्तपदी तक सीमित किया जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि मैत्रायणी वर्ग मे सप्तपदी पाठ है जब कि काठक वर्ग मे सप्तपदा और जितनी स्थिरता से इन दोनो वर्गों में शब्दो का प्रयोग किया गया है उसके आधार पर मुझे तत्क्षण ही पारस्कर के सप्तपदा का सप्तपदी के रूप मे और उसके विपरीत कौशिक० के सप्तपदी का सप्तपदा के रूप मे संशोधन कर देना चाहिये।"

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रो मे प्रत्येक पद के पश्चात् विष्णुस्त्वान्वेतु (नयतु) का अभाव ध्यानाकर्षक है।[1] जिन गृह्यों (भा० गृ०, का० गृ०, वा० गृ०) मे सखायौ सप्तपदावभूव आदि नहीं है उनसे भी इनमे सखा सप्तपदी भव के पश्चात् मा ते व्योम सहशि न होने से भेद उत्पन्न हो गया है। शा० गृ० और जै० गृ० मे जहाँ सप्तपदी भव पर मन्त्र पूर्ण हो जाता है वहाँ आ० गृ० मे इसके पश्चात् निम्नलिखित जोडा गया है —

सा मामनुव्रता भव, पुत्रान् विन्दावहै बहू स्ते सन्तु जरदष्टय ।[१७४]

वह तुम मेरी अनुगामिनी हो जाओ, हम दोनो बहुत से पुत्र प्राप्त करें और तुम्हारी आयु दीर्घ हो।

पा० गृ० मे इसमे से केवल सा मामनुव्रता भव लिया गया है। केवल यही

---

१ केवल कौ० गृ० १।८।२८ मे इस वाक्य की आवृत्ति प्रत्येक पद के साथ हुई है। और यह यजुर्वेदीय सूत्रो का प्रभाव प्रतीत होता है।

सप्तम पद के साथ जीवातवे त्वा पुमङ्गलि प्रजापति सुसीमे तथा अन्त मे सखा सप्तपदी भव का उच्चारण करता है। [१७८–१८५]

इन वाक्यो की स्थिति से यह स्पष्ट है कि पुमङ्गलि प्रजापति सुसीमे की आवृत्ति प्रत्येक पद के साथ होनी चाहिये। ये शब्द अन्यत्र अप्राप्य हैं। यद्यपि अन्य गृह्यो की परम्परा से कौशिक विच्छिन्न है तथापि प्रसग की दृष्टि से इन मन्त्रो का चयन बहुत प्रशसनीय है। ऊर्जे त्वा की तुलना अथर्व० १६।३७।३ ऊर्जे त्वा बलाय त्वा पर्यूहामि शतशारदाय से की जा सकती है। यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है और इसीलिए इसे कौशिक० मन्त्र का सीधा स्रोत नही कहा जा सकता। रायस्पोषाय त्वा अथर्व १६।३१।१३ मे रायस्पोषाय प्रतिमुञ्चे अह त्वाम् के रूप मे प्राप्त होता है। वहाँ इसका विषय औदुम्बर मणि है। यह त० स १।६।१।४ मे भी रायस्पोषाय त्वा गृह्णामि के रूप मे विद्यमान है। वहाँ दर्शपूर्णमास याग मे आज्यभाग ग्रहण करते हुए यजमान के द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। परन्तु गृह्य प्रसङ्ग से इस प्रसग का कोई सम्बन्ध नही है। सौभाग्याय त्वा और साम्राज्याय त्वा अन्यत्र नितान्त अप्राप्य हैं। सम्पदे त्वा वा सं १५।८ मे निम्नलिखित रूप मे प्राप्त होता है —

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा।

वा० स० का उक्त प्रसग इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार नही प्रतीत होता। कौशिक० का यह मन्त्र का० स० ३९।६ और आप० श्रौ० १६।३१।१ में भी *विद्यमान है परन्तु वहाँ भी इसके प्रसग से गृह्यविनियोग का सकेत नही प्राप्त होता।* वहाँ इसका विनियोग वेदीचयन कर्म के अन्तर्गत इष्टकाधान मे किया गया है। जीवातवे त्वा भी अन्यत्र अप्राप्य है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि ये कौशिक मन्त्र आंशिक रूप में अथवा पूर्ण रूप मे कुछ वैदिक ग्रन्थो मे प्राप्त होते हैं तथापि उन्हें इनका स्रोत नहीं कहा जा सकता। अत यह प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का मूलाधार शुद्ध रूप से गृह्य है।

सप्तपदी के उपरान्त वधू के घर में अनुष्ठित कर्म

मूर्धाभिषेक

कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि सप्तपदी की समाप्ति पर वर और वधू की मूर्धा का पवित्र जल से अभिषिञ्चन किया जाना चाहिये और इस अवसर पर निम्नलिखित तीन मन्त्रो (ऋ० १०।९।१–३) का उच्चारण किया जाना चाहिए[1]—

---

१ पा गृ १।८।६ भा गृ० १।१८ जै गृ० २१।१०, व गृ ३।४ मा गृ १।११।६ हि गृ १।२१।५।

है। आ० श्रौ० ७।१४।१८ मे इसी मन्त्र का विनियोग महाव्रत से सम्वद्ध स्तोमो मे हुआ है। इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग निस्सन्देह प्रसङ्गानुकूल है क्योकि इसके द्वारा वधू का उत्कर्ष सरस्वती देवी के रूप मे हो जाता है।

सप्तपदी के विषय मे कौशिक० ७६।२१ की परम्परा पूर्ण रूपेण भिन्न है। तदनुसार इस कर्म के अनुष्ठान से पूर्व निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए भूमि पर सात रेखाएँ खींचनी चाहियें —

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथा विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ [१७७]

कवियो अर्थात् मेधावी ऋषियो ने सात मर्यादाएँ अर्थात् चौर्य, गुरुपत्नी-समागम ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, पुन -पुन दुष्कर्म न करना, पाप-कर्म करके अनृत न बोलना, बनाई हैं। उनमे से एक मे प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति भी पापी होता है। (दूसरा, इनमे प्रवृत्त न होने वाला) इन्द्रियो के विसर्जन काल मे अर्थात् मृत्यु के समय निरन्तर गमन शील सूर्य के मण्डल मे स्थित सब प्राणियो के सर्जक नारायण के घर के चिरस्थायी स्थानो मे रहता है। —या० सा०

ऋ० १०।५।६ मे यह मन्त्र अग्नि-सूक्त का अग है और वहाँ इसके प्रसग के अनुसार सप्तपदी जैसे कम से इसका कोई सम्बन्ध प्रकट नही होता। यह अथर्व० ५।१।६ और नि० ६।२७ मे भी विद्यमान है परन्तु कही भी प्रसग से उपर्युक्त कर्म के साथ इसका सम्बन्ध लक्षित नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल एकमात्र शब्द सप्त के आधार पर ही इसका विनियोग उपर्युक्त कर्म मे किया गया है। और इसी सूत्र मे एक अन्य स्थल पर इसी मन्त्र के विनियोग से यह प्रकट होता है कि कौशिक० के रचयिता ने केवल मन्त्र के अर्थ की ओर ध्यान न दिया हो ऐसी बात नही है अपितु उसकी ध्वनि की ओर भी ध्यान नही दिया।[1]

इसके पश्चात् २२ से २४ सूत्रो मे कहा गया है कि 'वह वधू को उन रेखाओं पर चलाता है और प्रथम पद के साथ इषे त्वा सुमङ्गलि प्रजावति सुसीमे, द्वितीय पद के साथ ऊर्जे त्वा, तृतीय पद के साथ रायस्पोषाय त्वा, चतुर्थ पद के साथ सौभाग्याय त्वा, पचम पद के साथ साम्राज्याय त्वा, षष्ठ पद के साथ सम्पदे त्वा,

१ कौशिक० ७६।१ में विधान है—सप्तमर्यादा इति तिसृणा प्रातरावपते। दशकर्माणि ब्रह्मवेदोक्तानि नामक पद्धति में और अथर्वणीय पद्धति मे इससे पूर्व कहा गया है अथ चतुर्थी कम और चतुर्थिका कर्म उच्यते। परन्तु मन्त्र के अर्थ अथवा ध्वनि से चतुर्थी कर्म के साथ कोई सम्बन्ध प्रकट नहीं होता।

बहाते हुए अभिनव औपासन अग्नि की परिक्रमा करते हैं उस समय इस मन्त्र-समूह के उच्चारण का विधान किया गया है। परन्तु बौ० गृ १।१४।९ में सप्तपदी के तत्काल पश्चात् सप्तपदक्रमण के स्थल पर जलाभिषिञ्चन के लिए इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। आग्नि० गृ० १।६।३ मे सप्तपदी से तत्काल पूर्व विभिन्न दिशाओं में जल प्रसेचन की क्रिया मे इन मन्त्रोका विनियोग हुआ है। मूर्धाभिषिञ्चन मे विनियोग के अतिरिक्त पा गृ २।२।१४ मे उपनयन के अन्तर्गत छात्र को उसकी वेशभूषा की वस्तुए प्रदान किये जाने के पश्चात् आचार्य द्वारा उसकी अञ्जलि को जल से पूर्ण करने के प्रसङ्ग मे भी इन मन्त्रो का विनियोग किया गया है। एक अन्य स्थान पर (पा० गृ० २।१४।२१) श्रवणाकर्म के अन्त मे देहली के प्रक्षालनार्थ इन मन्त्रो का प्रयोग हुआ है। पा० गृ ३।४।४ मे शाला निर्माण पूर्ण होने के पश्चात् कुम्भस्थापन कर्म मे कुम्भ में जल प्रसेचनार्थ इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। मा गृ २।२।२७ के अनुसार नवाग्न्याधान की समाप्ति पर स्नान करते हुए अनुष्ठाताओ को इन मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिए। का गृ मे विधान है कि मधुपर्क के अन्तर्गत जब अतिथि गृहस्थ से अर्घ्य जल प्राप्त करता है उस समय उसे इन मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिये। कुछेक गृह्यसूत्रों मे उत्सर्ग के अन्तर्गत स्नान के लिए इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[1] इन सभी विनियोगो के अतिरिक्त इस मन्त्र समूह का विनियोग बहुत से गृह्यसूत्रो मे समावर्तन संस्कार के अन्तर्गत स्नातक के स्नान के लिए किया गया है। (द्र अध्याय ६)

उपर्युक्त सभी विनियोगो मे किसी न किसी प्रकार से मन्त्रो का सम्बन्ध जल द्वारा अनुष्ठित कर्म से है।[2] इसमे जल के पवित्र और शोधक तत्त्व का संकेत प्राप्त होता है और साथ ही जल देवता वाले इन मन्त्रों के विनियोग का औचित्य भी प्रकट होता है।

सामान्य नियम के रूप मे विभिन्न श्रौत कर्मों मे भी इन मन्त्रो का विनियोग

---

१ मा० गृ ३।८ हि गृ २।१८।९ आग्नि गृ० १।२।२।

२ भा गृ १।१।२४ इस नियम का अपवाद है क्योंकि उसके अनुसार प्रारम्भिक होम के पूर्ण होने पर पत्नि को अपने मुख पर भस्मावलेप करते हुए इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। कौशिक में इन मन्त्रों का सामूहिक विनियोग नहीं किया गया है। केवल एक स्थान पर (४२।१३) अपवर्गीय पद्धति में इनका उल्लेख हुआ है। (दे ब्लूमफील्ड कौशिक पृ० ११६ पा टि ३)

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ [१८६]
यो व शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न । उशतीरिव मातर ॥ [१८७]
तस्मा अर गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च न ॥ [१८८]

हे जल क्योकि तू सुख उत्पन्न करने वाला है अत उस प्रकार का तू हमे अन्न के लिये धारण कर और हमे महान् तथा रमणीय दर्शन अर्थात् ज्ञान के लिये भी धारण कर ॥ या० जिस प्रकार पुत्र की कामना करती हुई माताए अपना दूध पिलाती हैं उसी प्रकार हे जल ! तेरा जो कल्याणतम रस है हमे उसका भागी बना ॥ हे जल हम तेरे उस रस को पर्याप्त रूप मे प्राप्त करें जिसके सयोग से तू हमे प्रसन्न करता है, और तू हमारे (पुत्र-पौत्रादि तथा अनाज) उत्पन्न कर ॥ ह० मि०

सूत्र साहित्य मे प्रथम मन्त्र के आद्य शब्दो के आधार पर यह मन्त्र-समूह आपोहिष्ठीय नाम से प्रसिद्ध है। समस्त वैदिक सहिताओ मे इसके अस्तित्व के आधार पर निस्सन्देह ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र-समूह को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था।[1]

प्रत्येक यजुर्वेद सहिता म यह दो-तीन बार आया है, और मै० स० जितने प्राचीन काल मे इसे आद्य शब्दो के द्वारा उद्धृत किया जाता था (तु० २।१३।१—आपोहिष्ठेति तिस्र)।

ऋग्वेद से सम्बद्ध होने पर भी इन मन्त्रो के रहते हुए आ० गृ० (१।७।२०) द्वारा वर-वधू के मूर्धाभिषेक कर्म के लिए किसी भी मन्त्र का प्रयोग न किया जाना आश्चर्यजनक है। अन्य कर्मो मे इन मन्त्रोका विनियोग हुआ ही है। वास्तुपरीक्षा कर्म मे (आ० गृ० २।८।१२,६।८) जब गृहस्थ जल की अविच्छिन्न धारा बहाता हुआ नव-निर्मित शाला की प्रदक्षिणा करता है उस समय उसके द्वारा इन मन्त्रो के उच्चारण का विधान किया गया है। आ० गृ० ४।६।१४ मे शान्तिकर्म के अन्तर्गत जब गृहस्थ के सम्बन्धी अग्नि, वृषभ और गोमय साथ लेकर जल की अविच्छिन्न धारा

१ साम० १८३७, अथर्व० १।५।१-३, वा० स० ११।५०-५२, ३६।१४-१६, तै० स० ४।१।५।१, ५।६।१।४, ७।४।१९।४, मै० स० २।७।५, १३।१, ४।९।२७, का० स० १६।४, ३५।३, तै० आ० ४।४२।४, १०।१।११, नि० ९।२७।

हृदयालम्भन

यह विधान किया गया है कि मूर्धाभिषिञ्चन कर्म के पश्चात् वर को अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्ध पर से ले जाकर उसके द्वारा वधू के हृदय देश का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए[1]—

मम हृदये हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ [१६०]

मेरे हृदय मे तुम्हारा हृदय हो अपने मन के साथ मेरे मन को संयुक्त करो । अनन्यचित्त होकर मेरे वचन का पालन करो प्रजापति तुम्हें मेरे लिए नियुक्त करे अर्थात् मेरे प्रति तुम्हारी आसक्ति करे ।

मन्त्र के अर्थ से स्पष्ट है कि हृदयालम्भन कर्म न केवल शरीर-संयोग की स्थिरता का, अपितु दम्पती के हृदयो के संयोग की स्थिरता का भी प्रतीक है ।

मा० गृ १।१ ।१३ के अनुसार जब वधू वर का अवलोकन करे उस समय वर को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । यहाँ एक दूसरे को देखने की क्रिया को हृदय-संयोग का माध्यम माना गया है । बहुत से गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का विनियोग उपनयन के अन्तर्गत आचार्य द्वारा छात्र के हृदय देश का स्पर्श करने मे भी किया गया है । (दे अध्याय ८)

इस मन्त्र का स्रोत बृहद्देवता मे उल्लिखित ऋक् का एक खिल सूक्त माना गया है और शेफ्तेलोविट्ज द्वारा उद्धृत भी किया गया है परन्तु औफ्रेक्ट और मक्स म्यूलर के संस्करणो मे यह उपलब्ध नही होता । इस विषय में मैकडानल का मत अधिक निर्णायक है जैसा कि उसने इस मन्त्र के अनुवाद की टिप्पणी मे लिखा है यह (अर्थात् मम व्रते शब्दो से आरम्भ खिल सूक्त) उन दो खिल सूक्तों मे प्रथम है जो कश्मीर संस्करण मे ऋ १ ।८४ और ८५ के मध्य आते है । इसमे प्रधानतया

---

1 पा गृ १।८।८ भा गृ० २।१७ बौ गृ १।४।१ हि० गृ १।२१।३ व गृ ३।४ गो गृ २।२।१५ (मं० ब्रा १।२।२१) आ गृ० १।१।११, आग्नि गृ १।६।३ (सप्तपदी से पूर्व) पा गृ और भा गृ में पूर्वार्ध— मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । भा गृ में दधामि के स्थान पर दधातु । बौ गृ और मा० गृ में प्रथम पाद—मम चित्तं चित्त-मस्तु ते जुषस्व के स्थान पर शृणु और इसके पश्चात् बौ गृ मा० गृ और आग्नि गृ में मामेवानुव्रता भव सहचर्या मया भव पाठ है ।

जल से सम्बद्ध क्रियाओं में किया गया है।[1] वा० स०, आप० श्रौ० (१६।४।१) और का० श्रौ० (१६।३।१७) के अनुसार उत्तरावेदी के निर्माण के क्रम में जब पर्ण वृक्ष की गोंद के द्वारा गरम किया गया जल मिट्टी के लोष्ठ पर अभिषिक्त किया जाता है उस समय इस मन्त्र-समूह का उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० स०, श०ब्रा० और मा०श्रौ० में भी उखा-निर्माण के अन्तगत उसी प्रकार से मृत्तिका-लोष्ठ पर अभिषिञ्चन के लिए इन मन्त्रों का प्रयोग किया गया है।[2] तै० स०, तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में अश्वमेघ यज्ञ के अन्तर्गत स्त्रियों की शुद्धीकरण-क्रिया में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[3]

इस मन्त्र-समूह के विविध प्रयोगों का आधार उन सब प्रयोगों में जल का सम्बन्ध होना है। क्रिया का साधन जल होना चाहिए, फिर वह क्रिया चाहे अभिषिञ्चन हो अथवा स्नान, प्रक्षालन हो अथवा जल का स्पर्श हो अथवा उदकधारा का प्रवाहन हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल जल की उपस्थिति मात्र इन मन्त्रों के विनियोग के लिए पर्याप्त है।

पा० गृ० १।८।५ में इसी कर्म अर्थात् मूर्धाभिषिञ्चन के अन्तर्गत इन मन्त्रों से पूर्व निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का भी विधान है —

आप शिवा शिवतमा शान्ता शान्ततमास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ [१८६]

जल कल्याणकर है, सबसे अधिक कल्याणकर है, शान्त है, सबसे अधिक शान्त है, वह (अपने आप को) औषध (-रूप) बनादे।

इस मन्त्र का अर्थ भी आपोहिष्ठीय मन्त्रों के समान है। यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने की बात है जिस सूक्त से आपोहिष्ठीय मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उसी सूक्त (ऋ० १०।९।७) में जल की भैषज्य शक्ति का उल्लेख किया गया है—आपः पृणीत भेषजम्।

---

१ आ० श्रौ० ५।२०।६, शां० श्रौ० ४।११।६, १५।३, २१।५, ८।६।७, ७।१२,२०, ६।२८।६, १४।५७।७, आप० श्रौ० ७।२१।६, ६।१८।८, १३।१५।१३, १४।१८।१, १५।११।१६, ला० श्रौ० २।१०।२०, ३।६।६, ४।११।७, मा० श्रौ० ४।३।२३। तै० स० ५।६।१।४ और मा० श्रौ० ६।१।६।१९ में ये मन्त्र कुम्भेष्ट-कार्ओं को सम्बोधित किये गये हैं। जल से इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

२ तै० स० ४।१।५।१, श० ब्रा० ६।५।१।२, मा० श्रौ० ६।१।२।२।

३ तै० स० ७।४।१९।४-६, तै० ब्रा० ३।९।७।५, आप० श्रौ० २०।१८।७।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन॥ [१९२]

यह वधू कल्याणी है सब यहां एकत्र होइये और इसे देखिये। इसे शुभ आशीर्वाद देकर स्वेच्छा से अपने घर लौट जाइये।

इस विनियोग के अतिरिक्त विवाह संस्कार में ही अन्य प्रसङ्गों में भी कुछ गृह्यों द्वारा इसका प्रयोग किया गया है। का गृ २५।४६ के अनुसार यह वधू द्वारा अवलोकित (वीक्षितान्) ध्रुव अरुन्धती आदि नक्षत्रों को सम्बोधित किया जाता है।[1] यहां यह स्मरणीय है कि इस गृह्य में इस मन्त्र के उच्चारण से पूर्व ही वधू को पितृगृह में ये नक्षत्र दिखाने का विधान है। मन्त्र का यह विनियोग भी अर्थ के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि यहां यह निवेदन नक्षत्रों के प्रति समझा जा सकता है। वै गृ (३।३) में जहाँ नव परिधान धारण करने वाली वधू के साथ वेदी पर लौट कर वर द्वारा दर्शकों को इस मन्त्र से सम्बोधित किये जाने का विधान है वहाँ भी इसका विनियोग अर्थानुकूल है। आप गृ २।६।११ (म० पा० १।१।१५) के अनुसार वधू के वर के घर में प्रवेश करने के पश्चात् और उसकी गोद में कोई लड़का बिठाये जाने के बाद वर को इसका उच्चारण करना चाहिये। यहां भी हम दर्शकों की इस रूप में कल्पना कर सकते हैं कि वर के सम्बन्धी और प्रतिवेशी वधू के स्वागतार्थ उसकी प्रतीक्षा करते थे।

परन्तु पा गृ (१।८।९) के अनुसार वर द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण वधू का हृदयालम्भन करने के पश्चात् किया जाना चाहिये। हि० गृ० (१।१९।४) के अनुसार विवाह-होम से पूर्व वर इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ वधू का अवलोकन करता है। इन दोनों स्थलों पर मन्त्र वधू (एक) को सम्बोधित किया गया है यद्यपि पश्यत क्रिया बहुवचनान्त है। इस विनियोग का यह भी अभिप्राय होगा कि आत्मानम् जैसे शब्द के प्रयोग के बिना वधू को स्वयं अपने लिये सम्बोधित किया गया है। यह स्थिति बहुत ही अस्पष्ट है। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जिन स्थानों पर यह मन्त्र अन्य व्यक्तियों अर्थात् दर्शकों को किसी रूप में सम्बोधित किया गया है, वहाँ इसका विनियोग उपयुक्ततम है।

---

१ डॉ राम गोपाल के अनुसार (इ व क प पृ २३१) गो गृ के समान ही का गृ में भी मन्त्र दर्शकों को सम्बोधित किया गया है। परन्तु दे पा० के अनुसार यह नक्षत्रों को सम्बोधित है। दे पा का मत प्रामाणिक प्रतीत होता है—'वीक्षितान् ध्रुवादीन् गुरुरनुमन्त्रयते।

अनुष्टुभ् छन्द के बत्तीस पद्य हैं।"[1] परन्तु पिल्ले के अनुसार इसका स्रोत ऋ० खि० ३।१५।१ है।[2]

नाभि-स्पर्श

केवल हि० गृ० (१।२१।४) मे हृदयालम्भन के पश्चात् उक्त कर्म का विधान है और तदर्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

प्राणाना ग्रन्थिरसि स मा विस्रस ॥ [१६१]

हे नाभि, तू प्राणो की ग्रन्थि है, तू अपने स्थान से न हिल।

इसी मन्त्र का विनियोग उपनयन सस्कार मे भी इसी कर्म मे किया गया है।[3] यह प्रार्थना वस्तुत सामान्य स्वास्थ्य के लिये बहुत उपयुक्त है क्योंकि नाभि मे सभी नाडियाँ आकर मिलती है।

सूर्योदीक्षण अर्थात् वधू को सूर्य दिखाना

केवल पा० गृ० मे विधान है कि वर तच्चक्षुर्देवहितम् इत्यादि (वा० स० ३६।२४) का उच्चारण करते हुए वधू को सूर्य-दर्शन कराता है।[4] का० गृ० २५।४३ के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण से वर वधू द्वारा सूर्योपस्थान करवाता है।

स्वस्थ दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र प्रसङ्गानुकूल है। सूर्य काल का विधान करता है, अत इस प्रार्थना का सूर्य से किया जाना और भी उपयुक्त है। अधिकाश गृह्यो मे इसका विनियोग उपनयन सस्कार मे किया गया है, अत इसका विस्तृत विवेचन उसके अन्तर्गत ही किया जायेगा। (दे० अध्याय ८)

प्रेक्षकानुमन्त्रण अर्थात् दर्शकों से प्रार्थना

बहुत से गृह्यो के अनुसार उपरिलिखित कर्मों के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र द्वारा[5] दर्शकों को सम्बोधित किया जाना चाहिये[6] —

---

१ हा० ओ० सी०, ख० ६, पृ० २८१।

२ नॉन ऋ० मन्त्रज इन मैरेज, पृ० २०२।

३ हि० गृ० १।५।१२, विस्तृत विवेचन के लिये दे० अध्याय ८।

४. पा० गृ० १।८।७ (पा० गृ० १।१७।६ मे निष्क्रमणिका-कर्म में नवजात शिशु को प्रथम बार सूर्य-दर्शन कराने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।)

५. ऋ० १०।८५।३३, अथर्व० १४।२।२८।

६ गो० गृ० २।२।१३ (म० ब्रा० १।२।१४), आ० गृ० १।८।७, जै० गृ० २२।१०, बौ० गृ० १।५।३०, मा० गृ० १।१२।१, कौशिक० ७७।१०, वा० गृ० १४।२५, खा० गृ० १।३।२७।

रथ में पशुओं को जोतना

आपस्तम्ब और मानव के अनुसार जब रथ के दोनों ओर घोड़े अथवा वृषभ जोते जाते है उस समय क्रमश निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये[1] —

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ [१९४]
योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ [१९५]

आदित्य रूप मे हिंसा रहित अग्नि के रूप में और वायु के रूप म सर्वत्र विचरणशील इन्द्र के चारो ओर अवस्थित (तीनों लोकों के प्राणी) अपने कार्यो मे देवरूप मे उसे सम्बद्ध करते हैं। उसी इन्द्र के मूर्तिरूप नक्षत्र आकाश मे प्रकाशित होते है ॥ सा हम सब मित्र दम्पती के प्रत्येक सयुक्त काय मे और प्रत्येक अन्न युक्त आहुति म रक्षा के निमित्त अधिक बलशाली इन्द्र का आह्वान करते है। दे पा

उपर्युक्त दोनो ही मन्त्र इन्द्र की स्तुति म हैं। प्रथम मन्त्र क पीछे विद्यमान अविच्छिन्न परम्परा इसके गृह्य विनियोग का आधार प्रतीत होती है। समग्र पूववर्ती साहित्य म इस मन्त्र का विनियोग अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत अश्व को जोतने के लिये किया गया है।[2]

शुक्लयजुर्वेदीय परम्परा क अनुसार उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र के द्वारा उखा के लिय मृत्तिका-खनन करने को जाने से पूव छाग का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये।[3] परन्तु कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा मे अश्व को जोतने की क्रिया से इस मन्त्र का सम्बन्ध न होते हुए भी किसी और रूप मे अश्व के साथ सम्बन्ध अवश्य है। तदनुसार वेदीचयन के अवसर पर जब घोड़े को जोतकर यजमान उसके साथ मृत्तिका खनन के लिये निर्दिष्ट स्थान पर जाता है उस समय इसी मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए। श्रौत यज्ञो मे मन्त्र के उपयुक्त विनियोग और 'योगे' शब्द से प्रभा

१ आप गृ २।५।२ (म पा १।६।२ ३) मा गृ १।१३।२।
२ ऋ १।६।१ अथव २०।२६।४ ४७।१० ६९।९ वा स० २३।५ त स० ७।४।२ १। म स ३।१२।१८ १६।३ का सं अ ४।९ त ब्रा ३।९।४।१ श ब्रा० १३।२।६।१ मा श्रौ ९।२।३।१६, का० श्रौ २०।५।१ आप० श्रौ २०।१६।१।
३ ऋ १।३०।७ अथव १९।२४।७ २०।२६।१ वा स ११।१४ का श्रौ १६।२।६।
४ त स ४।१।२।१ ५।१।२।१ २ म स २।७।२ का० स १६।१ आप श्रौ १६।२।३ मा श्रौ ६।१।१।१ ।

चतुर्थ अध्याय

नव-दम्पती का घर की ओर प्रस्थान

गमनार्थ रथ का स्थापन

पालकी मे अथवा किसी यान, यथा रथ मे वधू का उद्वहन किया जा सकता है। यदि इस कार्य के लिये रथ का प्रयोग किया जाये तो सर्वप्रथम गन्तव्य दिशा की ओर रथ स्थापित किया जाता है। इस क्रिया के लिये आप० गृ० २।५।१६ मे निम्नलिखित मन्त्र (म० पा० १।६।१) का विनियोग किया गया है —

सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणोत्तभिता द्यौ ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रित ॥ [१६३]

सत्य के द्वारा पृथ्वी स्थिर की गई है, सूर्य के द्वारा आकाश स्थिर किया गया है। ऋत के द्वारा आदित्य स्थिर रहते हैं और (उसी के द्वारा) आकाश मे चन्द्रमा सुस्थित है।

यह ऋ० (१०।८५) तथा अथर्व० (१४।१) के विवाह सूक्तो का प्रथम मन्त्र है। इसके गृह्यविनियोग की पुष्टि न तो इसके अर्थ से होती है और न ही उक्त सूक्तो मे इसके क्रम से। विवाह सूक्तो में इसके अनुगामी मन्त्रो से स्पष्ट है कि उपर्युक्त मन्त्र के समेत वे सब सोम की स्तुति मे है। और सोम को सूर्या का प्रथम वर माना ही गया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि रथ-स्थापन क्रिया मे इसका विनियोग उत्तभिता, तिष्ठन्ति तथा अधिश्रित शब्दो से प्रभावित होकर किया गया। कौशिक० (७५।६) में इसका प्रयोग विशेषतया ध्यानाकर्षक है क्योकि वहा विवाह-कर्मों के प्रारम्भ मे ही एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इस विनियोग का सौष्ठव स्पष्ट ही है। एक प्रकार से अभिप्राय हो जाता है कि जिस प्रकार मन्त्र में परिगणित नक्षत्र आदि सत्य और ऋत के द्वारा अपने अपने स्थान पर स्थिर है उसी प्रकार यह भावी विवाह सम्बन्ध भी सत्य और नियमित जीवन पर आधारित होकर चिरस्थायी बने।

---

१ सोमो वधूयुरभवत्—ऋ० १०।८५।६, अथर्व० १४।१।६।

रथ के अक्ष का अनुलेपन

शा० गृ० १।१५।३ मे उपर्युक्त क्रिया के साथ निम्नलिखित मन्त्र (ऋ०१।८२।२ अथर्व० १८।४।६१) के उच्चारण का विधान है —

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ [१९८]

हे इन्द्र (यजमानों ने आपके द्वारा प्रदत्त अन्न का)भोग किया वे तृप्त हुए और तृप्ति में उन्होंने अपने शरीर हिलाये। स्वयं तेजस्वी वे मेधावी अत्यन्त नवीन स्तुति के द्वारा उपासना करने लगे। इसलिये हे इन्द्र अपने अश्वों को शीघ्र ही रथ में जोत लो ॥ सा

इस मन्त्र का अक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। गृह्य प्रसंग मे इसके विनियोग के लिये एक मात्र संकेत इन्द्र के अश्वों के जोतने का वर्णन है। या फिर सम्भवतया इस विनियोग के लिए शा० गृ० का रचयिता मन्त्र के अक्षन् और रथ के अक्ष की समानता से प्रभावित हुआ होगा। गृह्यकारों के लिये मन्त्रों के शब्दों के सम्बन्ध मे इस प्रकार की भ्रान्ति होना असाधारण बात नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त यजुर्वेदीय परम्परा में भी इसके अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि वहाँ साकमेध के एक अङ्ग के रूप मे पितृयज्ञ मे आहवनीय अग्नि के उपस्थान के लिये इसका विनियोग किया गया है।[1]

शा० गृ० १।१५।४ मे रथचक्रों के भी अनुलेपन का विधान है। तदर्थ निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है —

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् ॥ [१९९]

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ [२]

हे सूर्ये जब तुम (पतिगृह को)जा रही थीं तब तुम्हारे दोनों कान (रथ के) दो चक्र थे और भार सहन करने वाला व्यान-वायु अक्ष था। पति (सोम) के पास जाती हुई सूर्या ने मनरूपी शकट पर आरोहण किया।

---

१ वा० सं० ३।५१ ऋ० सं० १।८२।२ का० सं० ९।६ मै० सं० १।१०।३ श० ब्रा० २।६।१।३८ तै० ब्रा० १।६।८।९, आप० श्रौ० ८।१६।१९ मा० श्रौ० १।७।६।५५, का० श्रौ० ५।९।१६ शां० श्रौ० ३।७।२ सा० श्रौ० ५।२।१ ।

वित होकर सम्भवतया गृह्यकारो ने इसका विनियोग रथ में घोड़े जोतने के प्रस्तुत प्रसग मे किया है ।

का० गृ० २६।१ मे भी यह द्वितीय मन्त्र इसी प्रसग मे विनियुक्त हुआ है । का० गृ० २५।८ मे यह मन्त्र विवाह सस्कार के प्रारम्भ मे उस समय प्रयुक्त हुआ है जब घर के बाहर वैवाह्य अग्नि की स्थापना के पश्चात् वर और वधू का रथ मे जोता जाता है। मन्त्र के इस प्रयोग मे परम्परा मे विच्युति होने पर भी इस विशेष कर्म का एक महत्त्व है। यह इस आदर्श का प्रतीक है कि गार्हस्थ्य रूपी रथ का भार वर और वधू के द्वारा समान रूप मे वहन किया जाना चाहिए । का० गृ० ४१।७ मे उपनयन सस्कार के अन्तर्गत छात्र के नव-परिधान धारण कर लेने के पश्चात् इस मन्त्र के द्वारा उसके अभिमन्त्रण का विधान है । यहाँ पर भी सम्भवतया योगे योगे शब्द मे (परिधान से) सयुक्त होने का भाव ग्रहण किया गया है । परन्तु यह दूराकृष्ट प्रतीत होता है ।

शा० गृ० १।१५।८ मे रथ मे पशु जोतने की क्रिया मे निम्नलिखित दो मन्त्रो (ऋ० १।८२।५,६) का विनियोग किया गया है —

युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्य शतक्रतो ।
तेन जायामुप प्रिया मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ [१६६]
युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्यो ।
उत्त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषु पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामद ॥ [१६७]

हे बहुकर्मशील इन्द्र, आपके (रथ मे) दाहिनी ओर तथा बायी ओर अश्व जुत जाये । उस (रथ) के द्वारा सोमरूपी अन्न के पान से मत्त होकर आप अपनी प्रिय पत्नी के पास जाइये । हे इन्द्र (अपने रथ मे शीघ्र ही) अश्वो को जोतिये । हे इन्द्र आपके दोनो केशयुक्त अश्वो को इस मन्त्र के द्वारा मैं (रथ मे) जोत रहा हूँ, (उस रथ पर) जाइये, अपनी भुजाओ मे (लगामो को) धारण कीजिये । (यज्ञ मे) तैयार किये गये तीव्र-मादक सोम ने आपको अत्यन्त मदयुक्त बनाया है, इसलिये हे वज्रधारी, पुष्टियुक्त आप अपनी पत्नी के साथ सन्तृप्त हो जाइये ॥ सा०

दोनों ही मन्त्रो मे इन्द्र के हरि नामक अश्वो के जोतने का वर्णन है । अत उपर्युक्त गृह्य प्रसङ्ग मे इनका विनियोग सीधा इनके अर्थ से प्रभावित प्रतीत होता है । द्वितीय मन्त्र के विनियोग की पुष्टि तो श्रौत विनियोग से भी होती है क्योंकि आ० श्रौ० ६।११।९ और शा० श्रौ० ८।८।३ मे इस मन्त्र को हरि-योजन कर्म के अन्तर्गत याज्या के रूप मे उद्धृत किया गया है ।

भी का गृ के समान ही पूर्वार्ध मे ये अधिक है और बाता और अग्रम् का सन्धि विच्छेद कर दिया गया है जिससे कि पूर्वार्ध मे दो अक्षर अधिक हो जाते हैं। यद्यपि म० पा २।२१।१७ मै० स० से सम्बद्ध नहीं है तथापि इस मन्त्र के पाठ में इसमे त स से अधिक मा भी का निकटता से अनुसरण किया गया है। परन्तु पूर्वार्ध मे यहाँ भी वाता और अग्निम् का सन्धि विच्छेद करके तथा अभि और सञ्चरन्ति के मध्य ये का समावेश करके छन्दोभङ्ग किया गया है। जहाँ तक विनियोग का सम्बन्ध है आप० गृ ८।२२।१४ में भी इसका सम्बन्ध चक्रो का स्पर्श करने की क्रिया से है परन्तु वह क्रिया विवाह का अग नही है। इस गृह्य में रथ की प्राप्ति पर उसके आरोहण के लिये अनुष्ठित किये जाने वाले विशेष कर्म मे इसका प्रयोग किया गया है। यद्यपि पा० गृ० (३।१४।६) शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है तथापि उसमे इस मन्त्र का पाठ पूर्णरूपेण त० स के अनुसार है। यहाँ भी रथारोहण कर्म का वर्णन विवाह सस्कार से पृथक किया गया है। इस गृह्य के अनुसार मन्त्र का उच्चारण रथ के आसन का स्पर्श करते हुए किया जाना चाहिए। हि गृ० १।१२।२ मे विधान है कि स्नातक को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए रथ पर आरोहण करना चाहिए।

जहाँ तक प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य मे इस मन्त्र के विनियोग का सम्बन्ध है वहाँ भी यह विधान है कि वाजपेय यज्ञ मे यजमान इसका उच्चारण करता हुआ रथ के दोनो पार्श्वों को थपथपाये।[1] इस प्रकार से इस मन्त्र के गृह्यविनियोग के आधार मे रथ के किसी अग के स्पर्श की क्रिया रही होगी। और इस विनियोग का मूल स्पष्टतया श्रौत कर्मकाण्ड में विद्यमान है।

रथारोहण

कुछ गृह्यसूत्रो मे वर-वधू द्वारा रथारोहण के समय निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है।[2]—

---

१ प ब्रा १।७।५ त ब्रा १।३।५।४ २।७।८।१ १६ आप० श्रौ० १८।४।६ मा० श्रौ ७।१।२।१० ।

२ आप गृ० २।५।२२ (म० पा० १।६।४, का० गृ० २६।४ मा० गृ० १।१३।६ वा० गृ० १५।२ गो गृ २।४।१ (म० ब्रा० १।३।११) भै० गृ २१।१६ सु कौशिक० ७७।१। का० गृ में लोकम् के स्थान पर योनिम् पाठ है वा० गृ में सुयमम् के स्थान पर धुधुरम् और लोकम् इत्यादि के स्थान पर पथ्यास्तेन याहि महान् स्वस्ति पाठ है।

सविता ने (सूर्या के लिये) जिस (कन्यादान के निमित्त पशु आदि धन) को सृष्टि की थी सूर्या के वे गो आदि पदार्थ पहले चले गये। मघानक्षत्रो मे तो गोएँ (सोम के घर को) हाँकी जाती हैं और दोनो फल्गुनी नक्षत्रो मे (सूर्या) ले जाई जाती है ॥ सा०

ये दोनो मन्त्र ऋ० (१०।८५।१२-१३) और अथर्व० (१४।१।१२-१३) के विवाह सूक्तो मे साथ-साथ विद्यमान है। यद्यपि मन्त्रो मे अनुलेपन का कोई उल्लेख नही है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह सूक्त मे से उद्धृत होने के कारण और चक्र, अक्ष अन (शकट) और वहतु (रथ) शब्दो के आधार पर प्रस्तुत प्रसग मे इनका विनियोग किया गया है।

रथ-चक्रों का अभिमन्त्रण

कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक शाखाओ से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित मन्त्र द्वारा रथचक्रो के अभिमन्त्रण का विधान है[1]—

अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथ ये ध्वान्ता वाताग्निमभिस चरन्ति ॥
दूरेहेति पतत्री वाजिनीवांस्ते नो ऽग्नय पप्रय पालयन्तु ॥ [२०१]

जो काष्ठ आदि इन्धन से उत्पन्न होने वाली है, जो वैद्युताग्नि मे सचरण करती है वे दूर गति वाली वायु आदि मे स्थित तथा व्रीहि आदि अन्न मे स्थित हमारा पालन करने वाली अग्नियाँ रथ के सब ओर स्थित अक और न्यको का पालन करें। (अक और न्यक ऐसे यन्त्र है जिनके द्वारा चक्र चलते हैं।) दे० पा०

मन्त्र का यह पाठ मा०गृ० मे दिया गया है और यह ठीक मा०श्रौ० ७।१।२।३० के समान है। यह ध्यान देने की बात है कि जिन सहिताओ से ये गृह्यसूत्र सम्बद्ध हैं, उपर्युक्त मन्त्र उनमें प्राप्त न होकर तै० स० (१।७।७।२) मे प्राप्त होता है। तै० स० मे इसका पाठ कुछ भिन्न है। वहाँ ये के स्थान पर यौ पाठ है और उसके पश्चात् ध्वान्त वाताग्रमनुसञ्चरन्तौ लिया गया है। उत्तरार्ध मे पतत्री वाजिनीवान् के स्थान पर इन्द्रियावान् पतत्री और अन्त मे पालयन्तु के स्थान पर पारयन्तु पाठ है।

का० गृ० और वा० गृ० मे तै० स० के वाताग्र और पारयन्तु सुरक्षित हैं। परन्तु इन सब में किसी न किसी रूप मे छन्दोभङ्ग हुआ है। उदाहरणार्थ का० गृ० मे पूर्वार्ध में वाताग्रमभि ये सम्पतन्ति और उत्तरार्ध मे पतत्रिणी पाठ है और इस प्रकार मन्त्र के दोनों भागो में एक एक अक्षर अधिक है। इसी प्रकार वा० गृ० मे

---

१ मा० गृ० १।१३।४, का० गृ० २६।२, वा० गृ० १५।१।

के उल्लेख के अतिरिक्त गृहान् गच्छ गृहपत्नी इत्यादि शब्दों से यह स्पष्ट है कि वधू अपने नये घर जाने को तयार खड़ी है। कौशिक० (७६।१०) मे इसका विनियोग वधू को विवाह-शाला में से बाहर लाने के प्रसङ्ग मे किया गया है। यहां भी भाव यही है कि इसके पश्चात् वधू को पतिगृह जाना है। दश कर्माणि० में अथर्व० १४।१।५१ के रूप मे इस मन्त्र मे अगस्ते हस्तमग्रहीत् संशोधन किया गया है।[1]

आप० गृ० और का० गृ० मे रथारोहण प्रसङ्ग में निम्नलिखित दो और मन्त्रों को उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है[2] —

सुकुसमना रोहन्ती व्यस्यन्ती पृतन्यत ।
मूर्धानं पत्युरारोह प्रजया च विराड् भव ॥ [२०४]

स्नुषाणां श्वशुराणां च प्रजायाश्च धनस्य च ।
पतीनां देवराणां च सजातानां विराड् भव ॥ [२०५]

हे वधू उत्तम (घर अथवा सच्चरित्र) पर आरोहण करती हुई सेना की इच्छा करने वाले शत्रुओं को फेंकती हुई पति के मस्तक पर आरोहण करो अर्थात् अपने गुणों के द्वारा सम्मानित हो पुत्रपौत्रादि सन्तान से विशेष रूप से शोभित हो। बहुओं श्वसुरों, सन्तान धन पति देवरों और अन्य बन्धु बान्धवों में तुम विशेष रूप से शोभित हो अर्थात् घर का सर्वस्व तुम्हारे अधीन हो। वे० पा०

क्योंकि ये मन्त्र अन्य किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं होते अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचना ऋ० १०।८५।४६ को आदर्श मान कर की गई है (दे० मन्त्र सं० २७७)। और का० गृ० मे तो वह मन्त्र इन दो के मध्य भी आया है।

मा० गृ० १।१३।५ मे निम्नलिखित मन्त्र द्वारा रथासन के अभिमन्त्रण का विधान है —

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।।
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ [२०६]

हे वनस्पति विकार रथ दृढ अङ्गों वाले हो जाओ तुम हमारे मित्र हो हमें पार करने वाले शोभन योद्धाओं से युक्त हो। क्योंकि तुम बलों के

---

१ कौशिक सूत्र (सं० ब्लूमफील्ड) पृ० २०१, पा० टि० ६।
२ आप० गृ० २।५।२२ (मं० पा० १।६।२,७) का० गृ० २५।४७।

सुकिंशुक शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ।। [२०२]

हे सूर्ये (वधू) सुन्दर पलाशादि पुष्पों से युक्त और गमनशील अथवा सुन्दर पलाश तथा शाल्मली की लकडी से निर्मित, नाना आकार वाले, उज्ज्वल रूप, फलो फूलो से आवृत अथवा सहज गति वाले, शोभन चक्रो वाले अमृत-लोक (रूप) रथ पर चढो, तुम इस यान को अपने पति के लिए सुखद बनाओ। दे० पा०

यह मन्त्र ऋ० (१०।८५।२०) और अथर्व० (१४।१।६१) के विवाह सूक्तो मे से उद्धृत है। शा० श्रौ० (६।२८।११) मे सूर्या देवी को आहुति देने के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। यह ध्यान देने की बात है कि उसी वेद (ऋ०) से सम्बद्ध होने पर शाङ्खायन ने श्रौतसूत्र मे इस मन्त्र का अर्थानुकूल विनियोग नही किया है। अत इसके गृह्य विनियोग का मूल स्रोत ऋग्वेद ही प्रतीत होता है क्योकि न केवल वहाँ यह विवाह सूक्त मे आया है, अपितु इसमे रथारोहण का सकेत भी है।

आ० गृ० (१।८।१) मे रथारोहण के लिये ऋ० १०।८५।२६ का विनियोग किया गया है —

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।। [२०३]

हे वधू, पूषा तुम्हे पितृगृह से हाथ पकड कर बाहर ले जाये, दोनो अश्विन् देव तुम्हे (मेरे घर) पहुँचा दें। रथ पर तुम (अपने पति के) घर जाओ। (और जाकर) जिस प्रकार गृहिणी होती है वैसी ही तुम हो जाओ। आत्मवशिनी तुम सबके प्रति अनुराग करो। और यज्ञ अर्थात् श्रौत स्मार्त कर्म करो। ह० मि०

अथर्व० १४।१।२० मे यह मन्त्र पूषा के स्थान पर भग पाठान्तर से प्राप्त होता है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यो के अनुसार विवाह होने से पूर्व जब स्नात और अलकृत वधू को वर यज्ञ स्थल की ओर ले जाता है उस समय वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है।[1] यद्यपि मन्त्र के प्रथम पाद मे ले जाने (नयतु) का भाव अभिव्यक्त किया गया है, तथापि आ० गृ० में इसका विनियोग उपयुक्ततम है क्योकि रथ

१ आप० गृ०२।४।१ (म० पा० १।२।८), बौ० गृ० १।५।४, का० गृ० २५।५।

के अनुसार रथ की गति आधयिता के प्रति इवीशक्ति ज्ञान क्षत्रियशक्ति आदि की गति की प्रतीक है।

कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार यदि वर-वधू की यात्रा का साधन नौका हो तो नौकारोहण के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये[1] —

सुत्रामाण पृथिवीं द्यामनेहस सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नाव स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ [२०६]

स्तोता और याज्ञिक जनों की रक्षक विस्तीर्ण अथवा विख्यात दीप्त अथवा स्तुत्य क्रोध रहित शोभन सुखवाली दीनतारहित देवताओं की माता स्तोताओं और याज्ञिकों की कामनाओं को पूर्ण करने वाली, देव सम्बन्धिनी सुन्दर पतवार वाली, निर्दोष तथा नष्ट न होने वाली नाव पर हम अपने अविनाश के लिये आरोहण करें। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार समुद्र के जल को पार करने के लिए पुरुष लौकिक नाव पर आरोहण करते हैं उसी प्रकार ससार की नश्वरता पार करने के लिये हम अदितिरूपी नाव पर आरोहण करें। हु० मि०

पा० गृ ३।१५।११ के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण नदी पार करते हुए करना चाहिये। केवल आरुहेम शब्द के आधार पर शा० गृ ४।१५।२२ में श्रवणाकर्म के अन्तर्गत शय्याधिरोहण के लिये यह मन्त्र विनियुक्त हुआ है।

नौकारोहण में मन्त्र का विनियोग करने वाले गृह्यकारों को सम्भवतया मन्त्र के नाव शब्द से भ्रान्ति हुई है परन्तु वास्तव में वह शब्द यहाँ अदिति-रूपी पृथिवी के लिए प्रयुक्त हुआ है। समस्त पूर्ववर्ती साहित्य में भी इस विनियोग का आधार प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ अदिति को आहुति प्रदान करते हुए इस मन्त्र[2] के

---

१ शां गृ १।१५।१७ आ गृ २।६।८ मा गृ० १।१३।१६ १।१९ १ कौशिक ७।१२३ ८६।२६।

२ ऋ० १०।६३।१० अथर्व ७।६।३ वा स २१।६ त स १।५।११।५ म स ४।१२।४ १४।४ का स २।४ ११।१३ का स अ १।१९ ४।६ ऐ ब्रा १।१९।७ स ब्रा १।१३।२ आ श्रौ ३।८।१ ४।३।२ शा श्रौ ५।१५।२ ६।३।८ का श्रौ १९।७।१६ मा श्रौ ५।१।४।२५ (आदित्य को आहुति) आप श्रौ० १०।१९।४—अग्निष्टोम की दीक्षा में यजमान कृष्णमृग के चर्म पर आरोहण करता है। इस विनियोग की तुलना शां गृ ४।१५।२२ के विनियोग से की जा सकती है (ऊपर)। वै० मन्त्र सं ९९१ के पश्चात्।

चर्मादि से सुबद्ध हो, अत अपने आप को दृढ बनाओ। तुम पर आरूढ (योद्धा) जय योग्य शत्रु सैन्यो पर विजय प्राप्त करे। ह० मि०

आ० गृ० (२।६।५) मे यह मन्त्र विवाह सस्कार के अन्तगत उद्धत न होकर पृथक् रूप से वर्णित रथारोहण कम मे विनियुक्त हुआ है। तदनुसार जब अश्व अभीष्ट दिशा की ओर चलना प्रारम्भ करदें तब इस मन्त्र द्वारा उनका अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। मन्त्र का वनस्पति शब्द रथ का ही वाचक है क्योकि रथ मुख्यतया काष्ठ-निर्मित होता है। इसके अतिरिक्त गोभि सन्नद्धो असि का अर्थ यदि बैलों से युक्त लिया जाय तो भी रथ की ही अभिव्यक्ति होती है क्योकि रथ मे बैल भी जोते जाते थे।

इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का समानान्तर विनियोग सहिताओ तथा श्रौत-सूत्रो में दृष्टिगोचर होता है जहा अश्वमेध यज्ञ मे इसके द्वारा रथ को सम्बोधित किया जाता है।[1]

मा० गृ० (१।१३।७-६) और वा० गृ० (१५।३,४) के अनुसार जब रथ अभीष्ट दिशा मे चलने लगे तो निम्नलिखित दो मन्त्रो का उच्चारण किया जाना चाहिये —

अनु मा यन्तु देवता अनु ब्रह्म सुवीर्यम्।
अनु क्षत्र च यद्यशमनु मामेतु यद्यशम्॥ [२०७]
प्रति मा यन्तु देवता प्रति ब्रह्म सुवीर्यम्।
प्रति क्षत्र च यद्बल प्रति मामेतु यद् बलम्॥ [२०८]

देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ मेरा अनुसरण करें अर्थात् मुझे प्राप्त हो। ब्राह्मण की शक्ति मुझे प्राप्त हो। और जो यश क्षत्रिय को प्राप्त होता है, वह यश मेरे पास आये॥ देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ मेरी ओर आयें, ब्राह्मण शक्ति मेरी ओर आये। जो बल क्षत्रिय की ओर जाता है, वह बल मेरे पास आये॥

वा० गृ० में उपरिलिखित मा०गृ० के मन्त्र के सभी स्थलो पर प्रति के स्थान पर उप पाठ है। ये मन्त्र पूर्ववर्ती साहित्य मे अप्राप्य हैं। अत यह प्रतीत होता है कि विशेष रूप से गृह्य प्रयोग के लिये इनकी रचना की गई। इन मन्त्रो

---

१ ऋ० ६।४७।२६, अथर्व० ६।१२५।१, वा० स० २९।५२, तै० स० ४।६।६।५, मै० स० ३।१६।३, का० स० अ० ६।१, नि० २।५,६।१२, मा० श्रौ० ६।२।३।१६, बौ० श्रौ० १०।२४।

का प्रमुख प्रभाव है।

आप गृ और बौ० गृ में यह विधान है कि यदि मार्ग में नदी पार करनी पड़े तो वर को पहले निम्नलिखित में से प्रथम मन्त्र द्वारा नौका का अभिमन्त्रण करना चाहिये और नदी पार करके द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये¹ —

अयं नो मह्या पारं स्वस्ति नेषद्वनस्पतिः ।
सीरा नः सुतरा भव दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥ [२११]
अस्य पारे निर्ऋतस्य जीवा ज्योतिरशीमहि ।
मह्या इन्द्र स्वस्तये ॥ [२१२]

यह वनस्पति अर्थात् नौका (क्योंकि नौका काष्ठनिर्मित होती है) हमें कल्याणपूर्वक पृथ्वी के पार ले जाये। हे नदी तू दीर्घ आयु और तेज के निमित्त सरलता से पार होने योग्य हो जा॥ हे इन्द्र पृथ्वी के पार जीवनसहित हम इस गतिशील (सूर्य) की ज्योति प्राप्त करें॥

प्रथम मन्त्र का अधिकांश तथा द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद पूर्ववर्ती ग्रन्थों में बहुत से मन्त्रों का चतुर्थ पाद है। द्वितीय मन्त्र का द्वितीय पाद ऋ ७।३२।२६ से और तृतीय पाद ऋ ६।४७।६ से उद्धृत है। विभिन्न मन्त्रों के अंशों के योग से नये मन्त्र-सर्जन की परम्परा गृह्यसूत्रों में अत्यधिक प्रचलित है। अथवा यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के मन्त्र किसी ऐसी संहिता से उद्धृत हों जो अब उपलब्ध नहीं।

यदि वधू प्रस्थान के समय रोदन करे

कुछ गृह्यसूत्रों द्वारा प्रस्थान के समय वधू के रोदन की अवस्था में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १०।४०।१० अथर्व १४।१।४६) के उच्चारण का विधान किया गया है²—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ [२१३]

इस सुन्दर वधू को इसके जिन माता पिता भ्राता आदि बन्धुओं ने भावी सन्तान की अभिलाषा से पितृरूप मुझ पति को एक साथ प्रदान

१ आप गृ २।६।१२ (म पा १।६।१३ १४) बौ गृ ४।३।६ का गृ २६।१२ (केवल प्रथम)।
२ मा गृ १।८।४ शां० गृ १।१५।२ आप गृ २।६।६ (म पा० १।१।६) बौ गृ १।६।२६ ४।१।११ कौशिक ७६।३।

उच्चारण का विधान किया गया है।

कुछेक गृह्यो मे नदी पार करते हुए निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया गया है[1]—

अश्मन्वती रीयते स रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखाय ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवा· शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ [२१०]

जो तुम विविध खाद्यान्न सम्पन्न हो, वह तुम घर की ओर चलो। तुम नाव पर आरोहण करो और नदी पार करो। हे सखि (वधू) इस नदी मे जो असुख होते है, उनको हम छोड दें और छोडकर सुखपूर्ण पूजित अर्थात् भवर आदि दोषो से रहित मार्गों से हम नदी पार करें। ह० मि०[2]

आ० गृ० १।८।२,३ मे मन्त्र के दोनो भागो को विभाजित करके पृथक् विनियुक्त किया गया है। पूर्वार्ध के द्वारा नौकाधिरोहण का और उत्तरार्ध के द्वारा नदी को पार करने का विधान है।

यद्यपि यह मन्त्र सभी सहिताओ मे विद्यमान है[3], तथापि इसके विनियोग का स्रोत श० ब्रा० १३।८।४।३ प्रतीत होता है। वहाँ यह विधान है कि पितृमेध कर्म मे मृत व्यक्ति का दाह सस्कार करके यजमान तीन क्यारियाँ खोदकर उन्हे जल और दूध से भरता है, उनमे कुछ पत्थर डालता है और जब घर लौटता हुआ उन्हे लाँघता है तो इस मन्त्र का उच्चारण करता है। मन्त्र का ऐसा ही प्रयोग तै० आ० (६।३।२) और का० श्रौ० (२१।४।२१) मे भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्र के अश्मन्वती शब्द से सङ्गति बिठाने के लिये ही क्यारियो मे पत्थर डालने की क्रिया का विधान किया गया है। आ० गृ० ४।६।१३ मे इस मन्त्र का विनियोग दाह-सस्कार के पश्चात् शान्तिकर्म मे किया गया है और इस प्रकार वह उपर्युक्त श्रौत कर्म के निकटतर बैठता है। परन्तु आ० गृ० मे इसका सम्बन्ध क्यारियाँ पार करने से न होकर पत्थर के स्पर्श से है। शा० श्रौ० (४।१५।५) मे निर्देश है कि घर लौट कर यजमान एक पात्र जल से भरता है, उसे सद्य प्राप्त गोबर पर रखता है और फिर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अनुलिप्त पत्थर, अग्नि तथा उदपात्र का स्पर्श करता है। इन दोनों विनियोगो मे भी ऐसा प्रतीत होता है कि अश्मन्वती शब्द

१ शा० गृ० १।१५।१८, का० गृ० २६।१२, कौशिक० ७१।२४।

२ इस व्याख्या मे हरदत्त मिश्र ने अत्यधिक व्यत्यय का आश्रय लिया है, अत यह दूराकृष्ट हो गई है।

३ ऋ० १०।५३।८, वा० स० ३५।१०, तु० अथर्व० १२।२।२६।

जाना चाहिये। का० गृ० (२६।८) के अनुसार दम्पती के रथ में आसीन होने के पश्चात् उसके चलने पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी गृह्य में अन्यत्र (२५।५) भी इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। तदनुसार वधू के स्नान और अलङ्कृत होने के पश्चात् जब उसका पिता या भ्राता यज्ञ स्थल पर उसको लाता है उस समय वह इसका उच्चारण करता है।

निर्बाध मार्ग की प्रार्थनारूप यह मन्त्र यात्रा के विविध प्रसङ्गों में विनियुक्त किया गया है। का० गृ० २५।५ के विनियोग के आधार में भी गमन क्रिया प्रतीत होती है।

शा० गृ० (१।१५।१५) में विधान है कि जब वे लोग श्मशान भूमि के पास से निकलें तो निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।८५।३१ अथर्व० १४।२।१०) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

> ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु।
> पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ [२१५]

जो यक्ष्मा आदि रोग वधू के चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल रथ का अनुसरण करते हैं और उसमें आसीन जनों को (ग्रहण करते हैं) पूजनीय देवता उन्हें फिर वहीं ले जायें जहाँ से वे आये थे।

बौ० गृ० (१।५।३) और भा० गृ० १।१८ के अनुसार जब रथ का वाहन किया जा रहा हो उस समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। आप० गृ० २।५।२१ (मं० पा० १।६।६) इसका विनियोग रथारोहण कर्म में ही करता है। रथ पर आसीन व्यक्तियों के लिये सम्भावित यक्ष्मा आदि रोगों के निवारणार्थ प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र विभिन्न प्रकार से रथ से सम्बद्ध किया गया है।

मा० गृ० और शा० गृ० में विधान है कि मार्ग में जब गाँव, एकान्त वृक्ष, श्मशान भूमि, चतुष्पथ अथवा तीर्थ पड़े तो निम्नलिखित पाँच मन्त्रों[१] में से क्रमशः एक एक

---

१ मा० गृ० १।१३।१, १४ शा० गृ० १५।५-६ इसमें प्रथम वाक्य का मन्त्र सहित तथा पञ्चम वाक्य का अभाव है और समान स्रोत वाले निम्नलिखित वाक्य तथा मन्त्र का विनियोग उस प्रसङ्ग में किया गया है जब यात्री यात्रा के मध्य कुछ पीता है —

> नमो रुद्राय पात्रसदे॥ [२२१]
> ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्॥ [२२२]

पात्र में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार। जो पात्रों में पीते हुए जनों को अन्न के विषय में व्यथित करते हैं। दे० पा०

किया है जिससे कि यह सुख प्राप्त करे, वे इस सुखजीविनी वधू को रुलाएँ नही परन्तु सुखी करें। वे बन्धु श्रौत स्मार्त यज्ञो मे दीर्घ बन्धन अर्थात् दीर्घ अनुष्ठान का आनुपूर्व्य से वर्धन करें ॥[1] ह०मि०

आप० गृ० मे प्रस्थान के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान नही है। तदनुसार पाणिग्रहण के पश्चात् यदि वधू अथवा उसके सम्बन्धियो का रोदन आदि कोई अपशकुन घटे तो इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तथापि इसका सम्बन्ध रोदन से ही है। म० पा० मे जीवम् के स्थान पर जीवाम् पाठ है और इसी को साक्षी मानकर ऋ० मन्त्र मे हरदत्त मिश्र ने लिङ्गव्यत्यय माना है।[2]

अथर्व० मे यह मन्त्र विवाह सूक्त में विद्यमान है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋ० के नयन्ते के स्थान पर अथर्व० मे नयन्ति पाठ है। प्रस्थान के प्रसग में यह पाठ अधिक सगत है और इसी आधार पर यह मन्त्र मूल रूप मे आथर्वण रचना प्रतीत होती है और ऐसा लगता है कि उक्त गृह्य-कर्म के लिये ही इसकी रचना की गई होगी।

मार्ग में विभिन्न स्थानों पर उच्चारणार्थ मन्त्र

मार्ग में दुर्भाग्य के निवारणार्थ यह विधान है कि जब शुभ स्थान, वृक्ष, चतुष्पथ आयें तो निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए[3]—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ [२१४]

जो पिशाचादि मार्ग मे कष्ट देने के लिये आते हैं, वे मार्गरोधक मार्ग मे जाते हुए दम्पती को न जानें और सुगम मार्गों से ये दोनो दुर्गम स्थान पार करें। हमारे शत्रु मार्ग से पृथक् होकर लडखडा जायें॥ ह०मि०

यह मन्त्र ऋ० और अथर्व० मे विद्यमान है।[4] आप०गृ० २।५।२४ (म० पा० १।६।१०) के अनुसार नव दम्पती के रथारोहण करते समय इसका उच्चारण किया

---

१ अत्यधिक व्यत्ययों को मानने से अर्थ दूराकृष्ट हो गया है।

२ जीवम् अत्रापि लिङ्गव्यत्ययः। जीवामित्यर्थः। तथा च तैत्तिरीयाणां पाठः जीवा रुदन्तीति। सुखजीविनीमिमाम्—।

३ पा० गृ० १।८।६, गो० गृ० २।४।२ (म० ब्रा० १।३।१२) कौशिक० ७७।३, शां० गृ० १।१५।१४ (केवल चतुष्पथों पर)।

४ ऋ० १०।८५।३२, अथर्व० १४।२।११, १२।१।३२, बृ० दे० ७।१।३३, तु० प्रथम पाद—शा० स० ४।३४।

प्रदान करने के लिये अन्तिम चार मन्त्रो का प्रयोग किया गया है। नव-दम्पती की यात्रा के प्रसग मे अपनी शाखा के पाठ का अनुसरण करते हुए का०गृ० २६।७ ६ १२ में चतुर्थ द्वितीय और पञ्चम मन्त्रों का विनियोग किया गया है।

पाँचो के पाँचों मन्त्र केवल यजुर्वेद सहिताओं मे उपलब्ध होते है।[1] प्रथम मन्त्र ऋ० १।११४।१ मे भी है। यहाँ इस मन्त्र का ऋग्वेदीय पाठ ही उद्धृत किया गया है क्योंकि उसमें छन्द की पूर्णता है। वा० स० मे भी यही पाठ है। अन्य सहिताओ मे उत्तरार्ध मे यथा के पश्चात् न पाठ है जिससे कि जगती छन्द में एक अक्षर का आधिक्य हो जाता है। चतुर्थ मन्त्र में का० स मे वधात् के स्थान पर वधीमात् पाठ के कारण भी छन्द मे एक अक्षर का आधिक्य होता है। ऐलबृद (अन्नसमूह को कोमल बनाने वाले) के स्थान पर मै स० मे ऐलमृडा (अन्न से प्रसन्न होने वाले) पाठ है परन्तु यह बहुत अच्छा नही है क्योंकि मन्त्र में ऋषि का उद्देश्य रुद्र की घातक शक्तियो का वर्णन है। इस प्रकार से वा स और तै का० का ऐलबृद पाठ भी प्रशस्य है क्योंकि इसकी व्याख्या ऐल बिभर्ति इति ऐलभृत (अन्न धारण करने वाले) है। परन्तु यहाँ बृद को भृत का रूपान्तर स्वीकार करने मे कठिनाई होती है।

श्रौत कर्मकाण्ड मे रुद्र को अवदान आहुतियाँ देने के प्रसङ्ग मे उच्चारण की जाने वाली शतरुद्रिय स्तुति मे इन मन्त्रो का समावेश किया गया है।[2] अत इनके गृह्य प्रयोग मे श्रौत प्रभाव लक्षित नही होता। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे गृह्यसूत्रो मे इनके विनियोग का कारण सम्भवतया यह है कि रुद्र केवल विघ्न रक्षक ही नहीं अपितु दिव्यभिषक भी माने जाते हैं।[4]

---

१ प्रथम मन्त्र—वा सं १६।४८ तै स ४।५।१०।१ मै स २।९।९ का स १७।१६ २ ५ मन्त्र—वा सं० १६।५८ ६१ तै स ४।५।११।१ मै० सं २।९।९ का० स १७।१६ (द्वितीय मन्त्र—का स में वृक्षेषु के स्थान पर वनेषु और तै स० मे शष्पिञ्जरा के स्थान पर सस्पिञ्जरा पाठ है। पञ्चम मन्त्र—तै स और का स में सृगवक्त के स्थान पर सृकावक्त और वा स मे सृकाहस्ता पाठ है। चतुर्थ मन्त्र में वा सं मे यव्युध के स्थान पर आयुर्युध पाठ है और मै० सं में योयुध।

२ जॉन म्यूर् मत्स्य इन सस्कि पृ २६५ स २६४—इसका यह अर्थ भी सम्भव है—जो अन्न से हमें सुखी करते हैं।

३ मु आप श्रौ १७।११।३ ६ बौ श्रौ १ ।४८ मा श्रौ ६।२।४ का० श्रौ १८।१।१ ५।

४ ऋ २।३३।४ भिषक्तमम् त्वा भिषजा शृणोमि।

का प्रसगानुसार उच्चारण किया जाना चाहिये —

नमो रुद्राय ग्रामसदे ॥ [२१६]
नमो रुद्रायैकवृक्षसदे ॥ [२१७]
नमो रुद्राय श्मशानसदे ॥ [२१८]
नमो रुद्राय चतुष्पथसदे ॥ [२१६]
नमो रुद्राय तीर्थसदे ॥ [२२०]

ग्राम में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ एकान्त वृक्ष पर प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ श्मशान मे प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ चतुष्पथ पर प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ तीर्थ मे प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥

नमस्कार रूप इन वाक्यो के साथ पाच मन्त्र भी सलग्न किये गये हैं। उन्हे केवल प्रतीकेन उद्घृत किया गया है। जिस क्रम मे उन्हे उपरिलिखित वाक्यो के साथ सलग्न किया जाना चाहिये उसी क्रम मे नीचे उन्हे उद्धृत किया जाता है —

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मती
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ [२२३]
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिता ।
तेषा सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ [२२४]
ये भूतानामधिपतयो विशिखास कपर्दिन । तेषा [२२५]
ये पथा पथिरक्षय ऐडमृदा यव्युध । तेषा [२२६]
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृगवन्तो निषङ्गिण । तेषा [२२७]

वीरो के निवास स्थान, वृद्धि से युक्त, जटाधारी रुद्र के प्रति हम इन स्तुतियो का उच्चारण करते हैं। जिससे कि आक्रमण होने की अवस्था मे हमारे दो पाँव वालो (मनुष्यो) और चार पाँव वालो (पशुओ) के लिए सुख हो, और जिससे कि इस ग्राम मे सभी प्राणी स्वस्थ और दु.ख रहित हो ॥१॥ ह्० मि० । वृक्षो मे अवस्थित जो कोमल घास के समान भूरे, नीलकण्ठ और अत्यन्त रक्त हैं, उन प्रत्यञ्चासहित धनुष वाले रुद्रो के धनुषो को हम अति दूर स्थित होकर स्तुति द्वारा शिथिल करते हैं ॥२॥ जो पृथ्वी, जल, आकाश आदि भूतो के रक्षक, मुण्डित होते हुए भी जटाधारी हैं ॥३॥ जो आदित्य रूप मार्ग रक्षक, अन्न को कोमल करने वाले और सग्राम मे सम्मिलित होने वाले हैं ॥४॥ जो तपस्या की अतिशय सिद्धि के निमित्त, मालाधारी होकर और खड्ग हाथ में लेकर तीर्थो मे सञ्चरण करते है ॥५॥ दे० पा०

का० गृ० ८।४ मे व्रतारम्भ के अवसर पर रुद्रो को स्थालीपाकाहुति

मन्त्र के देवता अश्विन् हैं। अन्य अनुग्रहों के साथ-साथ उनसे तीर्थ की सरलता से अवगाहन योग्य बनाने की प्रार्थना भी की गई है। यह प्रार्थना ही सम्भवतया इसके गृह्य विनियोग का आधार है।

यात्रा के मध्य जलाशय पार करना

मा० गृ० १।१३।१५ और वा० गृ० १५।१० में विधान है कि यदि मार्ग मे कोई जलाशय पार करना हो तो सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्रों का[1] उच्चारण करते हुए तीन जलाञ्जलियां अर्पित करनी चाहियें —

समुद्राय वरुणाय सिन्धूनां पतये नमः ॥ [२३१]
नमो नदीनां सर्वासां पत्ये ॥ [२३२]
विश्वाहा जुषतां विश्वकर्मणामिदं हविः स्वः स्वाहा ॥ [२३३]

नदियों के पति वरुण (?) समुद्र को नमस्कार है ॥१॥ सभी नदियों के पति को नमस्कार ॥२॥ विश्वकर्माओं को यह आहुति सदा (उनकी) सेवा करे ॥३॥

वा० गृ० मे प्रथम मन्त्र मे वरुणाय के स्थान पर वयुनाय पाठ है। द्वितीय मन्त्र मे नमः का अभाव है, पत्ये के स्थान पर पित्रे पाठ है और सम्भवतया तृतीय मन्त्र के जुषतां विश्वकर्मणाम् के प्रभाव से जुहुता विश्वकर्मणे जोड़ा गया है। इसमे तृतीय मन्त्र यह है—विश्वहायाम्य हविः। यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। ये मन्त्र पूर्ववर्ती साहित्य मे अप्राप्य हैं।

शा० गृ० ४।१४।२ मे जलाशय पार करने के पृथक कर्म के अन्तर्गत उदक अञ्जलि के निमित्त निम्नलिखित तीन मन्त्र उद्धृत किये गये हैं —

समुद्राय वयुनाय नमः ॥ [२३४]
वरुणाय धर्मपतये नमः ॥ [२३५]
नमः सर्वाभ्यो नदीभ्यः ॥ [२३६]

वयुन समुद्र को नमस्कार। धर्मपति वरुण को नमस्कार। सभी नदियों को नमस्कार।

जलाभिमन्त्रणार्थ इसमे एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है —

सर्वासां पित्रे विश्वकर्मणे दत्तं हविर्जुषताम् ॥ [२३७]

सबके पिता विश्व कर्मा को प्रदत्त आहुति का वह आनन्द ले।

---

१ तु० का० सं० ३७।१६, आप० श्रौ० १४।१६।१ (अंजित मन्त्र)

का० गृ० २६।८ के अनुसार जब वर आदि यात्री श्मशान भूमि के पास से निकलें तो उन्हें निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—

ये श्मशानेषु पुण्यजना शावास्तेषु शेरते ।
तत्रैव ते रमन्ता मा वधूरन्ववेक्षत ॥ [२२८]

जो पुण्य जन, यक्ष और जो प्रेत उन श्मशानो मे निवास करते है, वे वही रमण करें । वे वधू को न देखें ।दे० पा०

इस मन्त्र का स्रोत अज्ञात है । सम्भवतया यह केवल गृह्य-परम्परा का मन्त्र है ।

का० गृ० २६।१२ मे विधान है कि तीर्थ के निकट पहुँचने पर उपर्युक्त ये तीर्थानि इत्यादि मन्त्र के अतिरिक्त निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण भी किया जाना चाहिये –

ता मन्दमाना मनुषो दुरोण अधत्त रयिं सहवीर वचस्यवे ।
कृत तीर्थम् सुप्रपाण शुभस्पती स्थाणु पथेष्ठामप दुर्मति हतम् ॥ [२२९]

हे अश्विनो, हमारे द्वारा स्तूयमान आप दोनो मनुष्य के घर मे पुत्र सहित धन स्थापित कीजिए और शोभन वाणी की अभिलाषा करने वाले के लिए तीर्थ को सरलता से अवगाहन-योग्य तथा स्थिर सम्पत्ति वाला बनाइए । हे शुभ पालक देवो, इस मनुष्य को सुरुढ दुर्बुद्धि का नाश कीजिए । दे० पा०

बौ० गृ० और आप० गृ० के अनुसार तीर्थों के अतिरिक्त स्तम्भो और चतुष्पथो के पास से निकलते हुए भी इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये ।[1]

स्वल्प परिवर्तनो सहित यह ऋ० (१०।४०।१३) से उद्धृत किया गया है ।[2] गृह्यसूत्रो मे ऋ० के मन्दसाना के स्थान पर मन्दमाना तथा आ धत्तम् के स्थान पर अधत्तम् पाठ है । परवर्ती पाठ से अर्थ मे कठिनाई उत्पन्न होती है । यह कठिनाई देवपाल द्वारा भी अनुभव की गई क्योंकि वह अ को आ का छान्दस रूप बताता है (छान्दस ह्रस्वत्वम्) ।

---

१ बौ० गृ० १।५।६, आप० गृ० २।५।२५ (म० पा० १।६।१२)

२ तु० निम्नलिखित अथर्व० १४।२।६ —

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीर वचस्यम् ।
सुग तीर्थं सुप्रपाण शुभस्पती स्थाणु पथिष्ठामप दुर्मति हतम् ॥ [२३०]

मन्त्र के देवता अश्विन् हैं। अन्य अनुग्रहों के साथ-साथ उनसे तीर्थ को सरलता से अवगाहन योग्य बनाने की प्रार्थना भी की गई है। यह प्रार्थना ही सम्भवतया इसके एतद् विनियोग का आधार है।

यात्रा के मध्य जलाशय पार करना

मा० गृ० १।१३।१९ और वा गृ० १५।१० में विधान है कि यदि मार्ग में कोई जलाशय पार करना हो तो सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए तीन जलाञ्जलियां अर्पित करनी चाहियें[1] —

समुद्राय वयुनाय सिन्धूनां पतये नमः ॥ [२३१]
नमो नदीनां सर्वासां पत्ये ॥ [२३२]
विश्वाहा जुषतां विश्वकर्मणामिदं हविः स्वाहा ॥ [२३३]

नदियों के पति वयु (?) समुद्र को नमस्कार है ॥१॥ सभी नदियों के पति को नमस्कार ॥२॥ विश्वकर्माओं की यह आहुति सदा (उनकी) सेवा करे ॥३॥

वा गृ में प्रथम मन्त्र में वयुने के स्थान पर वयुनाय पाठ है। द्वितीय मन्त्र में नमः का अभाव है, पत्ये के स्थान पर पितृे पाठ है और सम्भवतया तृतीय मन्त्र के जुषतां विश्वकर्मणाम् के प्रभाव से जुहुता विश्वकर्मणे जोड़ा गया है। इसमें तृतीय मन्त्र यह है—विश्वहायाम्ये हविः। यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होती है। ये मन्त्र पूर्ववर्ती साहित्य में अप्राप्य हैं।

शां० गृ ४।१४।२ में जलाशय पार करने के पृथक् कर्म के अन्तर्गत उदक अञ्जलि के निमित्त निम्नलिखित तीन मन्त्र उद्धृत किये गये हैं —

समुद्राय वयुने नमः ॥ [२३४]
वरुणाय धर्मपतये नमः ॥ [२३५]
नमः सर्वाभ्यो नदीभ्यः ॥ [२३६]

वयु समुद्र को नमस्कार। धर्मपति वरुण को नमस्कार। सभी नदियों को नमस्कार।

जलाभिमन्त्रणार्थ इसमें एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है —

सर्वासां पित्रे विश्वकर्मणे वसु हविर्जुषताम् ॥ [२३७]

सबके पिता विश्व कर्मा को प्रदत्त आहुति का वह आनन्द ले।

१ द्र० का० सं० ३७।१२ आप श्रौ १४।१६।१ (अन्तिम मन्त्र)

इस मन्त्र मे उपरिलिखित मा० गृ० के द्वितीय और तृतीय मन्त्रो का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। विश्वकर्मा अखिल विश्व का स्रष्टा है, इसलिये सम्भवतया जल के साथ भी उसका सम्बन्ध यहाँ स्वीकार किया गया है।

मा० गृ० १।१३।१६ के अनुसार जलाशय पार करते समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए तीन बार आचमन करना चाहिये —

अमृत वा आस्ये जुहोम्यायु प्राणेऽप्यमृत ब्रह्मणा सह मृत्युम् तरति।
प्रासहादिति रिष्टिरिति मुक्तिरिति मुक्षीयमाण सर्वं भय नुदस्व स्वाहा ॥
[२३८]

मैं (अपने) मुख मे अमृत की आहुति देता हूँ, प्राण मे भी आयु और अमृत की आहुति देता हूँ, (मनुष्य) ब्रह्म-(विद्या) के द्वारा मृत्यु को पार करता है। शक्ति, रोग, मुक्ति, मुक्त किया जाता हुआ तू सारे भय को दूर कर ॥

परन्तु वा० गृ० १५।११ मे भी इसी मन्त्र को इस प्रकार तीन भागो मे विभाजित किया गया है —

अमृतमास्ये जुहोम्यायु प्राणे प्रतिदधामि ॥ [२३९]

अमृत ब्रह्मणा सह मृत्यु तरेम ॥ [२४०]

प्रासहादितीष्टिरस्यदितिरेव मृत्युन्धयम् ॥ [२४१]

यह रूप अधिक स्पष्ट है। सम्भवतया तीन बार आचमन को ध्यान मे रखते हुए ही इस मन्त्र का यह तीन भागो मे विभाजन किया गया है। 'यह मन्त्र केवलमात्र मानव शाखा मे है' ऐसा निर्णय करते हुए किसी प्रकार डा० पिल्ले का ध्यान वाराह के इस प्रयोग की ओर नही गया।[1] तथापि पूर्ववर्ती साहित्य मे यह अप्राप्य है।

यदि रथ भग्न हो जाये

यदि यात्रा के मध्य रथ भग्न हो जाये तो होम करके रथ की मरम्मत की जानी चाहिये। यह भी विधान है कि इस अवसर पर वैवाह्य अग्नि का पुनराधान किया जाना चाहिये। वधू वर का स्पर्श करती है और वह आहुति अर्पित करता है। इन आहुतियो के साथ उच्चारणार्थ विभिन्न गृह्यसूत्रो में विभिन्न मन्त्र दिये गये है।

---

१ नॉन ऋ० मन्त्रज् इन मैरिज, पृष्ठ २६७, स० २६६

यहाँ सुख है यहाँ रमण करो यहाँ स्थिरता है यहाँ अपनी स्थिरता है।

पूर्ववर्ती साहित्य मे इसके अनेक पाठ-भेद हैं। म० स मे इसका अधोलिखित पाठ उपलब्ध होता है —

इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रम इह रमन्ताम् ॥ [२४५]

यहाँ स्थिरता है यहा अपनी स्थिरता है यहाँ सुख है यहाँ सब रमण करें।

त स मे निम्नलिखित पाठ है —

इह धृति स्वाहेह विधृति स्वाहेह रन्ति स्वाहेह रमति स्वाहा ॥ [२४६]

वा स० मे इह रतिरिह रमध्वम् (२४४) के स्थान पर इह रन्तिरिह रमताम् पाठ है। ऐ ब्रा मे पाठ वा० स के अनुरूप है केवल रन्ति के स्थान पर रम का भेद है। जहाँ तक इसके विनियोग का सम्बन्ध है समस्त श्रौत साहित्य को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग मे अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत यजमान और अध्वर्यु द्वारा अश्व के कान मे इसके उच्चारण का विधान है।[1] द्वितीय वर्ग मे द्वादशाह अथवा गवामयन याग के दसवें दिन सत्रोत्थान के अवसर पर गार्हपत्य अग्नि मे एक आहुति डालते समय इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है।[2] गृह्यसूत्रों मे भी विविध पाठों सहित विविध प्रसङ्गो मे इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। गो गृ के अनुसार वर-वधू के पति-गृह पहुँचने पर जब उसकी गोद मे बिठाया गया बालक उठ जाता है तो वह इसका उच्चारण करती हुई आठवीं धृति आहुति का अनुष्ठान करती है।[3] ज गृ १।२२ के अनुसार इस आहुति का अनुष्ठान वर करता है। हि गृ० और आग्नि गृ दोनो मे ही इस मन्त्र को समावर्तनके अन्तर्गत रथ

---

१ वा सं १२।१६ त सं ७।१।१२।१ श्री स श्र १।६ म स० ३।१२।४ श ब्रा १३।१।६।२ का श्री २०।२।६ आप श्री २०।५।६।

२ वा स ८।५१ श ब्रा ४।६।६।८ ऐ ब्रा ५।२२।१ का श्री १२।७।१ आप श्रौ० २१।६।१३ ला श्री ३।८।१२ जै ब्रा ४।३४।

३ गो गृ० २।४।१ (म ब्रा १।३।१४)—इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्तिरिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिरिह रमो मयि रमस्व ॥

४ हि गृ १।१२।२—इह धृतिरिह विधृतिरिह रमो रमताम् ॥ आग्नि गृ १।४।१।

मयि धृतिं मयि विधृतिं मयि स्वधृतिं मयि रन्तिं मयि रमतिं मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु ॥ [२४७]

इस मन्त्र मे उपरिलिखित मा० गृ० के द्वितीय और तृतीय मन्त्रो का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। विश्वकर्मा अखिल विश्व का स्रष्टा है, इसलिये सम्भवतया जल के साथ भी उसका सम्बन्ध यहाँ स्वीकार किया गया है।

मा० गृ० १।१३।१६ के अनुसार जलाशय पार करते समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए तीन बार आचमन करना चाहिये —

अमृत वा आस्ये जुहोम्यायु प्राणेऽप्यमृत ब्रह्मणा सह मृत्युम् तरति।
आसहादिति रिष्टिरिति मुक्तिरिति मुक्षीयमाण सर्वं भय नुदस्व स्वाहा ॥
[२३८]

मैं (अपने) मुख मे अमृत की आहुति देता हूँ, प्राण में भी आयु और अमृत की आहुति देता हूँ, (मनुष्य) ब्रह्म-(विद्या) के द्वारा मृत्यु को पार करता है। शक्ति, रोग, मुक्ति, मुक्त किया जाता हुआ तू सारे भय को दूर कर ॥

परन्तु वा० गृ० १५।११ मे भी इसी मन्त्र को इस प्रकार तीन भागो मे विभाजित किया गया है —

अमृतमास्ये जुहोम्यायु प्राणे प्रतिदधामि ॥ [२३९]
अमृत ब्रह्मणा सह मृत्यु तरेम ॥ [२४०]
आसहादितीष्टिरस्यदितिरेव मृत्युन्धयम् ॥ [२४१]

यह रूप अधिक स्पष्ट है। सम्भवतया तीन बार आचमन को ध्यान मे रखते हुए ही इस मन्त्र का यह तीन भागों में विभाजन किया गया है। 'यह मन्त्र केवलमात्र मानव शाखा में है' ऐसा निर्णय करते हुए किसी प्रकार डा० पिल्ले का ध्यान वाराह के इस प्रयोग की ओर नही गया।[1] तथापि पूर्ववर्ती साहित्य मे यह अप्राप्य है।

यदि रथ भग्न हो जाये

यदि यात्रा के मध्य रथ भग्न हो जाये तो होम करके रथ की मरम्मत की जानी चाहिये। यह भी विधान है कि इस अवसर पर वैवाह्य अग्नि का पुनराधान किया जाना चाहिये। वधू वर का स्पर्श करती है और वह आहुति अर्पित करता है। इन आहुतियो के साथ उच्चारणार्थ विभिन्न गृह्यसूत्रो मे विभिन्न मन्त्र दिये गये हैं।

---

१ नांन ऋ० मन्त्रज इन मैरिज, पृष्ठ २६७, स० २९९

उप सृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् ।
रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥ [२५८]

मैंने बछड़े को अपनी माता के पास जाने के लिये छोड़ दिया है। माता का स्तन्य-पान करता हुआ यह बछड़ा हमारे लिये धन की पुष्टि धारण करे। ओ ब

यह मन्त्र भी उपर्युक्त मन्त्र (स २४६) के विवेचन मे उद्धृत पूर्ववर्ती साहित्य के द्वितीय वर्ग के सभी ग्रन्थो मे उसके साथ ही प्रयुक्त किया गया है। स्वाभाविक रूप से इससे सम्बद्ध कर्म भी उन स्थलो पर सद्योत्थान ही है। जिस प्रकार गृह्यसूत्रो मे पूर्वनिर्दिष्ट इह रति आदि मन्त्र का विविध प्रयोग हुआ है उस प्रकार इसका नहीं हुआ। तथापि पा गृ० (३।४।७ ६।४) मे उसी के समान इसका भी अन्य दोनो कर्मों मे विनियोग किया गया है। शा गृ० ३।११।४ मे भी वृषोत्सर्ग के अन्तर्गत पूर्वोक्त मन्त्र के साथ साथ इसका विनियोग हुआ है। वहाँ केवल उपसृजन् के स्थान पर उपसृजन् एक मात्र पाठान्तर है। वस्तुत उपसृजम् भ्रान्तिजनित पाठ प्रतीत होता है क्योंकि दोनो प्रकार से सन्धियुक्त पाठ उपसृजन्धरुणम् ही होगा।[1]

शां गृ० (१।१५।१) मे रथ के नवयोग के समय निम्नलिखित ऋ ३।५३।१९ के उच्चारण का विधान है —

अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।
अक्ष वीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो न ॥ [२५९]

हे इन्द्र खदिर की सार (भूत आणि) को उपयुक्त स्थानों पर स्थापित कीजिये (रथ के) गमन के समय शिंशपा (की लकड़ी द्वारा निर्मित रथ के फलक) मे शक्ति या दृढता स्थापित कीजिए। हे दृढीकृत अक्ष हमें दृढ बनाओ, इस गतिशील रथ से हमें न गिराना।

अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त कर्म मे इस मन्त्र के विनियोग का औचित्य असदिग्ध है क्योंकि इसमे अक्ष को सम्बोधन किया गया है।

रथ का नवयोग हो जाने पर वर और वधू उस पर चढते हैं। पा गृ के अनुसार रथारोहण की क्रिया के साथ वा सं २ ।१ और १२।११ मन्त्रो का उच्चारण किया जाना चाहिये। इसमे से प्रथम (प्रति क्षत्र इत्यादि) का विवेचन चतुर्दश अध्याय मे प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत किया जायेगा क्योंकि अधिकाश गृह्यसूत्रो मे उसी कम में उसका विनियोग किया गया है(दे मन्त्र स १ १९)। द्वितीय मन्त्र

---

१ पा ८।३।२३ मोऽनुस्वार ॥ और पा० ८।४।५८ अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण ॥

से सम्बद्ध किया गया है। हि० गृ० के अनुसार जिस रथ पर स्नातक गाव को जाता है, उस पर आरोहण करते हुए उसे इसका उच्चारण करना चाहिए। आग्नि० गृ० के अनुसार इसका उच्चारण उस स्थिति मे किया जाना चाहिये यदि रथ चलते हुए शब्द करे। मा० गृ० (१।१।२२) और वा० गृ० (५।३७) ने मं० स० के पाठ का अनुसरण करते हुए उपनयन के अन्तर्गत सन्ध्या के समय अग्नि का उपस्थान करने के पश्चात् छात्र द्वारा अपने हृदय देश, स्कन्ध अथवा ग्रीवा का स्पर्श करने की क्रिया मे इसका विनियोग किया है।

इसके पश्चात् इस मन्त्र का सर्वाधिक प्रयोग वृषोत्सर्ग कर्म मे गौओं के मध्य प्रज्वलित अग्नि मे आज्याहुति डालने के लिये किया गया है। इस प्रसङ्ग मे शा० गृ० ३।११।४ मे मन्त्र को निम्नलिखित दो भागो मे विभाजित किया गया है —

इह रतिरिह रमध्व स्वाहा ॥ इह धृतिरिह स्वधृति स्वाहा ॥

पा० गृ० ३।६।४ ने इसे और भी अधिक चार भागो मे विभाजित किया है

इह रति ॥ इह रमध्वम् ॥ इह धृति ॥ इह स्वधृति ॥

का० गृ० ५६।३ मे इसके अधिकाधिक सम्भव भेद दस वाक्याशो के रूप मे प्रकट होते हैं, और दस आहुतियो मे उनका विनियोग किया गया है —

इह रडि स्वाहा ॥ इह रति स्वाहा ॥ इह धृति स्वाहा ॥ इह विधृति स्वाहा ॥ इह स्वधृति स्वाहा ॥ इह रन्ति स्वाहा ॥ इह रम स्वाहा ॥ इह रमता स्वाहा ॥ अग्ने वेट् ॥ स्वाहा वेट् ॥ [२४८-२५७]

पा० गृ० मे एक अन्य स्थल (३।४।७) पर नव-गृह प्रवेश के तत्काल पश्चात् आज्याहुति के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। आप० गृ० ७।१६।६ (म० पा० २।१८।६, ७) के अनुसार प्रत्यवरोहण कर्म के अन्तर्गत तृणास्तरण पर शयन के समय उच्चारणीय मन्त्रों मे इह धृतिरिह स्वधृति इह रन्तिरिह रमति का समावेश भी किया जाना चाहिये।

इस मन्त्र के इन विविध विनियोगो का आधार इसकी सामान्य विनियोगार्हता ही है। इसमें इह (यहाँ) शब्द द्वारा निर्दिष्ट स्थान अथवा पदार्थ मे से प्राप्त होने वाले आनन्द और स्थैर्य के लिये प्रार्थना है।

रथ-भग्न होने पर द्वितीय आहुति के लिये पा० गृ० १।१०।१ मे अधोलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है —

खोलता है —

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनी वसून्यश्विना हृत्सु कामाँ अयंसत।
अभूत गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्याँ अशीमहि ॥ [२६१]

हे अन्नरूपी धन वाले जल के स्वामी साथ साथ रहने वाले अश्विनो आप दोनों की शोभनबुद्धि हमें प्राप्त हो। हमारे हृदया में अभिलाषायें नियन्त्रित रहें। आप मेरे रक्षक हो जायें। प्रिय (होती हुई) हम पति का घर प्राप्त कर लें। सा

अथर्ववेद मे यह मन्त्र विवाह सूक्त (१४।२।५) का अग है। सम्भवत यही इसके गृह्यविनियोग का स्रोत है। मन्त्र अश्विन् देवो (अश्वो के स्वामी) को सम्बोधित है। प्राय इनकी स्तुति दिव्य रक्षको के रूप मे भी की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का आधार अश्विन् देवो का अश्वों से सम्बन्ध ही है।

वाम पार्श्व के पशु को खोलने के लिये विनियुक्त मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है[1]—

अय नो देवस्सविता बृहस्पति इन्द्राग्नी मित्रावरुणा स्वस्तये।
त्वष्टा विष्णु प्रजया सरराण काम आयात कामाय त्वा विमुञ्चतु ॥
[२६२]

यह सविता देव बृहस्पति इन्द्र और अग्नि मित्र और वरुण त्वष्टा विष्णु सन्तान से समृद्ध कामना (इस रथ में) आये हुए तुम्हें हमारे कल्याणाय हमारी कामना (की पूर्ति) के लिये मुक्त कर दें।

इस कर्म मे इस मन्त्र का विनियोग करते हुए आपस्तम्ब ने विमुञ्चतु शब्द पर बल दिया है। इस मन्त्र का ठीक स्रोत ज्ञात नही है। इस का तृतीय पाद समान भाव वाले एक अन्य यजुर्वेदीय मन्त्र के तृतीय पाद जैसा है।

---

१ मॉन्त्र मन्त्रक (पृष्ठ २७१ स १ ८) में डा विन्टर्नित्से ने इसे प्रथम मन्त्र के रूप में उद्धत किया है जब कि मं पा के क्रम के अनुसार (ऊपर) यह द्वितीय मन्त्र है।

२ का० स ८।१७ त सं १।४।४४।१ मै० स १।३।३८ का० स ४।१२ १३।९ का श्रौ० १।८।१२ आप० श्रौ १३।१८।४, बौ श्रौ ८।१ मा श्रौ० २।५।४।१६।

अधोलिखित है —

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलि ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ [२६०]

हे रथ ! मैं तुम्हे अन्दर लाया हू, तुम स्थिर हो गये हो । तुम अविचल ठहरो । सभी प्रजा तुम्हारी अभिलाषा करे, तुमसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो।

यजुर्वेदीय ग्रन्थो में वेदी चयन के अवसर पर आसन्दी पर रखे जाने से पूर्व उखा को हाथ में लेने के लिये इस मन्त्र का प्रयोग किया गया है।[1] उपर्युक्त प्रसङ्ग में मन्त्र का विनियोग दूराकृष्ट-सा प्रतीत होता है क्योंकि उस दशा में उव्वट और महीधर के अनुसार विश का अर्थ अन्न और राष्ट्रम् का अर्थ यश करना होगा।[2] ऋ० और अथर्व०में उचित रूप मे मन्त्र राजा के प्रति सम्बोधित किया गया है और तदनुसार विश का सीधा अर्थ प्रजा और राष्ट्रम् का राज्य प्रसगानुकूल बैठता है।[3] पारस्कर ने राजा के रथारोहण प्रसङ्ग में भी इस मन्त्र का विनियोग किया है और यह विनियोग पूर्ण रूप से अर्थानुकूल है। गो० गृ० २।४।४ में रथारोहण से पूर्व वामदेव्य साम के गायन का विधान है। शा० गृ० १।१५।१२ के अनुसार ऋ० ५।५१।११-१५ के पाँच स्वस्ति मन्त्रो का उच्चारण ठीक किए गये रथ पर वधू के आरोहण से पूर्व किया जाना चाहिये। इन सभी मन्त्रो मे सामान्य कल्याण की प्रार्थना की गई है। आ० श्रौ० ८।१।२३ में भी वैश्वदेव यज्ञ के षष्ठ दिवस के माध्यन्दिन सवन मे ये मन्त्र विनियुक्त हैं।

गृह-प्रवेश पशुओं का खोला जाना

गृहप्रवेश से पूर्व वर रथ मे जुते हुऐ दोनो पशुओ को बन्धनमुक्त करता है।[4] पहले वह ऋ० १०।४०।१२ का उच्चारण करते हुए दक्षिण पार्श्व के पशु को

---

१ तै० स० ४।२।१।४ (अन्तिम पाद—अस्मिन् राष्ट्रमधिश्रय), मै० स० २।७।८ (अविचाचलि के स्थान पर अविचाचलत्, अन्तिम पाद—अस्मे राष्ट्राणि धारय), का० स० १६।८ (अविचाचलत्, अन्तिम पाद— अस्मे राष्ट्रमधिश्रय) श० ब्रा० ६।७।३।७, तै० ब्रा० २।४।२।८, का० श्रौ० १६।५।१६, आप० श्रौ० १६।१०।१४, मा० श्रौ० ६।१।४।१३ ।

२ वा० स० १२।११ पर उव्वट और महीधर भाष्य मे यह अर्थ श०ब्रा० को प्रमाण मानकर दिये गये हैं। परन्तु वहाँ भी उन अर्थों का आधार नहीं प्रतीत होता।

३. ऋ० १०।१७३।१ (प्रथम पंक्ति—अभूः के स्थान पर एधि । अथर्व० ६।८७।१ (अविचाचलि के स्थान पर अविचाचलत्) ।

४ आप० गृ० २।६।७ (म० पा० १।७।११,१२) ।

का० गृ (२७।३) के अनुसार अपना नया घर देखने पर वधू को निम्न लिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

ऊर्ज बिभ्रती वसुवनि सुमेधा गृहानागा मोदमाना सुवर्चा ।
अघोरेण चक्षुषाहं मत्रेण गृहाणां पश्यन्ती वय उत्तिरामि ॥
गृहाणामायु प्र वय तिराम गृहा अस्माक प्र तिर त्वायु ॥ [२६४]

अन्न को धारण तथा उसका पोषण करती हुई धन दान करती हुई प्रसन्न होती हुई सुन्दर सुबुद्धि दीप्ति युक्त मै घर पर आ गई हूँ। सौम्य तथा हितपी दृष्टि से घर को देखती हुई मैं (परिजनों को)धन दान देती हूँ। हम घर की आयु (उपलेपादि के द्वारा)बढायें घर अर्थात् घर की अधिष्ठात्री देवता हमारी आयु बढाये। दे पा

इस मन्त्र और पूर्व मन्त्र के अघोरेण चक्षुषा मत्रेण शब्द समान हैं। तृतीय पंक्ति केवल अथर्व और का स मे विद्यमान है।[1] प्रथम मन्त्र की पूर्ण समानता केवल प्रथम पाद से है। उसके पश्चात् निम्नलिखित पाठ है —

अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानपि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥

इन शब्दो का भाव भी लगभग उपरिलिखित मन्त्र जैसा है। वा०स ३।४१ का निम्नलिखित पाठ इससे भी कम समान है —

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज बिभ्रत एमसि ऊर्ज बिभ्रद् सुमना सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमान ॥

का श्री आप श्री और कुछ गृह्यसूत्रो मे नगण्य परिवर्तनो सहित वा० स का यही पाठ अपनाया गया है।[2] आप० श्रौ० को छोडकर अन्य सभी ग्रन्थो के अनुसार प्रवास से लौटकर गृहस्थ को इसका उच्चारण करना चाहिये। आ श्रौ० (४।२७।१) के निर्देशानुसार अग्न्याधान के स्थान से घर लौट कर अग्निहोत्री को इसका उच्चारण करना चाहिये। इस श्रौतसूत्र मे एक अन्य स्थान पर (१६।१६।४) मन्त्र का जो पाठ दिया गया है वह का गृ के पाठ के बहुत समान है। इस स्थान पर अग्निचिति कर्म मे राक्षसो का अपसारण करके जब यजमान अपने घर लौटता है

---

१ अथर्व० ७।६।१ का स ३८।११ (बिभ्रती के स्थान पर बिभ्रद् गृहानागाम् के स्थान पर गृहाणाम् मैत्रेण के स्थान पर शिवेन)।

२ का श्री ४।१२।२२ शां गृ ३।७।२ हि गृ १।२८।१ मा गृ १।२७ कौ गृ ३।४।५—बिभीत से आगे मा मे बिभ्यतोर्जं बिभ्यतैपमूर्जं वसुमना सुवर्चा पाठ है।

यजुर्वेदीय ग्रन्थोमे पशुयज्ञ के अन्त मे नौ समिष्टयजु आहुतियो मे से प्रथम के अर्पण के माथ इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

वधू को गृह-प्रदर्शन

आप० गृ० २।६।६ (म० पा० १।७।१०) के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १४।२।१२) का उच्चारण करते हुए वर वधू को अपना घर दिखाता है —

सकाशयामि वहतु ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मैत्रेण।
पर्याणद्ध विश्वरूप यदस्या स्योन पतिभ्य सविता कृणोतु तत्॥ [२६३]

ब्रह्म और मित्रतापूर्ण तथा भयहीन दृष्टि के द्वारा मैं अपने घर के माथ साथ वधू के पितृकुल से प्राप्त धन को दिखाता हूँ। इस (वधू) द्वारा धारण किया गया जो विश्वरूप नामक आभूषण है, मविता देव उसे मुझ पति के लिये सुखद बनाये। —ह० मि०

यह मन्त्र न तो घर को सम्बोधित है और न ही वधू को, वस्तुत इसमे वहतु (रथ)[1] को प्रधान रूप से प्रदर्शित करने की बात कही गई है। अत यह प्रसङ्गानुकूल नही प्रतीत होता। यहाँ तक कि भाष्यकार हरदत्त मिश्र ने भी इस मन्त्र को उपर्युक्त प्रसङ्ग से जोडने में कठिनाई अनुभव की है। उसके शब्दो मे—"इस मन्त्र को इस प्रसङ्ग से जैसे तैसे सम्बद्ध करना चाहिये।"[2] कौशिक० (७७।१४) मे वधू की डोली वर-गृह के निकट पहुँचने पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। एक अन्य स्थान पर कौशिक० और का० गृ० में निर्देश है कि वधू की यात्रा के मध्य यदि कोई नवोढा मिले तो इम मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[3] इन विनियोगो मे प्रमुख रूप से रथ ही सम्बोध्य पदार्थ है, अत वे अर्थसङ्गत हैं।

---

१ ह०मि० ने वहतु का अर्थ पितृगृह से प्राप्त धनादि अर्थात् दहेज किया है। परन्तु अन्य विद्वानों द्वारा इसका अर्थ यान भी किया गया है—वह (वहन करना) से—जो वहन करता है। कौशिक० और का०गृ० के विनियोग भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। सजे हुए घर के साथ साथ वर उस सजे हुए यान को भी दिखाना चाहता है जिसने उसकी नवोढा पत्नी का वहन किया है।

२ दे० आप० गृ० २।६।६ पर अनाकुला — मन्त्रश्चास्मिन्नर्थे यथाकथञ्चिद् योजनीय।

३ कौशिक० ७७।४, का० गृ० २६।६ (सकाशयामि के स्थान पर मकाशय, वहतुम् के स्थान पर विवहतम् और अस्याम् के स्थान पर अस्या)।

ऊर्जस्वन्त पयस्वन्त इरावन्तो हसामुदा ।
अनश्या अतृष्या गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ [२६८]

शक्तिसे युक्त दुग्ध समृद्ध अन्नयुक्त हास्य प्रमोद से परिपूर्ण अनश्वर तथा पिपासा रहित घर ! तू हमसे न डर।

शा गृ० मे शाला निर्माण कर्म मे (३।३।१) तथा प्रवास से लौटकर उच्चारण के लिए (३।७।२) केवल द्वितीय मन्त्र उद्धृत किया गया है।

इन सभी मन्त्रो मे घर की प्रार्थना का विषय है अत श्रौतसूत्रो तथा गृह्य सूत्रो मे जिन कर्मो मे ये विनियुक्त हुए हैं मूल रूप मे इनकी रचना उनके उद्देश्य से ही की गई प्रतीत होती है।

मा० गृ १।१४।५ के अनुसार जसे ही वर नव-वधू के साथ अपने घर के पास पहुँचता है वसे ही उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

येष्वध्येति प्रवसन्येषु सौमनस महत् ।
तेनोपह्वयामहे ते नो जानन्त्वागतम् ॥ [२६९]

प्रवासी जिसमे लौटकर आता है, जिसमे महान् सौहार्द है उस कारण हम (घर को) सम्बोधित करते है वह हमारे आगमन को जान ले।

स्वल्प पाठभेद सहित यह मन्त्र कुछ अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे भी विद्यमान है।[1] प्रमुख भेद येषु के स्थान पर येषाम् सौमनस महत् के स्थान पर सौमनसो बहु तेन के स्थान पर गृहान् जानन्तु के स्थान पर ऐजत या जानत है। यहाँ यह कहना होगा कि गृह्य पाठ अधिक सगत और प्रसङ्गानुकूल है। केवल तृतीय पाद मे पूर्ण छन्द प्राप्त करने के लिये तेन उपह्वयामहे सन्धि विच्छेद करना पडेगा। परन्तु अन्य गृह्यसूत्रो मे इसका पाठ संहिता-पाठ के अधिक निकट है।[2] हि गृ० मे प्रथम येषु के स्थान पर एषाम् और द्वितीय के स्थान पर एति पाठ है। संहिता पाठ से भिन्न का० गृ० मे प्रथम पाद येषां मध्येऽधिप्रवसन् है। इन सभी संहिताओ श्रौत सूत्रो तथा गृह्यसूत्रो में इस मन्त्र का विनियोग अपने अपने उन्ही प्रसङ्गो मे किया गया है जिनमे उपरिलिखित तीन मन्त्रो का हुआ है। यह विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता नही कि उन मन्त्रो के समान इस मन्त्र मे भी घर को ही सम्बोधित किया गया है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्रसङ्गो मे विनियोग हेतु इसकी भी रचना की गई थी।

---

१ अथव ७।६।१ वा स ३।४२ आप श्रौ० ६।२७।३ का श्रौ० ३।३।१।
२ हि गृ १।२९।१ शा गृ ३।७।२ का गृ २७।३ कौशिक २४।११ मा० गृ० १।२७।

उस समय वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है। आ०श्रौ० २।५।१४ मे भी प्रवास मे घर लौटने पर गृहस्थ द्वारा उच्चारण के निमित्त इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। कौशिक० २४।११ मे भी मन्त्र का समान प्रयोग है। इन सभी श्रौत और गृह्य विनियोगों में एक बात अर्थात् घर को लौटना सर्व-सामान्य है। मन्त्र तो घर के प्रति सम्बोधित है ही।

का० गृ० २७।३ मे अपने नये घर को देखते हुए वधू द्वारा उच्चारणार्थ अथर्व० (७।६०।६, ५, ४) के निम्नलिखित तीन मन्त्र उद्धृत किये गये हैं —

सूनृतावन्त स्वधावन्त इरावन्तो ह सामदा ।
अक्षुध्या अतृष्या गृहा मास्मद्बिभेतन ॥ [२६५]
उपहूता इह गाव उपहूता अजावय ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु मे ॥ [२६६]
उपहूता भूरिधना सखाय साधुसमदा ।
अरिष्टा सर्वपुरुषा गृहा न सन्तु सर्वदा ॥ [२६७]

हे घर, तू सत्यवचन-युक्त, पितृयज्ञ-युक्त, अन्नयुक्त, शान्तिदायक, क्षुधारहित तथा पिपासारहित हो जा और हम से नहीं डर ॥ मैंने अपने घर में गौओ, बकरियो भेडो को निमन्त्रित किया है। और मैंने अन्नसम्बन्धी रस को भी निमन्त्रित किया है ॥ उसी प्रकार मैंने बहुत धनवान् सहायक (मित्रो) को निमन्त्रित किया है। वे ठीक कार्य करके सर्वदा हर्षयुक्त हो। हमारा घर भी सदा क्षति-रहित और सभी (स्वस्थ) पुरुषो से युक्त हो ॥
दे० पा०

जहाँ तक मन्त्रो के अथर्ववेदीय पाठ का सम्बन्ध है, प्रथम मन्त्र मे स्वधावन्त और ह सामदा के स्थान पर क्रमश सुभगा और हसामुदा पाठ है। उत्तरार्ध के प्रथम दो शब्दो का क्रम विपरीत है, गृहा से पूर्व स्त पाठ है और बिभेतन के स्थान पर बिभीतन पाठ है। द्वितीय मन्त्र समान है। तृतीय मन्त्र के पूर्वार्ध का अन्तिम शब्द अथर्व० मे स्वादुसम्मुदा है। और उत्तरार्ध के रूप मे प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध की पुनरावृत्ति हुई है। इस स्थिति मे उपरिलिखित तृतीय मन्त्र के उत्तरार्ध का स्रोत आप० श्रौ० ६।२७।३ प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्र आप० श्रौ० के अतिरिक्त वा० स० ३।४३ और ला० श्रौ० ३।३।१ मे भी विद्यमान है।

हि० गृ० १।२९।१ में भी ये तीनों मन्त्र विनियुक्त हुए हैं परन्तु इसके अनुसार इनका उच्चारण वधू नही, अपितु प्रवास से लौटकर गृहस्थ करता है। यहाँ द्वितीय और तृतीय मन्त्रो का पाठ तत्सम है, प्रथम मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है —

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ मा० गृ० में दिया गया है। डा० रघुवीर ने स्व-सम्पादित वा० गृ० में मन्त्र का संशोधित रूप दिया है जिसके अनुसार घोर हि के स्थान पर अघोरघ्नी घृतमुक्षमाणा के स्थान पर घृतमुक्षमाणाद् और सवसाम के स्थान पर संविशामि पाठ है। बौ० गृ० और मं० पा० में अहम् के स्थान पर महान् घोर हि के स्थान पर अघोरं० । सुमेधा के स्थान पर सुवीराम् बहन्ती के स्थान पर वहत और सवसाम० के स्थान पर संविशामि पाठ है। यह पाठ अधिक अच्छा है—केवल उक्षमाणा (प्र० बहु०) यहाँ भी बहुत स्पष्ट नहीं है। आप० गृ० २।६।८ (मं० पा० १।८।२) के अनुसार जब वधू गृह प्रवेश करने लगे तब वर को उससे इस मन्त्र का उच्चारण करवाना चाहिये। का० गृ० २७।३ में वधू द्वारा पति-गृह देखने पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[1] इसमें घोर हि वीरवत् के स्थान पर अघोरघ्नी वीरवति पाठ है। यद्यपि उत्तरार्ध प्रायः बौ० गृ० के समान है तथापि उक्षमाणान् (द्वि० बहु० गृहान् का वि०) पाठ के द्वारा इसमें सुधार हो गया है। हि० गृ० १।२६।४ और शां० गृ० ३।५।३ में यह मन्त्र विवाह-क्रम के अन्तर्गत न होकर प्रवास से लौटने पर गृह प्रवेश संस्कार के अन्तर्गत है। हि० गृ० के अनुसार ग्राम में प्रवेश करते हुए गृहस्थ को इसका उच्चारण करना चाहिए। इस गृह्य में अघोरघ्न (पूर्ववर्ती अपद के एकार के पूर्वरूप के बिना) मा० गृ० के वीरवत् के स्थान पर वीरतम सुमेधा के स्थान पर सुमेधाम् वहन्ती के स्थान पर वहन्त घृतमुक्षमाणा के स्थान पर सुमनस्यमाना और सवसाम के स्थान पर संविशामि पाठ है। इस प्रकार अन्तिम पाद को छोड़कर मन्त्र का छन्द त्रिष्टुभ् हो गया है। अन्तिम पाद में भी यदि तेषु अहम् सन्धि विच्छेद करके पढ़ा जाए तो त्रिष्टुभ के ग्यारह अक्षर हो जाते हैं। यह पाठ सर्वोत्तम कहा जा सकता है क्योंकि इसमें कोई अर्थ सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। शां० गृ० का पाठ मं० पा० के बहुत निकट है। केवल मान पाठभेद अघोरघ्नी वीरवत् के स्थान पर अघोरघ्न वीरतर० वहत के स्थान पर वहन्त तेषु के स्थान पर अन्येषु और संविशामि के स्थान पर संविशेयम् है। ओल्डन बर्ग के अनुसार यहाँ अन्येषु पाठ प्रमादवश है।[3] परन्तु सम्भवतया इसस घर के अन्य सदस्य अभिप्रेत हैं और तदनुसार यह पाठ भी शुद्ध माना जाना चाहिए।

---

१ डा० रघुवीर सम्पादित का० गृ० पृ० ४२ पा० टि० १२।

२ परन्तु दे० पा० —वीरघ्नी गत्यर्थोऽत्र हन्ति पुंशाणां प्रापिका लम्भिका। ऐसा प्रतीत होता है कि दे० पा० ने प्रमादवश वीरघ्नी पाठ दिया है।

३ से० बु० ई० ख० २९ पृ० ९९।

४ नीम न्द० मन्त्रज इन सरिज स० ३२ पृ० २७१।

गृह-प्रवेश

आ० गृ० १।८।८, शा० गृ० १।१५।२२ और कौशिक० ७७।२० का विधान है कि जब वर-वधू गृहप्रवेश करें तो वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1] —

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथ ॥ [२७०]

हे वधू, इस मेरे घर में भावी सन्तति के साथ तुम्हारा प्रेम बढ़े। इस मेरे घर मे गृहस्वामिनी बनने के लिये तुम यत्नशील हो। इस (मुझ) पति के साथ अपना शरीर संयुक्त करो, (और इस प्रकार यौवन बिता कर) फिर वृद्ध हो कर हम दोनो यज्ञ के विषय मे अर्थात् श्रौतस्मार्त कर्मों के विषय में उपदेश देंगे। ह० मि०

आप० गृ० २।६।११ (म० पा० १।९।४) के अनुसार गृह-प्रवेश के पश्चात् वधू की गोद मे बालक के बिठाए जाने पर वर इस मन्त्र का जाप करता है। जै० गृ० २२।१९ के अनुसार वधू के वर-गृह पर पहुँचने पर जब कोई वृद्धा उसे यान से उतारती है, उस समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। क्योंकि यह मन्त्र ऋ० और अथर्व० के विवाह सूक्तों का अंग है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप से इसकी रचना गृह्य विनियोग के निमित्त ही हुई थी। अथर्व० मन्त्र के पाठ मे भेद है। प्रजया के स्थान पर प्रजायै, संसृजस्व के स्थान पर संस्पृशस्व पाठ है और उसके पश्चात् अथ जिर्विर्विदथमावदासि है। अन्तिम शब्द आवदासि जै० गृ० मे भी स्वीकार किया गया है। क्योंकि यहाँ यह एक व्यक्ति—वधू को सम्बोधित किया जाता है अतः एकवचनान्त आवदासि पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

मा० गृ० १।१४।६, वा० गृ० १५।१७ और बौ० गृ० १।५।७ मे विधान है कि पति-गृह-प्रवेश के अवसर पर वधू को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।

गृहानहं सुमनसः प्रपद्ये वीरं हि वीरवतः सुशेवा।
इरां वहन्तो घृतमुक्षमाणास्तेष्वहं सुमनाः संवसाम ॥ [२७१]

शोभन सुखवाली मैं वीरों से युक्त, शोभन मन वाले घर मे प्रवेश करती हूँ। (मैं भी) वीर पुत्र को (प्राप्त करूँ)। अन्न वहन करती हुई, शोभन मन वाली मैं और घी की धारा प्रवाहित करते हुए हम (सब गृहस्थ) इस घर मे रहें।

---

[1] ऋ० १०।८५।२७, अथर्व० १४।१।२१, लि० ३।२१।

उच्चारण करते हुए वधू को ऋषभचर्म पर बिठाया जाता है। ब० गृ ३।५ और आग्नि गृ १।४।५ का निर्देश है कि चर्म पर बैठता हुआ वर इसका उच्चारण करता है —

इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणो ऽपि पूषा निषीदतु ॥ [२७४]

यहाँ (इस घर में) गौएँ बैठें यहाँ घोड़े और यहीं पुरुष बैठें। और सहस्र दक्षिणाओं वाला पूषा भी यहीं बैठे।

मन्त्र का यह पाठ हि० गृ के अनुसार है। का गृ में अपि के स्थान पर यज्ञ इह आग्नि गृ० में अपि के स्थान पर अपि और जै गृ तथा भा गृ में अपि के स्थान पर अभि पाठ है। इस प्रकार से इन सभी गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पाठ अधिकांशतः समान है। अन्य सूत्रों में अथर्व २०।१२७।१२ के पाठ का अनुसरण किया गया है। तदनुसार पूर्वार्द्ध में निषीदन्तु के स्थान पर प्रजायध्वम् पाठ है। कुछेक गृह्यसूत्रों में उत्तरार्ध में अपि पूषा के स्थान पर रायस्पोष पाठ भी है। क्योंकि गृह्यसूत्रों में मन्त्र बैठने की क्रिया से सम्बद्ध है अतः पूर्वार्ध में निषीदन्तु पाठ ही प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर-वधू इस चर्म पर बैठ रहे हैं उसी प्रकार मन्त्र में परिगणित गौएँ आदि भी इस घर में बैठें अर्थात् चिर स्थिर रहें। का गृ ८७।१३ में विवाह के पश्चात् पाकयज्ञ के एक उपहोम में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व इसका विनियोग किया गया है।

प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में से अथर्व और शां श्रौ १२।१५।१।३ में यह मन्त्र पृष्ठ्य के षष्ठ दिवस में प्रयुक्त कुन्ताप सूक्तों में समाविष्ट है (वे वतान ६।२)। का स आप श्रौ और ला श्रौ में इसका विनियोग वृषदाक्ष्य प्रायश्चित्त में किया गया है। ऐ ब्रा ८।११ में राजसूय यज्ञ के अन्त में यह पशुओं अश्वों और वीरों की प्रार्थना के रूप में आया है।

इस मन्त्र का अर्थ और ऋषभचर्म पर बैठने के कर्म में इसके विनियोग से यह प्रकट होता है कि यह कर्म पशु धन की समृद्धि की अभिलाषा का प्रतीक था।

आहुतियाँ

मा गृ १।८।६ में विधान है कि ऋषभचर्म पर वर-वधू के बैठने के पश्चात् वर को ऋ १०।८५।४३-४६ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार

---

१ बौ गृ १।५।५२ गो गृ २।४।६ (मं ब्रा १।३।१३) पा गृ १।८।१०।
२ का स ३५।३, आप श्रौ ६।१७।१ ला श्रौ ३।३।२।

श्रौत साहित्य मे से आप० श्रौ० १६।१६।४ मे विधान है कि अग्नि-चिति कर्म के अन्तर्गत जब यजमान इष्टकाधान करके अपने घर लौटता है, उस समय वह अन्य मन्त्रो के साथ-साथ इसका भी उच्चारण करता है। आ० श्रौ० २।५।७ मे आहिताग्नि अथवा अनाहिताग्नि द्वारा गृह-प्रवेश के समय इसके उच्चारण का विधान है। क्योकि मन्त्र मे स्वय गृह-प्रवेश का निर्देश है अत इसकी मूल रचना भी उसी कर्म के निमित्त की गई प्रतीत होती है।

ऋषभ-चर्मास्तरण

नव दम्पती के गृह-प्रवेश के उपरान्त पूर्वाभिमुख ग्रीवा वाला ऋषभ-चर्म भूमि पर बिछाया जाता है। आप० गृ० २।६।८ (म० पा० १।८।१) ने इस अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र[1] के उच्चारण का विधान किया है —

शर्म वर्मेदमा भरास्यै नार्या उपस्तिरे।
सिनीवालि प्रजायतामियं भगस्य सुमतावसत् ॥ [२७२]

हे सिनीवाली, इस स्त्री के बिछौने मे यह शरण और सुरक्षा प्रदान कीजिये। यह सन्तानवती हो जाए और भग की सुबुद्धि मे रहे।

कौशिक० ७८।१ मे यह मन्त्र ऋषभचर्म लाने वाले व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है। चर्म बिछाने के लिये अगले ही सूत्र मे एक अन्य मन्त्र का भी प्रयोग किया गया है।[2] मन्त्र का उपस्तिरे शब्द बिछाने की क्रिया का द्योतक है और मन्त्र समृद्धि और सन्तान की प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त यह मन्त्र अथर्व० के विवाह सूक्त का अग है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कर्म मे विनियोग के लिये ही इस मन्त्र की रचना हुई थी।

ऋषभचर्म पर बैठना

कुछ गृह्यसूत्रो मे ऋषभचर्म पर नवदम्पती के बैठने के अवसर पर उच्चारणार्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है।[3] अन्य सूत्रो के अनुसार इसका

---

१ अथर्व० १४।२।२१ इदम् के स्थान पर एतद्, भर के स्थान पर हर। उत्तरार्ध मे इयम् नही है, अतएव पूर्ण अनुष्टुभ् बनता है।

२ अथर्व० १४।२।२२

य बल्वजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ [२७३]

३ आप गृ० २।६।१० (म० पा० १।६।१), मा० गृ० १।११८, जै० गृ० २२।२, हि०गृ० १।२२।६।

पूर्ण पात्र रखता है और वा न प्रजापु आदि मन्त्र का पाठ करता है। शा० गृ० १।१३।१ में तृतीय मन्त्र का विनियोग पाणिग्रहण कर्म के ठीक पूर्व उस समय किया गया है जब वधू का पिता अथवा भ्राता उसके सिर पर से आहुतियाँ अर्पित करते हैं। का० गृ० २५।४७ में द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का विनियोग पति गृह की ओर प्रस्थान के अवसर पर वधू के अभिमन्त्रण के लिये किया गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन सभी विविध प्रसङ्गों में ये मन्त्र वधू को सम्बोधित किए गए हैं। गृह्यसूत्रकारों ने इन मन्त्रों का प्रयोग विविध विवाह सम्बन्धी कर्मों में सम्भवतया इस लिये किया है क्योंकि वे ऋ० के विवाह सूक्त में से उद्धृत हैं और विवाह में उनकी सामान्य विनियोगार्हता है। इनमें से अन्तिम मन्त्र इसलिए भी विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे ऋग्वेद कालीन नारी की सम्मानजनक दशा पर प्रकाश पड़ता है। उसका स्थान परिवार में इतना ऊँचा था कि वह सभी सम्बन्धियों पर शासन करती थी—दासी होकर नहीं रहती थी।

जहाँ तक ऋ० के अतिरिक्त अन्य प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य में इन मन्त्रों के अस्तित्व का प्रश्न है अथर्व० में केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र पाठान्तर सहित उपलब्ध होते हैं। अथर्व १४।२।४ में प्रथम मन्त्र में न के स्थान पर वायु और मातरिश्वा के स्थान पर अहोरात्राभ्याम् पाठ है और उत्तरार्ध में तृतीय पाद के अन्त में अर्थात् पा विश के पश्चात् इमम् का समावेश किया गया है। इस मन्त्र का प्रथम पाद कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।[1] अन्तिम मन्त्र का पाठ अथर्व १४।१।४४ में इस प्रकार है —

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ [२७८]

कुल मिलाकर मन्त्र का भाव अपरिवर्तित ही है।

शा० गृ० १।१६।३ में चार आहुतियों के लिये अधोलिखित चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है —

अग्निना देवेन पृथिवीलोकेन लोकानामृग्वेदेन वेदानां तेन त्वा शमयाम्यसौ स्वाहा। [२७९]

वायुना देवेनान्तरिक्षलोकेन लोकानां यजुर्वेदेन वेदानां [२८०]

सूर्येण देवेन द्यौलोकेन लोकानां सामवेदेन वेदानां। [२८१]

चन्द्रेण देवेन दिशां लोकेन लोकानां ब्रह्मवेदेन वेदानां। [२८२]

---

१ मै० सं० २।१३।२३, का० सं० १३।१५, ४।१, आप० श्रौ० १४।२८।४, मा० श्रौ० १।६।४।२१।

आहुतियाँ प्रदान करनी चाहियें। गो० गृ० २।२।१५ (म० ब्रा० १।२।१७-२०) में पाणिग्रहण कर्म में प्रयुक्त छ मन्त्रों में से चार मन्त्रों के रूप में इनका निर्देश है। इनमें से द्वितीय मन्त्र (अघोरचक्षु इत्यादि) का विवेचन ऊपर हो चुका है। (दे० मन्त्र स० १००)। अवशिष्ट तीन मन्त्रों (ऋ० १०।८५।४३, ४५, ४६) का पाठ अधोलिखित है (दे० स० २०४,२०५) —

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ [२७५]

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥[२७६]

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥[२७७]

प्रजापति हमारी सन्तान उत्पन्न करे, अर्यमा वृद्धावस्था तक हमें संयुक्त रखे। हे वधू! कल्याणवती तुम मुझ पति के घर में प्रवेश करो, तुम हमारे मनुष्यादि के लिये और चौपायों के लिए सुखकर हो जाओ॥ हे धनवान् इन्द्र! तुम इस वधू को शोभनपुत्र वाली और शोभन धन वाली बनाओ। इस वधू में दस पुत्रों को स्थापित करो, (मुझ) पति को ग्यारहवां (पुरुष) बना दो। हे वधू! तुम अपने श्वसुर, श्वश्रू, ननद और देवरों के प्रति सम्राज्ञी अर्थात् उन पर शासन करने वाली हो जाओ। हु०मि०

आपस्तम्ब ने इन मन्त्रों का भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में प्रयोग किया है। प्रथम का विनियोग चतुर्थी कर्म में पति द्वारा अपने तथा पत्नी के हृदय-देश का आज्य द्वारा अवलेपन किये जाने पर उच्चारणार्थ किया गया है।[1] द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान मुख्य-यज्ञ में अर्पित आहुतियों में से एक के साथ किया गया है।[2] हि० गृ० १।२०।२ के अनुसार पाणिग्रहण कर्म के पश्चात् इस मन्त्र द्वारा वधू का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। आप० गृ० में तृतीय मन्त्र के उच्चारण का विधान उस समय है जब पति- गृह को प्रस्थान के अवसर पर वधू रथारोहण करती है।[3] शा० गृ० १।८।६ के अनुसार दोनों पक्षों के वैवाह्य सम्बन्ध के विषय में सहमत हो जाने पर, वर पक्ष का आचार्य वधू के सिर पर पुष्प, धान्य, यव और सुवर्ण से

---

[1] आप० गृ० ३।८।१० (म० पा० १।११।५)
[2] आप० गृ० २।५।१२ (म० पा० १।४।६)
[3] आप० गृ० २।५।२२ (म० पा० १।६।६)

वधू की गोद में बालक बिठाना

आहुतियों के पश्चात् वधू की गोद में किसी बालक का बिठाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्रिया पुत्र प्राप्ति की कामना का प्रतीक है। आपस्तम्ब और मानव ने इस क्रिया के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया है[1] —

सोमेनादित्या बलिन सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहित ॥ [२८४]

चन्द्रमा द्वारा आदित्य बलशाली है चन्द्रमा के द्वारा ही पृथ्वी विशाल है और इन नक्षत्रो की गोद म ही यह सोम स्थापित है।

यह मन्त्र ऋ (१ ।८५।२) और अथव (१४।१।२) के विवाह सूक्तो मे विद्यमान है। मा गृ मे अथो के स्थान पर असौ से बालक के नाम की ओर सीधा सकेत किया गया है। सोम का अभिप्राय यहा चन्द्रमा है। अत अप्रत्यक्ष रूप मे गृह्य विनियोग के अनुसार मन्त्र मे चन्द्रमा क गुणो सहित पुत्र की अभिलाषा व्यक्त की गई है। तथापि विवाह सूक्त मे समाविष्ट होने क कारण विवाह कम म इसकी सामान्य विनियोगार्हता है। यह भी सम्भव है कि कवल उपस्थ (गोद) के आधार पर गृह्य-सूत्रकारो ने इसका विनियोग उपयु क्त प्रसङ्ग मे किया हो।

शा गृ १।१६।८ द्वारा प्रयुक्त मन्त्र आ ते योनिम् इत्यादि (अथव ३।२३।२) का विवेचन चतुर्थीकम म करना अधिक उचित है। (दे मन्त्र स० ३५८)

आप० गृ २।६।११ (म पा १।६।३) ने विधान किया है कि वधू की गोद मे बठे इस बालक को फल प्रदान किए जान चाहिय। इस क्रिया क साथ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

प्रस्व स्थ प्रय प्रजया भुवने शोचेष्ट ॥ [२८५]

यह वधू सन्तान क द्वारा ससार मे तेजस्विनी हो।

यह मन्त्र कवल इस गृह्यसूत्र मे उपलब्ध है। सन्तान की प्राथना होन क कारण यह प्रसङ्गानुकूल भी है।

वर-वधू द्वारा साथ-साथ दधि-भक्षण

कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र (ऋ ४।३९।६) क उच्चारण क साथ वर-वधू को साथ-साथ दधि भक्षण करना चाहिए[2] —

---

१ आप गृ २।६।११ (म० पा १।६।२) मा गृ १।१४।८।
२ शां गृ १।१७।१ का गृ २८।५ बौ गृ १५।२।

अग्नि देवता के द्वारा, लोको मे से पृथिवी के द्वारा, वेदो मे से ऋग्वेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं तुम्हें शान्त करता हूँ ।। वायु देवता के द्वारा, लोको मे से अन्तरिक्ष लोक के द्वारा, वेदो मे से यजुर्वेद के द्वारा, उसके द्वारा मै ।। सूर्य देवता के द्वारा, लोको मे से द्यौ लोक के द्वारा, वेदो मे से सामवेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं ।। चन्द्रमा देवता द्वारा, लोको मे से दिशाओ के लोक द्वारा, वेदो में से अथर्ववेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं तुम्हे शान्त करता हूँ ।।

ये मन्त्र केवल शा० गृ० की सम्पत्ति हैं और इस प्रसङ्ग मे उचित प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके द्वारा यज्ञकर्ता अग्नि को सन्तुष्ट करता है ।

इसी गृह्य(१।१६।४)मे निम्नलिखित मन्त्र द्वारा एक और आहुति विहित है –

या ते पतिघ्न्यलक्ष्मी देवरघ्नी जारघ्नीं ता करोमि ।। [२८३]

तुम्हारा जो (शरीर) पतिनाशक, अशुभ,देवरनाशक है उसे मैं जारनाशक बनाता हूँ ।

बहुत से गृह्यसूत्रो में इस प्रकार के मन्त्रो का प्रयोग चतुर्थीकर्म मे किया गया है । अत उसी प्रसङ्ग मे इनका विवेचन करना उचित होगा ।[1]

आप० गृ० २।६।१० मे म० पा० (१।८।३-१५) के तेरह मन्त्रो के द्वारा तेरह आहुतियो का विधान है । वे सभी प्रसङ्गानुकूल हैं क्योकि उनमे दम्पती तथा घर और सम्पत्ति की समृद्धि की प्रार्थना है ।

का० गृ० २८।४ मे इस अवसर पर पन्द्रह आहुतियो का विधान है । इनमे से पहली चार आहुतियो से सम्बद्ध चार मन्त्रो का विवेचन किया जा चुका है ।[2] इसके पश्चात् पांच आहुतियो के साथ अगले ५ मन्त्रो के उच्चारण का विधान है, और उसके आगे की पांच आहुतियों के साथ इन्ही मन्त्रो के विपरीत क्रम मे उच्चारण का विधान है । इन मन्त्रों का विवेचन चतुर्थीकर्म के अन्तगत करना अधिक उपयुक्त होगा ।[3] अन्तिम आहुति के साथ विनियुक्त त्र्यायुष जमदग्ने आदि (अथर्व० ५।२८।७) मन्त्र का विवेचन भी चूडाकर्म के अन्तगत किया जाएगा क्योंकि अधिकाश गृह्यसूत्रो द्वारा उसका विनियोग वहीं किया गया है ।[4]

---

१ दे० मन्त्र स० ३१४-३२० ।

२ दे० मन्त्र स०१२६-१२६ ।

३ दे० मन्त्र स० ३१४-३१८, ३२३ ।

४ दे० अध्याय ७, मन्त्र स० ५०१ ।

स हि सर्व भक्षित जरयति जठरे स्थितो दध्यादिकम् । (दही का प्रतिक्रमण करता है अर्थात् पेट में स्थित वह (जठराग्नि) दही आदि सभी भुक्त पदार्थों को पचा देता है ।)

परन्तु मन्त्र के उत्तरार्ध को गृह्य विनियोग के अनुकूल माना ही जा सकता है क्योंकि उसमें मुखके सुगन्धित होने की और दीर्घायुष्य की प्रार्थना है । यह स्पष्ट है कि कुल मिलाकर इस मन्त्रका गृह्य विनियोग गृह्यकारों के अज्ञान अथवा उदासीनता पर आधारित है । विवाह में विनियोग के लिए एक मात्र धूमिल सकेत तै स ३।२।५।१ में प्राप्त होता है जहाँ यह विधान है कि सन्तान की कामना करने वाले को वैश्वानर वरुण और दधिक्रावा की आहुति प्रदान करनी चाहिए ।

वाराह और मानव के अनुसार वर पहले स्वयं दधि भक्षण करके अवशिष्ट भाग निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ वधू को देता है[1] —

चक्रमिवानडुह पद मामेवान्वेतु ते मन ।
मां च पश्यसि सूर्यं च मा चान्येषु मनस्कृथा ।
चाक्रवाकं संवनन तन्नौ सवनन कृतम् ॥ [२८७]

जिस प्रकार रथ का चक्र बैल के पदचिह्नों पर चलता है उसी प्रकार तुम्हारा मन मेरा अनुसरण करे । तुम मुझ और सूर्य को देख रही हो किसी अन्य के प्रति अपना मन आसक्त न करो । जिस प्रकार चकवों का संयोग होता है वैसा ही हम दोनों का संयोग हुआ है ॥

मा गृ मे इसका अधोलिखित पाठ दिया गया है —

चक्रीवानडुहो वा मे वाक्रमतु ते मन ।
चाक्रवाक संवननं तन्नौ संवनन कृतम् ॥ [२८८]

जैसा कि ड्रेस्डन ने भी संकेत किया है इस पाठ का पूर्वार्ध भ्रष्ट प्रतीत होता है ।[2] यहाँ सहभक्षणके अवसर पर हृदय-संयोग की प्रार्थना की गई है । दही का विशिष्ट उल्लेख नहीं है । और इसीलिये का गृ मे आहुति प्रदान के पश्चात् अवशिष्ट स्थालीपाक के वर-वधू द्वारा सह भक्षण के अवसर पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान प्रस्तुत नहीं है ।[3] यहाँ यह विशेषोल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा

१ वा गृ १५।२२ मा गृ० १।१४।१२ वै औ गृ १।४।५, हि गृ १।२४।६ भा गृ १।१७ आग्नि गृ० १।५।४ ।

२ मा गृ अनु पृ ७२ १।१४।१२ पर पा टि उनके (का गृ और वा गृ) पाठके अनुसार अनुवाद किया गया है ।

३ का गृ २५।१ द्वितीय पंक्ति—च पश्यसि के स्थान पर चव पश्य तृतीय पंक्ति—तन्नौ संवननं कृतम् के स्थान पर मम चामुष्याश्च भूयात् ।

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ [२८६]

मैं दही का पाचन करने वाले वैश्वानर, जयशील, शरीरव्यापी, अन्नपति जठराग्नि का सन्तर्पण करता हूँ। वह दही खाने वाले हमारे मुख को सुगन्धित अर्थात् विद्या आदि के उद्गार से अलङ्कृत करे। वह हमारी आयु दीर्घ करे। दे० पा०

वा० गृ० में उल्लेख है कि पहले केवल वर को ही अकेले दधि-भक्षण करना चाहिए। अध्यायोपाकर्म संस्कार में भी छात्रों द्वारा दधि-भक्षण की क्रिया के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[1] केवल वा० गृ० ५।६ में उपनयन संस्कार के आरम्भ में छात्र द्वारा तीन बार दधि भक्षण के समय इसका विनियोग किया गया है। जो भी हो, इन सभी गृह्य-विनियोगों में मन्त्र दधि-भक्षण से सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि के शब्द में दधि की भ्रान्ति से ही सभी गृह्यसूत्रकारों ने इसे दधि भक्षण से सम्बद्ध किया है। निरुक्त के अनुसार दधिक्रा एक घोड़े का नाम है।[2] दधिक्रा पद के समान ही दधिक्रावन् की भी व्युत्पत्ति की जा सकती है।

प्राग्- गृह्यसूत्र साहित्य की विस्तृत शृङ्खला में यह मन्त्र उपलब्ध होता है।[3] परन्तु उनमें से किसी भी ग्रन्थ द्वारा इसके गृह्य विनियोग की पुष्टि नहीं होती। उन सभी ग्रन्थों में अश्वमेध यज्ञ में उस समय सभी व्यक्तियों द्वारा इसके उच्चारण का विधान किया गया है जब मृत अश्व के पार्श्व में लेटी हुई यजमान की पत्नी को वहाँ से उठाया जाता है। प्राचीनकाल से ही यह मन्त्र लोकप्रिय रहा होगा क्योंकि का० सं० और सभी ब्राह्मणों में इसका निर्देश प्रतीक द्वारा किया गया है। श० ब्रा०, तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में इसका उल्लेख सुरभिमती ऋक् के नाम से हुआ है।

का० गृ० के एक भाष्यकार देवपाल ने दधिक्रावन् शब्द की दूराकृष्ट व्युत्पत्ति देते हुए इसके गृह्य विनियोग का औचित्य सिद्ध किया है —दधि क्रामति-

१ शा० गृ० ४।५।१०, का० गृ० ८।४, गो० गृ० ३।३।७।

२ नि० २।७।२७—अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशति तत्र दधिक्रा इत्येतत् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा। इसे देवता भी माना गया है। नि० १०।३।३१ में उद्धृत मन्त्र ऋ० ४।३८।१० से प्रकट है कि यह वृष्टि-देव है।

३ वे० वं० कॉन्०, पृ० ४७१—अथर्वं० २०।१३७।३, वा० सं० २३।३२, तै० सं० १।५।११।४, मै० सं० १।५।१, का० सं० ६।६, ऐ० ब्रा० ६।३६।८, श० ब्रा० १३।२।६।६, तै० ब्रा० ३।६।७।५ आप० श्रौ० ४।१४।१ इत्यादि।

लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्तेषु च यानि ते ।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥
केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि ॥
शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि ॥
आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि ॥
ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः संधानेषु च यानि ते । तानि ॥
यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् ।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम् ॥ [२९२—२९७]

तुम्हारे शरीर की रेखाओं की सन्धियों में बरौनियों में और शरीर के गर्तों में जो (दोष) है उन सब को मैं पूर्णाहुति द्वारा शान्त करता हूँ ॥ तुम्हारे केशों में दृष्टि में और रोदन में जो पाप अर्थात् दोष है उन सबको ॥ तुम्हारे आचरण में भाषण में और हँसने में जो दोष है उन सबको ॥ तुम्हारे शरीररन्ध्रों में हाथों और पाँवों में जो दोष है उन सबको ॥ तुम्हारी जाँघों में गोद में पिण्डलियों और विविध सन्धिस्थलों में जो दोष है उन सबको ॥ और जो भी भयानक दोष तुम्हारे सभी अङ्गों में हों उन सबको मैं आज्य की पूर्णाहुतियों से शान्त करता हूँ ॥

इन मन्त्रों से आहुतियाँ अर्पित करके वर वधू के शरीरगत सभी दोषों को शान्त करने का समारम्भ करता है। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। इस स्थिति में या तो उन्हें गृह्य-परम्परा से उद्भूत कहा जा सकता है और या वे किसी ऐसे ग्रन्थ से उद्धृत हैं जो अब उपलब्ध नहीं।

शा गृ (१।१७।३) और पा गृ (१।८।१९)का विधान है कि वधू को ध्रुव दर्शन कराते हुए वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

ध्रुवसि पोष्या मयि मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम् ॥ [२९८]

मुझे तुम्हें बृहस्पति ने दिया है मेरे द्वारा पोषण योग्य तुम मेरे प्रति स्थिर हो जाओ। मुझ पति के साथ सन्तान सहित तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो ॥

पा गृ में मन्त्र से पूर्व निम्नलिखित शब्द जोड़ गये हैं —

ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि । [२९९]

तुम ध्रुव हो तुम ध्रुव को मैं देखता हूँ।

कि इस मन्त्र मे काव्य सौन्दर्य भी विद्यमान है क्योकि इसमे दो आकर्षक उपमायें है। प्रथम तो कहा गया है कि "तुम्हारा मन उसी प्रकार मेरा अनुसरण करे जैसे रथ का चक्र बैल के पदचिह्नो पर चलता है।" इसके अतिरिक्त अन्त मे नव-दम्पती के सयोग की तुलना चकवा-चकवी के आदर्श सयोग से की गई है। ये दोनो ही उपमायें भारतीय जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

शा० गृ० १।१७।१ मे वर-वधू के साथ-साथ दधि-भक्षण के अवसर पर निम्नलिखित तीन मन्त्रो (ऋ० ८।३५।१०-१२) का विनियोग किया गया है —

पिबत च तृप्णुत चा च गच्छत प्रजा च धत्त द्रविण च धत्तम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ॥ [२८९]
जयत च प्र स्तुत च प्र चावत प्रजा च ॥ [२९०]
हत च शत्रून् यतत च मित्रिण प्रजा च ॥ [२९१]

हे अश्विनो, (सोम) पीजिये और तृप्त होइये और आइये, हमे सन्तान दीजिये और धन दीजिये। उषा और सूर्य के द्वारा शक्ति दीजिये॥ आप दोनो विजयी होइये, आपकी स्तुति हो और आप हमारी रक्षा कीजिये, हमे सन्तान दीजिये ॥ शत्रुओ का नाश कीजिये, मित्रो की सहायता कीजिये, हमे सन्तान दीजिये ॥

ये मन्त्र अश्विनो को सम्बोधित हैं। सन्तान, धन और अन्न की प्रार्थना इन सब मे समान है। विवाहित जनो की यह सामान्य प्रार्थना है और विवाह सस्कार के किसी भी कर्म में सङ्गत हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रो के रचयिता को पिबत च तृप्णुत च शब्दो ने दधि और ओदन के सह-भक्षण के प्रसङ्ग मे इन मन्त्रो का विनियोग करने को प्रेरित किया। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि ये शब्द मन्त्र मे दम्पती को नही कहे गये अपितु अश्विनो को कहे गये हैं। सम्भवतया अश्विनों की प्रार्थना करते हुए वर और वधू के मस्तिष्क मे इस विचार की कल्पना की गई है कि हम भी अश्विनो के समान अनपायी हो जायें।

ध्रुवादि-दर्शन

सामवेदीय गृह्यसूत्रों मे विधान है कि नक्षत्र-दर्शन से पूर्व वर को निम्नलिखित छ मन्त्रो के उच्चारण के साथ छ आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें[1]—

---

१ गो० गृ० २।३।६ (म० ब्रा० १।३।१-६) खा० गृ० १।४।३, जै० गृ० २०।१७। गो० गृ० के अनुसार समशन सहित नक्षत्र दर्शन कर्म वधू के पितृ-गृह मे किया जाना चाहिये।

को सम्बोधित है और वेदी पर अश्विनी ष्टकाओं के आधान म विनियुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रो मे यजुर्वेद से केवल प्रथम पाद उद्धृत किया गया है और गृह्य कम के अनुसार उसका विस्तार किया गया है। या फिर यह सम्भव है कि यह मन्त्र किसी अनुपलब्ध वदिक सहिता का अग था।

आग्नि०गृ० १।५।४ ६।३ मे अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है—

ध्रुव नमस्यामि मनसा ध्रुवेण ध्रुव नो सख्य दीर्घमायुश्च भूयात्।
अद्र श्चावस्मिश्च परे च लोके ध्रुव प्रविष्टो स्याम शरण सुखार्तो ॥[३ २]

स्थिर चित्त से मैं ध्रुव को नमस्कार करता हूँ हमारी मित्रता स्थिर हो और आयु दीर्घ हो। इहलोक और परलोक मे अवियुक्त होकर हम ध्रुव शरण में प्रविष्ट होकर सुखी हो जाय।

इस मन्त्र के उत्तरार्ध मे कर्तृ पद (सुखार्तो) और क्रियापद (स्याम) मे वचन की असङ्गति द्रष्टव्य है। यह मन्त्र केवल आग्नि गृ मे विद्यमान है और सम्भवतया यह गृह्य परम्परा से उद्धृत हुआ है।

मा गृ १।१४।१ और वा० गृ १५।२१ ने ध्रुव अरुन्धती जीवन्ती और सप्तर्षि नक्षत्रो को दिखाने के कम मे निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया है —

अच्युता ध्रुवा ध्रुवपत्नी ध्रुव पश्येम सवत ।
ध्रुवास पवता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुलेयम् ॥ [३ ३]

तुम अविचल स्थिर ध्रुवपत्नी हो हम सभी ओर ध्रुव का देखे। ये पवत ध्रुव अर्थात् स्थिर है पति के कुल मे यह स्त्री स्थिर हो जाये।

वा गृ मे सवत के स्थान पर विश्वत पाठ सहित केवल मन्त्र का पूर्वार्ध दिया गया है। यह मन्त्र भी प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य मे अप्राप्य है।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे अरुन्धती की उपासना के लिये निम्न लिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] —

सप्त ऋषय प्रथमा कृत्तिकानामरुन्धती यद् ध्रुवता ह निन्यु।
षट् कृत्तिका मुख्ययोग वहन्तीयमस्माकमेधत्वष्टम्यरुन्धती ॥ [३०४]

कृत्तिकाओं मे प्रथम अरुन्धती को जो सप्तर्षियों ने स्थिरता प्राप्त

१ बौ गृ १।५।१४ आप गृ २।६।१२ (अ पा १।६।७) भा गृ १।१६ (केवल अरुन्धती) व गृ ३।१२ (सप्तर्षि की) हि गृ १।२२।१४ आग्नि गृ १।६।१ (सप्तर्षि कृत्तिकायें और नक्षत्र की।)

आप० गृ० २।६।१० (म० पा० १।८।६) ने भी इस मन्त्र को उद्धृत किया है परन्तु वहाँ इसका विनियोग ऋषभचर्म पर वर-वधू के आसीन होने पर वर द्वारा अर्पित आहुतियों मे से एक के साथ उच्चारणार्थ किया गया है।

यह ऋ० १०।८५ के अन्त मे षष्ठ खिल मन्त्र है। प्रथम पाद के ममेयमस्तु पोष्या पाठान्तर सहित यह मन्त्र अथर्व० (१४।१।५२) मे भी विद्यमान है। दोनो ही संहिताओ मे यह विवाह सूक्तो का अंग है और इसलिये विवाह संस्कार मे इसकी विनियोगार्हता सिद्ध है। मन्त्र मे ध्रुव नक्षत्र का उल्लेख नही है। अत उपर्युक्त ध्रुव दर्शन कर्म के साथ इसका एक मात्र सम्बन्ध ध्रुव शब्द प्रतीत होता है।

जै० गृ० (२२।१३) के अनुसार ध्रुव दर्शन करते हुए वधू को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

ध्रुवोऽसि ध्रुवाह पतिकुले भूयासममुष्य ॥ [३००]

तुम ध्रुव (स्थिर) हो, मैं भी अपने इस पति के कुल मे स्थिर हो जाऊँ ॥

गो० गृ० (२।३।६) मे भी यही मन्त्र ध्रुवोऽसि के स्थान पर ध्रुवमसि शब्दो के साथ प्रयुक्त किया गया है।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध अधिकाश गृह्यसूत्रो मे ध्रुवोपासना के निमित्त एक भिन्न मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]—

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवमसि ध्रुवत स्थितम्।
त्व नक्षत्राणा मेथ्यसि स मा पाहि पृतन्यत ॥ [३०१]

स्थिर निवास वाले, स्थिर जन्म स्थान वाले, तुम ध्रुव (स्थिर) हो। तुम स्थिरता से स्थित हो। तुम नक्षत्रो के स्तम्भ हो, ऐसे तुम शत्रु से मेरी रक्षा करो ॥ श्रो० व०

बौ० गृ० मे प्रथम पाद का पाठ ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षिति है। मन्त्र का केवल प्रथम पाद ही यजुर्वेदीय ग्रन्थो मे विद्यमान है।[2] वहाँ इस पाद वाला मन्त्र अश्विनो

---

१ आप० गृ० २।६।१२ (म० पा० १।६।६), हि० गृ० १।२२।१४, मा०गृ० १।१।८, बौ० गृ० १।५।१३, वै० गृ० ३।५।

२ वा० स० १४।१, तै०स०४।३।४।१, मै० स० २।८।१, का०स० १७।१, श०ब्रा० ८।१।१।४,१४, मा०श्रौ० ६।२।१, आप० श्रौ० १७।१।२, का०श्रौ०१७।८।१५।

१०३ से की जा सकती है। यह मन्त्र पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है परन्तु वहाँ चतुर्थ पाद का पाठ ध्रुवो राजा विशामयम् है।[1] इससे स्पष्ट है कि मूल रूप में यह मन्त्र किसी राज-कर्म से सबद्ध था परन्तु गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्म के अनुसार अंतिम पाद में परिवर्तन कर लिया गया। यद्यपि इस मन्त्र में किसी नक्षत्र का उल्लेख नहीं है, तथापि ऐसे चिरस्थायी पदार्थ परिगणित हैं जिनसे गार्हस्थ्य के स्थिरत्व की कामना अभिव्यक्त होती है।

मा० गृ० १।७।२२ और शा० गृ० १।१७।४ का विधान है कि नक्षत्रदर्शन के पश्चात् वधू को निम्नलिखित दो वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये —

ध्रुवं पश्यामि प्रजां विन्देय ॥ [१०७]

मैं ध्रुव को देख रही हूँ मैं सन्तान प्राप्त करूँ।

जीवपत्नी प्रजां विन्देय ॥ [१०८]

मेरा पति जीवित रहे मैं सन्तान प्राप्त करूँ।

हि० गृ० १।२२।११ १३ के मतानुसार निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा दिशाओं नक्षत्रों और चन्द्रमा की उपासना की जानी चाहिए —

देवी षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ [१०९]

हे छः विशाल देवियो अर्थात् छः दिशाओ ! हमे प्रभूत धन दो। हे सभी देवो इस कर्म में हमें सशक्त बनाओ। हम सन्तान से और शरीरों से भी त्यक्त न हों। हे राजा सोम हम शत्रु के वशीभूत न हों॥ द्र० मि०

आप० गृ० ५।१२।११ (म० पा० २।८।६) के मतानुसार समावर्तन संस्कार के अंत में इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्नातक को दिशाओं नक्षत्रों और चन्द्रमा की उपासना करनी चाहिये। विवाह और समावर्तन दोनों में इसके विनियोग का आधार यह दिशाओं आदि की उपासना ही है। यह मन्त्र संहिताओं में भी उपलब्ध होता है।[2] वहाँ धिष्ण्यों पर विहव्य इष्टकाओं के आधान में विनियुक्त मन्त्रों में से यह एक है। परन्तु इससे सम्बद्ध गृह्यकर्म इस श्रौतकर्म के समान नहीं है।

---

१ ऋ० १०।१७३।४ अथर्व० ६।८८।१ तै० ब्रा० २।४।२।८।

२ ऋ० १०।१२८।५ अथर्व० ५।३।६ (पूर्वार्ध) और ५।३।७ (उत्तरार्ध) आरम्भ देवी से और पूर्वार्ध के अंत में मादयध्वम्। तै० सं० ४।७।१४ का० सं० ४०।१०—आरम्भ में देवी के स्थान पर ऊर्वी।

कराई है, वह आठवीं जो छः कृत्तिकाओं के साथ (चन्द्रमा का) योग कराती है, वह हमारे प्रति दीप्त हो।

उपरिलिखित पाठ बौ० गृ० का है। अन्य सभी गृह्यसूत्रों में मन्त्र में अरुन्धती शब्द नहीं है। म० पा० को छोड़ कर शेष सभी में अंतिम पाद में एधतु के स्थान पर आजतु पाठ है। उनमें द्वितीय पाद में यद् के स्थान पर ये पाठ है और उसे ध्रुवताम् के पश्चात् रखा गया है। (हि०गृ० में उसका स्थान अपरिवर्तित ही है।) यह मन्त्र केवल गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है और सम्भवतया यह गृह्य-परम्परा में उद्भूत है।

जै० गृ० २२।१४ के अनुसार अरुन्धतीनक्षत्र-दर्शन करते समय निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए —

अरुन्धत्यरुद्धाहं पत्या भूयासममुना ॥ [३०५]

हे अरुन्धती, मैं इस पति के द्वारा रोकी न जाऊँ।

गो० गृ० २।३।११ (अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि) के आधार पर कैलेंड ने यहाँ अरुद्धा के स्थान पर रुद्धा संशोधन प्रस्तुत किया है और तदनुसार ही इसका अनुवाद किया है—"मैं अपने पति द्वारा अवरुद्ध की जाऊँ।" परन्तु वस्तुतः इस संशोधन की ऐसी आवश्यकता नहीं है क्योंकि अरुद्धा का भाव भी पूर्णतया सङ्गत है। उधर अरुन्धती में भी अरुद्धा की ध्वनि निकलती है। भाव यह है कि यदि पत्नी पर पति को सन्देह हो जाये तभी उस पर बन्धन लगाये जाते हैं, यदि पत्नी का चरित्र पूर्णतया शुद्ध हो तो किसी प्रकार के बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः दूसरे शब्दों में वधू यहाँ अपनी सच्चरित्रता के लिये प्रार्थना कर रही है जिससे उसके प्रति किसी की भी सविघ्न दृष्टि न हो।

गो० गृ० के अनुसार अरुन्धतीदर्शन के पश्चात् वर वधू को निम्नलिखित मन्त्र द्वारा सम्बोधित करता है। खा० गृ० में इसका विनियोग ध्रुवदर्शन में ही किया गया है[1] —

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् ॥ [३०६]

आकाश स्थिर है, पृथिवी स्थिर है, यह सारा संसार स्थिर है। ये पर्वत स्थिर हैं, (इसी प्रकार) यह स्त्री पति के कुल में स्थिर हो जाये।

इस सम्पूर्ण मन्त्र की, और विशेष रूप से उत्तरार्ध की तुलना मन्त्र सं०

[1] गो० गृ० २।३।१२ (म० ब्रा० १।३।७), खा० गृ० १।४।४।

संयोग का भाव तीनों मन्त्रों में विद्यमान है । और क्योंकि समशन का भी उद्देश्य इस संयोग की प्राप्ति है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्त्र मौलिक रूप में इसी कर्म के लिए रचे गए थे ।

दम्पती के स्थालीपाक के अवशेष के समशन के अवसर पर का० गृ० २६।१ में एक और मन्त्र के उच्चारण का विधान है —

अन्नमेव विवननमन्न सवनन स्मृतम् ।
अन्न पशूनां प्राणोऽन्न ज्येष्ठ भिषक स्मृतम् ॥[११४]

अन्न ही विभाजक और अन्न ही संयोजक माना जाता है । अन्न पशुओं का प्राण है अन्न ही सर्वोत्तम औषधि माना गया है । दे० पा०

इस मन्त्र में अन्न की प्रशस्ति है और इसीलिए यह इस प्रसंग में सर्वथा उपयुक्त है । वस्तुतः जिनके साथ खान-पान चलता हो वे ही बन्धु की श्रेणी में आते हैं । यह का० गृ० के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता । सम्भव है कि यह केवल गृह्य परम्परा से उद्भूत हो ।



सम्भवतया गृह्यसूत्रकारो के मस्तिष्क मे मन्त्र की छ देवियो का अर्थ छ दिशायें, विश्वेदेवा का अर्थ नक्षत्र-गण और राजा सोम का अर्थ चन्द्रमा रहा होगा।

ध्रुवोपासना के निमित्त हि० गृ० १।२२।१४-२३ में एक सम्पूर्ण अनुवाक के पाठ का विधान है। सकलपाठेन उद्धृत इस अनुवाक के प्रारम्भिक शब्द है —

नमो ब्रह्मणे ध्रुवायाच्युतायास्तु ॥ [३१०]

भा० गृ० १।१९ मे इसी कर्म के निमित्त इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। इस अनुवाक का कोई प्राग्-गृह्यसूत्र स्रोत उपलब्ध नही होता।

स्थालीपाक होम और समशन

विभिन्न नक्षत्रो का अवलोकन करके वर अग्नि मे स्थालीपाक आहुतिया अर्पित करता है। तत्पश्चात् वरवधू स्थालीपाक के अवशेष का समशन करते हैं। गो० गृ० और खा० गृ० मे निर्देश है कि समशन से पूर्व वर को निम्नलिखित तीन मन्त्रो द्वारा तीन बार भोजन का स्पर्श करना चाहिए[1] —

अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदय च ते ॥[३११]

यदेतद्धृदय तव तदस्तु हृदय मम।
यदिद हृदय मम तदस्तु हृदय तव ॥ [३१२]

अन्नम् प्राणस्य षड्विंशस्तेन बध्नामि त्वा असौ ॥ [३१३]

अन्नपाशरूपी मणि, रगविरगे सत्य रूप गाठ वाले प्राणो के सूत्र से मैं तुम्हारे मन और हृदय को बाधता हूँ ॥ जो यह तुम्हारा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाए, जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाये ॥ अन्न ही प्राणो का छब्बीसवां (प्राण) है, यह मैं उससे तुम्हे बाधता हूँ ॥

प्रथम मन्त्र ऋ० खि० ३।१५।७ मे अन्नपाशेन के स्थान पर अन्नमयेन पाठ सहित और मन तथा हृदयम् के परस्पर स्थान-विनिमय सहित विद्यमान है। का० गृ० २६।१ मे भी ये पाठान्तर हैं। इसमें तृतीय पाद **सिनोमि सत्यग्रथिना** है। कौशिक० ८६।१० मे भी उपरिलिखित तृतीय मन्त्र जैसा एक मन्त्रार्ध है —

अन्न प्राणस्य बन्धन तेन बध्नामि त्वा मयि ॥

द्वितीय मन्त्र भी ऋ० खि० ३।१५।४ के रूप मे विद्यमान है। उसमे प्रथम और तृतीय पाद क्रमश आ हरयेत् ते हृदयम् और अथो यन्मम हृदयम् हैं। हृदय-

१ गो० गृ० २।३।२१ (म० ब्रा० १।३।८-१०), खा० गृ० १।४।१०।

मन्त्रो का यह रूप पारस्कर द्वारा दिया गया है। हि० गृ मे स्व देवानां प्रायश्चित्तिरसि अश को छोड दिया गया है। मन्त्र के प्रथम भाग मे भी गृ म० पा और भा गृ को छोडकर प्राय सभी गृह्यसूत्रो मे उपधावामि शब्द रखा गया है । इन तीनो मे इसके स्थान पर प्रपद्य पाठ है। और मन्त्र का दूसरा भाग निम्नलिखित है —

याऽस्या पतिघ्नी तनू प्रजाघ्नी पशुघ्नी लक्ष्मीघ्नी जारघ्नीमस्य ता कृणोमि ॥ [३२०]

जो इसका पतिनाशक सन्ततिनाशक पशुनाशक लक्ष्मीनाशक शरीर है इसके उस शरीर को मै जारनाशक बनाता हूँ।

हि गृ मे यह भाग भी पा गृ० के समान है—केवल पतिघ्नी के स्थान पर घोरा और द्वितीय अस्य के स्थान पर इत पाठान्तर है। आग्नि गृ मे भी यह भाग द्वितीय अस्य के स्थान पर इत और नाशय के स्थान पर नाशयामसि पाठान्तर सहित विद्यमान है। म श्रा मे द्वितीय भाग का निम्नलिखित पाठ है —

याऽस्या पापी लक्ष्मीस्तामस्या अपजहि ॥ [३२१]

ज गृ मे पापी लक्ष्मी के स्थान पर प्रजाघ्नी पाठ है। शा गृ मे प्रायश्चित्त के स्थान पर प्रायश्चित्तिरसि पाठ है और प्रथम भाग मे से ब्राह्मणस्त्वा आदि को छोड दिया गया है। द्वितीय भाग मे इसम अस्य के स्थान पर अस्या और नाशय क स्थान पर अपजहि पाठ है। गृह्यसूत्रो मे देवताओ के नामो के विषय मे भी मतभेद है। गो गृ और जै गृ मे गन्धर्व को छोड दिया गया है और यह निर्देश किया गया है कि पाँचवी आहुति के साथ चारो देवताओ को एक साथ सम्बोधित करना चाहिये और तदनुसार क्रिया बहुवचनान्त होनी चाहिये। हि गृ मे अग्नि वायु और आदित्य देवताओ को लिया गया है और द्वितीय भाग मे इनके साथ क्रमश घोरा निन्दिता और पतिघ्नी शब्दों का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ आहुति के लिये मन्त्र का आरम्भ इस प्रकार होता है —

आदित्य प्रायश्चित्ते वायो प्रायश्चित्ते अग्ने प्रायश्चित्ते वायो प्रायश्चित्ते अग्ने प्रायश्चित्ते वायो प्रायश्चित्ते आदित्य प्रायश्चित्ते ॥ [३२२]

आग्नि गृ मे भी ये तीनो ही देवता है परन्तु वहाँ क्रमश पत्नी के सम्वादी विशेषण पतिघ्नी पुत्रघ्नी और पशुघ्नी हैं। चतुर्थ आहुति के लिये इसमे देवताओ के नामो के स्थान पर सब का प्रयोग किया गया है और द्वितीय भाग मे सामूहिक रूप से पतिघ्नी पुत्रघ्नी पशुघ्नी और निन्दिता विशेषण दिये गये है। बौ० गृ० आप गृ और भा० गृ मे अग्नि वायु आदित्य और प्रजापति देवता

पञ्चम अध्याय

सन्ततिलाभार्थ कर्म

चतुर्थी कर्म

सन्तति से सम्बद्ध कर्मों का श्रीगणेश गर्भाधान संस्कार से होता है। इस संस्कार का विवरण प्राय सभी गृह्यसूत्रो मे चतुर्थी कर्म के अन्तर्गत दिया गया है।[1] यह विधान है कि विवाह के पश्चात् तीन रात तक नवदम्पती को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। चतुर्थ रात्रि को उन्हे विवाह निष्पत्ति करनी चाहिए। इस अवसर पर वे जो भी कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें सामूहिक रूप से चतुर्थी कर्म कहते हैं।

आज्याहुतियाँ

कुछ गृह्यसूत्रो के अनुसार सर्व प्रथम निम्नलिखित मन्त्रो का उच्चारण करते हुए अग्नि मे आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये[2] —

अग्ने प्रायश्चित्ते त्व देवाना प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि। याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय ।। [३१५]

वायो प्रायश्चित्ते । याऽस्यै प्रजाघ्नी ।। [३१६]

सूर्य प्रायश्चित्ते । याऽस्यै पशुघ्नी ।। [३१७]

चन्द्र प्रायश्चित्ते । याऽस्यै गृहघ्नी ।। [३१८]

गन्धर्व प्रायश्चित्ते । याऽस्यै यशोघ्नी ।। [३१९]

हे प्रायश्चित्तरूप अग्नि, तुम देवताओ की प्रायश्चित्ति हो, शरण का अभिलाषी मैं ब्राह्मण तुम्हारे पास आया हूँ। इसका जो पतिनाशक शरीर है उसे नष्ट कर दो, इत्यादि।

---

१ केवल बौ० गृ० ४।६।१ और का० गृ० ३०।१ मे गर्भाधान शब्द का प्रयोग किया गया है—परन्तु विवरण चतुर्थी कर्म जैसा ही है।

२ पा० गृ० १।११।२, गो०गृ० २।५।२ (म० ब्रा० १।४।१-५) जै०गृ० २।३।६-१६, खा० गृ० १।४।१२ हि० गृ० १।२४।१, आग्नि० गृ० १।६।३, बौ० गृ० १।६।१२-१५, आप० गृ० ३।८।१० (म० पा० १।१०।३-६) भा० गृ० १।१९, शा० गृ० १।१८।३, वै० गृ० ३।४।

जानने की शक्ति नाम और कर्म तथा अमावस्या और पूर्णमासी —ये ॥

सभी मन्त्रो मे समान ते यत् आदि द्वितीय भाग का स १७।६ मे उपलब्ध होता है। संहिता मे यन्म के स्थान पर वर्षामि पाठ है। अग्निचिति कर्म मे पञ्चचूडा इष्टकाओ का आधान करने के समय प्रयुक्त मन्त्रो के साथ इस भाग को सलग्न किया गया है। (दे श० ब्रा० ८।६।१।१६) जहा तक मन्त्रो के प्रधानांश का प्रश्न है प्रथम मन्त्र की तुलना म स० ३।१२।१२ से की जा सकती है। वहाँ वे अश्व मेध-यज्ञ मे जल को आहुति देने के लिय विनियुक्त किय गय हैं। (दे० आप० श्रौ १७।२।६) द्वितीय मन्त्र लगभग सभी यजुर्वेद संहिताओ म प्राप्त होता है।[1] म स मे द्वितीय भाग सहित सम्पूर्ण मन्त्र विद्यमान है मात्र पाठान्तर एषाय् के स्थान पर एतयो है। त स म प्रत्येक च के पश्चात् त्वम् पाठ है इसमे द्वितीय भाग का अभाव है। वा स और का स दोनो मे प्रथमा विभक्ति के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग किया गया है। तदनुसार वहाँ प्रत्येक वाक्य उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा रूप म प्राप्त होता है। प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य म इस मन्त्र का विनियोग सोमयाग के अन्तर्गत ऋतुग्रहो को ग्रहण करने के लिये किया गया है। तृतीय मन्त्र त स ३।४।४।१ और म स १।४।१४ मे प्रसिद्ध जय मन्त्रो के रूप मे प्राप्त होता है। तै स मे अधीत वाधीतिश्च के स्थान पर मनश्च शक्वरीश्च और साम च क्रतुश्च के स्थान पर बृहच्च रथन्तर च पाठ है। म स० मे क्रतु के स्थान पर यश पाठ है। प्राग-गृह्यसूत्र साहित्य मे इन मन्त्रो के विनियोग के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आप गृ मे केवल तृतीय मन्त्र के श्रौत विनियोग का अनुसरण किया गया है क्योकि अन्य मन्त्र कही भी अग्नि मे आहुति डालने के प्रसङ्ग मे विनियुक्त नही हुए।

केवल द्वितीय और तृतीय मन्त्रो का विविध गृह्यविनियोग हुआ है। आग्नि गृ १।७।४ मे आग्रयण कर्म की मुख्य आहुति के साथ तपस्यश्च तक द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान है। बौ गृ १।१।१६ के अनुसार सामान्य रूप से गृह्यकर्मों मे जय-आहुतियो के लिये तृतीय मन्त्र का विनियोग किया गया गया है। हि गृ आग्नि गृ और मा गृ मे उपनयन के अन्तर्गत अग्नि स्विष्टकृत् मे जय-आहुतियो के अर्पण के समय इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[3]

---

१ वा सं ७।३ २२।३१ त स १।४।१४ का स ४।७ म स १।३।१६ ३।१२।११।

२ श ब्रा ४।३।१।१४ आप श्रौ १२।२६।११ का श्रौ ९।१३।१४।

३ हि गृ १।३।८ आग्नि गृ १।१।२ मा गृ ३।४।

खे गये है। भा० गृ० मे प्रजापति से सम्बद्ध द्वितीय भाग अधोलिखित है —

यास्यै निन्दिता तनूस्तामितो नाशयामसि ॥ [३२३]

शा० गृ० मे अग्नि, वायु और सूर्य देवता तथा उनके सवादी पत्नी के विशेषण पतिघ्नी, अपुत्रिया और अपशव्या दिये गये हैं। का० गृ० (२८।४) में कुछ परिवर्तनो सहित इन मन्त्रो का विनियोग दम्पती के वृषभ-चर्म पर बैठने के पश्चात् आहुतियो के लिये किया गया है। इसमे प्रथम भाग मे से ब्राह्मणस्त्वा आदि छोड दिया गया है और प्रत्येक मन्त्र के द्वितीय भाग के रूप में

यास्यै मृशा तनूस्तामस्या नाशय स्वाहा [३२४]

वाक्य रखा गया है। चारों मन्त्रों में एक-एक करके क्रमश वायु, सूय, चन्द्र और विष्णु देवो को सम्बोधित किया गया है। दूसरी बार देवो का यह क्रम विपरीत कर दिया गया है। और अन्त मे अग्नि को भी सम्मिलित किया गया है। ये मन्त्र प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य मे अनुपलब्ध हैं और इसीलिये ये केवल गृह्य-परम्परा का अग प्रतीत होते है। इसी कारण सम्भवतया गृह्यसूत्रो मे इनके इतने अधिक पाठान्तर प्राप्त होते है।

उपरिलिखित मन्त्रो के अतिरिक्त आप०गृ० ३।८।१०(म०पा०१।१०।७-६) मे आज्याहुतियो के साथ निम्नलिखित मन्त्रो के उच्चारण का भी विधान किया गया है -

प्रसवश्चोपयामश्च काटश्चार्णवश्च धर्णसिश्च द्रविण च भगश्चान्तरिक्ष च सिन्धुश्च समुद्रश्च सरस्वाश्च विश्वव्यचाश्च ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषा जम्भे दध्म ॥ [३२५]

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्च ते य ॥ [३२६]

चित्त च चित्तिश्चाकूत चाकूतिश्चाधीत चाधीतिश्च विज्ञात च विज्ञान च नाम च क्रतुश्च दर्शश्च पूर्णमासश्च ते य ॥ [१२३]

प्रसव (उत्पादन-शक्ति), उपयाम (सयम), काट, अणव (मेघ) घर्णसि (?) द्रविण (धन), भग (ऐश्वर्य), अन्तरिक्ष, नदियो के तथा अन्य जल से युक्त समुद्र और विश्वव्यापी (परमेश्वर)—वे (जो देव है), उनके वश मे हम उसे स्थापित करते हैं जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेप करता है ॥ मधु और माधुर्य अर्थात् आनन्द, तेजस्वी और तेजस्विता, आकाश और आकाशीय (तत्त्व), इच्छायें और ऊर्जाएँ, बल और बलजन्य (शक्ति) तथा तपस्या और तपस्याजन्य (फल)—वे ॰ ॥ मन और मनन शक्ति, बुद्धि और विचार शक्ति, अध्ययन और विद्या, ज्ञान और

प्रजया त्वा पशुभिः संसृजामि मासरेण सुरामिव ॥
प्रजावान् पशुमान भूयासम् ॥ [३२८-३३१]

जिस प्रकार मासर से सुरा को मिश्रित किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हे सन्तान से संयुक्त करता हूँ ॥ मैं सन्तान से युक्त हो जाऊँ ॥ जैसे मासर से सुरा को मिश्रित किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हे सन्तान और पशुओ से संयुक्त करती हूँ ॥ मैं सन्तान और पशुओ से युक्त हो जाऊँ ॥

मा. गृ. १।११ मे ऐसा ही मन्त्र लाजाहोम के अवसर पर प्रयुक्त इयं नार्युपब्रूते आदि मन्त्र के विस्तार के रूप मे प्राप्त होता है।

मासर जल का एक घोल है जिसमे चावल और बाजरे को प्रकिण्व (खमीर) घास आदि के साथ उबाला जाता है।[1] अमरकोष के अनुसार चावलो के मांड को ही मासर कहते है।[2]

परस्परावलोकन

आप. गृ. ३।८।१ (म. पा. १।११।१-२) मे विधान किया गया है कि आहुतियो के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रो (ऋ० १०।१८३।१-२) मे से प्रथम का उच्चारण करते हुए पत्नी पति का और द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करते हुए पति पत्नी का अवलोकन करे —

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम् ।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ [३३२]
अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ [३३३]

हे पुत्र के इच्छुक, ब्रह्म तेज के द्वारा अतिशय दीप्तियुक्त तपस्या अर्थात् प्रजापति से उत्पन्न और उसी से वृद्धि को प्राप्त हुए आपको मैं मनसे देखती हूँ। मुझसे पुत्र रूप धन लेते हुए आप संतान उत्पन्न कीजिये ॥ हे पुत्र की इच्छुक, समृद्धि के लिये अपने शरीर मे से सन्तान की याचना करने वाली तथा दीप्तिमती तुम्हें मैं मन से देखता हूँ। मेरे समीप रहती हुई तुम पूज्यतमा तरुणी हो जाओ, सन्तान के रूप मे तुम जन्म लो। दे०पा०

मत्रायणी और काठक संहिताओ से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो के अनुसार[3] जब दम्पती

---

१ मोनियर विलियम्स-संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोष।
२ मासराचाममण्डास्तु भक्तसमुद्भवे ॥ अमर० १८. ५।
३ मा. गृ. १।१४।१६; का. गृ. २६।१; का. गृ. ३.।६।

विवाह संस्कार मे अग्नि के पश्चिम म वर-वधू के बैठन क पश्चात् जय-आहुतियो के लिये प्राय सभी गृह्यसूत्रो द्वारा तृतीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। दे० तृतीय अध्याय, मन्त्र स० १२३।

शाखा-अपहरण

केवल बौ० गृ० १।५।१८ मे यह विधान है कि स्थालीपाक और आज्याहुतियो के पश्चात् दम्पती के मध्य तीन रात तक स्थापित की गई शाखा का अपहरण पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए करना चाहिये —

ऊर्ज पृथिव्या अध्युत्थितोऽसि वनस्पते शतवल्शो विरोह।
त्वया वयमिषमूर्जं वदन्तो रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥ [१२७]

हे वनस्पते, तुम पृथिवी की ऊर्जा से उत्पन्न हुई हो, तुम सैकडो शाखाओ वाली होकर बढो। हम तुम्हारे द्वारा इच्छा और ऊर्जा का वर्णन करते हुए धन की पुष्टि तथा इच्छा (की पूर्ति) से आनन्दित हो ॥

यह मन्त्र विभिन्न प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थो के मन्त्रो का विचित्र सम्मिश्रण है। इसका द्वितीय पाद ऋ० ३।८।११ का प्रथम पाद है तथा चतुर्थपाद यजुर्वेद सहिताओं मे विद्यमान एक मन्त्र का चतुर्थपाद है।[1] यह शा० गृ० ३।११।१४ और पा० गृ० ३।९।६ मे वृषोत्सर्ग मे प्रयुक्त एक मन्त्र का चतुर्थ पाद भी है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस सम्मिश्रण की रचना गृह्यसूत्रो से पूर्व ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थो मे हो चुकी थी।[2] सम्भवतया इस मन्त्र का स्रोत कोई ऐसी सहिता होगी जो अब उपलब्ध नही। श्रौत-कर्मकाण्ड मे इसका विनियोग अग्न्याधान के अन्तर्गत उदुम्बर की लकडी लाने के लिये किया गया है। उपर्युक्त गृह्यकर्म मे भी पति के द्वारा हटाई जाने वाली शाखा उदुम्बर वृक्ष की है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के विनियोग मे बौ० गृ० श्रौत-विनियोग से प्रभावित हुआ है।

पति उस शाखा को पत्नी के पास ले जाता है, वह इसे स्वीकार करती है। वह इसे उस (पति) के पास ले जाती है, वह इसे स्वीकार करता है। बौ० गृ० १।५।१९-२२ मे इन चारो क्रियाओ के साथ क्रमश निम्नलिखित मन्त्रो के उच्चारण का विधान है —

प्रजया त्वा ससृजामि मासरेण सुरामिव।
प्रजावती भूयासम् ॥

१ वा० स० ४।१, तै० स० १।२।३।२, का० स० २।४।
२ दे० तै० ब्रा० १।२।१।५, आप० श्रौ० ५।२।४।

प्रहार करते है ।।

प्रथम मन्त्र किसी भी संहिता मे उपलब्ध नही होता। मैत्रायणी और काठक संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों मे समानशय्या पर दम्पती के शयन के समय पत्नी द्वारा उच्चारणार्थ इसका विनियोग किया गया है।[1] इन गृह्यसूत्रों मे मन्त्र के पाठ में कुछ भेद भी है। का गृ का पाठ म पा के निकटतम है। केवल मात्र भेद म इन्द्र के स्थान पर न इन्द्र और रातिभि सरराण के स्थान पर मतिभि संविदान है। इसमे भी क्रिया म ध्यमपुरुषवाची होने के कारण इन्द्र (प्रथमा) भ्रष्ट प्रतीत होता है। मा गृ मे तो पाठ नितान्त भिन्न है —

प्रजापतिस्तन्व मे जुषस्व त्वष्टा देव सहमान इन्द्र ।
विश्वेदेवैरतु भि संविदान पुंसां बहूनां मातरौ स्याव ।।

यह भी भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। क्योंकि यहा भी कर्ता (प्र पु) और क्रिया (म पु) मे सगति नही। सहमान भी सहसा न का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। वा गृ मे प्रथम पाद तो म पा जैसा ही है परन्तु तदनन्तर तीनो पादो का पाठ निम्नलिखित है —

त्वष्टा वीर सहसाहमिन्द्र । इन्द्रेण देववीरेव सध्ययन्ती बहूनां पुंसां पितरौ स्याव ।।

यद्यपि पाठान्तरकार ने इसमे सङ्गति बिठाने का पूरा प्रयत्न किया है तथापि इसे मौलिक पाठ नही कहा जा सकता। अन्य पाठो से तुलना करते पर इसकी भ्रष्टता स्पष्ट हो जाती है। निस्सन्देह म पा का पाठ मौलिक प्रतीत होता है। इसमे भी अन्य पाठो की सहायता से वा पिल्ले के अनुसार सहसान (एक शब्द सामो से युक्त) के स्थान पर सहसा ने (दो शब्द) स्वीकार करना उचित समझा गया है।[3]

बौ गृ १।६।३ द्वारा इसका विनियोग पुंसवन सस्कार मे किया गया है। उस सस्कार का उद्देश्य भी पुत्रोत्पत्ति होने के कारण वहाँ भी यह असङ्गत नही है। अन्तिम दोनो मन्त्र ऋग्वेद और अथर्ववेद के विवाह-सूक्तो से उद्धृत हैं। इससे सिद्ध है कि मूल रूप म इनकी रचना इसी कर्म मे विनियोगार्थ की गई थी। द्वितीय मन्त्र का विवेचन किया जा चुका है। (दे मन्त्र स ७७५) अन्तिम मन्त्र बौ गृ

---

१ तृतीय पाद की तुलना त स ५।७।२४।१ के द्वितीय पाद विश्वदेवैर्यज्ञिय संविदान से की जा सकती है।

२ मा गृ १।१४।१६ का गृ ३१।१ का गृ ३।३।

३ नॉन व्हय अन्ग्रज इन बरिज से ३८५ पृ ३ ७।

४ १ ।८५।४३ ३७ अथर्व १४।२।४ ३८।

हम तुम्हारी कुक्षि में आह्वान करते है जिससे कि दस मास पश्चात् तुम उसे जन्म दो ॥ श्रो ब०

सामवेदीय गृह्यसूत्रो मे इन मन्त्रो का विनियोग चतुर्थीकर्म मे पति द्वारा उच्चारणार्थ किया गया है।[1] केवल अ गृ मे तीनो मन्त्र है। गो गृ और खा गृ मे केवल प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग है। मन्त्रों के गृह्य विनियोग का आधार ब्राह्मणो मे प्रतीत होता है क्योकि वहा भी पुत्रमन्थ कर्म के अन्तर्गत पति द्वारा पत्नी का स्पर्श करने पर इनके उच्चारण का विधान है।[2] उपर्युक्त सभी प्रयोगो मे यह बात समान है कि मन्त्रो का उच्चारण समावेशन से पूर्व निर्दिष्ट है। खा गृ १।२२।१२ मे केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग सीमन्तोन्नयन संस्कार मे उस अवसर पर किया गया है जब कि पति उस उदपात्र म अक्षत धान डालता है जिसमे से पत्नी को जल पीना होता है। इस विशेष विनियोग का आधार सम्भवतया आ सिञ्चतु शब्द है।

उपर्युक्त मन्त्रो के समान ही आपस्तम्ब बौधायन और हिरण्यकेशी ने निम्न लिखित दोनो मन्त्रो का विनियोग उपर्युक्त अवसर पर ही किया है[3] —

यथाग्निगर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भं दधामि ते ॥ [३०६]
व्यस्य योनिं प्रति रेतो गृहाण पुमान् पुत्रो जायतां गर्भो अन्त ।
तं माता दशमासो बिभर्ति स जायतां वीरतम स्वानाम् ॥ [३४]

जिस प्रकार से पृथिवी के गर्भ मे अग्नि है, जिस प्रकार आकाश के गर्भ में इन्द्र है जिस प्रकार दिशाओ का गर्भ वायु है उसी प्रकार मैं तुम्हारा गर्भ स्थापित करता हूँ॥ योनि को खोल कर रेत (वीर्य) स्वीकार करो तुम्हारे गर्भ के भीतर पुत्र उत्पन्न हो। माता उसे दस मास तक धारण करे वह अपने सम्बन्धियों मे सबसे अधिक वीर रूप मे उत्पन्न हो॥

मन्त्रो का यह पाठ म श्रा और हि गृ के अनुसार है। बौ गृ मे केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसमे बौ गृ और म पा मे दधामि के स्थान पर दधातु पाठ है। द्वितीय मन्त्र के द्वितीय पाद मे म पा मे जायताम् के स्थान पर धीयताम् पाठ है। खा गृ (१।१६।६) मे ये दोनो मन्त्र

१ गो गृ २।५।६ (म ब्रा १।५।६ ७) खा गृ १।४।१५ अ गृ २३।१८।
२ कौ ब्रा ८।५ श ब्रा १४।६।४।२ बृ उ ६।४।२१ २२।
३ आप गृ ३।८।१३ (म पा १।१२।५ ८) बौ गृ १।७।३८ हि गृ १।२५।१।

१।७।४४ मे एक समान प्रसङ्ग मे विनियुक्त किया गया है। पा० गृ० १।४।१६ में विवाह सस्कार मे वर-वधू के परस्पर समीक्षण के अवसर पर इसी मन्त्र का ईषद् भिन्न रूप प्रयुक्त किया गया है —

सा न पूषा शिवतमामेरय सा न ऊरू उशती विहर ।
यस्यामुशन्त प्रहराम शेप यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥ [३३५ क]

इस पाठ की भ्रष्टता प्रथम पाद मे ही प्रकट हो जाती है। पूषा (पु०) कर्ताकारक प्रथमा विभक्ति मे है और सा (स्त्री०) भी उसी कारक और विभक्ति मे है जब कि दोनो का लिङ्गभेद के कारण विशेषण विशेष्य सम्बन्ध नही हो सकता। दूसरी असङ्गति सा अथवा पूषा (प्र० पु०) और एरय म० पु० के पुरुष भेद मे है। हि० गृ० १।२।२० के अनुसार पाणिग्रहण कर्म के पश्चात् वर द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। परन्तु मन्त्र के अर्थ के सर्वाधिक अनुकूल विनियोग आपस्तम्ब का ही है।

ऋतु-समावेशन से पूर्व मन्त्रोच्चारण

चतुर्थी कर्म के विवरण के पश्चात् आपस्तम्ब, बौधायन और हिरण्यकेशी ने विधान किया है[1] कि पत्नीके ऋतुस्नाता होने पर, पति को उसके साथ समावेशन के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिये।[2] हि० गृ० के अनुसार इन मन्त्रो के द्वारा पति को पत्नी का आह्वान करना चाहिये —

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भम् दधातु ते ॥ [३३६]
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्ता पुष्करस्रजा ॥ [३३७]
हिरण्ययी अरणी य निर्मन्थतो अश्विना ।
त ते गर्भम् हवामहे दशमे मासि सूतवे ॥[३३८]

विष्णु तुम्हारा गर्भ तैयार करे, त्वष्टा (शिशु के) रूप का निर्माण करे, प्रजापति (शुक्र) सिंचित करे, धाता तुम्हारा गर्भ-धारण करे ।। हे सिनीवाली, गर्भ प्रदान करो, हे सरस्वती, गर्भ प्रदान करो, कमल-माला धारण किये हुए दोनो अश्विनुदेव तुम्हे गर्भ प्रदान करें। जिस भ्रूण को दोनो अश्विनुदेव अपनी सुवर्णमयी अरणियो से उत्पन्न करते है, उस भ्रूण को

१ आप० गृ० ३।८।१३ (म० पा० १।१२।१-३), बौ० गृ० १।७।३७,३६,४०, हि० गृ० १।२५।१।

२ ऋ० १०।१८४।१-३, अथर्व० ५।२५।५,३ (केवल प्रथम दो)

भा गृ मे मन्त्र का पूर्वार्ध शिवेन त्वा पंचशाखेन हस्तेनाविद्विषावता है। उत्तरार्ध मे हस्तेन नही है और अभिमृशामसि के स्थान पर अभिमृशामि पाठ है। परन्तु इस पाठ मे छन्दोभङ्ग हो गया है जबकि हि गृ० के पाठ मे से यदि अन्तिम शब्द निकाल दिया जाये (क्योंकि वह अतिरिक्त प्रतीत होता है) तो मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ होगा। किसी भी रूप मे मन्त्र काव्यात्मक होते हुए पूर्णतया प्रसङ्गानुकूल है।

उपर्युक्त क्रिया के लिये ही बहुत से गृह्यसूत्रों द्वारा एकशब्दात्मक अत्यन्त लघु मन्त्र का प्रयोग किया गया है[1] —

करत् ॥ वह शुभ करे। [३४३]

केवल भा गृ० मे इसके आगे शयत् जोडा गया है। कौशिक ९१।११ मे परम्परा से पृथक इस मन्त्र का विचित्र प्रयोग हुआ है। तदनुसार अर्घ्यकर्म मे अतिथि इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ षष्ठ बार मधुपर्क भक्षण करता है। वहां इसके साथ स्वाहा भी जुडा हुआ है। सम्भवतया दोनो प्रसङ्गों मे मन्त्र का अर्थ प्रसङ्गानुकूल होने के कारण इसका विनियोग मधुपर्क मे भी किया गया है।

पत्नी के गुप्ताङ्ग-स्पर्श की क्रिया के लिये कौशिक० ७७।११ मे निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व ४।१।१) का विनियोग किया गया है —

ब्रह्मजज्ञानम् प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ [३४४]

जो ब्रह्म पहले पूर्व दिशा में उत्पन्न हुआ था वेन (सूर्य) सुदीप्त सीमा से प्रकट हुआ था उसने इस सत् और असत् की योनि (गर्भ) के मूल रूपों को प्रकट किया है ॥ ह्विटने

विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थो मे इस मन्त्र का विनियोग विविध प्रसङ्गो मे किया गया है।[2] श ब्रा मे राजसूय यज्ञ के अंतर्गत अग्निचिति मे कमलपत्र पर यजमान का स्वर्णहार स्थापित करने के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है। ऐ ब्रा और कौ० ब्रा के अनुसार इसका उच्चारण प्रवर्ग्य कर्मों मे होता को करना चाहिये। तै ब्रा मे पशुयज्ञों मे वपा की आहुति मे इसका विनियोग किया गया है। कौशिक मे स्वयं यह मन्त्र विविध रूप मे विनियुक्त हुआ है। कौशिक ९।१ मे इसका विनियोग गौओ के स्वास्थ्य और कल्याण के निमित्त कर्मों मे किया

---

१ मा० गृ १।१४।७ वा गृ १६।२ का गृ ३ ।५ आ गृ १।२ ।
२ श ब्रा० ७।४।१।१४ श्रताम० २८।२४ ऐ ब्रा० १।१९ कौ ब्रा० ८।४ तै ब्रा० २।८।८।८।

भिन्न प्रसङ्ग में आये हैं। तदनुसार उनका उच्चारण पति द्वारा पत्नी के साथ समावेशन के पश्चात् किया जाना चाहिये। प्रथम मन्त्र में शा० गृ० में पृथिवी के स्थान पर भूमि पाठ है। द्वितीय मन्त्र में इसमें व्यस्य के स्थान पर यस्य, प्रति के स्थान पर पति, गृहाण के स्थान पर गृभाय जायताम् के स्थान पर धीयताम् और वीरतम के स्थान पर श्रेष्ठतम पाठ है। तृतीय पाद तं पिपृहि दशमास्योऽन्तरुदरे है। शा०गृ० में इस मन्त्र के प्रारम्भ में यस्य पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। यद्यपि प्रति के स्थान पर पति भी अज्ञान का परिणाम प्रतीत होता है, तथापि प्रसङ्ग में उसकी सङ्गति बैठ जाती है। ऐसा आभास होता है कि विशेष रूप से शाखाभेद प्रदर्शित करने के लिये ये परिवर्तन किये गये होंगे।

श० ब्रा० में केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग पुत्रमन्थ में पत्नी का आश्लेष करते हुए पति के उच्चारणार्थ किया गया है[1]। अतः इसका गृह्य-विनियोग का आधार होना स्पष्ट ही है।

पत्नी के गुप्त अंगों का स्पर्श

गन्धर्वस्य विश्वावसोर्मुखमसि ॥ [३४१]
तुम विश्वावसु गन्धर्व का मुख हो।

विवाह में गन्धर्व का सम्बन्ध सुविख्यात है। लाक्षणिक रूप में यहाँ गन्धर्व का विवाह-निष्पत्ति का द्वार कहा गया है। उसके अतिरिक्त गन्धर्व के मुख से पवित्रता का भाव भी सम्बद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ अथर्व० ७।७३।३ में कहा गया है कि सभी देवता गन्धर्व के मुख से लेहन करते हैं[2] —

तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ [३४१ क]

उपर्युक्त क्रिया के लिये ही हि० गृ० १।२४।३ और भा० गृ० १।२० में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

अभि त्वा पञ्चशाखेन शिवेनाविद्विषावता।
साहस्रेण यशस्विना हस्तेनाभिमृशामसि सुप्रजास्त्वाय ॥ [३४२]

पाँच शाखाओं (उंगलियों) वाले, कल्याणकर, विद्वेषरहित, सहस्रों की शक्ति से युक्त, यशस्वी हाथ के द्वारा शोभन सन्तान के लिये मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ॥

१ श० ब्रा० १४।९।४।२१, बृ० उ० ६।४।२२, दे० अथर्व० ५।२५।२।
२ दे० आ० श्रौ० ४।७।४, शा० श्रौ० ५।१०।२३—तमीं विश्वे इत्यादि।

दिया ॥ स्वर्णिम शोभा वाले आप दोनों पुत्रवान् और कुमारवान् होकर सम्पूर्ण आयु प्राप्त कर ॥ हे प्रिय यज्ञों वाले दम्पती सुखप्रद (अन्न) देव हामो को प्रदान करने वाले पात्रों मे उपयुक्त धन रखने वाले आप दोनों सन्तान की वृद्धि के लिये रोमश (वृषभ) और ऊध (योनि) का (मैथुन के लिये) सयोग कराइये। पुत्रादि सहित आप दोनों देवो के प्रति स्तुति अन्न और दानरूप परिचर्या करते हैं ॥ सा० (ऋक्पाठानुसार)

प्रथम मन्त्र की तुलना अथर्व० १४।२।३६ से की जा सकती है। द्वितीय मन्त्र किसी अन्य ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता। तृतीय मन्त्र ऋ १ ११८३।३ है। मैत्रायणी और काठक संहिताओ से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे समावेशन के लिये दम्पती के शयन करने के समय इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है[1]। बौ० गृ० १।७।४३ के अनुसार समावेशन के समय पति को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपना स्पर्श करना चाहिये। किसी भी रूप म इन सभी प्रसङ्गो मे इसका विनियोग सङ्गत ही है क्योंकि इसमें सन्तानोत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रो का स्रोत ऋ (८।३१।८ ९) है। म पा मे इन मन्त्रो के पाठ म कुछ अन्तर है। चतुर्थ मन्त्र मे मूल ऋ पाठ के ता तथा व्यश्नुत के स्थान पर यहाँ क्रमश इमा तथा व्यश्नुताम् दिया गया है। पञ्चम मन्त्र मे ऋ पाठ के वशस्यन्तामृताय सचूध और हुत के स्थान पर क्रमश वशस्यन्त्वामृताय शचूध और हुय पाठ दिया गया है। यह पाठ मूल का भ्रष्ट पाठ ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी मे इन दोनो मन्त्रो की देवता दम्पती को ही बताया गया है। सम्भवतया इस देवतानिर्देश और मन्त्रो मे की गई दम्पती की प्रशसा के आधार पर आपस्तम्ब ने दम्पती द्वारा अनुष्ठेय कर्म मे इनका विनियोग किया है।

आ गृ (१।२) के अनुसार समावेशन के समय सम्पूर्ण अनुवाक (त स १।३।१) का उच्चारण किया जाना चाहिये। अनुवाक का प्रतीक निम्नलिखित है —

स ते मनसा मन । [३५१]

तुम्हारे मन से अपना मन सयुक्त करता हूँ।

श ब्रा ३।८।३।८ और आप श्रौ ७।२३।७ मे इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र का विनियोग पशु याग मे पशु के हृदय को आर्द्र करने के लिये किया गया है। परन्तु आ गृ के विनियोग का इससे कोई साम्य नही है। सम्भवतया प्रतीक मे व्यक्त मन सयोग के भाव से इसके गृह्य विनियोग को प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

---

१ मा गृ १।१४।१६ का गृ० १६।१ का गृ ३ ।३।

गया है, कौशिक० ३८।२३ में इसका विनियोग विवाद में सभाओं और प्रतिस्पर्धाओं में विजय प्राप्त करने के लिये किया गया है। कौशिक० १३।१० में स्नानार्थ के समय इसके उच्चारण का विधान है। बौ० गृ० २।१।३४ में इसका विनियोग उपनयन में आज्याहुति के लिये किया गया है। परन्तु इनमें से कोई भी विनियोग ब्राह्मणों के विनियोग के समान नहीं है। चतुर्थीकर्म और उपनयन में इसके विनियोग का औचित्य केवल ब्रह्म शब्द के आधार पर माना जा सकता है जिसका अर्थ वेद भी है। चतुर्थीकर्म में तो मन्त्र में इस प्रसङ्ग में सम्भावित योनि शब्द और ब्रह्म का उल्लेख विनियोक्ता के ध्यान में रहा होगा।

का० गृ० ३०।६ में पत्नी द्वारा पति-जननेन्द्रिय स्पर्श के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

भसत् ॥ [३८४]

हे जननेन्द्रिय, तुम दीप्यमान अर्थात् सत्कार्यजनन-समर्थ हो जाओ।

समावेशन

आप० गृ० ३।८।१० (म० पा० १।११।७-११) में विधान किया गया है कि समावेशन-क्रिया करते हुए निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये —

आरोहोरुमुपबर्हस्व बाहु परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
तस्यां पुष्यतं मिथुनौ सयोनी बह्वीं प्रजां जनयन्तौ सरेतसा ॥ [३८६]
आर्द्रयारण्या यत्रामन्थत् पुरुषं पुरुषेण शक्रः ।
तदेतौ मिथुनौ सयोनी प्रजयामृतेनेह गच्छतम् ॥ [३८७]
अहं गर्भमादधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥ [३८८]
पुत्रिणेमा कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । उभा हिरण्यपेशसा ॥[३८९]
वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्त्वामृताय कम् ।
शमूधो रोमशं हथो देवेषु कृणुतो दुवः ॥[३९०]

उरुस्थ पर आरोहण करो, भुजा फैलाओ और प्रसन्न मन से पत्नी का आलिंगन करो। समान योनि वाले तुम दोनों युगलरूप बहुत सन्तान उत्पन्न करते हुए परिपुष्ट हो जाओ॥ जब इन्द्र आर्द्र अरणी के द्वारा एक पुरुष को दूसरे पुरुष (नारी ?) के साथ मथ दे, तब युगल रूप समान योनि वाले ये दोनों अमर (देव स्वरूप) सन्तान से संयुक्त हो जायें। मैंने ओषधियों में गर्भ स्थापित किया, मैंने सभी प्राणियों के मध्य गर्भ स्थापित किया, मैंने पृथ्वी पर सन्तान उत्पन्न की, मैंने ही स्त्रियों में पुत्रों को जन्म

पा० गृ० के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण विवाह संस्कार मे प्रारम्भिक आहुतियो के पश्चात् वधू के मूर्धाभिषेक के समय किया जाना चाहिये। इसी प्रकार का गृ० (२५।२०) के अनुसार विवाह संस्कार म मुख्य यज्ञ मे से अवशिष्ट आज्य की बूंदो को वधू के सिर पर डालते हुए इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। वहाँ मन्त्र का निम्नलिखित पाठ दिया गया है —

या ते पतिघ्नी तनूरपतिघ्नीं ते तां करोमि।
या ते अपुत्रिया तनूः पुत्रियां ते तां करोमि।
या ते अपशव्या तनूः पशव्यां ते तां करोमि॥ [२५७]

तुम्हारा जो पति-नाशक शरीर है उसे मै अपतिनाशक बनाता हूँ। तुम्हारा जो पुत्र-हीन शरीर है उसे मैं सपुत्र बनाता हूँ। तम्हारा जो पशु हीन शरीर है उसे मै पशु युक्त (अर्थात् पशुओ के लिए शुभ) बनाता हूँ॥

का गृ (१।१६।४) मे विधान है कि ऋषभचर्म पर बैठने के पश्चात् प्रदान की जाने वाली आहुतियो मे से एक के साथ इसका उच्चारण होना चाहिये। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है —

या ते पतिघ्न्यलक्ष्मी देवरघ्नी जारघ्नीं तां करोमि॥

(तुम्हारा जो पतिनाशक लक्ष्मी रहित देवरनाशक (शरीर है) उसे मैं जारनाशक बनाता हूँ॥)

उपर्युक्त सभी प्रयोगों की यह समानता है कि सर्वत्र यह वधू के प्रति सम्बोधित किया गया है और यह कि वर वधू के शरीर के विभिन्न सम्भावित दोषों को दूर करने के संकल्प की घोषणा करता है।

समावेशन के पश्चात् मन्त्रोच्चारण

का गृ० १।१९।४ के अनुसार समावेशन के पश्चात् पति को निम्नलिखित वाक्य का जाप करना चाहिये —

प्राणे ते रेतो दधाम्यसौ॥[२५८]

यह मैं अमुक वाला (नाम) तुम्हारे प्राण मे शुक्र धारण करता हूँ।

यह वाक्य किसी प्राग् गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं होता। इस वाक्य के अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र मे कुछ और भी मन्त्र विनियुक्त किये गये हैं। उनका विवेचन क्रमश एक-एक करके किया जा रहा है —

(क) आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो अत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्य॥ [२५९]

जिस प्रकार वाण तूणीर मे रहता है उसी प्रकार तुम्हारी योनि मे पुरुष गर्भ आ जाए। उसमे से दस महीने के पश्चात् तुम्हारा वीर पुत्र उत्पन्न हो।

यह मन्त्र अथर्व० ३।२३।२ है। ऋ० खि० २।१०।१ भी यही मन्त्र है परन्तु उसमे योनिम् और गर्भ का क्रमविपर्यय हो गया है। आग्नि० गृ० १।६।३ मे भी समावेशन के पश्चात् उच्चारणार्थ इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य गृह्यसूत्रो मे सन्तान से सम्बद्ध विविध कर्मों मे यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ है। स्वय शा० गृ० १।१६।८ म ही एक अन्य स्थान पर वधू की गोद म किसी बालक को बिठाने के अवसर पर इसका विनियोग किया गया है। आप० गृ० और हि० गृ० के अनुसार समावेशन से पूर्व दम्पती द्वारा उच्चारणीय मन्त्रो म से यह एक है।[1] कौशि० ३५।३ मे पुत्रप्राप्ति के लिये की जाने वाली एक क्रिया म इसका विनियोग किया गया है। आ० गृ० १।१३।६ मे अनवलोभन कर्म म पत्नी के नासिका-रन्ध्र मे अम्लान बूटी का टुकडा डालने के लिये इसका विनियोग किया गया है। पुरुष सन्तान के गर्भ की प्रार्थना होने के कारण मूल रूप मे इस मन्त्र की रचना गृह्यकर्मों मे विनियोगार्थ की गई प्रतीत होती है।

(ख) पुमास पुत्र जनय त पुमाननुजायताम्।
तेषा माता भविष्यसि जाताना जनयासि च ॥[2] [३६०]

तुम पुरुष सन्तान को जन्म दो, और उसके पीछे पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो। तुम उत्पन्न पुत्रो की माता होगी।

यह मन्त्र अथर्व० ३।२३।३ है जिसका उत्तरार्ध निम्नलिखित है —

भवासि पुत्राणा माता जाताना जनयाश्च यान् ॥

यह मन्त्र कतिपय पाठ-भेद सहित अन्य गृह्यसूत्रो मे भी उपलब्ध होता है।[3] उनमे इसका विविध रूप से विनियोग किया गया है। म० ब्रा० मे पूर्वार्ध मे

१ आप० गृ० ३।८।१३ (म० पा० १।१२।६), हि० गृ० १।२५।१।

२ मन्त्र का जनयासि पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। सीताराम सहगल ने ओल्डनबर्ग के सस्करण मे से जातयामि, जनयान्ति, जनयानि, जनयमि पाठेतर उद्धृत किये हैं। (शा० गृ०, पृ० १७, पा० टि० १२) वस्तुत ये सब अथर्व० के जनयाश्च-यान् (और जिन्हें तुम जन्म दो) के भ्रष्ट रूप प्रतीत होते हैं। अत यहा अथर्व० पाठ ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

३ गो० गृ० २।६।११ (म० ब्रा० १।४।६), आप० गृ० ३।८।१३ (म० पा० १।१३।२), आग्नि० गृ० १।६।३, कौशिक० ३५।३।

अभय के स्थान पर विवस्व पाठ है। गो०गृ में इसका विनियोग पुंसवन संस्कार में पत्नी के दक्षिण नासिका रन्ध्र में चूर्णित न्यग्रोध अंकुर डालने के लिये किया गया है। म पा० और आग्नि०गृ मे प्रथम पाद पुमांस्ते पुत्रो नारि है। आग्नि गृ मे तो विनियोग शा गृ० के समान है आप० गृ० के अनुसार इसका उच्चारण पति के द्वारा समावेशन से पूर्व किया जाना चाहिए। कौशिक मे इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्वोक्त मन्त्र के समान ही है। (देखिये ऊपर क) पुत्रो के प्रजनन का संकेत होने के कारण सम्भवतया यह मन्त्र भी मूल रूप मे सन्तान के गर्भ अथवा जन्म से सम्बद्ध कर्म मे प्रयोगार्थ रचा गया होगा।

(ग) पुंसि वै पुत्रो रेतस्तत् स्त्रियामनुषिच्यताम्।
तथा तदब्रवीद्धाता तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ [३६१]

निश्चय ही पुरुष सन्तान के लिए (मनुष्य) उस (अपने) वीर्य को स्त्री में प्रवाहित करे। वही बात धाता ने कही है और वही बात प्रजापति ने कही है ॥

यह मन्त्र अथर्व ६।११।२ के बहुत समान है। उक्त अथर्व मन्त्र का विनियोग कौशिक ३५।८ मे भी पुंसवन में किया गया है। अतः सम्भवतया इस संस्कार के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध अथर्व जितना प्राचीन होगा।

(घ) प्रजापतिर्व्यदधात् सविता व्यकल्पयत्।
स्त्रीषूयमन्यास्वादधत् पुमांसमादधादिह ॥ [३६२]

प्रजापति ने विधान किया सविता ने रचना की-(उसने) स्त्री-जन्म तो अन्य (स्त्रियो) मे स्थापित किया और पुरुष सन्तान को यहाँ (तुझमें) स्थापित किया।

अन्यास्वादधत् पाठ को भ्रष्ट मानकर सभी विद्वान् इसका संशोधन अन्यास्वादधत् के रूप मे करने का सुझाव देते हैं।[1] इस मन्त्र के निकटतम पूर्ववर्ती रूप अथर्व ६।११।३ मे तृतीय पाद का पाठ स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् है। उससे इस पाठ की भ्रष्टता और भी स्पष्ट हो जाती है। स्त्रीषूयम् का अर्थ भी स्त्रैषूयम् (स्त्रीजन्म) पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।[2] उपर्युक्त मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का विनियोग भी कौशिक० ३५।८ में पुंसवन मे हुआ है और इसी आधार पर इस मन्त्र की

---

१ ब० कान्० सीताराम सहगल—शां गृ० पृ० १७ पा टि०१९ जिसमें मान आर् मन्त्रस् इन संस्कृत स ४।११ पृ ३२।
२ दे हा० ओ० सी० स ७ पृ २८७।

रचना भी मूलरूप में उक्त संस्कार मे प्रयोगार्थ की गई प्रतीत होती है ।

(ङ) यानि भद्राणि बीजानि पुरुषा जनयन्ति न ।
तेभिष्ट्व पुत्र जनय सुप्रसूर्धेनुका भव ।। [३६३]

हमारे लिये पुरुष जिन कल्याणकर बीजो को उत्पन्न करते है, उनसे तुम पुत्र उत्पन्न करो । तुम सुप्रसविनी धेनु (के समान) हो जाओ ।।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० खि० २।१०।३ का उत्तरार्ध है- एकमात्र पाठभेद पुरुषा के स्थान पर ऋषभा है । ऋ० खि० २।१०।४ का तृतीय पाद इसके तृतीय पाद के समान है । पूर्णरूपेण अथर्व० ३।२३।४ को इसका मूलस्रोत कहा जा सकता है। वहाँ पुरुषा के स्थान पर ऋषभा, न के स्थान पर च, तेभि के स्थान पर तै, जनय के स्थान पर विन्दस्व और सुप्रसू के स्थान पर सप्रसू पाठान्तर है ।[1]

आप० गृ० और हि० गृ० मे समावेशन से पूर्व पति द्वारा उच्चारणीय मन्त्रो मे इसका परिगणन किया गया है ।[2] कौशिक० ३५।३ मे पुत्रप्राप्ति-निमित्त कर्म मे यह विनियुक्त हुआ है । म० पा० मे अथर्व० का पाठ है परन्तु शा० गृ० का न विद्यमान है और पुत्रम् के स्थान पर पुत्रान् पाठ है । हि० गृ० मे निम्नलिखित पाठ है —

यानि प्रभूणि वीर्याण्यृषभा जनयन्तु ।
तैस्त्व गर्भिणी भव स जायता वीरतम स्वानाम् ।।

भाव समान होते हुए भी यह एक पृथक् मन्त्र प्रतीत होता है । जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, उपर्युक्त मन्त्र और उसके पाठान्तरो का विनियोग अर्थानुकूल है ।

(च) अभिक्रन्द वीडयस्व गर्भमाधेहि साधय ।
वृषाण वृषन्नाधेहि प्रजायै त्वा हवामहे ।। [३६४]

हुंकार भरो, प्रेरित करो, गर्भ स्थापित करो, उसे सिद्ध करो, हे ऋषभ (समान बलिष्ठ) ! ऋषभ (समान बलिष्ठ) गर्भ को स्थापित करो, हम तुम्हें सन्तान के लिए बुलाते हैं ।

इस मन्त्र की तुलना अथर्व० ५।२५।२ से की जा सकती है जिसका विनियोग कौशिक० ३५।५ मे पुंसवन संस्कार में किया गया है । अथर्व० मे वीडयस्व के स्थान पर वीरयस्व पाठ है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना पुत्र-प्रजनन से

१ सातवलेकर के ऋ० संस्करण मे यह खिलमन्त्र पाचवें मण्डल के पश्चात् चौथा है और पूर्णरूपेण अथर्व० मन्त्र के समान है ।
२ आप० गृ० ३।८।१३ (म०पा० १।१३।३), हि० गृ० १।२५।१

सम्बद्ध कम मे विनियोगार्थ हुई थी। प्राय इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त वृषभ अथवा वृषा शब्द पुरुषशक्ति अथवा प्रजनन शक्ति का प्रतीक है। इस मन्त्र का सौन्दर्य यह है कि केवल पुत्र की ही कामना इसमे व्यक्त नही ह अपितु बलिष्ठ पुत्र की कामना है।

पुंसवन

यद्यपि कुछेक गृह्यसूत्रो मे इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भाधान से षष्ठ सप्तम तथा अष्टम मास भी दिया गया है तथापि बहुमत इसके तृतीय अथवा चतुर्थ मास मे पुंल्लिङ्ग नाम वाले नक्षत्र म अनुष्ठान के पक्ष में ह।

आहुतियाँ

बौ गृ १।१९ के अनुसार सर्वप्रथम ऋग्वेद के सम्पूर्ण पुरुष सूक्त (१०।९०) का उच्चारण करते हुए अग्नि मे आज्याहुतियाँ अर्पित की जानी चाहिय। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रकार को इस प्रसङ्ग मे उक्त सूक्त का विनियोग करने की प्रेरणा केवल पुरुष शब्द से प्राप्त हुई होगी क्योंकि उसी एक शब्द का सम्बन्ध इस संस्कार के उद्देश्य पुरुष सन्तान की प्राप्ति से है। अन्यथा इस प्रकार के दार्शनिक सूक्त की संगति इस प्रसङ्ग मे नही बैठ सकती। या फिर सूक्त मे जो सृष्टि-क्रम वर्णित हुआ है उसका सम्बन्ध सृष्टि (पुत्रोत्पत्ति) से माना गया होगा। सम्भव है कि उस सूक्त के विनियोग का अभिप्राय उसमे वर्णित सर्वशक्तिसम्पन्न अत्यन्त बलशाली पुत्र की प्राप्ति की कामना की अभिव्यक्ति हो।

भा० गृ (१।२२) म आहुतियो के लिए निम्नलिखित चार मन्त्रो का विनियोग किया गया है[1]—

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानो मर्त्य मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्॥ [३६५]
यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ [३६६]
त्वे सुपुत्र शवसोऽवृत्रन् कामकातयः। न त्वामिन्द्रातिरिच्यते॥[३६७]
उक्थ उक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथे नीथे मघवानं सुतासः।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते॥ [३६८]
जो मैं मनुष्य स्तुति युक्त हृदय द्वारा आपको मनुष्य मानता हुआ

---

१ ऋ० ५।४।१० ११ ८।९२।१४ ७।२६।२ तु स १।४।४६।१ २ का स १।१२ (केवल द्वितीय मन्त्र)।

बार-बार बुलाता हूँ, हे जातवेदा हम मे यश स्थापित कीजिए, हे अग्नि, मैं सन्तान द्वारा अमरत्व प्राप्त करूँ॥ हे जातवेद अग्नि, जिस सत्कर्म करने वाले के लिए आपने इस लोक को सुखकर बनाया है, वह कल्याणपूर्वक घोडो, पुत्रो वीरो तथा गौओ से युक्त धन को प्राप्त करता है॥ हे बल के शोभन पुत्र कामनाओ से युक्त (सभी मनुष्य) आपके पास पहुँचते है, हे इन्द्र आपका अतिक्रमण कोई नही कर सकता॥ बाधा मे पडे हुए पुत्र जिम प्रकार पिता का आह्वान करते है उसी प्रकार एक साथ यज्ञ करने वाले जब भी रक्षा के लिए (इन्द्र का) आह्वान करते है (तभी) प्रत्येक उक्ति पर सोम इन्द्र को आनन्दित करता है और पिसे हुए (सोम की) बूँदें भी प्रत्येक अभियान मे उस समृद्धिशाली को आनन्दित करती है॥

इन मन्त्रो का सीधा स्रोत तै० स० प्रतीत होती है क्योकि वही पर सवप्रथम ये मन्त्र सामूहिक रूप मे इसी क्रम मे उपलब्ध होते हैं। ऋ० मे ये सब विद्यमान होते हुए भी प्रकीर्ण है (दे०पा०टि० १, पृ० १८६)। विनियोग के लिए भी भा०गृ० ने तै० स० का अनुसरण किया प्रतीत होता है क्योकि वहाँ ये काम्येष्टियो मे याज्याओ के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। और तै० स० के ब्राह्मणांश (२।२।४।४) मे स्पष्ट निर्देश है कि सन्तानेच्छु को क्रमश प्रथम दो और अन्तिम दो मन्त्रो का उच्चारण करते हुए अग्नि और इन्द्र को पुरोडाश अर्पित करने चाहियें। आ० श्रौ० (२।१०।६) मे केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग पुत्रकामेष्टि मे किया गया है। इस दृष्टि से आप० गृ० ४।१४।२ (म० पा० २।११।५—८) द्वारा सीमन्तोन्नयन मे आहुतियो के लिये भी इन मन्त्रो का प्रयोग सङ्गत है। बौ० गृ० १।६।१० में इन मन्त्रो का प्रयोग विवाह के अन्तगत किया गया है। परन्तु अन्तिम दोनो मन्त्रो की विनियोग के साथ सगति बैठाना कठिन है।

एक यव और दो सर्षप बीज रखना

हि० गृ० (२।२।२-४) और आग्नि० गृ० २।१।१ मे विधान है कि पति को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए पत्नी के दक्षिण हाथ मे जौ का दाना रखना चाहिये —

वृषासि॥ तुम वृषभ अर्थात् पुरुष शक्ति से युक्त हो। [३६६]

इसके पश्चात उसे जौ के दोनों ओर एक-एक सर्षप बीज अथवा माष (उडद) का एक-एक दाना रखना चाहिए और निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये —

अण्डौ स्थ॥ तुम दोनो दो अण्डकोश हो। [३७०]

तत्पश्चात् उन पर थोडा दही डालकर उसे निम्नलिखित शब्द का उच्चारण

करते हुए यह मिश्रण पत्नी को भक्षणार्थ देना चाहिए —

इवापुतत् (इवापूतत्) ॥ शीघ्र व्याप्त हो ।[1] [३७१]

जैसा कि मन्त्रो से स्पष्ट है उपर्युक्त क्रियाओ मे यव और सर्षप बीज पुरुष के प्रजननाङ्ग का प्रतीक है और दधि शुक्र का।

जै गृ १।५ के अनुसार पति से यव सर्षप और दधि का मिश्रण हस्तगत करते हुए पत्नी को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—

प्रजापति पुरुष परमेष्ठी स मे पुत्र ददात्वायुष्मन्त
यशस्विन सह पत्या जीवसूर्भूयासम् ॥ [३७२]

प्रजापति पुरुष परम स्थान पर स्थित है। वह मुझे आयुष्मान् और यशस्वी पुत्र प्रदान करे। मैं पति के साथ जीव प्रसू हो जाऊ ॥

यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे उपलब्ध नही है। अत इसका गृह्यमूल निश्चित-प्राय है।

पत्नी का उदर स्पर्श

हि गृ (२।२।५) और आग्नि गृ (२।१।११) मे विधान है कि पत्नी द्वारा उपर्युक्त मिश्रण के भक्षण के पश्चात् पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी का उदर-स्पर्श करना चाहिये—

आभिष्ट्वाह दशभिरभिमृशामि दशमास्याय सूतवे ॥ [३७३]

मैं इन दस (अगुलियो) के द्वारा दस मास की प्रसूति के निमित्त तुम्हारा स्पर्श करता हू।

आपस्तम्ब और भारद्वाज ने क्षिप्र प्रसवन कर्म मे पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया है।[2] म पा का पाठ उपरिलिखित पाठ के समान है। भा गृ मे आभिष्ट्वाह दशभि के स्थान पर दशभिष्ट्वांगुलिभि पाठ है। यह मन्त्र किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है। तथापि उक्त कर्म के साथ इसकी पूर्ण सगति है और इसीलिये इसका गृह्य-मूल निश्चित प्राय है।

गो गृ और खा गृ मे पति द्वारा पत्नी को नाभि के स्पर्श के अवसर पर

---

१ अर्थ अस्पष्ट है। ओल्डनबर्ग इसके विषय में मौन है। यह अर्थ यास्क की इवात्र (शीघ्र) शब्द की निरुक्ति का अनुसरण करके किया गया है जिसके अनुसार इवा आशु का विपर्यय है। दे नि० ५।३।

२ आप गृ० ६।१४।१४ (अ पा २।११।१५) भा गृ १।२२।

निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]—

पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ।। [३७४]

मित्र और वरुण पुरुष हैं, दोनो अश्विन् पुरुप हैं, अग्नि और वायु भी पुरुप है। तुम्हारे उदर मे भी पुरुप गर्भ (हो)।

आ० गृ० १६।६ ने इसका विनियोग पति द्वारा पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये किया है। तदनुसार मन्त्र का उत्तरार्ध पुमांस गर्भ जायस्व त्व पुमाननुजायताम् है। इसकी तुलना म० ब्रा० मे एक अन्य मन्त्र के उत्तरार्ध से की जा सकती है। (दे० मन्त्र म० ३८५) यहाँ उस मन्त्र के विन्दस्व के स्थान पर जायस्व पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। वस्तुत प्रसङ्गानुसार जनयस्व (प्रेरणार्थक-उत्पन्न करो) होना चाहिये।

पा० गृ० (१।६।५) और शा०गृ० (१।१७।६) के अनुसार यदि पत्नी गर्भ-कामा हो तो उसे प्रतिदिन प्रात और साय हवन के समय प्रथम आहुति अर्पित करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। शा० गृ० मे उत्तरार्ध का पाठ पुमानिन्द्र-श्चाग्निश्च पुमांस-वर्धता मयि स्वाहा है। पा० गृ० का पाठ इसके बहुत निकट है—केवल अग्निश्च के स्थान पर सूर्यश्च और सवर्धताम् के स्थान पर सवर्ततांम् पाठ-भेद है।[2] इसमें मयि और स्वाहा के मध्य पुन का भी समावेश है। यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे उपलब्ध नहीं।

पत्नी के नासा-रन्ध्रों में जडी बूटियों के रस का अनुषिञ्चन

यह पुसवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म है। सभी गृह्यसूत्रो मे इसका वर्णन किया गया है यद्यपि सबमे इसके साथ मन्त्रो का विनियोग नही किया गया। नासारन्ध्रो मे डाला जाने वाला विभिन्न ओषधियो का रस एक प्रकार का नस्य (नस्वार) बन जाता है। इसका वैज्ञानिक आधार प्रतीत होता है। क्योकि वैद्यो का विश्वास है कि इसके द्वारा छींकें आने से गर्भाशय मे विशेष प्रकार की तरगें उत्पन्न होती हैं जिनसे पुरुष सन्तान बनने मे सहायता प्राप्त होती है। पा० गृ० (१।१४।३) और बा० गृ०

1 गो० गृ० २।६।३ (म० ब्रा० १।४।८), खा० गृ० २।२।१६।
2 ओल्डनवर्ग ने पुमांसम् (द्वितीया) और वर्धताम् (णिजन्त)—इस प्रकार अन्वय किया है। परन्तु डॉ० पिल्ले ने पुमान् सवर्धताम्—ऐसा अन्वय किया है।—नॉन ऋग्० मन्त्रज इन मैरिज, पृ० २७९ २८०, स० ३४३—"कौ०गृ० की मलयालम ताडपत्र पाण्डुलिपि (त्रावणकोर वि० वि० पाण्डुलिपि पुस्तकालय, स० ४३६) मे पुमान् सवर्धताम् पाठ है।"

(१६।६) में पति द्वारा पत्नी के दक्षिण नासारन्ध्र में न्यग्रोधवृक्ष की जड़ और सर्वोपरि अंकुर के रस के अनुषिञ्चन के अवसर पर अधोलिखित दो मन्त्रों के उच्चारण का विधान है—

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ [३७५]
अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मण समवर्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ [३७६]

सबसे पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) हुआ और उत्पन्न होते ही वह उत्पन्न प्राणिमात्र का एकमात्र पालक था। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया है। उस सुख स्वरूप देव के लिए हम आहुति द्वारा यज्ञ करें॥ जल से पृथिवी से रस से उत्पन्न अर्थात उन सबमें तत्त्वरूप में विद्यमान वह विश्वकर्मा से पहले हुआ। उसका रूप विधान करता हुआ त्वष्टा प्रकट होता है। मनुष्य के भीतर दिव्यांश रूप वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ॥

विशाल वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र इसकी उपस्थिति मात्र से इस मन्त्र का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।[1] दार्शनिक विषयवस्तु के लिये सुविख्यात हिरण्यगर्भ सूक्त का यह प्रथम मन्त्र है। भारतीय विचार धारा के इतिहास में सर्वप्रथम इसी स्थल पर हमें समस्त विश्व के एक मात्र अधिशासी परमपुरुष के दर्शन होते हैं। परन्तु इस गृह्य प्रयोग से पूर्व कहीं भी इस मन्त्र का विनियोग सन्तति से सम्बद्ध किसी कर्म में नहीं मिलता। अतः यह प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों के रचयिताओं ने केवल हिरण्यगर्भ के गर्भ और जात शब्दों के आधार पर इसे पुंसवन से सम्बद्ध किया है। मा० गृ० १।१।१ में इसका विनियोग वैवाहिक आहुतियों में किया गया है।

द्वितीय मन्त्र में प्रथम मन्त्र की भावना निहित है। यह केवल यजुर्वेद

[1] ऋ० १०।१२१।१ अथर्व० ४।२।७ वा० सं० १३।४ २३।१ २५।१ का० सं० का० २५।२३ मै० सं० २।२।१२।१ ४।१।८।३ २।८।२ ५।५।१।१२ तै० सं० ४।७।१५ १३।२३ ३।१२।१६ का० सं० १६।१५ २।१५, का० सं० अ० ५।११ प० ब्रा० ६।६।२ श० ब्रा० ७।४।१।१६ १३।५।२।२३ आ० श्रौ० २।१७।१५ ३।८।१ शा० श्रौ० ३।१४।७ ६।२३।६ १२।१२।११ आप० श्रौ० १४।२६।१ १६।७।८ २१।४ २२।३ १७।७।१ २०।२।२ १६।१२ का० श्रौ० १६।१।३५ १७।४।१ २५।११।३४ नि० १०।२३ ला० श्रा० ३।१२।२ १।१।१३ मा० श्रौ० ३।५।१८ ३।६।१६ ५।१।६।११ ६।१।३ इत्यादि

यह मन्त्र भी म०ब्रा० मे उपलब्ध नही होता। कही ऐसा तो नही कि ओषधि मे सम्बद्ध उपर्युक्त कर्म और मन्त्र दोनो ही इस गो०गृ० मे प्रक्षिप्त हो।

तदनन्तर पिसे हुए न्यग्रोधांकुर को पति अपने अंगूठे और अंगुली मे पकडकर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे पत्नी के नासा-रन्ध्र मे डाल देता है[1] —

पुमानग्नि पुमानिन्द्र पुमान्देवो बृहस्पति ।
पुमांस पुत्र विन्दस्व त पुमाननु जायताम् ॥ [३८६]

अग्नि पुरुष है, इन्द्र पुरुष है, बृहस्पति देव पुरुष है, तुम पुरुष सन्तान प्राप्त करो, और उसके पश्चात् पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो।

पुरुष-सन्तान की प्रार्थना होने के कारण पुंसवन मे इसकी उपयुक्तता असन्दिग्ध है। वा०गृ० १६।६ मे इसी सस्कार मे पत्नी के उदर-स्पर्श के निमित्त इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। उसमे पूर्वार्ध उपरिलिखित मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है। उत्तरार्ध का पाठ पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान्गर्भस्तवोदरे है। और यह अश म०ब्रा० के एक और मन्त्र के समान है। (दे० मन्त्र स० ३७३) का० गृ० ३२।३ में भी पुंसवन मे आहुतियो के निमित्त इससे मिलते-जुलते मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसमें केवल प्रथम पाद ही समान है। शेष मन्त्र का पाठ अधोलिखित है —

पुमान् विष्णुरजायत। पुमांस जनयेत् पुत्र दशमे मासि सूतवे ॥

इस गृह्य द्वारा स्वीकृत अन्तिम पाद का पाठ अधिक लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है क्योकि अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे वही उपलब्ध होता है[2]। परन्तु पूर्ण रूप से यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे अप्राप्य है।

सीमन्तोन्नयन

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि सर्वप्रथम निम्नलिखित चार मन्त्रो (तै०स० ३।३।११।२-३) का उच्चारण करते हुए धाता की चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें[3] —

धाता ददातु नो रयिमीशानो जगतस्पति । स न पूर्णेन वावनत् ॥[३८७]

१ गो०गृ० २।६।११ (म० ब्रा० १।४।६) खा०गृ० २।२।२३।
२ ऋ० खि० १०।१८४।२,३ अथर्व० ५।२५।१०-१३, म०पा० १।१२।६।
३ बौ०गृ० १।१०।४,५, आप०गृ० ६।१४।२ (म०पा० २।११।१-४), हि०गृ० २।१।२, आग्नि० गृ० २।१।२, वै०गृ० ३।१२।

हूँ। यदि तुम आदित्यों के लिये हो तो मै तुम्हे आदित्यों के लिए क्रय करता हूँ। यदि तुम मरुतों के लिये हो तो मै तुम्हे मरुतों के लिये क्रय करता हूँ। यदि तुम विश्वेदेवों के लिये हो तो मै तुम्हे विश्वेदेवो के लिये क्रय करता हूँ।

इन मन्त्रो मे देवताओ के नामोल्लेख और उनका क्रम देखते हुए दो बातें स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि उक्त देवताओ के समान तेजस्वी और बल-शाली पुत्रो की अप्रत्यक्ष कामना की गई है। और दूसरे यह कि संख्या मे अधिक से अधिक पुत्रो की कामना भी की गई है क्योंकि वसु आठ रुद्र ग्यारह आदित्य बारह मरुत् उनचास तथा विश्वेदेव अधिकतम संख्या के प्रतीक हैं। उनके लिए जड़ी बूटी क्रय करने का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि उस से उन देवताओ के समान गुण तथा संख्या वाले पुत्रो की प्राप्ति हो।

स्वल्प पाठान्तर सहित प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग गृह्यसूत्रो मे अन्य कर्मों मे भी किया गया है। आप०गृ (३।९।५) मे इन मन्त्रो के निम्नलिखित रूप का विनियोग पत्नी द्वारा पति पर विजय प्राप्त करने के निमित्त एक कर्म मे किया गया है। इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पत्नी को पाठा ओषधि के पौधे के चारों ओर जौ के इक्कीस दाने बिखेरने चाहियें —

यदि वारुण्यसि वरुणात्त्वा निष्क्रीणामि।
यदि सौम्यसि सोमात्त्वा निष्क्रीणामि॥

(यदि तुम वरुण की हो तो वरुण से तुम्हें धन देकर छुड़ाती हूं। यदि तुम सोम की हो तो सोम से तुम्हे धन देकर छुड़ाती हूं।)

कौशिक ३५।७ मे शिशु का कष्टहीन प्रसव प्राप्त करने के निमित्त कर्म मे इन मन्त्रो का मिलता-जुलता पाठ दिया गया है। इनका उच्चारण करते हुए न्यग्रोध[1] पौधे के चारो ओर जौ के इक्कीस दाने बिखेरने चाहियें। कौशिक का पाठ यह है —

यदि सोमस्यासि राज्ञ: सोमात्त्वा राज्ञोऽधिक्रीणामि॥
यदि वरुणस्यासि राज्ञो वरुणात्त्वा राज्ञोऽधिक्रीणामि॥

न्यग्रोध-अंकुर के इस प्रकार क्रय के पश्चात् पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी स्थापना करनी चाहिये —

ओषधय सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्य समाधत्तेयम् कर्म करिष्यति॥ [३८५]

हे ओषधियो प्रसन्न होकर तुम सब इस (ओषधि) मे बल स्थापित करो यह (पुत्रोत्पत्ति का) कार्य करेगी॥

१ कौशिक ८।१५ में इसकी गणना वास्तक वृक्षों में की गई है। भाष्यकार ने इसकी उत्पत्ति के लिये मालवक भूमि को प्रसिद्ध बताया है।

मान का इन चार धातृ-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसके स्थान पर दूसरी गौ लानी चाहिए। वस्तुत इन मन्त्रों में सामान्य सुख समृद्धि की अभिलाषा की गई है, अत सन्तति से असम्बद्ध कर्मों में भी इनका विनियोग असङ्गत नहीं प्रतीत होता।

कुछेक कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत सूतिका-गृह में सूतिकाग्नि हटाकर औपासनाग्नि का आधान करने के लिये किया गया है।[1] यह कर्म भी सन्तति से सम्बद्ध है। आ०गृ० १।१४।३ और शा०गृ० १।२२।७ में केवल द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का विनियोग सीमन्तोन्नयन में आहुतियों के लिये किया गया है। यह बडी विचित्र बात है कि ऋग्वेद में अप्राप्य होने पर भी इन मन्त्रों को प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। सम्भवतया इस प्रकार अपनी शाखा के आ० श्रौ० की ओर सकेत किया गया है। स्टैंज्लर ने इन दोनों मन्त्रों को उस रूप में उद्धृत किया है जिस रूप में वे आ०श्रौ० ६।१४।१६ से लेकर सस्कार-कौस्तुभ और प्रयोग-रत्न में दिये गये हैं। उस पाठ के अनुसार तृतीय मन्त्र में नो रयिम् के स्थान पर दाशुषे और सत्यराधस के स्थान पर वाजिनीवत है। द्वितीय मन्त्र में प्रजाया के स्थान पर प्रजानाम् पाठ है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है —

धाता कृष्टीरनिमिषा ऽ भिचष्टे धात्र इद्धव्य घृतवज्जुहोत ॥

(धाता कृषि को निर्निमेष दृष्टि से देखता है। धाता को घृत-युक्त आहुति प्रदान करो।)

उत्तरार्ध का यह पाठ मित्र को सबोधित ऋ० ३।५९।१ के बहुत निकट है। शा०गृ० ने अपनी शाखा के शा०श्रौ० (६।२८।३) का अनुसरण किया है। तदनुसार द्वितीय मन्त्र उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र के समान है और तृतीय मन्त्र में नो रयिम् के स्थान पर दाशुषे तथा सत्यराधस के स्थान पर सत्यधर्माण पाठ है। यह भी सम्भव है कि आ०गृ० और शा०गृ० दोनों ने इन मन्त्रों को ऋ० की ऐसी किसी सहिता में उद्धृत किया हो जो अब अनुपलब्ध है। कौशिक० ५९।१६ में इनमें से प्रथम मन्त्र सर्वकाम (सब वस्तुओं के अभिलाषी) द्वारा विभिन्न देवताओं के प्रति सम्बोधित अनेक मन्त्रों में से एक के रूप में दिया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस विनियोग का आधार मन्त्र की सामान्य समृद्धि की प्रार्थना है। विशेष रूप से पूर्णाग शब्द सर्वकाम के लिये और भी महत्त्वपूर्ण है।

अन्य आहुतियाँ

पुरोगामी धातृ-आहुतियों के अतिरिक्त आ०गृ० १।१४।३ और शा०गृ० १।२२।७ में निम्नलिखित तीन मन्त्रों के साथ तीन अन्य आहुतियों का भी

[1] हि०गृ० २।४।६, भा०गृ० १।२६, आग्नि०गृ० २।१।५।

धाता प्रजाया उत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान ।
धाता पुत्रं यजमानाय दाता तस्मा उ हव्यं घृतवद्विधेम ।। [१८८]

धाता ददातु नो रयिं प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यराधस ।। [१८९]

धाता ददातु दाशुषे वसूनि प्रजाकामाय मीढुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृता सव्ययन्तां विश्वेदेवासो अदितिः सजोषा ।। [१९०]

संसार का पालक ईश्वर धाता हमें धन प्रदान करे। वह हमें पूर्णता से युक्त करे। धाता प्रजा और धन का शासक है धाता ने इस सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न किया है। धाता यज्ञ करने वालों को पुत्र प्रदान करता है अतः हम उसे घृत युक्त आहुति अर्पित करें। धाता हमें प्रथम अक्षय जीवनप्रद धन दे। हम सच्ची पूर्णता वाले (उस) देव की सद्बुद्धि का ध्यान करते हैं। धाता सन्तान के इच्छुक दानी सुख प्रदान करने वाले को घर में ही धन प्रदान करें। अमर देवता विश्वेदेव तथा समान प्रीति वाली अदिति उसके लिये एकत्र होकर कार्य करें।

जहाँ तक अन्य संहिताओं में इन मन्त्रों की उपस्थिति का प्रश्न है अथर्व (८।१७।१ ३) में क्रमशः प्रथम तृतीय और चतुर्थ मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसके प्रथम मन्त्र में यजमानाय के स्थान पर यच्छतु पाठ है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों में जहाँ भी ददातु है उसके स्थान पर अथर्व० पाठ में दधातु मिलता है। उपरिलिखित चतुर्थ मन्त्र का प्रथम पाद अथर्व के द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद है। तृतीय मन्त्र में सत्यराधस के स्थान पर अथर्व में विश्वराधस पाठ है। अथर्व के चतुर्थ मन्त्र का प्रथम पाद धाता विश्वा वार्या दधातु है। इसी मन्त्र में अथर्व० में मीढुषे के स्थान पर दाशुषे और अमृता सव्ययन्तां विश्वेदेवास के स्थान पर अमृता सव्ययन्तु विश्वेदेवा पाठ है। मै स० ४।१२।६ में उपरिलिखित तृतीय और चतुर्थ मन्त्र प्राप्त होते हैं। तृतीय मन्त्र में सत्यराधस के स्थान पर सत्यधर्माण पाठ है। चतुर्थ मन्त्र समान है। का०स १३।१६ में ददातु के स्थान पर दधातु पाठभेद सहित केवल प्रथम मन्त्र प्राप्त होता है।

सन्तति से सम्बद्ध कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग तैत्तिरीय संहिता जितना प्राचीन है क्योंकि वहाँ (३।४।६) यह विधान है कि प्रजाकाम व्यक्ति को धाता अनुमति इत्यादि छोटे देवताओं को आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। आप श्रौ० १५।१८।६ में प्रवर्ग्य के प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हुए यह निर्देश किया गया है कि जिस गौ का दूध यज्ञार्थ प्रयुक्त किया जाने वाला है यदि वह लुप्त हो जाये तो यज

५।२५।१० से बहुत मिलता जुलता है। मात्र पाठान्तर विष्णो के स्थान पर धाता, गवीन्याम् के स्थान पर गवीन्यो और पुत्रान् के स्थान पर पुत्रम् है। आप०गृ०तथा आ०गृ०म० के भाष्यकार हरदत्तमिश्र ने सम्भवतया विष्णो (सम्बोधन) पाठ अथर्व० के धात (सम्बोधन) के आधार पर रखा है। म०पा० मे विन्तरनित्ज का झुकाव भी इसे सम्बोधन मानने की ओर ही है।[1] परन्तु क्योकि ऋ० के उसी सूक्त का प्रथम मन्त्र नेजमेष को सम्बोधित है अत इसे विष्णो (षष्ठ्यन्त) रखना अधिक उचित है क्योकि प्रार्थना तो नेजमेष से ही की जा रही है, विष्णु से नही। परन्तु अनुक्रमणिका मे इस सूक्त का देवता विष्णु को कहा गया है, अत तदनुसार विष्णो पाठ ही अच्छा है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे प्रजापते न त्वदेतानि इत्यादि मन्त्र (ऋ०१०।१२१।१०) के द्वारा एक अन्य आहुति का भी विधान है।[2] (दे० मन्त्र स०२३)

हि०गृ० मे इस मन्त्र की गणना सभी दर्वी होमा मे आहुति के लिये सामान्य तथा अनिवाय मन्त्र के रूप मे की गई है, और आग्नि०गृ० के विविध प्रयोगो से स्पष्ट है कि वहाँ भी इनका वैसा ही महत्त्व अभीष्ट है।[3] आ०गृ० (१।४।४) मे भी उल्लेख है कि चौलकम, उपनयन, गोदान तथा विवाह सस्कारो मे आहुतियों के साथ इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। इस गृह्यसूत्र मे एक अन्य स्थल (२।४।१४) पर इसका विनियोग अष्टका के अन्तगत बलि किये गये पशु की वपा की आहुतियो की अनुगामी आठ अवदान तथा स्थालीपाक आहुतियो मे से सप्तमी आहुति मे किया गया है। शा०गृ० (१।१८।४) मे इसका विनियोग पु सवन मे भी हुआ है। आप०गृ० और हि०गृ० मे शाला के किसी स्तम्भ मे से अकुर फूटना अथवा घर में मधुमक्षिकाओ द्वारा मधु बनाना जैसी घर की अव्यवस्था दूर करने के लिये अनुष्ठित कर्म में अर्पित की जाने वाली आहुतियो के साथ इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[4] गो०गृ० और खा०गृ० मे दारिद्रय-निवारणाथ अनुष्ठित कम मे इसका विनियोग किया गया है।[5] और वस्तुत मन्त्र के अन्तिम पाद मे दारिद्रच निवारण की

---

१ म०पा० १।१२।६,पृ०२२ पर पा०टि०

२ आ०गृ० १।१४।३, शा०गृ० १।२२।७, भा०गृ० १।२१, जै०गृ० १।७, हि०गृ० २।१।३, आग्नि०गृ० २।१।२।

३ हि०गृ० १।३।६, ८।१६, ६।७, १८.६, १६।८, २६।१०, २।४।१०, ५।२, ६।२, १५।१३, आग्नि०गृ० १।१।२,४,५।४,२।१।१,५,२।४,५, ४।२इत्यादि।

४ आप०गृ० ८।२३।६ (म०पा० २.२२।१६), हि०गृ० १।१७।६।

५ गो०गृ० ४।६।६ (म०ब्रा० २।५।८) खा०गृ० ४।१।१०।

विधान ह —

नेजमेष परापत सुपुत्र पुनरापत ।
अस्य मे पुत्रकामाय गर्भमाधेहि य पुमान् ॥ [३९१]
यथेयं पृथिवी मह्यं ुत्ताना गर्भमादधे ।
एवं त गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ [३९२]
विष्णो श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांस पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ [३९३]

हे नेजमेष देव ! (यदि मेरे भावी पुत्र के द्वारा तुम दुष्पुत्र हो तो) तुम मुझ से दूर हो जाओ (और यदि तुम मेरे भावी पुत्र के द्वारा) सुपुत्र हो तो फिर मेरे पास लौट आओ । और आकर मुझ सन्तान की अभिलाषिणी के लिए वह गर्भ स्थापित करो जो पुरुष हो ॥ जिस प्रकार ऊर्ध्वमुखी सम तल (वृष्टि जल को न बहाकर संग्रह करने वाली) पृथिवी ओषधीवनस्पति इत्यादि रूपी गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार से दसवें महीने पुत्र की उत्पत्ति के लिए तुम भी गर्भधारण करो ॥ हे विष्णु, अत्यधिक प्रशस्य आकार से युक्त पुरुष सन्तान को दसवें महीने प्रसव के लिये इस कामिनी नारी में स्थापित करो ॥[1] —ह मि०

मानव और आपस्तम्ब ने भी अन्य प्रसङ्गों में इन्हें उद्धृत किया है ।[2] मा गृ के अनुसार पुत्रकाम को पूर्णिमाके दिन इन मन्त्रोंके साथ आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें । आप० गृ के अनुसार इन मन्त्रों का उच्चारण पति को समावेशन के समय करना चाहिये । इससे यह स्पष्ट है कि किसी न किसी प्रकार से सर्वत्र ये मन्त्र सन्तानोत्पत्ति से सम्बद्ध हैं । मन्त्रों में पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना प्रकट ही है ।

ये मन्त्र वस्तुत ऋ १ ।१८४ के पश्चात् एक सम्पूर्ण खिलसूक्त हैं । मक्स म्युलर (ख ६ पृ ३१) और आफरेक्त (पृ०६६७) दोनों ने खैलिक सूक्तों के मध्य इसकी गणना की है । अथर्व० में प्रथम मन्त्र नहीं है । द्वितीय मन्त्र की तुलना अथर्व ५।२५।२ से की जा सकती है । (पै० अथर्व० ६।१७।१ ४) तृतीय मन्त्र अथर्व

१ ह मि के अनुसार विष्णो (संबोधन) पाठ है । इसी प्रकार वह गवीन्याम् के स्थान पर कविन्याम् पाठ देकर कामिनी अर्थ करता है — कमु कान्ताविरयस्य वर्णागमविपर्यासाविना कविनीशब्दो द्रष्टव्य । कामिन्यां सम्बर्धनार्हायामृतुमत्या मित्यर्थ । नि सन्देह यह दुराकृष्ट व्याख्या है । वस्तुत गवीन्याम् (गौ वसी) पाठ में कोई कठिनाई नहीं है ।

२ मा गृ २।१८।४ आप गृ ३।८।१२ (म०पा० १।१२।७ ४ ६)

राकामहं सुहवा सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ [३६४]
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ [३६५]

मैं शोभन स्तुति वाली राका का शोभन स्तुति के द्वारा आह्वान करता हूँ। वह अच्छे धन वाली हमारे इस आह्वान को सुने और स्वयं ही (हमारे प्रति अपने कर्त्तव्य को) जान ले। वह पुत्रपौत्रादिरूप अविच्छिन्न सन्तति की सूची के द्वारा कर्म का विस्तार करे। वह हमें शूरवीर, बहुत धन लाने वाले और प्रशंसनीय पुत्र प्रदान करे ॥ हे राका, जो तुम्हारी अनुग्रहात्मिका, सुरूप बुद्धि है, जिसके द्वारा तुम यजमान को धन प्रदान करती हो, उस बुद्धि से युक्त होकर हमें बहुत धनधान्य देती हुई, हे शोभन धन वाली तुम शोभनमन वाली होकर हमारे पास आओ ॥ —ह० मि०

उपर्युक्त प्रसंग में का० गृ० ३१।३ द्वारा केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। यद्यपि आ० गृ० और शा०गृ० दोनों में इन मन्त्रों का प्रयोग सीमन्तोन्नयन के अन्तर्गत किया गया है, तथापि इनके प्रसंग भिन्न हैं। आ०गृ० (१।१४।३) के अनुसार तो इनका उच्चारण आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये, और शा०गृ० (१।२२।१२) के अनुसार गाथा-गायन के पश्चात् पति को इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अक्षत-धान मिश्रित जल पत्नी को पिलाना चाहिये। वै० गृ० (३।११) में इनका विनियोग पुंसवन में भी पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तति तथा धन की प्रार्थना होने के कारण ये मन्त्र सामान्यतया सन्ततिसम्बन्धी किसी भी कर्म में उपयुक्त प्रतीत होते हैं, परन्तु फिर भी हुवे शब्द को तथा तै० सं० में इनके विनियोग को (दे० नीचे) ध्यान में रखते हुए आहुतियों में इनका विनियोग सर्वाधिक सम्मत प्रतीत होता है। सम्भवतया केश विभाजन में इन्हें विनियुक्त करने वाले अधिकांश गृह्यसूत्रों का आधार सीव्यतु और सूच्या शब्द रहे होंगे। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार सुई द्वारा वस्त्र सीने पर उस पर एक रेखा-सी बन जाती है वैसी ही रेखा इस स्त्री के केशों में बन जाये। और आप्टे का अनुवाद इस भाव के अनुकूल ही है।[1] परन्तु मन्त्र में इन शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक मानना अधिक उचित प्रतीत होता है जैसा कि हरदत्तमिश्र ने किया है। सूची का अर्थ अनुक्रम भी होता ही है। (दे० अथ)

---

१ ऋ० मन्त्रज इन रिचुअल सेटिंग, पृ० १७—"विद नीडल अनब्रेकिंग मे शी स्यू हर टास्क" —अखण्डित सुई के द्वारा वह अपने कार्य को सिये।

हो प्रार्थना है—हम धन के स्वामी हों। और तृतीय पाद में अभिव्यक्त भाव (जिस कामना को भी लेकर हम हवन करते हैं हमारी वह कामना पूर्ण हो जाय) कौशिक० ५९।१९ में विहित सर्वकाम (सब वस्तुओं के अभिलाषी) द्वारा अनुष्ठित कर्म के पूर्णतया अनुकूल ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है और सम्भवतया इसी कारण यह विस्तीर्ण प्राग्-गृह्यसूत्र वाङ्मय में एक एक ग्रन्थ में अनेक बार उपलब्ध होता है।[1] इन सब ग्रन्थों में से केवल त० सं० (२।६।११।४) और त० ब्रा० (२।८।१।२) में गृह्यसूत्रों के समान ही इस मन्त्र को सन्तति-लाभार्थ कर्म में पुरानुवाक्या के रूप में दिया गया है। गो० गृ० खा०गृ० और कौशिक में इसका विनियोग श० ब्रा० (१४।६।३।३) के समान है जहाँ किसी महत्त्वाकांक्षा की प्राप्ति के लिये विभिन्न कर्म में इसके उच्चारण का विधान है। मा० गृ० में (द० ऊपर) अष्टका-कर्म में इसका विनियोग कुछ अंश तक त० सं० (३।२।५।६) के अनुकूल है जहाँ इसका विनियोग पितरों को आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है और पितरों को आहुतियाँ अष्टका में भी अर्पित की जाती हैं। सामान्य समृद्धि की प्रार्थना के अतिरिक्त इस मन्त्र में पितरों से सम्बद्ध कोई विशेष बात नहीं है।

सीमन्त अर्थात् माँग बनाना

बहुत से गृह्यसूत्रों में विधान है कि पति को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ऊपर की ओर पत्नी के केशों का विभाजन कर माँग बनानी चाहिये[2] —

---

१ अथर्व ७।७९।४ ऋ० १०।१२१।१० वा० सं० १०।२० २३।६५ वा० सं० का० २९।१६, त० सं० १।८।१४।२ २।२।१२।१ ३।२।१।४ ३।२।५।६ मै० सं० २।६।१२ ४।१४।१ का० सं० १५।८ श० ब्रा० ५।४।२।९ १३।५।२।२३ १४।६।३।३ त० ब्रा० १।७।८।७ २।८।१।२ ३।५।७।१ ७।१।१।३ मा० श्रौ० १।२४ आ० श्रौ० २।१४।१२ ३।१।२३ शा० श्रौ० १६।७।३ ४।१।४ १८।४ १।१३।२३ २।१।१ १५।१३।११ आप० श्रौ० ३।१।८ ३।११।२ ९।३।४ १२।४ २०।१ १३।६।११ १२।१५ १४।१२।६ का०श्रौ० १५।६।११ मा० श्रौ० ११।२।३८।

२ गो० गृ० २।७।७८ (मं० ब्रा० १।५।१४) खा० गृ० १।२१ बौ० गृ० १।१।७ हि० गृ० २।१।१ आग्नि० गृ० २।१।२ आप० गृ० ६।१४।३ (मं० पा० २।११।९-११) भा० गृ०१।२२।

परम्परा की सम्पत्ति प्रतीत होता है। म० ब्रा० की अतिरिक्त पंक्ति का भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार किसी वृक्ष का एक-एक पत्ता धन दे उसी प्रकार यह नारी भी अपनी प्रत्येक क्रिया के द्वारा समृद्धि-दात्री हो।

गाथा का गायन

अनेक गृह्यसूत्रो मे विधान है कि इस अवसर पर वीणावादको को राजा अथवा किसी अन्य वीर की स्तुति मे कोई गाथा गाने को कहा जाना चाहिये।[1] शा० गृ० १।२२।११ मे भी यह विधान तो है, परन्तु वहाँ कोई विशेष गाथा निर्धारित नही की गई, दूसरी ओर अन्य गृह्यसूत्रो मे तदर्थ अधोलिखित पद्य दिया गया है —

सोम एव नो राजेमा मानुषी प्रजा।
अविमुक्तचक्र आसीरस्तीरे तुभ्यमसौ ॥ [३६८]

सोम ही हमारा राजा है, यह मानुषी प्रजा तुम्हारे राजचक्र से अवि-मुक्त तट पर निवास करे ॥

असौ के स्थान पर जिस नदी के निकट वे रहते हो उसका नाम सम्बोधन रूप मे लिया जाना चाहिये। उपरिलिखित पाठ पा० गृ० मे दिया गया है। हि० गृ० (२।१।३) और आग्नि० गृ० (२।१।२) के अनुसार गाथा वीणावादको द्वारा न गाई जाकर स्वय पति द्वारा गाई जानी चाहिये। केवल मात्र भा० गृ० (१।२१) मे इस पद्य का विनियोग माँग निकालने की क्रिया मे विहित है। पद्य का पाठ प्रत्येक गृह्य-सूत्र मे भिन्न है यद्यपि सबका भाव समान है। आ० गृ० मे निम्नलिखित पाठ है जिसे पद्यात्मक न होने के कारण गाथा नही कहा जा सकता —

सोमो नो राजावतु मानुषी प्रजा निविष्टचक्राऽसौ ॥ [३६९]

इसका अर्थ बहुत स्पष्ट नही है। इस स्पष्टता के प्रयोजन से ही आप्टे ने सोमो नो राजा को पृथक् वाक्य के रूप मे विच्छिन्न किया है।[2] भाष्यकार नारायण के समान ही वह भी निविष्टचक्रा का अन्वय असौ (नदी) के साथ करता है। परन्तु हरदत्त मिश्र के अनुसरण में स्टेंज्लर इसे सन्धि का अपवाद मानकर निविष्टचक्रा (बहु०) का अन्वय प्रजा के साथ करता है। और यदि अन्य गृह्यसूत्रो का अनुसरण करके असौ को सम्बोधन रूप का प्रतिनिधि माना जाये तो आप्टे का सुझाव अना-वश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा भी आप्टे का सुझाव अनपेक्षित लगता है क्योंकि

---

१ आ०गृ० १।१४।७, पा०गृ० १।१५।८, आप०गृ० ६।१४।६ (म०पा० २।११।१३) बौ० गृ० १।१०।११ वै०गृ० ३।१२ (केवल प्रतीक)

२ सोन ऋ०गृ० मन्त्रज् इन आ० गृ०, पृ० १८।

ये मन्त्र संहिताओं और श्रौतसूत्रों में भी विद्यमान हैं।[1] यद्यपि ऋ० में समस्त सूक्त में से केवल ये दो मन्त्र ही राका के प्रति सम्बोधित हैं तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० में सोद्देश्य ही इन दोनों मन्त्रों को एक स्वतन्त्र सूक्त के रूप में रखा गया है। तै० सं० (३।४।६) आ० श्रौ० और शा० श्रौ० के अनुसार प्रजाकाम को अन्य छोटे देवताओं के अतिरिक्त राका को आहुतियां अर्पित करनी चाहियें। इस प्रकार से सन्तति से सम्बद्ध कर्मों में इनके प्रयोग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

जै० गृ० (१।७) में पत्नी के केश विभाजन के लिये अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

प्राणाय त्वापानाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ [३६६]

मैं प्राण, अपान तथा व्यान के लिये (तुम्हारा सीमन्तोन्नयन करता हूं।)

कुछ गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि मांग निकालने के पश्चात् उस क्रिया में प्रयुक्त पदार्थों यथा शलली, दर्भ-पत्र और उदुम्बर फल से युक्त शाखा इत्यादि को निम्न लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी की ग्रीवा पर बांध देना चाहिये[2] —

अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव ॥ [३६७]

यह वृक्ष शक्ति से युक्त है, तुम भी उसके समान फलवती हो जाओ अर्थात् जैसे शक्तिप्रद फल यह देता है वैसे शक्तिशाली पुत्रों को जन्म दो॥

मं० ब्रा० में इसके आगे यह भी जोड़ा गया है जिससे यह पूर्ण श्लोक बनता है —

पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयतां रयिः ॥

हे वनस्पते, तुम अपना एक एक पत्ता हिला हिलाकर धन उत्पन्न करो॥

उपर्युक्त मन्त्र में वृक्ष तथा वनस्पति से सम्भवतया उदुम्बर वृक्ष के प्रति संकेत किया गया है क्योंकि इस क्रिया में उसका ही प्रयोग होता है। यह मन्त्र शुद्ध यज्ञ

१　ऋ० २।३२।४-५, अथर्व० ७।४८, तै० सं० ३।३।११।५, मै० सं० ४।१२।६, १३।१, का० सं० १३।१६, आ०श्रौ० १।१०।७, ५।२०।६, शां०श्रौ० ११।१५।४, ८।१।१० नि० ११।३१।

२　शां० गृ० १।२२।१०, पा० गृ० १।१५।६, गो० गृ० २।७।४ (मं० ब्रा० १।५।१) खा० गृ० २।२।२५।

शिशुजन्म के अवसर पर अनुष्ठेय कर्म अथवा जातकर्म

साप्यन्ती-होम, क्षिप्रप्रसवन

गो०गृ० और खा०गृ० में विधान है कि जब पत्नी का प्रसव होने को हो तो पति को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दो आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें[1] —

या तिरश्ची निष्पद्यते अहं विधरणी इति ।
ता त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहम् ॥
संराधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ [४०१]

विपश्चित् पुच्छमभरत् तद् धाता पुनराहरत् ।
परेहि त्वं विपश्चित् पुमान् अयं जनिष्यते असौ नाम ॥ [४०२]

जो कुटिला 'मैं ही धारणकर्त्री हूं' यह सोचकर प्रकट होती है, उस तुझ (कुटिला) सब कुछ धारण करने वाली की मैं घृत की धारा से पूजा करता हूं। सम्यक् आराधनीय उस निर्देशिका देवी के प्रति स्वाहा ॥ विपश्चित् (विद्वान्) ने पूंछ (आधार) ले ली, धाता उसे फिर ले आया। हे विपश्चित्, तुम दूर हो जाओ, यह अमुक नामा पुरुष उत्पन्न होगा।

ये दोनों ही मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं हैं। दूसरे मन्त्र में विपश्चित् किसी भूत-प्रेत का नाम प्रतीत होता है जिसे यजमान इस मन्त्र के उच्चारण से अपवारित करना चाहता है।

प्रथम मन्त्र श्रौत और गृह्य साहित्य में बहुत लोकप्रिय प्रतीत होता है। बौधायन, भारद्वाज और आग्निवेश्य ने विवाह-संस्कार के अन्तर्गत प्रधान होम की एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान किया है।[2] भा०गृ० और आग्नि० गृ० में हि० गृ० के साथ ही साथ उपनयन के अवसर पर भी आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है।[3] आप० गृ० ४।१२।६।(म० पा० २।८।५) के अनुसार समावर्तन

---

१ गो० गृ०२।७।१४।(म०ब्रा०१।५।६,७),खा०गृ०२।२।३०
२ बौ०गृ०१।३।३८, भा०गृ०१।१३ आग्नि०गृ०१।६।१।
३ भा०गृ०१।५, आग्नि०गृ०४।१, हि०गृ० १।२।१८

निविष्टचक्रा की विवृत्तचक्रा तथा अन्य पाठों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसे नदी का विशेषण न होकर प्रजा का विशेषण होना चाहिये। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध सभी गृह्यो मे मानुषी के स्थान पर ब्राह्मणी इमा के स्थान पर इत्याहु: और तृतीय पाद मे विवृत्तचक्रा आसीना पाठ के विषय में मतक्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणी पाठ रखने के विषय मे आप० गृ इन सब गृह्यो का अग्रणी है क्योकि इसमे प्रथम बार इस मन्त्र का विधान ब्राह्मणो के लिये किया गया है।[1] ब्राह्मणो से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये साल्वदेशवासी क्षत्रियो वैश्यो के लिये दूसरा मन्त्र (म पा० २।११।१२) दिया गया है —

> यौगन्धरिरेव नो राजेति साल्वीरवादिषु ।
> विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ।। [४००]

हे यमुने तुम्हारे तट के साथ-साथ रहने वाली सुस्थित राजचक्र वाली साल्वदेश की प्रजा कहती है कि यौगन्धरि ही हमारा राजा है ।।

इस पद्य से स्पष्ट है कि साल्वदेश कही यमुना नदी के निकट ही बसा हुआ था। जिस पद्य मे ब्राह्मणी पाठ है उसम भी असौ के स्थान पर यमुने ही उच्चारण करना होता है। म पा के समान ही हि गृ और बौ गृ मे भी असौ है। परन्तु भा गृ म पा के अधिक निकट है क्योकि असौ के विकल्प मे यहाँ यमुने पाठ भी रखा गया है। इससे भा गृ के रचयिता का निवास यमुना के निकटवर्ती प्रदेश मे होना प्रमाणित होता है।[2] हि गृ और आग्नि गृ मे अन्तिम पाद भा गृ के समान है, केवल असौ के स्थान पर गङ्गे रखा गया है। तदनुसार इन दोनो सूत्रो के रचयिताओ का निवास गङ्गा का निकटवर्ती प्रदेश रहा होगा।[3]

सीमन्तोन्नयन के अवसर पर इस पद्य के गायन का और उस प्रसङ्ग मे किसी नदी के नामोच्चारण का औचित्य बहुत स्पष्ट नही है, यद्यपि आप्टे का अनुमान है कि सम्भवतया नदी की आकृति पत्नी की 'माँग' का सकेत देती हो।[4] इसका यह भी उद्देश्य हो सकता है कि सीमन्तोन्नयन उत्सव राजा के पास से विशेष उपहार आदि दिलाने की दृष्टि से भी शुभ हो। परन्तु सीमन्तोन्नयन कर्म की क्रियाओ से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नही प्रतीत होता।

---

१ उत्तरयो (ऋचो) पूर्वा साल्वानां ब्राह्मणानामितरा ।।
२ ई० व कल्प० पृ ६७।
३ भा गृ भूमिका पृ० ३ सम्पा चि ग० काशीकर।
४ सोशल ऐण्ड रिलिजस लाइफ इन गृ सू पृ १६।

निष्क्रम्य प्रतितिष्ठत्वायुषि ब्रह्मवर्चसि यशसि वीर्येऽन्नाद्ये ॥

(निकल कर वह गर्भ आयु, ब्रह्मतेज, यश, वीरता और अन्नभक्षण की क्षमता मे प्रतिष्ठित रहे।)

आप० गृ० के भाष्यकार सुदर्शनाचार्य ने मन्त्र को केवल प्रतितिष्ठतु तक माना है जिससे कि म० पा० २।११।१७ से २० तक सभी मन्त्र दो दो अर्धर्चो के हो जायें, अन्यथा २।११।१७ केवल एक अर्धर्च का रहेगा। हि०गृ०,भा०गृ०, आग्नि.गृ मे वात के स्थान पर पर्यायवाची वायु शब्द है। हि०गृ०और आग्नि०गृ०मे अवपद्यताम् के स्थान पर अवसर्पतु पाठ है और भा० गृ० मे ते गर्भ के स्थान पर कुमार ।

मूल रूप मे यह मन्त्र और उसका विनियोग ऋग्वेद (५।७८।८) जितने प्राचीन हो सकते हैं क्योकि वहाँ भी इससे मिलता जुलता मन्त्र है और जिस सूक्त म वह आया है वह शिशु के सुरक्षित प्रसव के निमित्त कर्म से सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योकि उसके अधिकाश मन्त्र प्रसव से सम्बद्ध माने जाते है। ऋग्-मन्त्र का पाठ यथोलिखित है —

यथा वातो यथा वन यथा समुद्र एजति।
एवा त्व दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ [४०४]

जिस प्रकार वायु, वन और समुद्र गतिशील हैं, उसी प्रकार हे दस माम की आयु वाले, तुम भी जरायु के साथ नीचे आओ।

वा० म० (८।२८) मे इस मन्त्र का यह पाठ दिया गया है [1]—

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथाय वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवाय दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥ [४०५]

दस माम की आयु वाला गर्भ जरायु (आंवल) के साथ गतिशील हो। जिम प्रकार यह वायु गतिशील है, जिस प्रकार समुद्र गतिशील है, उसी प्रकार यह दम माम की आयु वाला जरायु के साथ सरके।

पा० गृ० (१।१६।१) मे वा० स० के उपरिलिखित तथा अगले (८।२९) मन्त्र का विनियोग प्रसव के समय पत्नी का अभिषेक करने के लिये किया गया है। दूसरे मन्त्र का पाठ यथोल्लिखित है —

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यह्रुता यस्य ता मात्रा समजीगम स्वाहा॥ [४०६]

[1] तु० श० ब्रा० ४।५।२।५, का श्रौ० २५।१०।७।

के समय स्नातक द्वारा अर्पित की गई एक आज्याहुति के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। म० पा० में निष्पतते के स्थान पर निपतसे पाठ है और तृतीय पंक्ति का अभाव है। द्वितीय पंक्ति में सधारणीमृ के स्थान पर सराधनीम् पाठ है। चतुर्थपाद को छोड़कर उपर्युक्त सभी गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का पाठ म० पा० के समान ही है। हि० गृ० में अन्त में अग्नौ जोड़ा गया है। बौ० गृ० में चतुर्थपाद अग्नौ सराधिनीं यजे है। आ० गृ० और आग्नि० गृ० में इस पाद का पाठ जुहोमि ब्रह्मकर्म णीम् है। इसी स्थान पर हि० गृ० (१।२।१८) और अग्नि० गृ० (१।६।१) में तिरश्ची के स्थान पर अनूची पाठ वाला मन्त्र का एक अन्य रूप भी दिया गया है जिसके चतुर्थ और पञ्चम पाद अग्नौ सराधय देव्य स्वाहा प्रसाधन्य देव्य स्वाहा हैं। कुछ गृह्यसूत्रों में इन पादों को दो स्वतन्त्र मन्त्र माना गया है।[1] आग्नि० गृ० (३।२।१) में अष्टका के अन्तर्गत इसके आगे काम स्वधा नम स्वाहा जोड़ा गया है। इसी गृह्य सूत्र में उपनयन के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का चतुर्थ पाद अग्नौ सराधन्य यजे स्वाहा है।

अर्थ के अनुसार यह मन्त्र कुछ सामान्य प्रकार का है और इसीलिये इसके ये विविध विनियोग उपलब्ध होते हैं। इस बात की पुष्टि इसके पूर्ववर्ती विविध श्रौत प्रयोगों से भी होती है जहाँ यह विविध यागों में आज्याहुति के साथ आता है।[2] श० ब्रा० में इसका उद्धरण प्राचीनतम है। वहाँ किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म में इसका विनियोग किया गया है। शा० श्रौ० में इसका विनियोग शूलगव में हुआ है।

शिशु के शीघ्र एवं सुविधापूर्ण जन्म के निमित्त कुछ गृह्यसूत्रों में यह विधान है कि जब प्रसव होने को हो उस समय पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गीले हाथों से सिर से लेकर हृदय-देश तक पत्नी का स्पर्श करना चाहिये[3] —

यथायं वातः पवते यथा समुद्र एजति ।
एवं ते गर्भ एजतु सह जरायुणावपद्यताम् ॥ [४ ३]

जिस प्रकार यह पवन बहता है जिस प्रकार समुद्र गतिशील है उसी प्रकार तुम्हारा गर्भ गतिशील हो और वह जरायु के साथ नीचे आ जाये।

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ का० गृ० के अनुसार है। म० पा० में वात के स्थान पर सोम पाठ है और जरायुणा के पश्चात् निम्नलिखित है —

---

१ बौ०गृ० १।३ २६ आप० गृ० ४।११।१६ (मं० पा० २।८।६ ७) मा० गृ० १।१३।
२ श० ब्रा० १४।६।३।३ शा० श्रौ० ८।१४।४ का० श्रौ० ४।१८।१ शु० य० ६।३।१।
३ का० गृ० ३३।२ आप० गृ० ६।१४।१४ (मं० पा० २।११।१६) हि०गृ० २।१।१ भा० गृ० १।२२ आग्नि० गृ० २।१।३ मा० गृ० ३।१४।

अथर्व० में इसकी अवस्था से मूलतः इसका गृह्यकर्मार्थ रचित होना सिद्ध होता है।

आयुष्य, कुमाराभिमन्त्रण और प्राशन

मा० गृ० (१।१७।३) में विधान है कि आयुष्य होम का अनुष्ठान आहुतियों के साथ सम्पूर्ण अनुवाक (मै० स० २।३।४) का उच्चारण करते हुए किया जाना चाहिये। यह अनुवाक आंशिक रूप मे का० स० ११।७ मे भी प्राप्त होता है और उसके कुछ अंशो की भावना पा० गृ० (१।१६।६) में उद्धृत, निम्नलिखित मन्त्रो के समान है जिनका विनियोग नवजात शिशु के दीर्घायुष्य के निमित्त उसके दाहिने कान मे उच्चारणार्थ किया गया है —

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मास्तेन त्वाऽयुषाऽऽयुष्मन्त करोमि ॥
सोम आयुष्मान् स ओषधीभि — ॥
ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन . . ॥
देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन . ॥
ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतै . . . ॥
पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभि . ॥
यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभि . ॥
समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभि . ॥ [४०८–४१५]

अग्नि आयुष्मान् है, वह वनस्पतियो के द्वारा आयुष्मान् है, उसकी उस आयु से मैं तुम्हे आयुष्मान् बनाता हूँ ॥ सोम आयुष्मान् है, वह ओषधियो के द्वारा आयुष्मान् ॥ब्रह्म (वेद) आयुष्मान् है, वह ब्राह्मणो के द्वारा ॥ देव आयुष्मान् हैं, वे अमृत के द्वारा . ॥ ऋषि आयुष्मान् हैं, वे व्रतो के द्वारा. .॥ पितर आयुष्मान् हैं, वे स्वधाओ के द्वारा ॥ यज्ञ आयुष्मान् है वह दक्षिणाओ के द्वारा. .॥ समुद्र आयुष्मान् है, वह प्रवाहमयी नदियो के द्वारा ॥

मा० गृ० (१।२४) के अनुसार जातकर्म संस्कार मे पिता को शिशु का हाथ अपने हाथ में ग्रहण करते हुए इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। तै० स० (२।३।१०।३) में १, २, ७, ३, ४, ६ क्रम मे केवल छ मन्त्र हैं। श्रौतयागो में भी दीर्घायुष्य के निमित्त कर्म मे इन मन्त्रो का विनियोग किया गया है। एक आयुष्य याग मे अध्वर्यु इन मन्त्रो का उच्चारण करते हुए यजमान का हाथ अपने हाथ मे ग्रहण करता है।[१] इस प्रकार से मा० गृ० का विनियोग इस श्रौत विनियोग के और

१ तै० स० २।३।११।५ बौ० श्रौ० १३।३२, आप० श्रौ० १६।१४।११।

जिस तुम्हारा गर्भ यज्ञ-सम्बन्धी है जिस तुम्हारी योनि सुवर्णमयी है जिस (गर्भ) में अंग अक्षत हैं उसे मैंने (उस प्रकार की तुम जैसी) माता से संयुक्त किया है।

यह मन्त्र पाठभेद सहित तै० सं (३।३।१ ।१) और का० सं (१३।६) में भी उपलब्ध होता है।

जैसा कि ऊपर ऋ के आधार पर स्पष्ट किया गया प्रथम मन्त्र गृह्यमूल का ही प्रतीत होता है। तथापि शुक्ल यजुर्वेदीय श ब्रा० ४।५।२।५ और का श्रौ० २५।१ ।७ में इसका विनियोग एक श्रौत कर्म में भी हुआ है जिसके अनुसार यदि कोई यज्ञपशु सगर्भ हो तो उसके शावक का प्रसव इस मन्त्र के उच्चारण से कराना चाहिये। दूसरी ओर जहाँ तक दूसरे मन्त्र (वा० सं ८।२९) का सम्बन्ध है यज्ञियो गर्भ शब्द और कृष्णयजुर्वेद में माता के स्थान पर देव पाठ से यह प्रकट होता है कि सम्भवत मूलरूप में इसकी रचना श्रौत-याग के निमित्त हुई होगी। श्रौत-याग में यदि यज्ञ पशु सगर्भ हो तो उसके शावक का प्रसव करवाकर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसके शरीर के विविध अंगों की आहुति दी जाती है।[1]

पा० गृ (१।१६।२) और हि गृ (२।३।३) में आँवल पृथक करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवे।
नव मांसेन पीवरि न कस्मिंश्चनायतमव जरायु पद्यताम् ॥ [४०७]

कुत्ते के लिये भक्षणार्थ चितकबरी और चिकनी आँवल नीचे आ जाये। न ही मांस के द्वारा स्थूल और न ही किसी (वस्तु के आधार) पर फैली हुई आँवल नीचे आ जाये।

म पा २।११।२ में अवत के स्थान पर जिरत्नु पाठान्तर सहित मन्त्र का पूर्वार्ध ही उपलब्ध होता है और आप गृ० (६।१४।१५) में विधान है कि यदि आँवल बाहर न निकले तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी का अभिषिञ्चन किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना निम्नलिखित अथर्व १।११।४ मन्त्र के विभिन्न पादों की पुनर्व्यवस्था और उनमें स्वल्प परिवर्तन करके की गई होगी —

नेव मांसे न पीवसि नव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥

---

१ वा सं का ३।३।२ श० ब्रा ४।५।२।१ का श्रौ २५।१०।११

इमसे पूर्व सर्वप्रथम अग्नि आकाश से उत्पन्न हुआ, दूसरी वार वह जातवेदा के रूप मे और तीसरी वार जल मे निरतर अपने वल मे प्रदीप्त होता हुआ उत्पन्न हुआ। सद्बुद्धि उमकी स्तुति करता है।

तै० स० ४।२।२ ही यह अनुवाक है। इसके अतिरिक्त यह अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों मे भी विद्यमान है।[1] इसका वात्सप्र अथवा वात्सप्रिय नाम तै० स० (५।२।१।६) जितना प्राचीन है। इसी नाम से इसका उल्लेख कुछ अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थो म भी हुआ है।[2] इस अनुवाक का यह नाम इसके द्रष्टा वत्सप्रि भालन्दन के नाम पर है। क्योंकि श० ब्रा० में भी पा० गृ० के समान ही उपर्युक्त कर्म का उल्लेख है, अत ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुवाक के गृह्य-विनियोग का आधार श०ब्रा० है।

शिशु के स्पर्श के निमित्त ही आ० गृ० १।१५।३ और पा० गृ० १।१६।१८ मे निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। कुछेक गृह्य-सूत्रो मे केवल शिशु के अभिमन्त्रण के लिये इसका प्रयोग किया गया है[3] —

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृत भव।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरद शतम्॥ [४१८]

पाषाण हो जाओ, परशु हो जाओ, निर्दोष सुवर्ण हो जाओ, तुम पुत्र नामक आत्मा हो, वह (तुम) सौ वर्ष तक जीवित रहो।

यह पारस्कर सम्मत पाठ है। वा० गृ०(३।११) मे प्रवास से लौटकर पिता द्वारा शिशु के अभिमन्त्रणार्थ इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिशु-जन्म के पश्चात् भूमि पर एक शिला रखी जानी चाहिए, शिला पर एक कुल्हाडा और उस पर सुवर्ण-खण्ड रखा जाना चाहिये, और पिता को इन पदार्थों के ऊपर शिशु को लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[4] ये पदार्थ क्रमश दृढता, शत्रु-उच्छेदन और सौन्दर्य या तेज के प्रतीक हैं। इनके द्वारा पुत्र मे इन गुणो की अभिलाषा का सकेत प्राप्त होता है। सामवेद

---

१ ऋ० १०।४५, वा० स० १२।१८-२९, का० स० १६।१९ म० स० २।७।९, श० ब्रा० ६।७।४।३, आ० श्रौ० ४।१२।७, का० श्रौ० १६।५।२१, आप० श्रौ० ६।१९।८, १६।११।६, मा० श्रौ० ६।१।४।

२ मै० स० ३।२।२, श० ब्रा० ६।७।४।२, आप० श्रौ० १६।११।६।

३ मा० गृ० १।२४, मा० गृ० १।१७।५, वा० गृ० २।६।

४ हि० गृ० २।३।२, आग्नि० गृ० २।१।३, तु० वै० गृ० ३।१४।

भी सन्निकट है। आप०गृ०और आग्नि गृ०के अनुसार प्रवास से लौटकर पिता को तै०ब्रा०के क्रमानुसार प्रथम पाँच मन्त्रो के द्वारा शिशु का अभिमन्त्रण करना चाहिये।[1] आग्नि गृ मे तो पिता द्वारा बालक के हस्त-ग्रहण का भी विधान है। बै गृ० (३।२२ख) मे निर्देश है कि प्रवास से लौटकर पिता को अगूठे सहित बालक की अगुलियाँ अपने हाथ मे ग्रहण करनी चाहिय और फिर इन पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए एक एक करके उन्हें छोडना चाहिये। हि गृ (२।४।१७ १५।१४) मे भी ये पाँच मन्त्र उद्धृत किये गये हैं परन्तु उनका विनियोग नामकरण और उपनयन सस्कारो में हुआ है। और यहाँ भी उपनयन मे आचार्य द्वारा शिष्य के हस्त-ग्रहण की क्रिया विद्यमान है। का गृ (३६।७) मे नामकरण के मन्त्रगत कांसे के पात्र मे घृत मे डाले गये सुवर्ण को निकाल कर पुरोहितद्वारा यजमान को देने के लिये देवा आयुष्मन्त से लेकर छ मन्त्रो का विनियोग किया गया है। निश्चित रूप से यहाँ का गृ का सकेत का स (११।१७) के प्रति है क्योकि वहाँ यह मन्त्रसमूह इन्ही शब्दो से आरम्भ होता है। पितर इत्यादि मन्त्र को छोडकर इसमे तै स के सभी छ मन्त्र विद्यमान हैं। उस मन्त्र के स्थान पर यहाँ अधोलिखित मन्त्र है —

ओषधय आयुष्मतीस्ता अद्भिरायुष्मतीस्तासामायुषायुष्मानसावसौ ।।[४१६]

ओषधियाँ आयुष्मती है व जल के द्वारा आयुष्मती है यह अमुक नाम का (बालक) उनकी आयु से आयुष्मान् हो जाये।

इस उद्धरण से तासाम् अथवा तेषाम् से आरम्भ होने वाली प्रत्येक मन्त्र की अन्त पक्ति का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

पा गृ (१।१६।८ ९) मे आगे चलकर निर्देश किया गया है कि यदि पिता यह चाहे कि मेरा शिशु मनुष्यजीवन-सम्मत पूर्ण आयु प्राप्त कर ले तो उसे वात्सप्र अनुवाक का उच्चारण करते हुए शिशु का स्पर्श करना चाहिये। इस स्थिति मे अनुवाक का अन्तिम मन्त्र छोड दिया जाना चाहिये। कुछ अन्य गृह्यसूत्रों मे भी नवजात शिशु का स्पर्श करने के लिये इस अनुवाक के उच्चारण का विधान है।[2] अनुवाक का प्रारम्भ इस मन्त्र से होता है —

दिवस्परि प्रथम जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीय परि जातवेदा ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एन जरते स्वाधी ।।[४१७]

---

१ आप० गृ ६।१५।१२ (मं पा २।१४।१५ ६) आग्नि० गृ० २।१।५।

२ आप०गृ०६।१५।१ (मं पा २।११।२१ ३१) भा गृ०१।२५ आ गृ०१।२३।११।

जितना प्राचीन है।

अङ्गादङ्गात् इत्यादि द्वितीय मन्त्र कुछ प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[1] इन ग्रन्थों में केवल इस मन्त्र का पूर्वार्ध है, उत्तरार्ध भिन्न है। यहां विनियोग भी गृह्यसूत्रों से भिन्न है। तदनुसार किसी एक पत्नी के सच्चे प्रेम की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म में इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इस प्रसङ्ग में स्पष्ट होता है कि मन्त्र वीर्य को सम्बोधित है। इस दृष्टि से उन ग्रन्थों के मन्त्र का उत्तरार्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है —

स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादय।

(हे वीर्य तुम मेरे अङ्गों के रस हो। अतः जिस प्रकार विष लगाये हुए बाण से घायल हुई हरिणी मूर्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति उन्मत्त बना दो—इसे मेरे अधीन कर दो।)[2]

गृह्यसूत्रों और पूर्ववर्ती ग्रन्थों दोनों के कर्मों में दो व्यक्तियों के निकट-स्नेह-सम्बन्ध की भावना समान रूप से विद्यमान है। सम्भवतया दोनों स्थलों पर भावना की इस समानता के कारण ही कम से कम मन्त्र के पूर्वार्ध का विनियोग किया गया, यद्यपि दोनों प्रसङ्गों में अर्थभेद स्पष्ट है।

भा० गृ० (१।२५) में निर्देश है कि पिता को अग्नि पर अपने हाथ तपा कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनके द्वारा नवजात शिशु का स्पर्श करना चाहिये —

अग्नेष्ट्वा तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण
विश्वेषां त्वा देवानां क्रतुनाभिमृशामि॥ [८२१]

अग्नि के तेज के द्वारा, सूर्य की दीप्ति के द्वारा, इन्द्र के बल के द्वारा, सभी देवताओं के विशिष्ट कर्मों के द्वारा मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ॥

मा० गृ० (१।१८।४) में इन्द्रस्येन्द्रियेण का अभाव है और मन्त्र का विनियोग नामकरण में किया गया है। कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों में केवल मात्र अग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसा शब्द आते हैं, परन्तु गृह्य-विनियोग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।[3] कतिपय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता को उस भूमि का

---

१ श० ब्रा० १४।६।४।८, बृ० उ० ६।४।६, कौ० ब्रा० उ० २।११, का० श्रौ० ४।१२।२२।

२ बृ० उ० गीताप्रेस गोरखपुर, अनुवाद

३ मैं०सं० २।७।१२, ऐ०ब्रा० ८।७।५, ७, ६, तै०ब्रा० १।७।८।४, तै०आ० ६।३।२।

सम्बन्धी गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग पिता द्वारा प्रवास से लौटकर पुत्र के सिर का स्पर्श करते हुए उच्चारणार्थ किया गया है।[1] बौ० गृ० और आप० गृ० में जन्म के तत्काल पश्चात् गोद में लेकर पिता द्वारा शिशु के मूर्धा घ्राण प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है और तदनुसार इनमें उत्तरार्ध का अधोलिखित रूप है[2] —

पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥

यह मैं अमुक नामवाला पशुओं के हिंकार से तुम्हारा घ्राण करता हूँ।

म०ब्रा० में उत्तरार्ध का पाठ आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् है। मन्त्र के पूर्वार्ध में सभी गृह्यसूत्रों में पा० गृ० कि अङ्गात् के स्थान पर प्रस्तुतम् पाठ है। परन्तु पा० गृ० का पाठ सर्वाधिक स्वीकार्य है क्योंकि सुवर्ण का नहीं पिघला हुआ विशेषण उपयुक्ततम है। उत्तरार्ध में पा० गृ० के समान गृह्यसूत्रों में से आ० गृ० हि० गृ० और आग्नि० गृ० में आत्मा के स्थान पर वेद पाठ है। आ० गृ० में दोनों पंक्तियों के मध्य निम्नलिखित पंक्ति भी प्राप्त होती है —

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ॥ [४२०]

तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग से उत्पन्न होते हो और हृदय से जन्म लेते हो ॥

हि० गृ० आप० गृ० मा० गृ० (१।२५) बौ० गृ० और आग्नि० गृ० में यह पंक्ति इसी प्रसङ्ग में प्रयुक्त एक अन्य मन्त्र के पूर्वार्ध के रूप में आती है। और इस मन्त्र का उत्तरार्ध आत्मा वै इत्यादि मन्त्र का उत्तरार्ध ही है। कुछ गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग प्रवास से लौटकर गृहस्थ द्वारा पुत्र को सम्बोधित करने के लिये किया गया है।[3] इस प्रसङ्ग में म० ब्रा० में आत्मा के स्थान पर वेद पाठ है। पा० गृ० का आत्मा वै इत्यादि मन्त्र श० ब्रा० (१४।९।४।२६) और कौ० ब्रा० उ० (२।११) के मन्त्र के पूर्णतया समान है। इस ब्राह्मण में यह मन्त्र पुत्रमन्थ कर्म में विनियुक्त किया गया है—पुत्रमन्थ कर्म जातकर्म जैसा ही है। यद्यपि यह मन्त्र किसी भी वर्तमान संहिता में उपलब्ध नहीं तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि शरीर की पाषाण से तुलना करने का भाव ऋ० (६।७५।१२—अश्मा भवतु नस्तनूः)

---

१ गो० गृ० २।८।२१ (म० ब्रा० १।५।१८) खा० गृ० २।३।१३ ज० गृ० ७।१८।
२ बौ० गृ० २।१।५ आप० गृ० ६।१५।१ (मं० पा० २।११।१)—ज० गृ० का उत्तरार्ध मं० पा० के समान है।
३ पा० गृ० १।१८।२ आप० गृ० ६।१५।१२ (मं० पा० २।१४।३) भा० गृ० १।१५।११ मा० गृ० १।२० का० गृ० १।१८।६ गो० गृ० २।८।२१ (म० ब्रा० १।५।१७) खा० गृ० २।३।११।

पक्ति का मात्र भेद वेद ते भूमि के स्थान पर यत्ते सुसीमे है। आग्नि० गृ० मे तृतीय पाद उक्त मन्त्र के उस पाद जैसा है। और हि० गृ० मे यह पाद आग्नि० गृ० जैसा है। म० पा० मे मन्त्र का अधोलिखित रूप प्राप्त होता है —

यत्ते सुसीमे हृदय वेदाह तत् प्रजापतौ।
वेदाम तस्य ते वय माह पौत्रमघ रुदम् ॥ [४२३]

हे शोभन सीमा वाली, तुम्हारा जो हृदय है उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे उस हृदय को हम प्रजापति मे आधारित जाने, मैं पुत्र सम्बन्धी कष्टो पर न रोऊँ॥

आ० गृ० (१।१३।७) मे इसी प्रकार का एक मन्त्र पुसवन के अतर्गत पत्नी के हृदयदेश का स्पर्श करने के लिए विनियुक्त किया गया है और यह विनियोग सर्वाधिक अर्थानुकूल है। आ० गृ० मे मन्त्र का निम्नलिखित पाठ दिया गया है —

यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्त प्रजापतौ।
मन्येऽह मा तद्विद्वास माह पौत्रमघ नियाम् ॥ [४२४]

हे अन्तर्वत्नि शोभन मर्यादा वाले, तुम्हारे हृदय के मध्य सतान के पालक मुझ पति के द्वारा जो शुक्र स्थापित किया गया, उस अपने आप को मैं विद्वान् मानता हूँ, मै पुत्र निमित्त दुख न प्राप्त करूँ— हृ० मि०

शा० गृ० १।२४।४ और आ० गृ० १।१५।१ मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु को मधु और घृत खिलाया जाना चाहिये —

प्र ते यच्छामि मधुमन्मखाय वेद प्रसूत सवित्रा मघोना।
आयुष्मान् गुपितो देवताभि शत जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥[४२५]

धनवान् सविता के द्वारा उत्पादित वेद मैं तुम्हे मधु युक्त (अन्न के रूप मे) यज्ञ के लिये देता हूँ। देवताओ द्वारा रक्षित होकर आयुष्मान् तुम इस ससार मे सौ वर्ष तक जीवित रहो॥

यह शा० गृ० का पाठ है। आ० गृ० मे उत्तरार्ध मे गुपित के स्थान पर गुप्त पाठ है जिससे तृतीय पाद के अक्षर घट कर ९ हो जाते हैं और छन्द विकृत हो जाता है। आ० गृ० के अनुसार पूर्वार्ध का पाठ प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूत मघोनाम् है। परन्तु इसमें अर्थ की कठिनाई उत्पन्न होती है। इसका मुख्य कारण षष्ठ्यन्त मघोनाम् शब्द है। हरदत्त इसकी व्याख्या बहुतो, मघवा आदि

स्पर्श करना चाहिए जहाँ शिशु ने जन्म लिया हो अथवा जहाँ वह लेटा हो[1] —

वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
तथामृतत्वस्येशानो माहं पौत्रमघं रुदम् ॥

हे भूमि तुम्हारे जिस हृदय का निवास स्वर्ग में चन्द्रमा में है उसे मैं जानता हूँ। इस कारण अमरत्व का स्वामी मैं पुत्रसम्बन्धी कष्ट पर न रोऊँ॥ ओ० व०

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ हि गृ मे दिया गया है। आग्नि गृ मे तृतीय पाद तस्यामृतस्य नो धेहि और भा गृ मे वेदामृतस्य गोप्तारम् है। इसी पाद का एक पाठान्तर म पा मे तद्विद्व पश्यम् है। म० पा में प्रथम पाद यद् भूमे हृदयम् है। इस प्रकार म पा० मे प्रथम और तृतीय पाद की मात्राएं घ ब रह गई हैं परन्तु यह भूमे पाठ से विभक्तिहीन भूमि शब्द के अर्थ की कठिनाई दूर हो गई है। ओल्डनबर्ग ने भूमि को सम्बोधन मानकर अनुवाद किया है। आगे आने वाले अन्य पाठों से इस अनुवाद की पुष्टि हो जाती है (दे मन्त्र स ४२२)। पा गृ० में मन्त्र के उत्तरार्ध का निम्नलिखित पूर्णतया भिन्न पाठ दिया गया है —

वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरद शतं जीवेम शरद शतं शृणुयाम शरद शतम् ॥

(मैं उस (हृदय) को जानता हूँ वह मुझे जाने। हम सौ वर्ष तक देखें हम सौ वर्ष तक जीवित रहें हम सौ वर्ष तक सुनते रहें।)

पा गृ १।११।९ मे वेद ते भूमि के स्थान पर यत्त सुसीमे पाठ सहित इसी मन्त्र का विनियोग चतुर्थीकर्म के अन्त मे पति द्वारा पत्नी के हृदयदेश का स्पर्श करने के लिये किया गया है।

पश्येम इत्यादि वाक्य प्राय सभी संहिताओं के दीर्घायुष्य सम्बन्धी एक मन्त्र का उत्तरार्ध है।[3] दीर्घायुष्य के लिए आज भी इस प्रार्थना का प्रभूत प्रचलन है।

हि गृ आग्नि गृ और आप गृ० मे इसी कार्य मे एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है। वह मन्त्र भी उपरिलिखित मन्त्र के समान है। प्रथम

---

१ पा गृ १।१६।१७ हि गृ० २।३।८ भा गृ १।२५ आग्नि गृ २।१।३ भा गृ २।६, आप गृ ६।१५।१२ (म पा २।१३।३)।
२ से बु ई स ३ पृ २१२।
३ ऋ ७।६६।१६ ऋ खि १।५।३ अथर्व १९।६७।१ वा० स ३६।२४ म सं० ४।९।२ ।
४ हि गृ २।३।८, आग्नि० गृ २।१।३ आप गृ ६।१५।१२ (मं पा २।१३।४)

स्व सामवेद त्वयि दधामि ॥
भूर्भुव स्वर्वाको वाक्यमितिहासपुराणमो
सर्वान् वेदास्त्वयि दधाम्यसौ स्वाहा ॥ [४३०]

गृह्यसूत्रो के एक दूसरे वर्ग द्वारा इन वाक्यो का विनियोग नवजात शिशु के कानो मे उच्चारणार्थ किया गया है।[1] इनमे भी पाठ पा० गृ० के समान ही है, अर्थात् भूस्त्वयि दधामि इत्यादि। हि० गृ० (२।५।२) मे स्वय अन्नप्राशन के प्रसङ्ग मे इन वाक्यो का यही पाठ प्राप्त होता है। वहाँ षष्ठ मास मे शिशु को प्रथम बार सस्काररूप मे अन्न खिलाने के लिये प्रथम तीन वाक्यो का विनियोग किया गया है। विविध कर्मों मे इन वाक्यो के विनियोग का समान आधार प्राय शिशु को कुछ खिलाया जाना प्रतीत होता है। इन वाक्यो का स्रोत श० ब्रा० १४।६।४।२५ प्रतीत होता है क्योंकि सर्वप्रथम वहाँ शिशु को दधि मधु और घृत खिलाने के लिये इनके उच्चारण का विधान किया गया है। और पा० गृ० और श० ब्रा० मे वाक्यो के एक समान पाठ होने से यह सिद्ध होता है कि पा० गृ० मे इन्हें सीधा श० ब्रा० से उद्धृत किया गया है।

आ० गृ (१।१५।२) मे विधान है कि शिशु के कानो के पास एक स्वर्णशकल रखकर अधोलिखित मेधाजनन मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

मेधा ते देव सविता मेधा देवी सरस्वती।
मेधा ते अश्विनौ देवावाधत्ता पुष्करस्रजौ ॥ [४३१]

सविता देव, सरस्वती देवी और कमलो की मालाओ से युक्त अश्विन् देव तुम्हारे लिये मेधा का आधान करें॥ हृ० मि०

आप० गृ० और भा० गृ० में इसका विनियोग मेधाजनन के प्रसङ्ग मे न होकर साधारण रूप मे शिशु के कानो मे उच्चारणार्थ हुआ है।[2] पा० गृ० (२।४।८) के अनुसार उपनयन के अन्तगत अग्नि मे समिधाओ का आधान करके शिष्य को अपने हाथ तपाकर उनसे अपना मुख-स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। हि० गृ० मे उपनयन के अन्तर्गत ही दो स्थलो पर इसका विनियोग किया गया है। एक स्थल (१।६।४) पर यह विधान है कि आचार्य को अपना मुख शिष्य के निकट ले जाते हुए इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। दूसरे स्थल (१।८।४) पर इसे अग्नि मे समिधाओं का आधान करते हुए उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है। प्रसङ्गा-

---

१ मा०गृ० १।१७।६, बा०गृ० २।४ (दधामि के स्थान पर दधानि) भा०गृ० १।२४
२ आप० गृ० ६।१५।१ (म० पा० २।१२।२), भा० गृ० १।२४

देवताओ मे से एक के निर्धारणार्थ प्रयुक्त षष्ठी के रूप मे करता है। तदनुसार उनमे से निर्धारित एक देव सविता है।[1] जैसा कि प्राय: वैदिक भाषा मे देखा जाता है भाष्टे इस चतुर्थ्यर्थ षष्ठी मानकर यह अर्थ करता है— धनवान् यजमानों के लिए मै तुम्हें सविता द्वारा उत्पादित पवित्र ज्ञान (का प्रतीक) मधु और घृत (का मिश्रण) देता हूँ[2]। किन्तु यदि शा गृ के अनुकरण पर स्टेन्लर और ओल्डनबर्ग के अनुसार ही मघोनाम् को तृतीयान्त मघोना मे परिवर्तित कर दिया जाये तो सारी कठिनाई दूर हो जाती है। इस स्थिति मे मघोना सविता का विशेषण होगा।

मेधाजनन

कतिपय गृह्यसूत्रो मे मेधाजनन कर्म के अन्तर्गत शिशु को मधु और घृत खिलाने के लिए निम्नलिखित वाक्यो का विनियोग किया गया[3] है —

भूऋच: त्वयि जुहोमि।
भुवर्यजूंषि त्वयि जुहोमि।
स्व: सामानि त्वयि जुहोमि।
भूर्भुव: स्वरथर्वाङ्गिरसस्त्वयि जुहोमि॥ [४२६ २६]

भू मै तुम्हारे अन्दर ऋचाओं की आहुति देता हूँ। भुव मै तुम्हारे अन्दर यजुषो की आहुति देता हूँ। स्व, मै तुम्हारे अन्दर सामो की आहुति देता हूँ। भू भुव स्व मै तुम्हारे अन्दर अथर्वाङ्गिरसो अर्थात् अथर्व मन्त्रो की आहुति देता हूँ।

पा० गृ० मे प्रथम तीन वाक्यो मे क्रमश ऋच यजूंषि और सामानि का अभाव है और चतुर्थ वाक्य मे अथर्वाङ्गिरस: के स्थान पर सर्वम् पाठ है। इसके अतिरिक्त सभी वाक्यो मे जुहोमि के स्थान पर दधामि प्रयुक्त हुआ है। शा गृ (१।२४।७ ८) मे माण्डूकेय का मत उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार घृत मधु दधि उदक के मिश्रण मे काल वस्त्र के रोमो को घोलकर उपर्युक्त वाक्यो के समान ही निम्नलिखित वाक्यो का उच्चारण करते हुए शिशु को खिलाया जाना चाहिए।

भूऋग्वेद त्वयि दधामि॥
भुवर्यजुर्वेद त्वयि दधामि॥

---

1 मघोनाम्। निर्धारण एषा षष्ठी। बहुवचननिर्देशाच्च मघवच्छब्दमो देवा सर्वे लक्ष्यन्ते। मघवदादीनां मध्ये सवितेति सम्बन्ध ॥

2 मान ऋग्० प मन्त्र इन दि आ गृ० पृ १९।

3 हि गृ० २।३।८ आग्नि गृ २।१।४ पा गृ १।१६।४

मेधा ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते।
मेधा ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ [४३३]

मित्र-वरुण और अग्नि तुम्हे मेधा प्रदान करें, कमलो की मालाओ से युक्त अश्विन् देव तुम्हे मेधा प्रदान करे ॥

इस मन्त्र की तुलना ऊपर उद्धृत ऋ० खि० १०।१५१।२ से की जा सकती है। इसके साथ ही सदसस्पतिम् इत्यादि (साम० १।१७१) मन्त्र के उच्चारण का भी विधान है। सम्भवतया साम० से उद्धृत होने के कारण ही इसे म० ब्रा० में सकलित करने की आवश्यकता नही समझी गई। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन नवम अध्याय में उपाकर्म के अन्तर्गत किया गया है। (दे० मन्त्र स० ६१५)

स्नानप्रदान

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो में विधान है कि प्राशन कर्म के पश्चात् निम्नलिखित पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए शिशु को स्नान कराना चाहिये[1]

क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वा द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे इमे ॥ [४३४]

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः।
शमन्तरिक्षं सह वातेन ते शं ते चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ॥ [४३५]

या दैवीश्चतस्रः प्रदिशो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
तासां त्वा जरस आदधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिं पराचैः ॥ [४३६]

अमोचि यक्ष्माद् दुरिताद् अवर्त्यै द्रुहः पाशान्निर्ऋत्यै चोदमोचि।
अहा अवर्तिमविदत्स्योनमप्यभूद् भद्रे सुकृतस्य लोके [४३७]

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या यद्देवा अमुञ्चन्नसृजन्व्येनसः।
एवमहमिमं क्षेत्रियाज्जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् [४३८]

(मैं तुम्हे, स्थायी रोग से, विनाश से, शत्रुता से, वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ। मैं तुम्हे ब्रह्मा के सम्मुख निर्दोष बनाता हूँ, पृथ्वी और आकाश दोनो तुम्हारे प्रति दयालु हो। जल सहित अग्नि तथा ओषधियो सहित पृथ्वी और आकाश तुम्हें शान्ति प्रदान करें, वायु सहित अन्तरिक्ष तुम्हे शान्ति प्रदान करे, आकाश की चारो दिशायें तुम्हे शान्ति प्रदान करे। वायु-पत्नी रूप जिन आकाश की चार दिशाओ का सर्वेक्षण सूर्य करता है

---

1 आप० गृ० ६।१५।४ (म० पा० २।१२।६-१०), बौ० गृ० २।१।३, हि० गृ०, २।१।१०, आग्नि० गृ० २।१।४

नुसार यहाँ और पा गृ में ते के स्थान पर मे का प्रयोग किया गया है क्योंकि दोनो स्थलो पर क्रिया का कर्ता अपने लिये ही प्रार्थना करता है। हि० गृ में पूर्वार्ध मे देव का अभाव है और सविता के स्थान पर इन्द्र पाठ है। इस पाठभेद का न तो कोई स्पष्ट कारण दिखता है और न ही विशेष औचित्य जबकि बुद्धि के साथ सविता का विशेष सम्बन्ध प्रख्यात है। सम्भवतया यह हि० गृ० पर तै आ० १०।४०।१ का प्रभाव है। उसका प्रथम पाद मेधा मे इन्द्रो ददातु है। अस्तु जातकर्म और उपनयन दोनो स्थलो पर इस मन्त्र के प्रयोग का समान आधार प्रज्ञा की प्रार्थना प्रतीत होता है।

जहाँ तक मन्त्र के स्रोत का सम्बन्ध है, यह ऋ खि० (१०।१५१।२) का रूपान्तर प्रतीत होता है। उस मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है —

मेधां मह्यमङ्गिरसो मेधा देवी सरस्वती। मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥

यह मक्स म्युलर के संस्करण का पाठ है। सातवलेकर के संस्करण मे मे के स्थान पर ते है और प्रथम पाद मेधां मे वरुणो राजा है। यह पाठ मा गृ मे उद्धृत पाठ के अधिक निकट है। इस मन्त्र की तुलना ऋ० १ ।१८४।२ से भी की जा सकती है जहाँ सभी स्थलो पर मेधाम् के स्थान पर गर्भम् पाठ है। मन्त्र मे मेधा के साथ सरस्वती का सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है सम्भवतया इसी सम्बन्ध के आधार पर आगे चल कर सरस्वती का विकास विद्या की देवी के रूप मे हुआ।

शा गृ० (१।२४।६ १) के अनुसार मेधाजनन कर्म का अनुष्ठान शिशु के कान मे तीन बार वाक शब्द के उच्चारण और फिर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उसके अभिमन्त्रण से किया जा सकता है —

वाग्देवी मनसा संविदाना प्राणेन वत्सेन सहेन्द्रप्रोक्ता।
जुषतां त्वा सौमनसाय देवी मही मन्द्रा वाणी वाणीची सलिला स्वयम्भू ॥ [४३२]

इन्द्र द्वारा उपदिष्ट मन से संयुक्त प्राण रूपी बछड़े के साथ वाणी की देवी—वह महान् स्वयम्भू सर्वत्र प्रसृत होने वाली वाकशक्ति का विस्तार करने वाली मधुर वाणी देवी शुभाशंसनार्थ तुम्हें स्वीकार करे ॥

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है। वाणी की स्तुति यहाँ दर्शनीय है। स्वयम्भू शब्द से यहाँ शब्द-ब्रह्म का संकेत भी प्राप्त होता है।

गो गृ और खा० गृ० मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता द्वारा शिशु को घृत प्राशन कराया जाना चाहिये —

---

१ गो गृ २।७।२१ (ब्र बा १।५।८) खा० गृ २।३।१५।

हि० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिशु के गोद मे रखे जाने के पश्चात् इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। मन्त्र माता के प्रति सम्बोधित है।

अतिसारिणी शब्द का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। म० पा० मे यह अत्यासारिणी अथवा अत्याचारिणी के रूप मे आया है। हि० गृ० के अनुवाद मे ओल्डनबर्ग ने इसका अनुवाद उसके प्रति आक्रमण करने वाली किया है। और आगे प्रश्नचिह्न लगाया है। पाद टिप्पणी मे इस अनुवाद के विषय में उसने अपना अनिश्चय व्यक्त करते हुए अतिसारिणी का अर्थ अतिसार से पीडित दिया है, परन्तु वह इस अर्थ को भी स्वीकार करने के पक्ष मे नही है क्योंकि उसने एक वैकल्पिक पाठ अभिसारिणी सुझाया है[1]। ओल्डनबर्ग द्वारा दिये गये अतिसारिणी के अर्थ की पुष्टि म० पा० मे इसके पाठान्तरो अत्यासारिणी और अत्याचारिणी से भी होती है। यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे अनुपलब्ध है, अत यह शुद्ध गृह्य-मूल का लगता है।

का० गृ० (३४।५) के अनुसार स्तन-प्रदान से पूर्व माता के स्तनो को धोया जाना चाहिये और मधुवाता ऋतायते इत्यादि मन्त्र-समूह द्वारा उनका अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मन्त्रो के माध्यम से दूध के मधु-तुल्य होने की कामना अभिव्यक्त की गई है। मधुपर्क कर्म मे इन मन्त्रो का सामान्य प्रयोग हुआ है, अत उस कर्म के अन्तगत द्वितीय अध्याय मे इनका विस्तृत विवेचन किया गया है। (दे० मन्त्र स० ६४-६६)

इसी गृह्यसूत्र मे आगे चलकर (३४।६) विधान है कि हविश्शेष अथवा मधु-मिश्रित हविश्शेष का सुवर्ण से घर्षण करके और उसे शिशु के मुख मे डालकर निम्न-लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता द्वारा शिशु को स्तन्य-पान के लिये माता का स्तन दिया जाना चाहिये —

आयुर्धय जरा धय सत्य धय श्रिय धयोर्जं धय
रायस्पोष धय ब्रह्मवर्चस धय ॥ [४४०]

तुम आयु का पान करो, बुढापे का पान करो, सत्य का पान करो, शोभा का पान करो, शक्ति का पान करो, धन-सम्पत्ति का पान करो, ब्रह्म-तेज का पान करो ॥

इस मन्त्र द्वारा मानो माता के दूध के माध्यम से उपर्युक्त तत्त्व ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। अन्यत्र अनुपलब्ध होने के कारण यह मन्त्र काठक शाखा की असकलित गृह्य- परम्परा का प्रतीत होता है।

---

१ से०बु०ई० खण्ड ३०, पृ० २१४।

उनके दीर्घायुष्य के प्रति मै तुम्हे प्रेरित करता हूँ—रोग विनाश को प्राप्त हो जाये ॥ (यह शिशु) रोग से दुख से उसकी (रोग की) अधोगति के लिये और शत्रुता के पाश से उस (पाश) के विनाश के लिये मुक्त कराया गया है। अहा उसने अधोगति प्राप्त कर ली है और कल्याणकर सत्कर्मों के फल रूप इस लोक म (इस शिशु के लिये) सुख हुआ है ॥ देवों ने सूय को ठीक ही अधकार से और जकडने वाले राक्षस से मुक्त कराया है। उन्होंने उसे दोप से च्युत किया है। उसी प्रकार मैं इस शिशु को स्थायी रोगो, सम्ब न्धियो के शाप शत्रुता और वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ ॥ ओ०व

उपरिलिखित पाठ सहित ही ये मन्त्र तै त्रा २।५।६।१ १ मे प्राप्त होते है। बौ गृ (२।५।३) म उपनयन सस्कार म भी इनका विनियोग किया गया है। हि०गृ और आग्नि गृ मे चतुथ मन्त्र का नितान्त अभाव है और तृतीय मन्त्र का विनियोग प्रथम बार स्तनप्रदान से पूव शिशु को माता की गोद मे रखने के लिये किया गया है। इन मन्त्रों का मूल स्रोत अथव २।१ है। इस सूक्त मे तीन-तीन पक्तियो के आठ मन्त्र है। प्रत्येक मन्त्र म उपरिलिखित मन्त्रों मे से प्रथम और अन्तिम मन्त्रो के उत्तरार्ध ध्रुव के रूप मे आते है। उपरिलिखित मन्त्रो की शेष पक्तियाँ सम्पूर्ण अथव सूक्त के मन्त्रो मे प्रकीर्ण है। यहाँ गृह्यसूत्रो की यह विशेषता स्पष्ट है कि सहिता के इन आवृत्तिदोष से युक्त और विकीर्ण विचारो को एक सगठित रूप उनमे प्रदान किया गया है। तै त्रा २।५।६।१ का भाष्य करते हुए सायण ने कहा है कि इस मन्त्र-समूह का विषय जातकर्म है। (एतस्य मन्त्रजातस्य जातकर्मविषयत्वात्)। मन्त्रो मे अन्तर्निहित भाव से स्पष्ट है कि शिशु-स्नापन क्रिया रोगो शत्रुता राक्षसो वरुण के पाश और पापो को उससे दूर करने का प्रतीक है।

शिशु के स्नापन के पश्चात् अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता की गोद म लिटाया जाना चाहिये —

मा ते पुत्र रक्षो वधीन्मा धेनुरतिसारिणी।
प्रिया धनस्य भूया एधमाना स्वे गृहे ॥ [४३६]

कोई राक्षस तुम्हारे पुत्र का वध न करे और न ही अतिसारिणी गौ। स्वतन्त्र होकर समृद्ध होती हुई तुम धन को प्रिय हो जाओ ॥

---

१ आप०गृ ६।१५।५ (म ब्रा २।१३।१)—पुत्रम् के स्थान पर कुमारम् और गृहे के स्थान पर वशे । भा०गृ १।२५ हि गृ २।४।२ आग्नि गृ २।१।४—वधीत् के स्थान पर हिंसी और अतिसारिणी के स्थान पर अतिधारिणी ।

इसी विनियोग की पुष्टि होती है[1]। गृह्य-परम्परा को छोडकर वा०स० से मन्त्र उद्धृत करने के आग्रह से पारस्कर ने सम्भवतया प्रमुख-रूप से मन्त्र मे केवल स्तन शब्द की ओर ध्यान दिया। और वा०स० के भाष्यकार उव्वट के अनुसार जिस स्रुक् (चम्मच) के द्वारा अग्नि मे घृत अर्पित किया जाता है, उसे ही यहां आकृति-साम्य के कारण स्तन कहा गया है। (वसोर्धारा स्रुचा हूयते, सात्र रूपकल्पनया स्तन उक्त)

वाम स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

यस्ते स्तन शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्य सुदत्र।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽक ॥ [४४२]

हे सरस्वती, तुम्हारा जो शब्दरूपी स्तन सोया हुआ (तुम्हारे शरीर मे विद्यमान) है, जो सुखोत्पादक है, जो धन प्राप्त करने वाला, रत्न देने वाला, जो शोभन दाता है, जिससे तुम सब इष्ट पदार्थों का पोषण करती हो उसे तुम इसके धारणार्थ (ठीक) करो ॥ सा०

बौ०गृ० (२।१।१०) मे भी इसका विनियोग इसी प्रसङ्ग म किया गया है। कौशिक० (३२।१) मे राक्षस-मोचन सम्बन्धी कर्मों के अन्तगत यह कहा गया है कि यदि शिशु किसी राक्षस द्वारा गृहीत हो तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता का स्तन दिया जाना चाहिये। उद्देश्य भिन्न होने पर भी कर्म की समानता द्रष्टव्य है। अधिकाश सहिताओ मे यह मन्त्र प्राप्त होता है[2]। और उन सबमे इसके पाठों मे विशेष अन्तर नही है। उपरिलिखित पाठ वा०स० का है। अथर्व० पाठ भी इसके बहुत निकट है। ऋ० और मै०स० मे द्वितीय और तृतीय पाद परस्पर-विपर्यासित हैं। जहां तक विनियोग के स्रोत का सम्बन्ध है, इसके पीछे ब्राह्मणो और श्रौत-सूत्रो की सुदीर्घ परम्परा है[3]। वहां इसका विनियोग प्रवर्ग्य के अन्तर्गत घर्म-गौ के थनो के अभिमन्त्रण अथवा उनके स्पर्श के लिए किया गया है। इस विषय मे श०ब्रा० मे इस गौ की सरस्वती (वाणी की देवी) के प्रतीक के रूप मे व्याख्या की गई है जो वाणी रूपी दूध देती है—वही यज्ञ है[4]। यह ब्राह्मण (१४।६।४।२८) इस मन्त्र के गृह्य-विनियोग का सीधा स्रोत प्रतीत होता है। यहाँ भी गृह्यसूत्रो के समान यह

१ वा०स० १७।८७, तै०स० ५।५।१०।६, का०स० ४०।६, आप०श्रौ० १६।१२।११, १७।२३।१०, मा० श्रौ० ६।२।६।

२ ऋ० १।१६४।४९, अथर्व० ७।१०।१, वा०स०३८।५, मै० स०४।९।७, १४।३।

३ ऐ० ब्रा० १।२२।२, श० ब्रा० १४।२।१।१५, तै० ब्रा० २।८।२।८, तै० आ० ४।८।२,५।७।२, आ० श्रौ० ३।७।६,४।७।४, शा० श्रौ० ५।१०।५, आप० श्रौ० १५।९।६, का० श्रौ० २६।५।७, मा० श्रौ० ४।३।३।

४ श० ब्रा० १४।२।१।१५—वाग्वै सरस्वती, सैषा घर्मदुघा, यज्ञो वै वाक् ॥

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में स्तन्य-पान के लिये शिशु को माता का स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] —

अयं कुमारो जरां धयतु दीर्घमायुः ।
तस्मै त्वं स्तन प्रप्यायायुर्वर्चो यशो बलम् ॥ [४४१]

यह बालक बुढ़ापे और दीर्घायु का पान करे। हे स्तन तू उसके लिये आयु, तेज यश और बल की वृद्धि कर ॥

उपरिलिखित पाठ म० पा० का है। हि० गृ० में पूर्वार्ध के अन्त में दीर्घमायु के स्थान पर सर्वमायुरेतु पाठ है। उत्तरार्ध में त्वम् का अभाव है स्तन प्रप्याय के स्थान पर स्तन प्रप्यायस्व पाठ है और आयु और यश के मध्य कीर्ति शब्द है। क्योंकि स्तन सम्बोधन में नहीं है अतः इस पाठ से ऐसा लगता है कि यह स्तन को सम्बोधित न होकर माता को सम्बोधित है। आग्नि० गृ० में पूर्वार्ध हि० गृ० के समान है—केवल अन्तर यह है कि इसमें क्रियाएं लोट लकार में न होकर लट् लकार में हैं यथा धयति और एति। उत्तरार्ध में पा० और हि० गृ० के पाठ का सम्मिश्रण है। त्वम् तो रखा गया है परन्तु हि० गृ० के समान ही आयु और वर्च के मध्य कीर्ति आया है और तस्मै के स्थान पर अस्मै पाठ है। शेष म० पा० के समान है अर्थात् स्तन सम्बोधन में है। मन्त्र प्रसङ्गानुकूल है, परन्तु किसी भी संहिता में उपलब्ध नहीं।

पा० गृ० (१।१६।२०-२१) में शिशु को दोनों स्तन पृथक्-पृथक् देने के लिये दो भिन्न मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। दक्षिण स्तन के लिये निम्नलिखित मन्त्र है —

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ [४४२]

हे अग्नि जल के मध्य इस अति विशाल बलशाली जल के स्तन का पान करो। हे गतिशील इस मधुयुक्त निष्यन्द को ग्रहण करो और अपने समुद्र सम्बन्धी घर में प्रविष्ट हो जाओ ॥

स्पष्ट ही यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है। का० गृ० (१।११) में भी पाकयज्ञों के सामान्य नियमों का वर्णन करते हुए विधान किया गया है कि प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् यजमान को इस मन्त्र के द्वारा एक और आहुति अर्पित करनी चाहिये। अग्नि से सम्बद्ध क्रिया में इसकी उपयुक्तता असंदिग्ध है। यजुर्वेद के अन्य ग्रन्थों से भी

1. आप० गृ० ६।१५।२ (म० पा० २।१३।२) भा० गृ० १।२५ हि० गृ० २।४।३ आग्नि० गृ० २।१।४।

इसी विनियोग की पुष्टि होती है[१]। गृह्य परम्परा को व्यवहार वा०सं० से सम्बद्ध करने के आग्रह से पारस्कर ने सम्भवतः प्रसंग-रूप न मन्त्र में केवल स्तन शब्द की ओर ध्यान दिया। और वा०सं० में भाष्यकार उव्वट ने अनुसार जिस स्तन (स्रुवा) के द्वारा अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है उसे ही यहाँ आकृति साम्य से स्तन कहा गया है। (वसोर्धारा स्रुचा हूयते, सात्र स्तनकल्पनया स्तन उक्तः)

वाम स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः ॥ [४।२]

हे सरस्वती, तुम्हारा जो शब्दरूपी स्तन सोया हुआ (तुम्हारे शरीर में विद्यमान) है, जो सुखोत्पादक है, जो धन प्राप्त कराने वाला, रत्न देने वाला, जो शोभन दाता है, जिससे तुम सब इष्ट पदार्थों का पोषण करती हो, उसे तुम इसके धारणार्थ (ठीक) करो॥ मा०

बौ०गृ० (२।१।१०) में भी इसका विनियोग इसी प्रसङ्ग में किया गया है। कौशिक० (३२।१) में राक्षस-मोचन सम्बन्धी कर्मों में अन्यत्र यह कहा गया है कि यदि शिशु किसी राक्षस द्वारा गृहीत हो तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता का स्तन दिया जाना चाहिये। उद्देश्य भिन्न होने पर भी कर्म की समानता द्रष्टव्य है। अधिकांश संहिताओं में यह मन्त्र प्राप्त होता है[२]। और उन सबमें इसके पाठों में विशेष अन्तर नहीं है। उपरिलिखित पाठ वा०सं० का है। अथर्व० पाठ भी इसके बहुत निकट है। ऋ० और मै०सं० में द्वितीय और तृतीय पाद परस्पर-विपर्यासित हैं। जहाँ तक विनियोग के स्रोत का सम्बन्ध है, इसके पीछे ब्राह्मणों और श्रौत-सूत्रों की सुदीर्घ परम्परा है[३]। वहाँ इसका विनियोग प्रवर्ग्य के अन्तर्गत घर्म-गौ के थनों के अभिमन्त्रण अथवा उनके स्पर्श के लिए किया गया है। इस विषय में श०ब्रा० में इस गौ की सरस्वती (वाणी की देवी) के प्रतीक के रूप में व्याख्या की गई है जो वाणी रूपी दूध देती है—वही यज्ञ है[४]। यह ब्राह्मण (१४।१।४।२८) इस मन्त्र के गृह्य-विनियोग का सीधा स्रोत प्रतीत होता है। यहाँ भी गृह्यसूत्रों के समान यह

१ वा०सं० १७।८७, तै०सं० ५।५।१०।६, का०सं० ४०।६, आप०श्रौ० १६।१७।११, १७।२३।१०, मा० श्रौ० ६।२।६।

२ ऋ० १।१६४।४९, अथर्व० ७।१०।१, वा०सं०३८।५, मै० सं०४।९।७, १४।३।

३ ऐ० ब्रा० १।२२।२, श० ब्रा० १४।२।१।१५, तै० ब्रा० २।८।२।८, तै० ब्रा० ४।८।२,५।७।३, आ० श्रौ० ३।७।६,४।७।४, शा० श्रौ० ५।१०।५, आप० श्रौ० १५।९।६, का० श्रौ० २६।५।७, मा० श्रौ० ४।३।३।

४ श० ब्रा० १४।२।१।१५—वाग्वै सरस्वती, सैषा घर्मदुघा, यज्ञो वै वाक्॥

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे स्तन्य-पान के लिये शिशु को माता का स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] .—

अयं कुमारो जरां धयतु दीर्घमायु ।
तस्मै त्वं स्तन प्रप्यायायुर्वर्चो यशो बलम् ॥ [४४१]

यह बालक बुढापे और दीर्घायु का पान करे । हे स्तन तू उसके लिये आयु, तेज यश और बल की वृद्धि कर ॥

उपरिलिखित पाठ म पा० का है । हि० गृ म पूर्वार्ध के अन्त म दीर्घमायु क स्थान पर सर्वमायुरेतु पाठ है । उत्तरार्ध मे त्वम् का अभाव है स्तन प्रप्याय के स्थान पर स्तन प्रप्यायस्व पाठ है और आयु और वर्च के मध्य कीर्ति शब्द है । क्योकि स्तन सम्बोधन मे नही है अत इस पाठ से ऐसा लगता है कि यह स्तन को सम्बोधित न होकर माता को सम्बोधित है । आग्नि गृ मे पूर्वार्ध हि० गृ के समान है—केवल अन्तर यह है कि इसमे क्रियाएँ लोट् लकार म न होकर लट लकार मे है यथा धयति और एति । उत्तरार्ध म० पा और हि गृ के पाठ का सम्मिश्रण है । त्वम तो रखा गया है परन्तु हि० गृ० के समान ही आयु और वच के मध्य कीर्ति आया है और तस्म के स्थान पर यस्म पाठ है । शेष म पा के समान है अर्थात् स्तन सम्बोधन मे है । मन्त्र प्रसङ्गानुकूल है, परन्तु किसी भी सहिता मे उपलब्ध नही ।

पा गृ (१।१६।२० २१) मे शिशु को दोनो स्तन पृथक-पृथक् देने के लिय दो भिन्न मन्त्रो का प्रयोग किया गया है । दक्षिण स्तन के लिये निम्नलिखित मन्त्र ह —

इम स्तनमूर्जस्वन्त धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्स जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रिय सदनमाविशस्व ॥ [४४२]

हे अग्नि जल के मध्य इस अति विशाल बलशाली जल के स्तन का पान करो । हे गतिशील इस मधुयुक्त निष्यन्द को ग्रहण करो और अपने समुद्र सम्बन्धी घर मे प्रविष्ट हो जाओ ॥

स्पष्ट ही यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है । का०गृ (२।३१) म भी पाक यज्ञो के सामान्य नियमो का वर्णन करते हुए विधान किया गया है कि प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् यजमान को इस मन्त्र के द्वारा एक और आहुति अर्पित करनी चाहिये । अग्नि से सम्बद्ध क्रिया मे इसकी उपयुक्तता असदिग्ध है । यजुर्वेद के अन्य ग्रन्थो से भी

---

१ आप गृ० ६।१५।५ (म पा २।१३।२) मा गृ १।२५ हि गृ २।४।३ आग्नि गृ २।१।४ ।

हे जल, जैसे तुम देवताओ के प्रति जागरूक हो, वैसे ही हमारे घर के प्रति जागरूक हो और वैसे ही इस शोभन पुत्र वाली के प्रति जागरूक हो ॥

हि० गृ०, बौ० गृ० और आग्नि० गृ० मे यह पाठ है। पा० गृ० मे गृहेषु के स्थान पर देवेषु तथा सभी स्थलो पर जाग्रत के स्थानपर जाग्रथ (लट्) पाठ है। इसमें यस्यै सुपुत्रायै के स्थान पर अस्या सपुत्रिकायाम् पाठ है और इन दोना शब्दो के बीच सूतिकायाम् भी डाला गया है। निस्सन्देह इन पाठान्तरो के द्वारा मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् मे परिणत हो जाता है, परन्तु मन्त्र के प्रार्थना-रूप होने के कारण जाग्रत (लोट्) अधिक उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार देवेषु की पुनरावृत्ति भी निरर्थक सी प्रतीत होती है, उधर गृहेषु रहने मे देवताओ से तुलना सार्थक होती है। म०पा० और भा० गृ० मे मन्त्र का निम्नलिखित रूप दिया गया है —

आप सुप्तेषु जाग्रत रक्षांसि निरितो नुदध्वम् ॥ [४७]

हे जल, सुप्तजनो के प्रति जागरूक रहो और यहाँ से राक्षसो को भगा दो।

मन्त्र से शिशु की प्रत्येक अवस्था म रक्षा के लिये प्रार्थना स्पष्ट है। का०म० (३१।२) मे भी जल द्वारा राक्षसो से रक्षा की भावना व्यक्त की गई है और उसी प्रसङ्ग मे वहाँ भी आपो जाग्रत शब्द दिये गये ह। गृह्य मन्त्र का आधार सम्भवतया ये शब्द और का० स० की उक्त भावना है[1] परन्तु आप द्वारा रक्षा की भावना पर और विचार अपेक्षित है। कही एसा तो नही कि निशाचर राक्षसो को दूर करने वाले प्रकाश को ही आप कहा गया हो ? आप के स्वर्वती (ज्योतिर्मय) विशेषण मे यह अनुमान और भी सम्भव है।

सूतिकाग्नि से सम्बद्ध कर्म

यजुर्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे और जै० गृ० मे यह विधान है कि शिशु के जन्म के अवसर पर नियमित औपासनाग्नि के स्थान पर आहित सूतिकाग्नि मे उत्थान तक माता और शिशु की रक्षा के निमित्त प्रतिदिन सरसो और धान के छिलको की आहुतियाँ दी जानी चाहियें।[2] इन आहुतियो के लिए इन गृह्यसूत्रो मे मिलते जुलते मन्त्रो का विनियोग किया गया है। हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० मे निम्नलिखित मन्त्रो का निर्देश किया गया है —

---

१ आपो रक्षोघ्नी और आपो वै यज्ञस्य गोप्त्री दे० मै० स० १।१।३, का० स० १।३, मा० श्रौ० १।१।३।३७।

२ हि०गृ० २।३।७, भा०गृ० १।२३, आग्नि० गृ०२।१।३, आप०गृ० ६।१५।६ म०पा० २।१३।७—१२, १४।१—२) पा० गृ० १।१६।२३, का०गृ० ३५-१, जै० गृ० १।८।

विधान है कि शिशु को माता को देकर पिता को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता का स्तन देना चाहिये। वस्तुत इस ब्राह्मण मे जातकर्म नाम न देकर भी उसी सस्कार का वर्णन किया गया है।

का०गृ०(३४।७) मे निर्देश है कि शिशु के स्तन्य-पान करने के पश्चात् पिता को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुएउसका शीर्ष-चुम्बन करना चाहिये —

जीव शरद शत पश्य शरद शतम् ॥ [४४४]

तुम सौ वर्ष जीवित रहो सौ वर्ष तक देखते रहो।

यह वाक्य ऋ ७।६६।१६ तच्चक्षु इत्यादि मन्त्र से प्रभावित लगता है।

अन्य गृह्यसूत्रो के अनुसार शिशु के स्तन्यपान कर लेने पर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता को स्तनो का स्पर्श करना चाहिये[1] —

नामयति न रुदति। यत्र वयं वदामसि यत्र चाभिमृशामसि ॥ [४४५]

जब हम उससे बोलते है, जब हम उसका स्पर्श करते हैं तो वह न तो रुग्ण होता है और न ही रोता है।

पा० गृ० (१।१६।२५) मे आरम्भ मे एक और न के द्वारा न नामयति पाठ है और रुदति के पश्चात् न हृष्यति न ग्लायति भी जोड़ा गया है। इस प्रकार इस गृह्यसूत्र मे यह मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द मे आया है। विनियोग की दृष्टि से भी यह अन्यो से भिन्न है क्योंकि इसके अनुसार पिता को शिशु की माता के स्तनो का स्पर्श न करके इस मन्त्र द्वारा शिशु का ही स्पर्श करना चाहिये। इसका आरम्भिक न अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि नामयति (न आमयति) मे पहले ही अभावात्मक अर्थ सन्निहित है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है।

यजुर्वेद से सम्बद्ध इन गृह्यसूत्रों मे यह भी विधान किया गया है कि उपर्युक्त क्रिया के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण के साथ माता के सिर की ओर जल से भरा एक घड़ा रखा जाना चाहिये[2] —

आपो गृहेषु जाग्रत यथा देवेषु जाग्रत।
एवमस्य सुपुत्राय जाग्रत ॥ [४४६]

---

१ हि गृ २।४।५ आग्नि गृ०२।१।४ आप०गृ ६।१५।५ (म पा २।१३।५) भा गृ १।२५ बौ० गृ० २।१।१२।

२ हि०गृ २।४।५ बौ०गृ० २।१।१२, आग्नि०गृ० २।१।४ पा०गृ० १।१६।२२, भा० गृ० १।२५, आप० गृ ६।१५।६ (मं०पा० २।१३।६)।

मे से परिवार को देखती है, जो सोये हुओ मे जागती है और जिसका मन प्रसूता के प्रति प्रेरित है, स्वाहा। हे अग्नि, कृष्ण मार्ग (धुएँ या भस्म) के लिये, तुम उनके क्लोम (तिल्ली ?), हृदय, यकृत् और आँखो को जला दो, स्वाहा।

भा० गृ० मे इन मन्त्रो के स्वल्प पाठान्तर हैं। प्रथम मन्त्र मे शाण्डिकेर के स्थान पर तुण्डिकेर है। तृतीय मन्त्र मे कुम्भी शत्रु के स्थान पर कुम्भीपात्र, सप्तम मन्त्र मे हृत और बध्नीत के स्थान पर घ्नत और गृह्णीत पाठ हैं। नवम मन्त्र मे पिता के पश्चात् इति के स्थान पर एति है जिससे अर्थ सम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है, तदनुसार अर्थ होता है—उनका पिता उच्चैः श्राव्यकर्णक चलता है। दशम मन्त्र मे नक्तचारिणी के स्थान पर प्रवेशचारिणी पाठ है।

म० पा० मे प्रभूत पाठ-भेद है, इसमे द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मन्त्रो का नितान्त अभाव है और आरम्भ मे यह मन्त्र जोडा गया है —

अय कलि पतयन्त श्वानमिवोद्वृद्धम् ।
अजां वाशितामिव मरुत पर्याध्व स्वाहा ॥ [४५९]

हे मरुतो, उच्छृंखल कुत्ते और मिमियाती हुई बकरी के समान आक्रमण करने वाले इस कलि को तुम वेष्टित करलो।

उपर्युद्धृत मन्त्रो मे से प्रथम मन्त्र को इसमे निम्नलिखित रूप मे दो मे विभाजित किया गया है —

शण्डेरयश्शाण्डिकेर उलूखलश्च्यवनो नश्यतादित. स्वाहा ॥ [४६०]
अयश्शाण्डो मर्क उपवीर उलूखल · ॥ [४६१]

पञ्चम मन्त्र में बजाबोजा के स्थान पर खजापोजा और षष्ठ मे विश्ववास के स्थान पर मिश्रवासस पाठ है। इस मन्त्र का उत्तरार्ध म०पा० मे ग्राम सजानयो गच्छन्तीच्छन्ती परिदाकृतान्स्वाहा है। इसके सप्तम मन्त्र का पाठ ठीक भा०गृ० जैसा है, केवल पूर्वार्ध के अन्त मे दूत के स्थान पर पुत्र है। नवम मन्त्र मे गच्छन्ती के स्थान पर सर्पति और विधुरम् के स्थान पर विधुरम् पाठ है—और निस्सन्देह यह अधिक सार्थक है क्योकि इससे सकेत मिलता है कि राक्षस से पत्नी की मृत्यु का सन्देह था। दशम मन्त्र मे नक्तचारिणी के स्थान पर निशीथचारिणी और स्वपत्सु जागर्ति के स्थान पर स्वपन्त बोधयति पाठ है। इसमे कोई सदेह नही कि म०पा० के ये पाठान्तर मन्त्रो के स्पष्टीकरण मे सहायक सिद्ध होते हैं।

पा०गृ० में केवल प्रथम चार मन्त्रो को उद्धृत किया गया है जिनमे से

शण्डो मर्क उपवीर शाण्डिकेर उलूखल । च्यवनो नश्यतादित स्वाहा ॥४४८
आलिखन विलिखन्ननिमिषन किंवदन्त उपश्रु ति स्वाहा ॥ [४४९]
अर्यम्ण कुम्भी शत्रु पात्रपाणिर्निपुणि स्वाहा ॥ [४५०]
आन्त्रीमुख सर्षपारुणो नश्यतादित स्वाहा । [४५१]
केशिनी श्वलोमिनी बजाबोजोपकाशिनी । अपेत नश्यतादित स्वाहा ॥ ४५२
कौबेरका विश्ववासो रक्षोराजेन प्रेषिता ।
ग्रामान्सजातयो यन्तीप्सन्त परिजाकृतान ॥ [४५३]
एतान हततान् बध्नीतेत्यय ब्रह्मणो दूत ।
तानग्नि पर्य सरत्तानिन्द्रस्तान बृहस्पति ।
तानह वेद ब्राह्मण प्रमृशत कूटद तान विकेशान लम्बनस्तनान् ॥ [४५४]
नक्तचारिण उरस्पेशान् कपालपान स्वाहा ॥ [४५५]
पूर्व एषां पितेत्युच्च श्राव्यकर्णक ।
माता जघन्या गच्छन्ती ग्राम विधुरमिच्छन्ती ॥ [४५६]
नक्तचारिणी स्वसा सन्धिना प्रेक्षते कुलम् ।
या स्वपत्सु जागर्ति यस्य विजातायां मन स्वाहा ॥ [४५७]
तासां त्व कृष्णवर्त्मने हृदय यकृत् ।
अग्ने अक्षीणि निर्दह स्वाहा ॥ [४५८]

(शण्ड मर्क उपवीर शाण्डिकेर उलूखल और च्यवन का यहाँ से नाश हो स्वाहा। आलिखन् विलिखन् अनिमिषन् किंवदन्त और उपश्रुति (का नाश हो) स्वाहा अर्यम्ण कुम्भी शत्र पात्रपाणि निपुणि (का नाश हो) स्वाहा आन्त्रीमुख सर्षपारुण (सरसो के समान रक्तवर्ण) का यहाँ से नाश हो केशिनी (केशों से युक्त) श्वलोमिनी (कुत्ते के समान रोम वाली) बजाबोजा उपकाशिनी यहा से हटें उनका नाश हो। राक्षसराज द्वारा प्रेषित कुबेरसम्बन्धी विश्ववास (सर्वत्र वास करने वाले) सजातीय सब ओर से समृद्ध जनो (को पराभूत करने) के इच्छुक गावों की ओर जाते है ब्रह्मा का यह दूत कहता है कि इनको मारो इन्हें बाधो। अग्नि इन्द्र और बृहस्पति ने उन्हें घेर लिया। मैं ब्राह्मण उन घर्षण करने वाले बडे दांतों वाले केशरहित और लटकते हुए स्तन वाले राक्षसों को जानता हूँ। (मैं) निशाचरो वक्ष स्थलाभूषणधारी भाले हाथ मे लिये हुए खोपडियों में पान करने वाले (राक्षसो को जानता हूँ) स्वाहा। उच्च श्राव्यकर्णक इनका पिता नामक पूर्वज है। विधुर (बिना खुरों का पशु) की इच्छा करती हुई गाँव मे घूमती हुई इनकी माता हिंसा के योग्य है। इनकी निशाचरी भगिनी दरार

सप्तम अध्याय

बालक-सम्बन्धी संस्कार

नामकरण

जन्म से दसवें या बारहवें दिन बालक का नामकरण संस्कार होता है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में इस संस्कार के निमित्त विशेष कर्म अथवा मन्त्रों का विधान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कार में विशेष कर्मों अथवा मन्त्रों का प्रयोग परवर्ती काल में ही आरम्भ हुआ। आग्नि०गृ० (२।२।५) के अनुसार बारहवें दिन बालक के माता-पिता उसका नाम रखने का निश्चय करते हैं। इस अवसर पर अग्नि में तेरह आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। उनके साथ जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है उनसे तै०स० के एक अनुवाक (३।३।११—सातवें मन्त्र से लेकर उपान्त्य मन्त्र तक) का वृहद् भाग बनता है। इनमें से धातृ-देवता वाले पहले चार मन्त्रों का विवेचन सीमन्तोन्नयन के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे० मन्त्र स० ३८६-३८६)। इसी संस्कार के अन्तर्गत अन्य दो, राका को सम्बोधित, मन्त्रों का विवेचन भी हो चुका है (दे० मन्त्र स० ३६३-३६४)। इन दोनों मन्त्रसमूहों के मध्य वर्तमान चार मन्त्रों में अनुमति देवी की स्तुति की गई है। राका सम्बन्धी मन्त्रों के पश्चात् दो मन्त्रों में सिनीवाली देवी की स्तुति की गई है। और अन्त में एक मन्त्र में कुहू देवी की स्तुति है। इन आहुतियों के पश्चात् पिता को बालक का विशेष गुणों से युक्त नाम रखना चाहिए। धाता देवता तथा अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू देवियों के विषय में तै०स० के एक ब्राह्मण भाग (३।४।६।१) में कहा गया है कि सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को इन गौण देवताओं के प्रति आहुतियां अर्पित करनी चाहियें। आगे चलकर यह व्याख्या की गई है कि यजमान धाता के द्वारा (पति-पत्नी का) संयोग उत्पन्न करता है, अनुमति उसे अनुमति देती है, राका उसे (सन्तान) प्रदान करती है, सिनीवाली उसे जन्म प्रदान करती है, और जन्म होने पर वह कुहू के द्वारा उसमें वाणी की स्थापना करता है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल से इन मन्त्रों का सम्बन्ध सन्तान-विषयक कर्मों से रहा है और अंत में कुहू द्वारा बालक को वाणी प्रदान करने की बात तो नामकरण का ही रूपान्तर

१ देविका निर्वपेत् प्रजाकाम ... प्रथम धातारं करोति मिथुनी एव तेन करोत्यन्वेवास्मा अनुमतिर्मन्यते, राते राका, प्र सिनीवाली जनयति, प्रजास्वेव प्रजातासु कुह्वा वाचं दधाति ॥

अन्तिम तीन को मिलाकर एक बना दिया गया है। प्रथम मन्त्र के राक्षसों के नामो मे मलीम्लुच और द्रोणास इन दो नामा की वृद्धि की गई है और शण्ड और मर्क को मिलाकर एक शण्डामर्क बना दिया गया है। शौण्डिकेर के स्थान पर शौण्डिकेय पाठ है। अगले तीन मन्त्रों मे से पा०गृ मे विलिखन् का अभाव है अनिमिषन् के स्थान पर अनिमिष अयम्न के स्थान पर हर्यक्ष निपुणि के स्थान पर नृमणि और मान्त्रीमुख के स्थान पर कुम्भीमुख पाठ है। सर्षपारुण के पश्चात् च्यवन जोड़ा गया है। जै गृ० मे भी प्रायः पा०गृ के समान ही मन्त्रो का क्रम है। प्रथम मन्त्र पा गृ के अधिक निकट है क्योकि इसमे भी मलीम्लुच और द्रुणाशि जोड़े गये हैं, परन्तु शण्डाय मर्काय उपवीराय चतुर्थ्यन्त हैं– किन्तु अन्य सभी नामो के प्रथमान्त रहते हुए इनका चतुर्थ्यन्त होना अनावश्यक प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्र हि०गृ के अगले तीन मन्त्रों का सम्मिश्रण है। और इसमे उनका पाठ भी वही है। एक मात्र अपवाद निपुणिः के स्थान निपुणहा है। का गृ मे भी हि गृ द्वारा उद्धृत मन्त्रों में से केवल पहले तीन और पाँचवां मन्त्र निम्नलिखित रूप मे प्रयुक्त किये गये हैं —

शण्डो मर्कोपवीतस्तौण्डुलेय उलूखलश्चपलो नश्यतामित स्वाहा ॥ [४६२]
अमालिख नवलिखन् किवदन्त उलूखल ॥ [४६३]
हर्यक्ष कुम्भि शत्रिर्हन्तो कुपणोमुख ॥ [४६४]
केशिनी श्वलोमिनी कवकेशावकाशिन्यपेतो नश्यतामित स्वाहा ॥ [४६५]

देवपाल ने कवकेशावकाशिनी के स्थान पर कवाकोशापकाशिनी दिया है और कहा है कि यह तीन राक्षसियो के नामों कवा कोशा अपकाशिनी का द्योतक है। विभिन्न गृह्यसूत्रो में पाठान्तरों सहित इन मन्त्रों मे अनेक राक्षसों और राक्षसियों के कर्णकटु नामों की लम्बी सूचियाँ दी गई हैं। उन सब के नाश की अभिलाषा व्यक्त की गई है। अन्त में अग्नि से उनके मर्मस्थलों यथा हृदय यकृत् आदि को भस्मशेष करने की प्रार्थना की गई है। मन्त्र केवल गृह्य-परम्परा मे उपलब्ध होते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि भागवत पुराण ७।५।१–२ मे शण्ड और मर्क का राक्षसों के आचार्यों के रूप मे उल्लेख किया गया है —

पौरोहित्याय भगवान् वृत काव्य किलासुरः।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥
तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥

धारण करें—तुम उचित रूप मे (हमारी) आयु के लिये और हम अपने जीवन के लिये।

श्रौत साहित्य में इन मन्त्रों का विनियोग एक या उससे अधिक रात्रि के लिये प्रवास को जाने वाले व्यक्ति के द्वारा आहवनीय अग्नि की उपासना के निमित्त किया गया है।[1] मन्त्र भी वस्तुत अग्नि को ही सम्बोधित किये गये है। सम्भवतया गृह्यकर्म में भी यह सस्कार अग्नि के सम्मुख अनुष्ठित होने के कारण अग्नि को सम्बोधित किया गया है। इसमें कोई सदेह नही कि दोनो मन्त्रो में आने वाले नाम शब्द से भी उनके उक्त गृह्य-विनियोग की प्रेरणा मिली होगी। ऐसा भी सदेह होता है कि सम्भवतया श्रौत-विनियोग मे ही मन्त्र का बलात् अपकर्षण किया गया होगा।

का०गृ० के अनुसार बालक का नाम दो बार रखा जाना चाहिए—एक बार उसके जन्म के समय और दूसरी बार जन्म से दसवें दिन। प्रथम नामकरण के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण के साथ बालक का मुख सुवर्ण से पवित्र किया जाना चाहिये (का०गृ०३४।५) —

अग्नेरायुरसि तस्य ते मनुष्या आयुष्कृतस्तेनास्मै आयुर्धेहि ॥ [४६६]

हे सुवर्ण! तुम अग्नि की आयु हो अर्थात् उससे उत्पन्न हुए हो।[2] इस प्रकार के तुम्हारी आयु मनुष्य बनाते हैं (इन्धनादि के द्वारा अग्नि की आयु होती है और अग्नि के कारण सुवर्ण की)। मनुष्यो के इस उपकार के कारण तुम इस यजमान और उस बालक को आयु प्रदान करो।   दे०पा०

द्वितीय नामकरण के अवसर पर भी यह विधान है कि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए बालक के कण्ठ मे पहनाये जाने वाले सुवर्ण को उस आज्य मे रखना चाहिये जिससे आहुतियाँ अर्पित की जायेंगी (का० गृ० ३६।५)। दोनो स्थलो पर मन्त्र सुवर्ण के प्रति सम्बोधित है। यह मन्त्र दीर्घायुष्य की प्रार्थना है, अत इसका उपयुक्ततम विनियोग-स्थल जातकर्म के अन्तर्गत आयुष्य होता। मा० गृ० (१।१७।४) में उसी कर्म के अन्तर्गत एक इससे मिलते जुलते मन्त्र का सुष्ठु प्रयोग किया गया है (दे० मन्त्र स ४०७)। इस मन्त्र का सीधा स्रोत का० स० ११।७ प्रतीत होता है क्योकि वहाँ भी मन्त्र का ठीक यही रूप उपलब्ध होता है। अन्य श्रौत ग्रन्थो मे भी इससे मिलते जुलते मन्त्रो का विनियोग आयुष्कामेष्टि मे किया गया

---

१ तै०स०१।५।१०।१, का०स०७।३, आप०श्रौ०६।२४।७, २६।४, मा०श्रौ०१।६-३।६, १६, आ०श्रौ०२।५।३, १०, मा०श्रौ०६।४।११, ६।३

२ अग्नि से सुवर्णकी उत्पत्ति की पुष्टि मे दे० पा० ने निम्नलिखित श्रुतिवाक्य उद्धृत किया है—अग्नेर्यद् रेत सिच्यते तद् हिरण्यमभवत्॥

है। नि (११।३।११) की व्याख्या के अनुसार कुहू अमावास्या का नाम है क्योंकि पता नहीं चलता कि वह कहां है ? (क्व भू०)

गो० गृ० और खा०गृ० में विधान है कि प्रजापति बालक की जन्म तिथि, बालक के जन्म-नक्षत्र तथा उस नक्षत्र के अधिष्ठातृ-देव के प्रति आहुतियां अर्पित करके पिता को बालक का नया नाम उच्चारित करने से पूर्व उसकी ज्ञानेन्द्रियों का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1]—

को ऽसि कतमो ऽसि। एषो ऽस्यमृतो ऽसि।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ [४६६]

(तुम कौन हो कौन से हो। तुम यह हो तुम अमर हो। अमुक नाम वाले तुम दिनों के स्वामी से सम्बद्ध मास में प्रवेश करो।)

अंत में अमुक नाम वाले (असौ) के स्थानपर उसका नाम बोला जाना चाहिये।

इसका केवल को ऽसि कतमो ऽसि अंश वा स प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रंथों में उपलब्ध होता है।[2] परन्तु उन ग्रंथों में इन शब्दों द्वारा द्रोण कलश को सम्बोधित किया गया है। अत गृह्यकर्म से उस विनियोग का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

व० गृ० (३।१६) में नामकरण संस्कार का विस्तृत वर्णन किया गया है। तदनुसार यह विधान है कि यह संस्कार बालक-जन्म के चालीसवें या पचासवें दिन किया जाना चाहिये। उस दिन पिता को निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करके बालक का विशेष गुणों वाला नाम रखना चाहिये —

मम नाम प्रथमं जातवेदः पिता माता च दधतुर्यदग्रे।
तत्त्वं बिभृहि पुनरामदैतोस्तवाहं नाम बिभराण्यग्ने ॥ [४६७]
मम नाम तव च जातवेदो वाससी इव विवसानौ ये चराव।
आयुषे त्वं जीवसे वयं यथायथं वि परि दधावहै पुनस्ते ॥ [४६८]

(हे जातवेद अग्नि मेरे माता पिता ने पहले जो मेरा पहला नाम रखा था उसे तुम मेरे लौटने तक धारण करो हे अग्नि मैं तुम्हारा नाम धारण कर लूं ॥ हे जातवेदा अपने और तुम्हारे नाम को वस्त्रों के समान धारण करके जो हम चलते हैं, ऐसे हम दोनों फिर से एक दूसरे का नाम

---

१ गो गृ २।८।१३ (मं०ब्रा १।५।१४ १५) खा गृ २।३।६।

२ वा स ७।२६ का स०का ३।१।१४ का स ३७।१३ १४ स का ४।५।६।४ स०ब्रा २।६।५।१ मा श्रौ २।३।७।१ आप श्रौ०१६।१ ।१।

आहुति अर्पित करने के लिये इस मन्त्र का प्रयोग याज्या और पुरोनुवाक्या दोनो रूपो मे किया गया है। यद्यपि यह मन्त्र समस्त ब्राह्मण और श्रौत साहित्य मे अनेक बार उद्धृत किया गया है[1] तथापि गृह्य-विनियोग से मिलता जुलता विनियोग केवल आप० श्रौ० १६।२३।४ मे प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध मे शा० श्रौ० (६।२०।२१) के प्रति सकेत करना भी आवश्यक है क्योकि वहाँ सन्धिस्तोत्र के वर्णन मे सूर्य के उदय होने पर इसके उच्चारण का निर्देश है। तै० ब्रा० (३।१।३।३) मे सूर्य के निमित्त चरु की याज्या के रूप मे इसे उद्धृत किया गया है।

मा० गृ० (१।१९।४) मे आगे चलकर यह विधान है कि सूर्य की उपासना करके पिता को निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए शिशु को सूर्य-दर्शन कराना चाहिए —

नमस्ते अस्तु भगवन् शतरश्मे तमोनुद।
जहि मे देव दौर्भाग्य सौभाग्येन मा सयोजयस्व॥ [४७१]

हे शतो किरणो वाले, अधकारविनाशक भगवान् सूर्य, आपको नमस्कार हो। हे देव, मेरे दुर्भाग्य को नष्ट कर दीजिये और सौभाग्य से मेरा सयोग कीजिये॥

उसी गृह्यसूत्र मे अन्यत्र (२।१४।३१) विनायकोंद्वारा अभिभूत व्यक्तियो को उनसे मुक्त कराने के निमित्त कर्म मे सूर्य के उदय होने पर पुरोहित द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी उपासना का निर्देश किया गया है। यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्त है। सम्भवतया इस विशेष गृह्य-कर्म के निमित्त इसकी रचना की गई होगी।

का० गृ० (३७।२—३) मे विशेष मन्त्रो के उच्चारण के साथ[2] चार आज्याहुतियो और दो स्थालीपाकाहुतियो का विधान किया गया है। अगले सूत्र मे निर्देश है कि अधोनिर्दिष्ट मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के पिता अथवा ज्येष्ठ सम्बन्धी को उसे उठा कर लाना चाहिए —

---

१ ऐ० ब्रा० ४।१०।१०, ष० ब्रा० ५।१२, श० ब्रा० ४।३।४।६, ६।२।२, तै० ब्रा० ३।७।११।२, तै० आ० ४।११।८, २०।३, ५।६।११, आ० श्रौ० ६।५।१८, शा० श्रौ० १८।२।२, ३।५, आप० श्रौ० १०।२७।१०, १३।५।७, १५।१६।१०, २१।२१।७, का० श्रौ० १०।२।५, १३।२। १२, मा० श्रौ० २।४।५।४।

२ का० स० १०।१३ (तरणिर्विश्वदर्शत और दिवोरुक्म ·
का० स० ४।६ (उदु त्य जातवेदस और चित्र देवानाम् ·
का० स० २३।१२(मित्रोजनान् और प्र स मित्र)

है[1]। इससे भी इसका आयुष्य-कर्म से सम्बन्ध होना अधिक उचित प्रतीत होता है।

आदित्यदर्शन तथा निष्क्रमणिका

मा० गृ० (१।१९।१—२) में यह निर्देश है कि पुत्र को सूर्य-दर्शन कराने का संस्कार जन्म से चौथे मास में सम्पादित करना चाहिये। अगले सूत्र में तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सूर्य को तीन आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। मुख्य संस्कार में निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए सूर्योपासना की जाती है (मा० गृ० १।१९।४) —

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ [४७०]

सारे संसार के दर्शन के लिये उस जातवेदा सूर्य देव को किरणें ऊपर को उठाती हैं अर्थात् उदय करती हैं।

का० गृ० (३७।२) में इस मन्त्र का विनियोग इसी संस्कार के अन्तर्गत आज्याहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। आ० गृ० (१।२।४) में सन्ध्योपासना के अन्तर्गत भी इसे उद्धृत किया गया है। शा० गृ० (४।६।४) और हि० गृ० (१।९।६) में इसका विनियोग भिन्न संस्कारों में हुआ है। शा० गृ० के अनुसार उत्सर्ग कर्म में बहुत से सूर्यदेवता वाले सूक्तों का पाठ छात्र को करना चाहिये। उन सूक्तों में से एक का यह आद्य मन्त्र है। हि० गृ० में समावर्तन के अन्तर्गत स्नातक द्वारा सूर्योपासना के लिये एक और मन्त्र के साथ साथ इसका प्रयोग किया गया है।

यह मन्त्र केवल सभी वैदिक संहिताओं में प्राप्त ही नहीं होता अपितु ऋ० और साम० को छोड़ कर सबमें एक से अधिक बार आया है। परन्तु मन्त्र के गृह्य विनियोग के आधार के रूप में तै० सं० (२।३।८।२) का महत्त्व सर्वाधिक है। इस स्थान पर चक्षुष्काम अर्थात् स्वस्थ दृष्टि की कामना वाले व्यक्ति द्वारा सूर्य को

१ तै० सं० २।३।१।११; ११।३ मै० सं० २।३।४ आप० श्रौ० १९।२४।१ मा० श्रौ० ५।२।२।४५।

२ मै० सं० ४।१४।१४ (आदित्य शुक्र पुरस्तात् इत्यादि) ऋ० ४।४०।५ (हंस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् इत्यादि) ऋ० १।८८।११ (यदेदेनमदधुर्यज्ञियास इत्यादि)

३ ऋ० १।५०।१ अथर्व० १३।२।१६; २०।४७।१३ साम० १।३१ वा० सं० ७।४१; ८।४१; ३३।३१ तै० सं० १।२।८।२; ४।४३।१; २।४।८।२; ४।१४ ६।१।११।४ मै० सं० १।३।३७; ४।१०।६; १२ का० सं० ४।९; ३०।५।

प्रथम दो—द्रष्ट्रे नम और उपद्रष्ट्रे नम—का विनियोग हुआ है। और आप०श्रौ० २०।१।१७ मे समस्त मन्त्र उद्धृत है। यहाँ इसका विनियोग अश्वमेध के अन्तर्गत उदित सूर्य की उपासनार्थ किया गया है। सम्भवतया का०गृ० के गृह्य-विनियोग का आधार यही विनियोग होगा।

द्वितीय मन्त्र तै०स० को छोड कर अन्य सभी सहिताओ मे उपलब्ध है।[1] ऋ० और वा०स० मे आद्य शब्द अदृश्रम् है। इस पाठ से अर्थ में कठिनाई उत्पन्न होती है। यह पाठ स्पष्टतया लुङ् उ०पु० एकवचन का रूप है। परन्तु इसे कर्मवाच्य लट् प्र०पु० बहुवचन का रूप सिद्ध करने के लिये उव्वट और महीधर को छान्दस का आश्रय लेना पडा है। सायण ने यद्यपि इसे कर्तृवाच्य माना है, परन्तु पुरुष की कठिनाई उसके सामने भी रही। अन्य सहिताओ का अदृश्रन् पाठ फिर भी लुङ् होते हुए भी प्र०पु० बहुवचन का रूप है। सम्भवत अदृश्रम् अधिक प्राचीन आर्ष प्रयोग हो। श०ब्रा०, का०श्रौ० और मा०श्रौ० में इस मन्त्र का विनियोग सोम-याग के अतर्गत अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करनेके लिये किया गया है।[2] इस ग्रह को इस मन्त्र द्वारा ग्रहण करने के समर्थन मे श०ब्रा० (४।५।४।५) मे एक आख्यानक मे कहा गया है कि सूर्य मे पहले यह दीप्ति (भ्राज) नही थी। उसने कामना की कि यह दीप्ति मुझमें हो जाये। उसने इस ग्रह को देखा, इसे ग्रहण किया। तव उसमे यह दीप्ति हो गई। यह भी कहा गया है कि यज्ञ मे जो भी व्यक्ति इस ग्रह को ग्रहण करेगा उसे सूर्य-तुल्य दीप्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार श्रौत-प्रयोग मे सूर्य के साथ सम्बन्ध होने के कारण इसे गृह्य-प्रयोग का भी आधार माना जा सकता है।

पा०गृ० (१।१७।६) मे निष्क्रमणिका सस्कार अर्थात् शिशु को प्रथम वार प्रसूतिगृह से बाहर लाने के कर्म का विधान किया गया है। तदनुसार वा०स० ३६।२४ का उच्चारण करता हुआ पिता शिशु को सूर्य-दर्शन कराता है। यद्यपि इस प्रसग मे यह मन्त्र उपयुक्ततम प्रार्थना प्रस्तुत करता है, तथापि इसका विस्तृत विवेचन उपनयन के अतर्गत किया गया है क्योंकि स्वय पा०गृ० और अन्य अधिकाश गृह्यसूत्रो मे भी वही सूर्योपासना के निमित्त इसका विनियोग किया गया है। पा०गृ० (१।८।७) मे विवाह के अतर्गत भी सप्तपदी के पश्चात् वधू को सूर्यदर्शन कराने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। (दे० मन्त्र स० ५४७)

---

१ ऋ० १।५०।३, वा०स० ८।४०, अथर्व० १३।२।१८, २०।४७।१५, का०स० ४।११, मै०स० १।३।३३।

२ श०ब्रा० ४।५।४।११, का०श्रौ० १२।३।१२, मा०श्रौ० ७।२।२।२५, दे०आप०श्रौ० १६।१२।११ (उत्तरवेदी-चयन)

अस्यावतस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह । वपां ते अग्निरिषितो अरोहत् ॥[४७२]

हे पृथिवी यज्ञ और दुग्ध के साथ मेरे सम्मुख आओ अर्थात् प्रसन्न होकर मुझे दुग्धवान् और याज्ञिक बनाओ । यह प्रेषित अग्नि तुम्हारी सारभूत वेदी पर आरोहण करे—दे पा०

यह मन्त्र सभी यजुर्वेद संहिताओं में उपलब्ध होता है ।[1] शिशु को उठाकर लाने की विशेष गृह्य-क्रिया में इसके विनियोग का आधार श० ब्रा० (७।३।१।२१) प्रतीत होता है । वहाँ आहवनीय अग्नि के वेदि चयन वर्णन में इसका विनियोग लोगेष्टका (गीली मिट्टी की ईंट) उठा कर लाने के लिये किया गया है । परन्तु श्रौत सूत्रों में इसका विनियोग वेदि-स्थान पर गीली मिट्टी का लोष्ठ डालने के लिये हुआ है ।[2]

का०गृ० (३७।५) में यह निर्देश है कि शिशु को गोद में ले कर पिता को निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा सूर्योपासना करनी चाहिये —

द्रष्ट्रे नम उपद्रष्ट्रे नमोऽनुद्रष्ट्रे नमः ख्यात्रे नम उपख्यात्रे नमोऽनुख्यात्रे नमः शृण्वते नम उपशृण्वते नमः सते नमोऽसते नमो जाताय नमो जनिष्यमाणाय नमो भूताय नमो भविष्यते नमश्चक्षुषे नमः श्रोत्राय नमो मनसे नमो वाचे नमो ब्रह्मणे नमः श्रान्ताय नमस्तपसे नमः ॥ [४७३]

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ [४७४]

द्रष्टा अर्थात् जीवात्मा उपद्रष्टा अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा अनुद्रष्टा अर्थात् योग्यात्मा ख्याता अर्थात् सर्वलोकरूप उपख्याता अर्थात् रूपादि धर्म अनुख्याता अर्थात् धर्माधर्म रूपादि में विद्यमान सूर्य को सुनने वाले अर्थात् आकाशरूप तथा श्रोत्ररूप सूर्य को सत् तथा असत् उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होने वाले अतीत तथा भविष्यत् को चक्षुरूप श्रोत्ररूप मनोरूप वाणीरूप, ब्रह्मरूप श्रमशील तथा तप शील सूर्य को नमस्कार है ॥ इस सूर्य की अग्नि के समान देदीप्यमान बधनशून्य किरणें उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रति दिखाई दे रही है । दे०पा०

प्रथम मन्त्र का मूल स्रोत का० सं० (२६।१२) है । वस्तुतः यह लघु वाक्यों का समूह है । इन वाक्यों का पृथक-पृथक स्वतन्त्र विनियोग भी प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ आप० श्रौ० (१२।२ ।९) में अग्निष्टोम के अन्तर्गत प्रातःसवन में केवल

१ वा०सं० १२।१ ३ तै० सं० ४।२।७।१ म०सं० २।७।१४ का०सं १६।१४

२ आप० श्रौ० १६।२ ।५ बौ० श्रौ० १ ।२६ मा० श्रौ० ६।१।५।४, का० श्रौ० ७।३।११ ।

पांवो वालो और गौ आदि चार पांवो वालो को रसरूप अन्न दीजिये।हृ०मि०

परन्तु शा०गृ० (१।२७।७) और मा०गृ० (१।२०।२) मे इसी मन्त्र का विनियोग प्राशन से पहले अर्पित की जाने वाली आहुति के लिए किया गया है। पा०गृ० (३।१।५) मे आग्रयण अथवा नवान्नप्राशन कर्म के अन्तर्गत वप के अभिनव अन्न के भक्षण के लिए इस मन्त्र का वैकल्पिक विनियोग हुआ है। आप०गृ०७।१७।६ (म०पा०२।१५।१५) मे वास्तुकर्म या शालाकर्म के अन्तगत जलकलश रखने के निमित्त बने हुए स्थान पर आस्तृत घास पर चावल और जौ डालने के समय इसके उच्चारण का विधान है। इन विनियोगो मे एक बात ध्यान देने योग्य है कि सभी स्थलों पर मन्त्र का सम्बन्ध अन्न के साथ किसी न किसी रूप मे अवश्य है।

यह मन्त्र यजुर्वेद की सभी सहिताओ मे विद्यमान है।[1] ब्राह्मण और श्रौत साहित्य मे दीक्षा के अन्तर्गत यजमान द्वारा व्रत-दुग्ध मे डुबो कर समिधा का अग्नि पर रखने के लिए इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[2] परन्तु तै०ब्रा० (३।११।४।१) मे महाचयन के अन्तगत अन्नहोम मे इसका विनियोग किया गया है। यहाँ प्रथम वार अन्न के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। सम्भव है कि मन्त्र के गृह्य-विनियोग का प्रमुख आधार यही हो। परन्तु अन्य स्थलो पर भी अग्नि के प्रसङ्ग मे अन्नपति शब्द साथक है। अन्नपति को अग्नि सिद्ध करने के लिए हरदत्त मिश्र ने अपनी टीका मे श्रुति का उद्धरण भी दिया है। "अन्नादो वा एषो ऽन्नपतिर्यदग्नि।"[3]

शिशु को अन्नप्राशन कराने के लिये कुछ गृह्यसूत्रो मे निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया गया है[4] —

अपा त्वौषधीना रस प्राशयामि।
शिवास्त आप ओषधय सन्तु।
अनमीवास्त आप ओषधय सन्तु॥ [४७८]

मैं तुम्हे जल और ओपधियो का रस खिलाता हूँ। जल और ओप-

---

१ वा०स०११।८३, तै०स०४।२।३।१, ५।२।२।१, मै०स०२।१०।१, ४।१४।१६, का०स०१६।१०, १६।१२

२ श०ब्रा०६।६।४।७, का०श्रौ०१६।६।१८, आप०श्रौ०१६।११।३।

३ दे०आ०गृ०म०,पृ०४५—४६।

४ बौ०गृ०२।३।६, आप०गृ०६।१६।१ (म०पा०२।१४।११-१४), वै०गृ०३।२२, हि०गृ०२।५।३, (तृतीय पंक्ति में सन्तु के स्थान पर भवन्तु), आग्नि०गृ० २।२।४ (द्वितीय, तृतीय पंक्तियों में सन्तु के स्थान पर भवन्तु)

इस प्रसंग में कौशिक (५८।१८) द्वारा शिशु को प्रथम बार बाहर लाने के समय उच्चारणार्थ उद्धृत अधोलिखित दोनों मन्त्र अथर्व ८।२।१४-१५ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनमें प्रकृति की सभी शक्तियों से शिशु को कल्याण प्रदान करने की प्रार्थना की गई है —

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वती॥ [४७५]
शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ [४७६]

संतापरहित तथा शोभायुक्त पृथ्वी और आकाश तुम्हारे लिये कल्याणकर हों। सूर्य तुम्हारे लिये कल्याणकर रूप में तपे, वायु तुम्हारे हृदय के लिये कल्याणकर होकर बहे। अमृततुल्य जल से भरी दिव्य नदियाँ तुम्हारे प्रति कल्याणदायिनी होकर प्रवाहित हों॥ ओषधियाँ तुम्हारे लिये कल्याणप्रद हों। मैं तुम्हें नीचे पृथिवी पर लाया हूँ। वहाँ सूर्य और चन्द्रमा दोनों अदितिपुत्र तुम्हारी रक्षा करें॥

वस्तुतः शिशु को प्रथम बार बाहर लाने पर केवल सूर्य ही नहीं अपितु प्रकृति की सभी शक्तियाँ उस पर प्रभाव डालती हैं।

अन्नप्राशन

शिशु को प्रथम बार ठोस अन्न खिलाने का संस्कार जन्म के षष्ठ मास में किया जाता है। मा. गृ. (१।२०) और वा. गृ. (१।२०।१) के अनुसार भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों के साथ शिशु को अन्न खिलाना चाहिये। हि. गृ. (२।५।२) में प्रत्येक महाव्याहृति के पश्चात् त्वयि दधामि शब्द भी जोड़ गये हैं। कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में उपर्युक्त कर्म के लिए अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] —

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ [४७७]

हे अन्न के स्वामी अग्नि, हमें रोग रहित और बलप्रद अन्न दीजिये। मुझ अन्न दान करने वाले की अभिवृद्धि कीजिये, हमारे पुत्रपौत्रादि दो

---

१. आ. गृ. १।१६।५, ज. गृ. १।१ (द्विपदे के पश्चात् शम्), का. गृ. ३६।२ (उत्तरार्ध में धेहि के स्थान पर देहि)

चूडाकर्म, चौलकर्म, चोल तथा चोड नाम भी हैं।[1] इसका अनुष्ठान प्राय शिशु की एक अथवा तीन वर्ष की आयु मे किया जाता है।

शीतल जल का उष्ण जल में सम्मिश्रण

सर्वप्रथम निम्नोक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए शीतल जल का उष्ण जल मे सम्मिश्रण करना चाहिये[2]—

उष्णेन वायवुदकेनेहि ॥ [४८१]

हे वायु उष्ण जल के साथ आओ।

जै०गृ० (१।११) मे, इससे पृथक्, इसका विनियोग जल-सम्मिश्रण के लिए न करके जल ग्रहण करने के लिए हुआ है। और गो०गृ० तथा खा०गृ० के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए पीतल के जल-पात्र को देखना चाहिये।[3] म०पा० में इसके आगे अदिति केशान् वपतु (अदिति केश काट दे) भी जोडा गया है। पा०गृ० मे इस वाक्य में अदिते (सम्बोधन मे) और वप (लोट् म०पु० मे) है। कुछ गृह्यसूत्रो मे इस वाक्य का विनियोग पृथक् रूप से शिशु के बाल गीले करने के लिए किया गया है।[4] यह अथर्व०६।६८।२ का प्रथम पाद है। इसमे अथर्व० के श्मश्रु के स्थान पर केशान् पाठ है। उष्णेन इत्यादि वाक्य वस्तुत अथर्व० ६।६८।१ का द्वितीय पाद है। उस सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग का०गृ० (४०।६) मे उष्ण जल को सम्बोधित करने के लिये किया गया है—

आयमगात् सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेन एहि।
आदित्या रुद्रा वसव सचेतस सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतस ॥ [४८२]

यह सविता क्षुर के साथ आया है, हे वायु तुम उष्ण जल के साथ आओ। हे आदित्यो, रुद्रो, वसुओ, तुम सब एक-चित्त होकर सोम राजा के समान बुद्धिमान् इस बालक का मुण्डन करो। दे०पा०

कौशिक० ५३।१७ मे इस मन्त्र द्वारा जल-पात्र को सम्बोधित किया गया है। गो० गृ० और खा० गृ० के अनुसार नापित की ओर देखने के लिये मन्त्र के प्रथम पाद का ही उच्चारण किया जाना चाहिये।[5]

---

१ इ०वै०कल्प०,पृ०२८०

२ आ०गृ०१।१७।६, पा०गृ०२।१।६, आप०गृ० ४।१०।५ (म०पा०२।१।१), बौ०गृ०२।४।८, वा०गृ०४।८।

३ गो०गृ०२।९।११ (म०ब्रा०१।६।२), खा०गृ०२।३।२१।

४ आ०गृ०१।१७।७, मा०गृ०१।२१।३, वा०गृ०४।८।

५ गो० गृ० २।९।१० (म० ब्रा० १।६।१), खा० गृ० २।३।२०।

धियाँ तुम्हारे लिये कल्याणकर हों वे तुम्हारे लिये रोग रहित हों।

अथर्व०८।२।१५ का प्रथम पाद इस मन्त्र की द्वितीय पंक्ति के समान है। इसी प्रकार तै०ब्रा (२।५।३।३) और आ श्रौ० (२।१०।१८) के एक मन्त्र का द्वितीय पाद इस मन्त्र की तृतीय पंक्ति के बहुत समान है। इसकी प्रथम पंक्ति आप० श्रौ० १।१०।१ मे प्राप्त होती है। अत यह प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्र रचयिताओं ने विभिन्न स्रोतों से उपर्युक्त वाक्यो को लेकर और उन्हे एकत्र जोड़कर इस मन्त्र को घड़ा होगा। गृह्यसूत्रो मे इस प्रकार के मन्त्रो की सख्या कम नही है। इससे एक यह महत्त्वपूर्ण बात भी सिद्ध होती है कि गृह्यसूत्रकारो ने सर्वत्र ही अपनी शाखा की सहिता का अन्धानुसरण नही किया है, अपितु उचित मन्त्र बनाने के लिए उन्होने अन्य शाखाओ की सहिताओ से सहायता लेने मे भी सकोच नही किया। यहाँ इस सम्भावना से भी इन्कार नही किया जा सकता कि ऐसे मन्त्र पूर्णरूपेण किसी अन्य सहिता से ही उद्धृत हो जो अब अप्राप्य है।

कौशिक (५८।१९) के अनुसार पिता को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिशु को जौ और चावल खिलाने चाहियें —

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्म वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अहस ॥ [४७९]
यदश्नासि यत्पिबसि धान्य कृष्या पय।
यदाद्य यदनाद्य सर्व ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ [४८]

जौ और चावल दोनों तुम्हारे लिये खाने में मधुर बलरहित अर्थात भारीपन से रहित और कल्याणकर हो जाय। ये दोनों क्षय रोग को बाधित करते हैं, और कष्टो से मुक्त करते है॥ धान कृषि के अन्य पदार्थ तथा जल जो कुछ तुम खाते पीते हो और जो खाने योग्य अथवा न खाने योग्य है उस सारे अन्न को तुम्हारे लिये विष रहित करता हूँ।

ये मन्त्र अथर्व (८।२।१८ १९) से उद्धृत हैं। इनका विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है। वस्तुत मूल रूप मे इनकी रचना इसी गृह्य-कर्म के लिये की गई प्रतीत होती है।

पा गृ (१।१९।६) मे अन्न-प्राशन के लिए किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। इसके अनुसार शिशु को अन्न या तो मौनभाव से खिलाना चाहिये और या केवल हन्त का उच्चारण करना चाहिये।

चूडाकरण

यह संस्कार प्रथम बार शिशु के बाल काटने के लिये किया

द्वारा निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के केशो को गीला किया जाना चाहिए[1] —

आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे ।। [४८५]

जीवन, दीर्घायु और तेज के लिए जल केशो को गीला करे ।

हि० गृ० (१।६।१२) में यह मन्त्र समावर्तन के अन्तर्गत उपर्युक्त कर्म मे ही विनियुक्त है। म० पा० मे इसके आगे ज्योक् च सूर्यं दृशे भी जोडा गया है । आ० गृ० (१।१७।७) मे केवल आप उन्दन्तु वर्चसे शब्द दिये गये हैं । पा० गृ० (२।१।६)में जीवसे के स्थान पर ते तनुम् पाठ है और आरम्भ सवित्रा प्रसूता दैव्या शब्दोसे होता है । वा० गृ० (४।८) मे वचसे के स्थान पर स्वस्तये पाठ है । गो० गृ० और खा० गृ० मे केवल आप उन्दन्तु जीवसे दिया गया है ।[2] इसी कर्म के लिये मा० गृ० (१।२१।३) मे अधोलिखित मन्त्र प्रयुक्त हुआ है —

अदिति केशान् वपत्वाप उन्दन्तु स्वस्तये ।
धारयतु प्रजापति पुन पुन स्वस्तये ।।

इसके पूर्वार्ध का साम्य अथर्व० (६।६८।२) के पूर्वार्ध से द्रष्टव्य है । (दे० नीचे)स्वस्तये के स्थान पर सुवप्तवे पाठ के साथ मन्त्र के उत्तरार्ध का विनियोग जै० गृ० (१।११) मे शिशु के केशो मे तीन दर्भपत्र रखने के लिए किया गया है । अपनी सहिता (का० स०) का अनुसरण करते हुए का० गृ० ४०।१० मे उपर्युक्त मन्त्र (४८५) को इस कर्म के लिये प्रयुक्त मन्त्र के उत्तरार्ध के रूप मे उद्धृत किया गया है । पूर्वार्ध यह है —

आर्द्रदानव स्थ जीवदानव स्थोन्दतीरिहैनमवत । [४८६]

हे जल, तुम आर्द्रता देने वाले हो, तुम जीवन देने वाले हो, आर्द्र करते हुए यहाँ इस शिशु की रक्षा करो ।[3] दे० पा०

उपर्युक्त सभी मन्त्रों अथवा मन्त्राशो के सन्दर्भ मे अथर्व० (६।६८।२) का निम्नलिखित मन्त्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योकि सब उससे प्रभावित हुए हैं —

---

१ आप० गृ० ४।१०।५ (म० पा० २।१।२), बौ० गृ० २।४।६, हि० गृ० २।६।६, मा० गृ० १।२४, आग्नि० गृ० २।२।५, शा० गृ० १।२८।६, जै० गृ० १।११, वै० गृ० ३।२३ ।

२ गो० गृ० २।६।१२ (म० ब्रा० १।६।३), खा० गृ० २।३।२२

३ आर्द्रदानव आर्द्रभावस्य दाता —ददाति इति दानु औणादिको दानुशब्द ।

मा गृ० (१।२१।२) मे उष्णेन आदि वाक्य को लेकर एक पूर्णतया भिन्न मन्त्र की रचना की गई है। विनियोग यहाँ भी का० गृ० के समान ही है। मन्त्र इस प्रकार है —

उष्णेन वायुरुदकेनेद् यजमानस्यायुषा।
सविता वरुणो दधद् यजमानाय दाशुषे ॥ [४८३]

वायु सविता और वरुण उष्ण जल के द्वारा ही दानशील यजमान को पूर्ण आयु प्रदान करें।

इस मन्त्र का उत्तरार्ध यजुर्वेदीय परम्परा के एक मन्त्र का पूर्वार्ध है।[1] परन्तु वहाँ उस मन्त्र का चूडाकरण से कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ यह इन्द्र के निमित्त पुरोडाश की याज्या है।

अथर्व ६।६८।१ के प्रथम पाद से आरम्भ करके उसमे अन्य मन्त्रों के अंशों को जोड कर जै गृ (१।११) मे एक नये मन्त्र का निर्माण किया गया है। उस गृह्य मे उसका विनियोग क्षुर ग्रहण करने के लिये हुआ है —

आयमगात् सविता क्षुरेण विश्वैर्देवैरनुमतो मरुद्भि।
स न शिवो भवतु विश्वकर्मा यूय पात स्वस्तिभि सदा न ॥ [४८४]

सभी देवों तथा मरुतों से अनुमति प्राप्त करके यह सविता क्षुर सहित आया है। वह विश्वकर्मा हमारे लिये कल्याणकर हो। आप सब सदा कल्याणों से हमारी रक्षा कीजिए॥

इस मन्त्र का द्वितीय पाद अथर्व तथा सभी यजुर्वेद-संहिताओं के एक मन्त्र का द्वितीय पाद है।[2] केवल अंतर यह है कि उन संहिताओं मे अनुमता (स्त्री०) है और ज गृ मे अनुमत (पु) है। प्रसंगानुसार यह स्वाभाविक ही है क्योंकि वहाँ यह शब्द क्षेत्र की सीता (स्त्री) का विशेषण है। इसका अंतिम पाद ऋग्वेद के सप्तम वसिष्ठ मण्डल के प्राय सभी सूक्तो के अंतिम मन्त्र का अंतिम पाद है। इस प्रकार विभिन्न संहिताओं के मन्त्रांशों को जोड कर बनाये गये मन्त्र का यह भी एक उदाहरण है। अथवा यह भी किसी अन्य अप्राप्य संहिता का मन्त्र हो सकता है।

केशों का आर्द्रीकरण

उपर्युक्त विधि से शीतल और उष्ण जल के सम्मिश्रण के पश्चात् उस जल

---

१ वा० सं ३ १७१ म० सं० १।११।४ का० सं० ९।८।१९, तै० ब्रा० २।८।१३।१।
२ अथर्व ३।१७।१९ वा० सं० १२।७ तै सं ४।२।५।६ म सं २।७।१२ का स १६।१२।

निर्देश किया गया है।

ये वाक्य यजुर्वेदीय ग्रन्थो की विस्तृत शृंखला मे प्राप्त होते है।[1] इनके गृह्य-विनियोग का स्रोत श० ब्रा० ३।१।२।७ (दे० आप० श्रौ० ५।८।१०) प्रतीत होता है क्योकि वहाँ दीक्षा के अन्तर्गत यह विधान है कि प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु को यजमान की मूँछ पर एक दर्भपत्र रखना चाहिये और फिर द्वितीय वाक्य के साथ साथ क्षुर चलाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षुर से सम्भाव्य घाव की रक्षा के लिये ही इन दोनो वाक्यो का उच्चारण किया जाता है।

शिरोमुण्डन

सिर का मुण्डन तीन या चार भागो मे किया जाता है। प्रत्येक भाग के मुण्डन के लिये पृथक् मन्त्र का विधान है। सर्वप्रथम एक भाग का मुण्डन करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2]—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत्॥ [४६१]

जिस क्षुर से विद्वान् सविता ने राजा सोम और वरुण का केश-वपन किया, हे ब्राह्मणो, उसी से इस बालक के सिर का मुण्डन करो जिससे यह आयुष्मान् हो और वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

मन्त्र का उपर्युक्त पाठ आ० गृ० मे दिया गया है। पा०गृ० मे आयुष्मान् के स्थान पर आयुष्यम् पाठ है। हि० गृ० और आग्नि०गृ० मे तृतीय पाद तक तो पाठ समान है, परन्तु चतुर्थ पाद के रूप मे ऊर्जं मे रय्या वर्चसा ससृजाथ है। मा०गृ० में पूर्वार्ध के अन्त मे विद्वान् के स्थान पर केशान् पाठ है, उत्तरार्ध तेन ब्रह्मणो वपत्वायुष्मानय जरदष्टिरस्तु है। ब्राह्मण भी एकवचन मे है और तदनुसार वपतु भी एकवचन मे। शा०गृ० मे इस मन्त्र के अधिक पाठभेद है। पूर्वार्ध मे सोमस्य

१ वा० स० ४।१,५।४२,६।१५ वा० स० का० ३।६।३, तै०स० १।२।१।१, ३।५।१, ६।२, ६।३।३।२,६।१, मै० स० १।२।१, १४।१६, ३।६।२, ६।३, १०।१, का०स० २।१, ३।२,६, २५।३, श० ब्रा० ३।१।२।७, ६।४।१०, ८।२।१२, तै० आ० १।३०।१, का० श्रौ० ५।२।१४, आप० श्रौ० ७।२।४, मा० श्रौ० १।८।१।७।

२ आ० गृ० १।१७।१०, शां० गृ० १।२८।१५, पा० गृ० २।१।११, बौ० गृ० २।४।१२, आप० गृ० ४।१०।६ (म० पा० २।१।३), हि० गृ० २।६।१०, आग्नि० गृ० २।२।५, मा० गृ० १।२१।६, का० गृ० ४०।११, वा० गृ० ४।१२, कौशिक० ५३।२०, वै० गृ० ३।२३।

अदिति श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वचसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ [४८७]

अदिति श्मश्रु अर्थात् मूंछ काटे जल तेज से आर्द्र करे ।
दीर्घायु तथा वाक शक्ति के लिए प्रजापति चिकित्सा करे ॥

त स (१।२।१।१) और का० स (२।१) म भी मन्त्र का ठीक यही रूप प्राप्त होता है । आप श्रौ (१ ।५।८) में विधान है कि अग्निष्टोम की दीक्षा के अवसर पर अध्वर्यु को यजमान का क्षौर-कर्म करने से पूव उसकी कनपटियों को गीला करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । सम्भवत मन्त्र के इस विनियोग का आधार यह श्रौत विनियोग ही है ।

दर्भपत्र स्थापन

निम्नलिखित मे से प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु के केशों मे एक तीन अथवा सात दर्भपत्र अथवा कुश-पत्र रखे जाने चाहियें । द्वितीय वाक्य बोलते हुए क्षुर द्वारा इन पत्रों को दबाना चाहिए' —

ओषधे त्रायस्वनम् ॥ [४८८]
स्वधिते मैनं हिंसी ॥ [४८९]

हे ओषधि इसकी रक्षा करो । हे कुठार इसे न मारो ॥

हि गृ (१।९।१२ १४)मे इन्ही वाक्यों का प्रयोग उक्त कर्म क लिये समावर्तन मे भी किया गया है । पा गृ मे कवल प्रथम वाक्य का विनियोग हुआ है । मा गृ में द्वितीय वाक्य का निम्नलिखित रूप प्राप्त होता है —

तेजोऽसि स्वधितिष्टे पिता मैनं हिंसी ॥ [४९०]

तुम तेज हो कुठार तुम्हारा पिता है इसे न मारो ।

यहाँ इसका विनियोग क्षर द्वारा घास दबाने के लिये न करके क्षुर ग्रहण करने के लिये किया गया है । अत यह क्षर को सम्बोधित है । कौशिक मे इन वाक्यो का प्रयोग चूडाकरण मे नही हुआ । कौशिक ४१।३ मे बाँझ गौ के दोष निवारण के लिए अनुष्ठित वशाशमन कर्म मे यजमान को क्षुर देने के लिये इनका प्रयोग किया गया है । कौशिक ९२।१८ मे मधुपर्क के अन्तर्गत अतिथि को गौ भेंट करने के पश्चात् गृहपति द्वारा उसे क्षुर देने के समय केवल द्वितीय वाक्य के उच्चारण का

---

१ भा गृ १।१७।८ ९ शा गृ १।२८।१ ११ बौ गृ २।४।१ १२ हि गृ २।६।६-८ आग्नि गृ २।२।५ गो गृ० ४।१ ११ पा गृ २।१।१ , का गृ० ४ ।११ मा गृ १।२१।४ वा० गृ २।९।१४ (म० ब्रा १।६।५ ६) वा प २।३।२३ २४ व गृ ३।२१।

आ० गृ० मे भी का० गृ० के प्रथम मन्त्र के समान ही धाता है। उत्तरार्ध मे इसमे अस्य के स्थान पर ते और वप के स्थान पर वपामि पाठ है। वा० गृ० में उत्तराध का पाठ तेन ते वपाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय स्वस्तये है। केवल स्वस्तये के स्थान पर वर्चसे पाठ सहित मा० गृ० मे भी यही पाठ है। भा० गृ० मे भी यही पाठ है, केवल आयुषे निकाल दिया गया है। हि० गृ०, आग्नि० गृ० और वै० गृ० मे उत्तरार्ध के रूप मे केवल तेन ते ऽह वपाम्यसौ शब्द दिये गये हैं।

सामवेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है[1] —

येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे। [४६४]

जिस क्षुर से पूषा ने बृहस्पति, वायु और इन्द्र का मुण्डन किया, उसी के द्वारा ब्रह्मतेज से जीवन-शक्ति के लिये, जीवन के लिये, दीर्घायु के लिये, तेजके लिये तुम्हारा मुण्डन करता हूँ।

कुल मिलाकर इस मन्त्र के विषय मे यह ध्यानयोग्य बात है कि क्योकि मुण्डन करने वाले को स्वय इसका उच्चारण करना है, अत उ०पु० का पाठ वपामि म० पु० के वप से अधिक उचित है। मन्त्र का स्रोत सम्भवतया वा० स० का० ३।५ है। इसमें पूर्वार्ध मे धाता पाठ है और उत्तरार्ध म०ब्रा० के बहुत निकट है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे केशो के एक अन्य भाग के मुण्डन के लिये एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2] इस मन्त्र का उत्तरार्ध पृथक् पृथक् गृह्यसूत्रो मे दिये गये उपर्युक्त मन्त्र के उत्तराध जैसा है। पा०गृ० का पाठ म०ब्रा० के समान है। केवल जीवातवे के पश्चात् सुश्लोक्याय स्वस्तये शब्द हैं। मा० गृ० और वा० गृ० मे भी किंचिद् भिन्न पाठ है। मा० गृ० मे दीर्घायुत्वाय निकाल दिया गया है और वर्चसे के स्थान पर स्वस्तये पाठ है। वा० गृ० मे स्वस्तये के स्थान पर सुश्लोक्याय सुवर्चसे पाठ है। पूर्वार्ध मे भी विभिन्न गृह्यसूत्रो मे पाठ भेद हैं। आ० गृ० मे उसका निम्न पाठ दिया गया है —

येन भूयश्च रात्र्या ज्योक् च पश्याति सूर्यम्॥ [४६५]

जिससे वह रात्रि को बहुत अधिक और सूर्य को अर्थात् दिन में चिरकाल तक देखे।

---

१. गो० गृ० २।६।१६ (म० ब्रा० १।६।७), खा०गृ० २।३।२६, जै० गृ० १।११।
२ आ०गृ० १।१७।१२, पा० गृ० २।१।१६, आप० गृ० ४।१०।६, (म० पा० २।१।५), का०गृ० ४०।११, मा० गृ० १।२१।६, वा० गृ० ४।१६, जै० गृ० १।१६।

निकालकर क्षुरेण से पहले इमम् यग्रे डाल दिया गया है। उपरिलिखित मन्त्र का उत्तरार्ध शा० गृ० मे तृतीय पंक्ति के रूप मे आया है और उसमे अस्य के स्थान पर अद्य तथा आयुष्मान् के पश्चात् दीर्घायुरयमस्तु वीरो ऽसौ पाठ है। इस गृह्यसूत्र में द्वितीय पंक्ति येन धाता बृहस्पतिरिन्द्रस्य चावपच्छिर है। यह पंक्ति अधोनिर्दिष्ट मन्त्र के पूर्वार्ध के बहुत समान है। मन्त्र स० ४६१ की रचना अथर्व ६।६८।३ के प्रथम तीन पादो और अथर्व ८।२।२१ के अंतिम पाद के संयोग से हुई प्रतीत होती है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० का पाठ ठीक स० ब्रा० २।७।१७।२ और आप० श्रौ० १२।२८।६ जैसा है। ये दोनो ग्रन्थ मन्त्र के गृह्य विनियोग के स्रोत भी प्रतीत होते है क्योंकि वहाँ राज्याभिषेक के अन्तर्गत रथ पर चढने से पूर्व राजा का मुण्डन करने के लिये इसका विनियोग किया गया है।

केशो के दूसरे भाग के मुण्डन के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]—

येन पूषा बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्।
तेनास्यायुषे वप सौश्लोक्याय स्वस्तये ॥ [४६२]

जिस क्षुर से पूषा ने दीर्घायु के लिये बृहस्पति अग्नि और इन्द्र का शिरोमुण्डन किया उसी से तुम इस शिशु की दीर्घायु प्रसिद्धि और कल्याण के लिये इसका मुण्डन करो।

उपरिलिखित पाठ म० पा० के अनुसार है। इसी प्रसंग में म० पा० (२।१।६) मे एक और मन्त्र दिया गया है जिसका पूर्वार्ध इसी मन्त्र वाला है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है —

तेन ते वपाम्यसावायुषा वर्चसा यथा ज्योक् सुमना असा ॥ [४६३]

उस क्षुर से दीर्घायु और तेज के द्वारा तुम्हारा मुण्डन करता हूँ जिससे तुम दीर्घकाल तक शोभन मन वाले हो जाओ।

का० गृ० मे भी दो समान मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। उनमें से एक तो उपरिलिखित (४६२) ही है, और उसमे पूषा के स्थान पर धाता तथा सौश्लोक्याय के स्थान पर सुश्लोक्याय पाठ है। द्वितीय मन्त्र मे पूषा तो है परन्तु बृहस्पते के स्थान पर प्रजापते और इन्द्रस्य के स्थान पर सूर्यस्य पाठ है।

---

१ आ० गृ० १।१७।१२, आप० गृ० ४।१०।६ (म० पा० २।१।४) का० गृ० ४०।११ भा० गृ० १।२१।६ का० गृ० ४।१६ मा० गृ० १।२८ हि० गृ० २।६।११ आग्नि० गृ० २।२।५ ज० गृ० १।२३।

यत्क्षुरेण वर्तयता सुपेशसा वप्तर्वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायु प्रमोषी ॥ [४९६]

हे नापित, जिस सुरूप क्षुर से तुम केशो को काट रहे हो, उस सिर पर घूमने वाले क्षुर से इस की आयु न चुराना, अपितु इसके सिर को शुद्ध करना ।

यह तीन पादो वाला मन्त्र अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्दो का सम्मिश्रण प्रतीत होता है । प्रथम पाद (वर्तयता तक) अनुष्टुभ् है और शेष दोनो त्रिष्टुभ् । उनमे भी अन्तिम पाद का त्रिष्टुभ् से एक अक्षर कम है । वस्तुत इस प्रकार का मिश्रण दुर्लभ है । यह मन्त्र अथर्व०(८।२।१७) के निम्नलिखित मन्त्र के बहुत समान है —

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभ मुख मा न आयु प्रमोषी ॥ [४९८]

यहाँ यद्यपि द्वितीय पाद के त्रिष्टुभ् मे दो अक्षर अधिक हैं, तथापि तृतीय पाद पूर्णतया त्रिष्टुभ् है । कौशिक० (५३।१९) मे इस मन्त्र का विनियोग क्षुर को आर्द्र करने और मुण्डन से पूर्व उसे पोछने के लिये किया गया है । आ०गृ० (१।१७।१५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु का पिता क्षुर की धार को पोछता है । इस मे भी पाठ अन्य गृह्यसूत्रो के समान ही है (दे० मन्त्र स०४९६), केवल वर्तयता के स्थान पर मर्चयता और वप्त के स्थान पर वप्ता पाठान्तर हैं । पा०गृ० (२।१।१८) मे विधान है कि इस मन्त्र का उच्चारण मुण्डन के पश्चात् क्षुर द्वारा शिशु के सिर की प्रदक्षिणा के समय किया जाना चाहिये । इसमे दिया गया पूर्वार्ध का निम्नलिखित पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है —

यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्रा वा ऽवपति केशा । [४९९]

यहाँ प्रमुख कठिनाई केशा (प्रथमा०) से उत्पन्न होती है । वस्तुत यहाँ केशान् (द्वितीया०) होना चाहिये । उत्तरार्ध मे यहाँ शुन्धि के स्थान पर छिन्धि पाठ है जिससे कोई विशेष अन्तर नही पडता । कुछ गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का प्रयोग समावर्तन के अन्तर्गत मुण्डन के प्रसङ्ग मे किया गया है । उदाहरणार्थ भा०गृ० (२।१९) और आग्नि०गृ० (१।३।२) मे जिस व्यक्ति का मुण्डन होना हो, उसके अभिमन्त्रणार्थ इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है । भा०गृ० और आ०गृ० का पाठ समान है, केवल वप्ता के स्थान पर वप्त्रा पाठ है । आग्नि०गृ० मे वप्ता है, सुपेशसा निकाल दिया गया है, मर्चयता के स्थान पर वृश्चयसि तथा केशान् के स्थान पर केशश्मश्रु (क्योकि वहा श्मश्रु-मुण्डन का भी विधान है) पाठ है । उत्तरार्ध म शुन्धि शिर के स्थान पर वर्चय मे मुखम् और अस्य के स्थान पर मे

यदि इसका केवल शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो कुछ कठिनाई अनुभव होती है। तदनुसार अर्थ होगा जिससे कि फिर रात्रि में और चिरकाल तक सूर्य को देखे। परन्तु पश्याति को पृथक रूप से रात्र्याम् से सम्बद्ध करने पर अर्थ में स्पष्टता आ जाती है जैसा कि मन्त्र के नीचे दिये गये अर्थ से प्रकट है। यह व्याख्या हरदत्त की व्याख्या के बहुत निकट है। केवल अन्तर इतना है कि उसने पश्याति को लट लकार का रूप माना है और व्याख्या की है पश्यति (देखता है)।[1] तथापि प्रार्थना होने के कारण यहाँ लेट लकार मानना अधिक उपयुक्त होगा। स्टेंज्लर और उसका अनुसरण करता हुआ ओल्डनबर्ग इसे भ्रष्ट पाठ बता कर पारस्कर के अपेक्षाकृत शुद्ध पाठ की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। आप्टे के अनुसार हमें पारस्कर की शरण लेने की आवश्यकता नहीं क्योंकि बिब्लिओथिका इण्डिका के (१८६६ ६९ में प्रकाशित) संस्करण में प्रथम पाद का पाठ येन भूयश्चरात्यायम् दिया गया है। इस पाठ से अर्थसम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है। इस स्थिति में अर्थ होगा जिससे यह अधिक जीवित रहे और चिरकाल तक सूर्य को देखे। म०पा० में भी यही पाठ है। मा गृ और वा गृ० में भी यही पाठ है केवल चराति के स्थान पर चरति भेद है। द्वितीय पाद में भी इनमें पश्याति के स्थान पर पश्यति पाठान्तर है। पा गृ० में प्रथम पाद येन भूरिश्चरा दिवम् है और पश्याति के स्थान पर पश्यामि पाठ है। यद्यपि दिवम् का सम्बन्ध सूर्यम् से होगा तथापि अवशिष्टांश अस्पष्ट ही रहता है। का गृ में पूर्वार्ध का पाठ येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् पश्या च सूर्यम् है। देवपाल ने रात्री को कर्ता मानकर और अवपत् का पूर्व मन्त्र से अध्याहार करके इसकी व्याख्या इस प्रकार की है — येन क्षुरेण रात्रिः सूर्यमवपत् भूयः पुनः पुनः। ज्योक् चिरकालं पश्यतीति पश्या ज्योक्पश्या बहुदर्शना रात्रिः।

का०गृ० का पाठ भी म०पा० मा०गृ० और वा०गृ० के पाठ का भ्रष्ट रूप ही प्रतीत होता है।

कुछ केश काटने के पश्चात् शिशु का पिता निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए क्षुर नापित को देता है[2] —

---

१ येन क्षुरेणोप्यमानकेशो दीर्घकालं रात्र्यां नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति अहनि च सूर्यम्।

२ मा गृ १।२१।७ का गृ ४०।१२ वा गृ ४।१७ जै गृ १।११ में पाठ निम्नलिखित है —

यत्क्षुरेण मज्जता वप्त्रा वपसि नापितांगानि शुद्धानि कुर्वायुर्वर्चो मा हिंसीर्नापित ॥ [४१७]

द्वारा अभिमन्त्रित करने का विधान किया गया है।[1]

मुण्डन के पश्चात् शिरो-ग्रहण

सामवेद से सम्बद्ध गृह्य-सूत्रो मे तथा वा० गृ० मे यह निर्देश है कि मुण्डन-क्रिया के पश्चात् पिता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के सिर को या तो अपने हाथो द्वारा पकडना चाहिए या उसका स्पर्श करना चाहिए[2]—

ज्यायुष जमदग्ने कश्यपस्य ज्यायुषम्।
यद्देवाना ज्यायुष तत्ते अस्तु ज्यायुषम् ॥ [५०१]

जो जमदग्नि की त्रिगुणित आयु है, जो कश्यप की, तथा जो देवताओ की त्रिगुणित आयु है, वह त्रिगुणित आयु तुम्हे प्राप्त हो।

वा० गृ० में तत्ते के स्थान पर तन्मे तथा ज्यायुषम् के स्थान पर शतायुषम् पाठ है और मन्त्र की दोनों पक्तियो के मध्य अगस्त्यस्य ज्यायुषम् का समावेश किया गया है। इन शब्दों का समावेश शा० गृ० (१।२८।९) मे भी किया गया है। यहाँ मन्त्र का विनियोग जल द्वारा शिशु के केशों को गीला करनेकेलिये किया गया है। पा०गृ० २।१।१५ और भा० गृ० १।२८ में शिशु के केश काटने के समय इसके उच्चारण का निर्देशहै।पा०गृ० १।१६।७ मे इसे जातकर्म के अन्तगत एक आयुष्य मन्त्र के रूप मे भी उद्धृत किया गया है। इन प्रयोगो के अतिरिक्त समावतन मे भी मुण्डन-क्रियाके साथ साथ इसका उच्चारण होना चाहिए। आप० गृ० ५।१२।१३ (म० पा० २।७।३) के अनुसार स्नातक के क्षौर कम के समय इसके द्वारा क्षुर का अभिमन्त्रण करना चाहिए। आग्नि० गृ० (१।३।२) में कहा गया है कि मुण्डन-क्रिया से पूर्व अग्नि के पश्चिम की ओर एरक घास पर बैठते हुए स्नातक को इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए। हि० गृ० (१।९।६) मे यद्यपि समावर्तन के अवसर पर ही एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है, तथापि वहाँ मुण्डन क्रिया के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही। भा० गृ० १।१।२४ और शा० गृ० २।१०।७ मे इसे उपनयन के अन्तगत शिष्य द्वारा यज्ञाग्नि से गृहीत भस्म अपने शरीर पर लगाने के प्रसग मे उद्धृत किया गया है।

दीर्घायुष्य की प्रार्थना होने के कारण उपयुक्त सभी प्रसगो मे इस मन्त्र के विनियोग का औचित्य सिद्ध ही है। जहाँ तक इसके स्रोत का प्रश्न है इसका पूर्वार्ध अथर्व०(५।२८।७) मे प्राप्त होता है। किंतु सपूर्ण मन्त्र का तत्सदृश रूप वा०स०(३।६२)

१ तै० आ० २।७।१७।२, आप० श्रौ० २२।२८।७।

२ गो० गृ० २।९।२१ (म० ब्रा० १।६।८), खा०गृ० २।३।२९, जै० गृ० १।११, वा० गृ० ४।२०।

पाठ है। इससे यह प्रकट है कि जिसका मुण्डन हो रहा हो वह स्वयं मन्त्रोच्चारण करेगा। इससे गृह्यसूत्रके इस विधान का भी प्रतिषेध होता है कि स्नातक को सम्बोधित करते हुए आचार्य द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि गृह्यसूत्रकारो द्वारा मन्त्रों मे किये गये परिवर्तनों का फल सर्वदा अधिक अच्छा नहीं होता। हि गृ० (१।६।१) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण नापित की ओर देखते हुए किया जाना चाहिये। यहा पूर्वार्ध आ०गृ के समान है— केवल दो पाठान्तर वप्ता के स्थान पर वप्त और केशान् के स्थान पर केशश्मश्रु है। उत्तरार्ध पारि गृ के सदृश है केवल प्रथम मे निकाल दिया गया है और द्वितीय मे क स्थान पर म पाठ है। यहा पाठ विनियोगानुकूल है क्योंकि स्नातक स्वय अपने लिये मन्त्रोच्चारण कर रहा है। आप गृ ४।१।७ (म०पा०२।१।७) के अनुसार क्योंकि उपनयन के अन्तर्गत आचार्य स्वय छात्र का केश-मुण्डन कर रहा है, अत कोई अन्य व्यक्ति इस मन्त्र द्वारा उसे (आचार्य को) सम्बोधित करता है। म पा का पाठ ठीक आ गृ के समान है। जीवन की सुरक्षा की प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र सभी प्रसगो मे उचित है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि मुण्डन की प्रक्रिया मे भूमि पर गिरते हुए केशो का अभिमन्त्रण कर्त्ता को निम्नलिखित मन्त्र द्वारा करना चाहिये[1] —

मा ते केशाननुगात्तेज एतत्तथा धाता दधातु ते।
तुभ्यमिन्द्रो बृहस्पति सविता वर्च आदधु ॥ [५ ०]

तुम्हारा यह तेज केशों के पीछे पीछे न जाये। उसी प्रकार स प्रजापति तुम्हे तेज प्रदान करे। उसी प्रकार इन्द्र बृहस्पति और सविता तुम्हें विशेष रूप प्रदान कर। दे० पा

यह मन्त्र त्रिष्टुभ् और गायत्री का सयोग है। प्रथम पाद (एतत् तक) त्रिष्टुभ् है और शेष मन्त्र पूर्ण गायत्री है। मक्डॉनल ने भी इस प्रकार के सयोग का उल्लेख किया है।[2] इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार श्रौतयाग प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ राज्याभिषेक प्रसग मे राजा के केश उतारते समय गिरते हुए केशो को इस मन्त्र

---

१ बौ गृ २।४।१४, भा०गृ १।२१।८ का गृ० ४ ।१३ वा गृ ४।१४— यहाँ पूर्वार्ध में तेज' क स्थान पर मन और उत्तरार्ध में इन्द्र के स्थान पर वरुण पाठ है।

२ वै ग्रा० स्टू परिशिष्ट (पृ ४५५)

विदन्, महद्दन्वविन्दन् का और अपस्यु, अप सुव का भ्रष्ट रूप लगता है। का० गृ० का पूर्वार्ध मा० गृ० के समान है—केवल बृहस्पति के स्थान पर धाता पाठान्तर है। उत्तरार्ध म० पा० के समान है—केवल अप सुव के स्थान पर अवस्यु पाठान्तर है, और यह पाठान्तर भी अप सुव का भ्रष्ट रूप ही प्रतीत होता है। परन्तु अवस्यु (रक्षा का इच्छुक) स्वतन्त्र रूप में भी पूर्ण है। जहाँ तक मन्त्र के स्रोत का प्रश्न है, इसका उत्तरार्ध तै० ब्रा० (२।७।१७।३) और आप० श्रौ० (२२।२८।८) मे विद्यमान है। इन ग्रन्थो मे भी इसका विनियोग राज्याभिषेक के अन्तर्गत राजा के कटे हुए केशो का दर्भ घास मे निधान करने के लिये किया गया है। यही मन्त्र के गृह्यविनियोग का भी आधार प्रतीत होता है।

प्रवासागमन

प्रवास से लौटकर गृहपति को विशेष शास्त्रोक्त कर्मो का अनुष्ठान करके गृहप्रवेश करना चाहिए। कुछ विशेष मन्त्रो द्वारा वह घर को सम्बोधित करता है। उन मन्त्रों का विवेचन विवाह-सस्कार के अन्तगत गृहप्रवेश कर्म मे हो चुका है। (दे० अध्याय ४,पृ०१४६-१५०)

पुत्राभिनंदन

गृहप्रवेश के पश्चात् गृहपति को अपने पुत्र के दक्षिण कर्ण मे निम्नलिखित वाक्य धीरे से कहना चाहिये [1]—

आयुष्टे विश्वतो दधत् ॥ [५०४]

ईश्वर तुम्हे सभी स्थान पर दीर्घायु प्रदान करे।

हि० गृ० (१।५।१५) मे इस वाक्य का प्रयोग इसी कर्म मे उपनयन के अन्तगत भी किया गया है। बौ० गृ० (३।७।१२) मे इसे आयुष्यचरु कर्म के प्रसग में उद्धृत किया गया है। वै० गृ० (२।६) मे इसका विनियोग उपनयन मे आचार्य द्वारा शिष्य का हाथ पकडकर उसे उठाने के प्रसग मे किया गया है। मूल रूप मे यह तै० स० तथा अन्य ग्रन्थो मे भी उपलब्ध है।[2] इन ग्रथो के अनुसार इसका उच्चारण दीर्घायु-प्राप्ति के निमित्त काम्येष्टि मे एक आहुति के साथ किया जाना चाहिए। मन्त्र मे निहित प्रार्थना और गृह्यकम का अभिप्राय इस श्रौत कर्म से सङ्गत है।

१ हि० गृ० २।४।१८, आग्नि० गृ० २।१।५, वै० गृ० ३।२२।

२ तै० स० १।३।१४।४, तै०ब्रा० २।५।१, ७।१, आ०श्रौ० २।१०।४, आप०श्रौ० १६।२४।६।

मे उपलब्ध है।[1] इसके सामान्य गृह्य विनियोग की तुलना का श्रौ (५।२।१६) के उस प्रयोग से की जा सकती है जहाँ दीक्षा के समय अपनी मुण्डन क्रिया के प्रसग मे यजमान इसका उच्चारण करता है। अथर्व० मे आंशिक रूप से भी इसके प्राप्त होने से इसका गृह्य-मूल सम्पुष्ट होता है।

केश निधान

अन्त मे कटे हुए केशो को एकत्र करके गोमय पिण्ड मे रखा जाता है। और इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गोमयसहित केशो का भूमि मे निधान किया जाता है[2]—

उप्त्वाय केशान् वरुणस्य राज्ञो बृहस्पति सविता सोमो अग्नि ।
तेभ्यो निधान बहुधान्वविन्दन्नन्तरा द्यावापृथिवी अप स्व ॥ [५०२]

बृहस्पति सविता सोम और अग्नि ने राजा वरुण के केशो का मुण्डन करके उनके लिये पृथ्वी और आकाश तथा जल और स्वर्ग के मध्य बहुत प्रकार का निधान स्थान प्राप्त कर लिया है।

उपरिलिखित पाठ म० पा (२।१।८) का है। आप० गृ (४।१ ।८) मे इसका विनियोग उपनयन के अन्तर्गत कटे हुए केशों का निधान करने के लिए किया गया है। वा गृ मे सोमो अग्नि के स्थान पर विष्णुरिन्द्र और बहुधा के स्थान पर महद् पाठान्तर है। हि गृ मे उत्तरार्ध मे अन्वविन्दन् के स्थान पर अविन्दन पाठ है और पूर्वार्ध इस प्रकार है —

यत्र पूषा बृहस्पति सविता सोमो अग्नि ॥ [५ ३]

इसका अनुवाद करते हुए ओल्डनबर्ग ने रहते हैं का अध्याहार किया है यथा जहाँ पूषा आदि (रहते हैं) उन्होने बहुत प्रकार से खोज लिया है।[3] वस्तुत कुछ अध्याहार किये बिना इस पाठ का भाव अपूर्ण रह जाता है। बौ गृ मे केवल मन्त्र का तृतीय पाद उद्धृत किया गया है। मा गृ (१।२१।१) और का गृ० (४ ।१५) मे केशो को निधानार्थ ले जाते हुए इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया गया है। मा गृ मे सोम के स्थान पर विष्णु पाठ है और उत्तरार्ध तेभ्यो निधान महत न विन्दन्नन्तरा द्यावापृथिव्योरपस्सु है। यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। महत न

१ त्र्यायुष जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुष तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ (दे वा स का ३।६।४)
२ बौ गृ २।४।१५ हि गृ २।६।१३ वा गृ ४।२१।
३ से बु ई ख ३ पृ २१८।
४ दे कृस्कन मा गृ अनु पृ० ६१ पा टि १४।

ऐसा प्रतीत होता है कि भा० गृ० (१।२७) मे म० ब्रा० के वाक्य और पा० गृ० के वाक्यार्थं का सयोजन करके एक वाक्य बना दिया गया है। यद्यपि म०ब्रा० के वाक्य मे कोई परिवर्तन नही किया गया, परन्तु पा० गृ० के वाक्यार्थं मे प्रजापते के स्थान पर प्रजापतये और अवजिघ्रामि के स्थान पर अभिजिघ्रामि परिवर्तन किये गये हैं। तत्पश्चात् भा० गृ० में प्रजापतिस्त्व आयुर्दधातु स मे शतायुरेधि भूर्भुंव स्व है।

उपयु क्त विविध रूपो मे सभी स्थलो पर इस वाक्य का उद्देश्य शिशु के लिये दीर्घायु की प्राप्ति प्रतीत होता है क्योकि प्रजापति अथवा पशुओ का हिंकार आयुष्मान् बलवान् प्राण का प्रतीक है।

अष्टम अध्याय

उपनयन में विनियुक्त मन्त्र

गृह्यसूत्रो मे वर्णित शिक्षा-सम्बन्धी सस्कारो से यह बात स्पष्ट है कि उस समय शिक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रचलित थी। विद्या मे छात्र की दीक्षा से लेकर अवकाश, विद्या-समाप्ति इत्यादि सभी विषयो का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[1] इन सस्कारों में विनियुक्त मन्त्रो से तत्कालीन शिक्षा के आदर्शों पर प्रभूत प्रकाश पडता है। साथ ही इन मन्त्रों के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि कर्म की समानता के आधार पर गृह्यसूत्रो मे प्राय विभिन्न सस्कारो के मन्त्रो का परस्पर स्थानान्तरण होता था। वस्त्र-प्रदान, हृदय-देश-स्पर्श, अश्मारोहण इत्यादि कर्म विवाह और उपनयन दोनो सस्कारो मे समान हैं। इसी आधार पर विवाह के मन्त्र उपनयन मे अथवा उपनयन के विवाह मे प्रविष्ट हो गये हैं। निस्सन्देह मन्त्र के पात्रभूत व्यक्ति के लिंग तथा वचन के परिवर्तन के अनुसार मन्त्र में भी अपेक्षित परिवर्तन करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इन सभी स्थलो पर विवाह के मन्त्रो का अधिष्ठातृ-देव प्रजापति (सन्तति-पालक) है और शिक्षा सम्बन्धी सस्कारो के मन्त्रो का अधिष्ठातृ-देव बृहस्पति (बडो का पालक अथवा सामान्य विचारधारा के अनुसार,

---

१ इ० वे० कल्प०, अध्याय-१४।

हि० गृ० (२।४।१६) और आग्नि गृ० (२।१।५) में विधान है कि निम्न लिखित वाक्य का पाठ करते हुए गृहपति को अपने पुत्र से गले मिलना चाहिये —

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिमृशाम्यग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसा ॥ [५०५]

सोम की द्युति अग्नि के तेज तथा सूर्य के प्रकाश के द्वारा मैं तुमसे गले मिलता हूँ।

पिता का अभिप्राय यह है कि मेरी इस क्रिया से तुम्हे उक्त देवताओं की उक्त विशेषतायें प्राप्त हो। व गृ (३।२२) के अनुसार पिता के लौटने पर पुत्र द्वारा किसी देवालय मे गुह की पूजा कर लेने पर उस (पुत्र) पर जलाभिषेक करते हुए इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिए। वर्चसा के स्थान पर यहाँ रश्मिभि पाठ दिया गया है। किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे यह वाक्य प्राप्त नही होता।

म० स० २।३।११ ।३ के मन्त्रों द्वारा इस अवसर पर शिशु के अभिमन्त्रण का विधान भी है। इन मन्त्रो का विवेचन जातकर्म के अन्तर्गत आयुष्य कर्म मे किया जा चुका है। (दे पृ २ ७-८)

गृहपति को विशेष मन्त्रो के उच्चारण के साथ पुत्र का सिर भी सूँघना चाहिए। इनमे से कुछ का विवेचन जातकर्म मे हो चुका है।(दे पृ २१०) सामवेद सम्बन्धी गृह्यसूत्रो तथा बा० गृ मे इस कर्म के लिये निम्नोक्त वाक्य का विनियोग किया गया है[1]—

पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामि ॥

मैं तुम्हे पशुओं के हिंकार से सूँघता हूँ ॥

पिता का अभिप्राय है कि मेरे सूँघने से तुम्हे हिंकार करने वाले बलिष्ठ पशुओं की शक्ति प्राप्त हो। हि गृ (२।४।१७) और आग्नि गृ (२।१।५) मे भी इसी वाक्य का प्रयोग उक्त कर्म मे किया गया है परन्तु उसके आगे असावायुषे वर्चसे हुए (हुतम्—आग्नि गृ) भी जोड़ा गया है। पा गृ (१।१८।३) मे इसी कर्म के लिये विनियुक्त वाक्य किंचिद् भिन्न है। वह इस प्रकार है —

प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषासौ जीव शरद शतम् ॥[५ ६]

मैं तुम्हे सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करने वाले प्रजापति के हिंकार से सूँघता हूँ अमुक नाम के तुम सौ वर्ष-पर्यन्त जीवित रहो।

---

१ गो गृ० २।८।२२ (म ब्रा १।५।११) खा गृ २।३।१४ जै गृ० ७।१८ बा० गृ० ३।१।

अर्थ से परिपुष्ट है। यास्क ने इस शब्द के तीन अर्थ स्त्रियाँ, आप और देवपत्नियाँ— दिये हैं।[1] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि म० पा० का पाठ अधिक अच्छा है। इस मन्त्र के स्रोत के विषय मे का० गृ० के अपने सस्करण में कैलेण्ड ने कहा है कि प्रकट रूप में यह पैप्पलाद सहिता (काण्ड १५) है। वहाँ यह निम्न-लिखित रूप में प्राप्त होता है —

रेवतीस्त्वा व्यक्षण कृत्तिका चकृतुस्त्वा अभिशस्त्वा पृतन्यतु।
धियोऽवयन्नवा ग्ना आयुर्वत्तम्।
सहस्रमन्ता अभितो रक्षन्ताशीतिर्मध्यमभयन्तु नारी ॥ [५०८]

इस प्रकार प्राचीनता की दृष्टि से का० गृ० का पाठ अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। क्योंकि वह उपरिलिखित पाठ के अधिक निकट है। इस मन्त्र की तुलना ताण्ड्य ब्राह्मण (१।१।२) के निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है —

ग्नास्त्वा कृन्तन्नपसोऽतन्वत वयित्र्योऽवयन् वरुणस्त्वानयतु।
देवि दक्षिणे बृहस्पतये वासस्तेनामृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्य प्रतिग्रहीत्रे ॥ [५०९]

इस मन्त्र का विनियोग वस्त्र स्वीकार करने के लिये किया गया है। यास्क द्वारा ग्ना के स्त्रियाँ अर्थ की पुष्टि में यह आंशिक रूप से उद्धृत किया गया है।

आप० गृ० ४।१०।१० (म० पा० २।२।४) मे वस्त्र के अभिमन्त्रण के लिये निम्नलिखित मन्त्र का भी विनियोग किया गया है —

देवीर्देवाय परिधी सवित्रे महत्तदासामभवन्महित्वनम् ॥ [५१०]

देवियो ने सवितृ-देवता के लिये परिधान बनाया, वह उनका बहुत अधिक महत्त्व था।

का० गृ० ४१।६ मे बालक द्वारा वस्त्र-परिधान करवाने के लिये इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया गया है —

देवीर्देवाय परिधे सवित्रे
परिधत्त वर्चसे इम शतायुष कृणुत जीवसे कम् ॥

इसे तेजस्विता के लिये धारण करो, (हे वस्त्रो) इस बालक को सुख पूर्वक जीवित रहने के लिये शतायु बनाओ॥

---

१ नि० ३।३।२१—ग्ना गच्छन्त्येना। नि० १०।४।४७—ग्ना गमनादापो देव-पत्न्यो वा॥

विद्यादेव या वाणी-देव) है। शिक्षा-सम्बधी सर्वप्रमुख संस्कार उपनयन है। इस अध्याय मे उपनयन के विविध कर्मों मे विनियुक्त मन्त्रो का विवेचन किया जा रहा है।

नववस्त्र प्रदान

सभी स्थालीपाक यज्ञो की आधारभूत प्रारम्भिक आहुतियों के पश्चात् भावी छात्र को धारणार्थ अभिनव वस्त्र औपचारिक रूप से दिये जाते है। बालक को ये वस्त्र धारण करवाने के निमित्त अधिकाश गृह्यसूत्रो द्वारा अथर्व २।१३।२ ३ और अथर्व १४।१।४५ का विनियोग किया गया है।[1] इन मन्त्रो का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय मे किया जा चुका है। (दे मन्त्र स ११२ ११६)

इस सम्बध मे आचार्य द्वारा नये वस्त्रों का अभिमन्त्रण करने के लिये प्रयुक्त निम्नलिखित मन्त्र का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए[2]—

रेवतीस्त्वा व्यक्षणन् कृत्तिकाश्चाकृतस्त्वा।
धियोऽवयन्नव ग्ना अवृक्षन्त्सहस्रम तॉं अभितो अयच्छन्॥ [५०७]

रेवती देवताओं ने तुम्हें कूटा है—कपास के रूप में कृत्तिकाओं (कातने वालियो) ने तुम्हे काता है। देवपत्नियो ने (मानो) बुद्धियो को बुना है उन्होने सूत्रों के सहस्र सिरो को पृथक किया है और सब ओर से उन्हे थाम कर रखा है।

मन्त्र का उपर्युक्त पाठ म पा से उद्धृत है। का० गृ० मे चाकृतन् के स्थान पर चक्रतु अवृक्षन् के स्थान पर असृजन् और अभितो अयच्छन् के स्थान पर अभितोऽयच्छन् पाठ है। इसने प्रथम पक्ति के अत मे अपससस्था व्यतन्वत और दूसरी के अत मे यशीतिमध्यमवयस नारी जोडा गया है। मन्त्र के इस पाठ मे छन्दोभङ्ग ही नही हुआ अपितु अर्थ भी किंचिद् अस्पष्ट हो गया है। कृत्तिका (बहु) के साथ चक्रतु (द्वि) असङ्गत है।[3] भाष्यकार देवपाल की नारी की नागदेवता के रूप मे व्याख्या से भ्रम बढ जाता है। किंतु उसके द्वारा दिया गया ग्ना का अर्थ देवताएँ यास्क प्रदत्त

---

१ कौ गृ २।५।११ १२ आप० गृ ४।१० ११ (म पा २।२।५ ८) हि० गृ० १।४।२ भा गृ १।५ आग्नि गृ १।१।२ बा गृ ५।६ मा गृ १।२२।३, पा० गृ १।४।१३ गो गृ २।१।१७ १८ (म ब्रा १।१।५ ६)।

२ का गृ ४१।५ आप गृ ४।१० ।१ (म पा २।२।३)।

३ यद्यपि का गृ के सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र का छन्द शक्वरी बताया है, तथापि मकडोनल द्वारा निर्दिष्ट ५६ अक्षरो का नियम इस मन्त्र पर नहीं घटता। (वै० व्या स्टू पृ ४४)

तरा गच्छ इत्यादि मन्त्र (दे०म०स०१११) सभी वर्णों के छात्रो के लिए समान है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालको का अभिमन्त्रण क्रमश निम्न-लिखित प्रथम, द्वितीय और तृतीय मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये [1]—

परीम सोम तेजसे महे श्रोत्राय दध्मसि ।
यथैन जरस नयज्ज्यो क्छ्रोत्राय जागरज्ज्योक्छ्रोत्रेऽधि जागरत् ॥ [५१२]
परीममिन्द्रमोजसे महे क्षत्राय दध्मसि ।
यथैन जरस नयज्ज्योक् क्षत्राय जागरज्ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ [५१३]
परीमं मनुमायुषे महे पोषाय दध्मसि ।
यथैन जरस नयज्ज्योक् पोषाय जागरज्ज्योक् पोषेऽधि जागरत् ॥ [५१४]

हे बालक हम तुम्हे मानो सोम को तेज, पूजा और वेदज्ञान के लिये यह वस्त्र पहनाते हैं। हम यह इसलिये भी पहनाते हैं कि यह बालक को

१ इति परिहितवाससमनुमन्त्रयते योगे योगे युवा सुवासा इति चैताभ्याम्। सूत्र का अनुसरण करते हुए भाष्यकार ब्राह्मणबल और आदित्यदर्शन उक्त विधान करने मे परस्पर सहमत है। परन्तु परम्परा का अपेक्षित सम्मान करते हुए देवपाल ने वस्त्र परिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रण के लिये इन मन्त्रो का विनियोग नहीं किया है। उसके अनुसार बालक को वस्त्रपरिधान के नियम का विस्तार इन तीन मन्त्रो तक है। जरा गच्छ इत्यादि मन्त्र सभी वर्णोके बालकों के लिये समान हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालको को वस्त्र-परिधापन क्रमश उपर्युक्त तीनों मन्त्रो से कराना चाहिए। वस्त्रपरिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रणार्थ परीदम् इत्यादि (म०स० ११६) मन्त्र है। 'योगे योगे' इत्यादि शब्दों का सम्बन्ध अगले सूत्र से है —

न त्वेवमाचार आचार्याणा, नापि मन्त्रलिंगमेवमिति योजनान्यथा कार्या। एकैकस्य असाधारण इत्येकैकस्य वासस परिधापने मन्त्रत्रयम्। तत्र देवीर्देवायेत्येको वर्णत्रयसाधारण, जरा गच्छेति द्वितीय साधारण परिधापने। परीममित्यादीना त्रयाणामेकैको यथाक्रममेकैकस्यासाधारण इत्येकैकस्य त्रय परिधापने मन्त्रा। त्रयाणामपि वर्णाना परिहितवाससामनेन (परीदमिति) अनुमन्त्रण करोत्युपनेता। योगे योगे इत्यनेन युवा सुवासा इत्यनेन च मन्त्रेणाग्नि लक्षणीकृत्य प्रदक्षिण यथा भवति तथा माणवकमानीय ।

निस्सन्देह देवपाल का क्रम सुविचारित है और इसलिये प्रशस्य भी, किन्तु सूत्र के पाठ को देखते हुए अन्य भाष्यकारों का मत उचित प्रतीत होता है। इस स्थिति में सूत्रकार ही दोषी हो सकता है।

यह पाठ कलॅड के संस्करण के अनुसार है। देवपाल ने वचसे के स्थान पर वचसा पाठ स्वीकार किया है उसके आगे मम जोड़ा है और कृणुत के स्थान पर कृणुहि दिया है। प्रथम पंक्ति मे देवपाल के पाठानुसार परिधे के स्थान पर सविता पाठ है। इस पाठ के कारण देवपाल को सविता से पूर्व एक और परिधत्त की कल्पना करनी पड़ती है। स्वयं सविता (प्रथमा) से व्याकरण सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि इसे सम्बोधनरूप बनाने के लिये देवपाल को व्यत्यय का आश्रय लेना पड़ा है। और एक बार फिर वह सविता की प्रथमा विभक्ति के अनुसार व्याख्या करता है। पूर्ण व्याख्या इस प्रकार है —हे देव्यो रेवत्याद्या इव वासः परिधत्त परिधापयत। कस्मै। देवाय द्योतमानाय माणवकाय। त्वमपि हे माणवक परिधत्स्व परिधत्स्व। सविता व्यत्ययेन हे सवितः इव वासः परिधापय सवित्र देवतार्थाभिज्ञानस्य जनयित्र माणवकाय। त्वमपि हे माणवक परिधत्स्व परिधत्स्व सविता भूत्वा ॥ (हे रेवती इत्यादि देवियो इस द्युतिशील बालक को यह वस्त्र पहनाओ। हे बालक तुम भी वस्त्र धारण करो। हे सविता इस वस्त्र को सविता को अर्थात् देवताओं सम्बन्धी ज्ञान के जनक इस बालक को पहनाओ। हे बालक तुम भी सविता के रूप मे वस्त्र धारण करो।) यह व्याख्या अत्यन्त दूराकृष्ट है। परन्तु कलॅण्ड द्वारा स्वीकृत पाठ मे इस प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता नही रहती। इस मन्त्र का स्रोत भी कलॅण्ड द्वारा पप्पलाद संहिता (काण्ड १५) बताया गया है।

पा गृ (२।२।७) के अनुसार बालक को अभिनव वस्त्र पहनाते हुए आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् तेन।
त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥ [५११]

जिस कारण बृहस्पति ने इन्द्र को अमर वस्त्र पहनाया उसी कारण मैं आयु के लिए बल और तेजस्विता के लिए तुम्हें वस्त्र पहनाता हूँ।

गृह्यसूत्र मे मन्त्र को उपर्युक्त रूप मे दो भागो में विभाजित नही किया गया। यह विभाजन प्रत्येक भाग मे अक्षरों की समान संख्या १९ के आधार पर किया गया है। इस प्रकार यह मन्त्र अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्दों का मिश्रण बन जाता है। प्रथम पाद (बृहस्पतिः तक) और तृतीय पाद (त्वा से आयुषे तक) अष्टाक्षर अनुष्टुभ् हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एकादशाक्षर त्रिष्टुभ् हैं।

का गृ (४१।७) मे विधान है कि बालक द्वारा वस्त्र-परिधान के पश्चात् आचार्य को कुछ विशिष्ट मन्त्रो द्वारा बालकका अभिमन्त्रण करना चाहिए।

यज्ञोपवीत परम पवित्र प्रजापतेर्यत् सहज पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्य प्रतिमुञ्च शुभ्र यज्ञोपवीत बलमस्तु तेज ॥ [५१५]

जो परम पवित्र यज्ञोपवीत पहले प्रजापति का सहजात था, उस दीर्घायु प्रदान करने वाले, प्रमुख, शोभन यज्ञोपवीत को धारण करो। तुम्हे बल और तेज प्राप्त हो।

बै०गृ० (२।५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचार्य को शिष्य को यज्ञोपवीत प्रदान करना चाहिये। इस मन्त्र मे यज्ञोपवीत से दीर्घायु, बल और तेज प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य सतुलित था जिसमे शरीर और बुद्धि के समान विकास का प्रयत्न किया जाता था। कैलेण्ड के अनुसार इसका स्रोत काठक आरण्यक है।[1]

कुछ गृह्यसूत्रो में यज्ञोपवीत के लिये अधोलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है[2] —

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपनह्यामि ॥ [५१६]

तुम यज्ञोपवीत हो, तुम्हे यज्ञ के सूत्र से बाँधता हूँ।

गृह्यसूत्रो मे इस वाक्य के पाठान्तर हैं। वा०गृ० में यज्ञोपवीतम् के स्थान पर उपवीतम् और उपनह्यामि के स्थान पर उपव्ययामि पाठ है। पा०गृ० मे उपवीतेन के स्थान पर यज्ञोपवीतेन पाठ है। कौ०गृ० मे यह वाक्य निम्नलिखित रूप मे प्राप्त होता है —

यज्ञस्योपवीतेनोपव्ययामि दीर्घायुत्वाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।
सर्वेषा वेदानामाधिपत्याय यशसे ब्रह्मवर्चसाय त्वा ॥ [५१७]

मैं तुम्हें दीर्घायु, सत्सन्तति, वीरता, सब वेदो पर अधिकार, यश और ब्रह्मतेज के लिये यज्ञ के सूत्र से बाँधता हूँ।

कौ०गृ० के समान ऋग्वेद से सम्बन्ध न होने पर भी आग्नि०गृ० मे इस वाक्य का लगभग ऐसा ही रूप प्राप्त होता है। उसमे आधिपत्याय और यशसे के मध्य श्रिये और यशसे तथा ब्रह्मवर्चसाय के मध्य ब्रह्मणे शब्द है। सम्भवतया दो विभिन्न संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रो मे इस वाक्य के विषय मे समानता का कारण यह है

१ दे०धं०स्मृ० (अनु०), पृ० ४५ पर टि० २०।

२ द्रा०गृ० २।२।३, वा०गृ० ५।८, कौ०गृ० २।१।३१, आग्नि०गृ० २।४।६, पा०गृ० २।२।१० (दे०पृ० २५६ पर टि० २)

वृद्धावस्था तक ले जाये। तुम चिरकाल तक वेदाध्ययन के लिये जागो अर्थात् उद्बुद्ध रहो। और चिरकाल तक तुम शिष्यों को वेदोपदेश दो॥ हम इन्द्र रूप तुम्हे ओज पूजा और सज्जनों की रक्षा के लिये यह वस्त्र पहनाते हैं।

तुम चिरकाल तक सज्जन रक्षा के लिये जागो और चिरकाल तक सज्जन रक्षा का उपदेश दो॥ हम मनुरूप तुम्हे आयु पूजा और धनपुष्टि के लिये यह वस्त्र पहनाते है। तुम चिरकाल तक धनपुष्टि के लिये जागो और चिरकाल तक धनपुष्टि का उपदेश दो॥ द०पा०

ब्राह्मण और क्षत्रियो से सम्बद्ध प्रथम दो मन्त्र स्वल्प भेद सहित अथर्व० (१६।२४।२ २) मे विद्यमान हैं। अथर्व मे दोनो मन्त्रो मे तेजसे और ओजसे के स्थान पर आयुषे दक्षसि के स्थान पर यतम और जरस अयत् के स्थान पर जरसे नयाथ् पाठ है। का गृ क ज्योक श्रोत्राय (क्षत्राय) जागरत् शब्द अथर्व मे विद्यमान नही हैं। इस प्रकार का गृ के मन्त्रो का छन्द तो पंक्ति है और अथर्व के मन्त्रो का अनुष्टुभ्। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम दोनो मन्त्रो के अनुकरण पर ही तृतीय मन्त्र की भी रचना की गई। आग्नि०गृ (१।१।२) मे वस्त्र परिधान के पश्चात् बालक को देवताओ को समर्पित करने के निमित्त भी ऐसे ही मन्त्रो का प्रयोग किया गया है। अथर्व के समान यहाँ भी ज्योक श्रोत्राय जागरत् शब्द नही लिये गये। जहाँ इन मन्त्रों में सोम तेजसे इन्द्र ओजसे इत्यादि शब्द हैं वहाँ आग्नि गृ मे सर्वत्र इन्द्र ब्रह्मणे पाठ दिया गया है। इसके अतिरिक्त जरस नयत् के स्थान पर जरिम्णे य पाठ है। हि गृ (१।४।८) और आग्नि गृ मे इन मन्त्रो के विनियोग और पाठ के विषय मे पूर्ण समानता है।

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत और उपवीत दोनो समानार्थक हैं। प्राचीन साहित्य मे उपवीत शब्द अधिक प्रचलित है। यह प्राय कपास का सूत्र होता है और इस प्रकार पहना जाता है कि बायें कन्धे के ऊपर से होकर यह दाहिने पार्श्व मे लटकता रहे। परन्तु पितरो से सम्बद्ध कर्मों मे इसे विपरीत विधि से पहना जाता है, और उस समय इसे धारण करने वाले को प्राचीनावीती कहते हैं। यज्ञो के समय विशेष रूप से इस सूत्र का धारण करना अनिवार्य माना गया है।[1] बौधायन और पारस्कर के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करते हुए बालक को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

---

१ यज्ञोपवीत पर विस्तृत विवेचनार्थ दे इ ध कल्प पृ २१६ पर टि २१।
२ बौ०गृ० २।५।७ पा गृ २।२।११ (यह पा गृ के मूल पाठ में नहीं अपितु प्रक्षेप में दिया गया है।)

मिलाकर शर्मवरूथे(द्वंद्व समास)बना दिया गया है। भा०गृ० मे मन्त्र का यह रूप है —

या बृहती दुरिता रराणा शर्म वरूथ पुनती न आगात् ।
प्राणापानाभ्या बलमाभरन्ती स्वसा देवाना सुभगा मेखलेयम् ॥ [५२०]

इस प्रकार यह पाठ कई गृह्यसूत्रो के पाठ का सम्मिश्रण है। मा०गृ०, वा०गृ० और का०गृ० में शर्म वरूथम् के स्थान पर वर्ण पवित्रम् (मा०गृ०—पुराणम्) आभरन्ती के स्थान पर आभजन्ती, प्रिया देवानाम् के स्थान पर शिवा (सखा का०गृ०) देवी पाठान्तर हैं। मा० गृ० में देवी के पश्चात् सुभगे मेखले मा रिषाम पाठ है। सम्भवतया मा० गृ० के रचयिता ने पूर्वमन्त्र (दे० नीचे) के साथ अन्त्यानुप्रास मिलाने का प्रयत्न किया। परन्तु इससे एक शब्द रिषाम के आधिक्य के कारण मन्त्र में छन्दोभङ्ग हो गया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रो में से केवल जै० गृ० में मन्त्र का पाठ म० पा० के समान है। म० ब्रा० और खा० गृ० में शर्म वरूथम् के स्थान पर वर्णपवित्रम्, आभरन्ती के स्थान पर आहरन्ती और प्रिया के स्थान पर स्वसा पाठ हैं। वस्तुत आभरन्ती और आहरन्ती एक ही शब्द के दो रूप हैं क्योंकि वेद मे लौकिक संस्कृत के ह् का प्राय भृ रूप प्राप्त होता है।[1] शा०गृ० मे मन्त्र का पूर्वार्ध म०ब्रा० के समान है। उत्तरार्ध मे आभरन्ती के स्थान पर आविशन्ती और प्रिया के स्थान पर सखा पाठ है। पा०गृ० मे भी मन्त्र का पूर्वार्ध इसके समान है, मात्र भेद दुरुक्तात् के स्थान पर दुरुक्तम् और न के स्थान पर मे है। उत्तरार्ध मे आभरन्ती और प्रिया के स्थान पर क्रमश आदधाना और स्वसा पाठ है। परन्तु विविध गृह्यसूत्रो मे मन्त्र के इन पाठान्तरो के होने पर भी सामान्यतया उसका भाव अपरिवर्तित रहता है। मन्त्र के इतने अधिक पाठान्तरो का कारण सम्भवतया यह है कि यह गृह्य परम्परा का ही मन्त्र है तथा अन्यत्र अनुपलब्ध है।

कुछ गृह्यसूत्र इसी प्रसङ्ग मे निम्नलिखित मन्त्र भी उद्धृत करते हैं[2] —

ऋतस्य गोप्त्री तपसस्तरुत्री घ्नती रक्ष सहमाना अराती ।
सा न समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्तारस्ते सुभगे मेखले मा रिषाम ॥ [५२१]

नियम की रक्षक, तपस्या को सफल करने वाली, राक्षसो का सहार करने वाली, शत्रुओ को सहन करने वाली, वह तुम हमारे चारो ओर आ

---

१ हृग्रहोर्भश्छन्दसि—दे०वै०प्रा०स्व०, पृ०१३।

२ गो०गृ०२।१०।३८ (म०ब्रा० १।६।२८) खा०गृ०२।४।२०,जै०गृ०१२।८,बौ०गृ० २।५।१४, मा०गृ०१।२२।७, का०गृ०४१।११, वा०गृ०५।७, आप०गृ०४।१०।११ (म०पा०२।२।१०), बै०गृ०२।५।

कि यह वाक्य पूर्णतया गृह्य-परम्परा का अंग है। यह किसी संहिता मे उपलब्ध नहीं। न ही ब्राह्मणो आरण्यको मे इसकी उपस्थिति का संकेत मिलता है।

म गृ (२।५) मे बालक को यज्ञोपवीत प्रदान करने के लिये इससे मिलते जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग भी किया गया है —

त्वमस्म प्रतिमुञ्चाम्यायषा ब्रह्मवर्चसा
यैनद् यज्ञोपवीत ददामि ते ॥ [५१८]

प्रथम दोनो शब्दो (त्वम् और अस्म) की व्याख्या दुष्कर है। यदि इन दोनो को एक शब्द माना जाये तो यह युष्मद् शब्द से अन्य सर्वनाम शब्दो के चतुर्थी एक वचन के अनुकरण पर बना रूप प्रतीत होता है। कलैंड के अनुवाद से भी इस बात की पुष्टि होती है।[1]

मेखला — तगडी

यज्ञोपवीत के पश्चात् आचार्य शिष्य के कटिप्रदेश के चारो ओर तीन चक्कर देकर मेखला बाँधता है। केवल मा गृ को छोडकर सभी गृह्यसूत्रो म इस कर्म के लिये स्वल्प पाठांतर सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2] —

इय दुरुक्तात् परिबाधमाना शर्म वरूथ पुनती न आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमाभरन्ती प्रिया देवानां सुभगा मेखलेयम् ॥ [५१९]

दुर्वचन अर्थात् निन्दा से बचाती हुई शरण और संरक्षण को पवित्र करती हुई यह हमारे पास आई है। प्राण और अपान से बल स्थापित करती हुई यह सुन्दर मेखला देवों को प्रिय है।

मन्त्र का यह पाठ म पा० से उद्धृत है। और कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध अधिकांश गृह्यसूत्रो में मन्त्र का पाठ इससे मिलता जुलता है। हि गृ मा गृ और आग्नि गृ में इयम् के स्थान पर या पाठ है। हि गृ और आग्नि गृ में दुरुक्तात् के स्थान पर दुरितात् (दुरिता हि० गृ) आभरन्ती के स्थान पर आवहन्ती और प्रिया के स्थान पर स्वसा पाठान्तर हैं। हि गृ मे शम और वरूथम् को

---

१ म स्मृ (अनु) पृ ४५।

२ गो० गृ २।१ ।१३ (म ब्रा १।६।२७) खा गृ २।४।२ जै गृ १२।८ आप गृ ४।११ ।११(म पा २।२।९) हि गृ १।४।४ आग्नि गृ १।१।२ मा०गृ १।९ बौ गृ २।५।१३ भ०गृ २।५ का गृ २।२।१ पा गृ २।२।८ मा० गृ १।२२।१ का गृ ४१।११ वा गृ ५।७।

प्रमुख आधार का कार्य किया प्रतीत होता है । उपनयन सस्कार मे ही अन्य कर्मों में भी इस मन्त्र का प्रयोग किया गया है । का०गृ० (४१।७) मे आचार्य द्वारा उपहृत वस्त्र के परिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रणार्थ इसे उद्धृत किया गया है । इस प्रसग मे सम्भवतया सुवासा शब्द ने विनियोग की प्रेरणा दी होगी । आ०गृ० (१।२०।८, १०) मे इसके दोनो भागो का पृथक्-पृथक् विनियोग किया गया है । तदनुसार पूर्वार्ध के द्वारा आचार्य शिष्य को बायें से दायें मोडता है —यहाँ चारो ओर घूमने के भाव से युक्त परिवीत शब्द का आधार रहा होगा । और उत्तरार्ध के द्वारा आचार्य अपने दोनो हाथो को शिष्य के कन्धो के ऊपर से ले जाकर उसके हृदय-देश का स्पर्श करता है । यहाँ कर्म के साथ मन्त्र का विशिष्ट सम्बध स्पष्ट दृष्टिगोचर नही होता । सम्भवतया रचयिता के मस्तिष्क मे मनसा शब्द रहा हो क्योंकि बहुधा मन से हृदय का अर्थ भी लिया जाता है । पा०गृ० (२।६।२५) मे समावर्तन सस्कारमे भी इसे प्रयुक्त किया गया है । वहाँ अपने सिर पर उष्णीष बाँधे जाने के समय स्नातक द्वारा इसके उच्चारण का विधान है । यहाँ भी परिवीत (चारो ओर बँधा हुआ) का भाव सर्वप्रमुख प्रतीत होता है ।

पूर्ववर्ती साहित्य मे भी बाँधने या लपेटने की क्रिया मे इसका विनियोग किया जाता था । शोभनवस्त्रधारी युवक के रूप मे वर्णित यूप(यज्ञस्तम्भ) से यह सम्बद्ध था । सर्वानुक्रमणी के अनुसार एतत्सम्बन्धी ऋग्वेदीय सूक्त का अधिष्ठातृ-देव यूप ही है । मैत्रायणी(४।१३।१)और काठक (१५।१२) सहिताओ मे भी यज्ञस्तम्भ के शुद्धिकर्म के अन्तर्गत यह मन्त्र उद्धृत किया गया है । ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो के अनुसार यजमान को पशुयाग मे यज्ञस्तम्भ के लपेटे जाने के समय इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये ।[1] अत गृह्यसूत्रो मे (मेखला के) लपेटने या बाँधने की क्रिया से इसके सम्बन्ध की पुष्टि पूर्ववर्ती साहित्य से हो जाती है । सम्भवत इसके श्रौत-विनियोग के आधार पर ही इसके विविध गृह्य-विनियोग हुए हैं । इस मन्त्र से शिक्षा द्वारा सर्वविध उन्नति का लक्ष्य प्रतीत होता है ।

का० गृ० (४१।११) और कौशिक० (५६।१) द्वारा विनियुक्त निम्नलिखित मन्त्र मेखला-बन्धन प्रसङ्ग के लिये उपयुक्ततम प्रतीत होता है —

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वस ऋषीणा भूतकृता बभूव ।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रिय च ॥ [५२३]

१ ऐ०ब्रा० २।२।१६, तै०ब्रा० ३।६।१।३, आ०श्रौ० ३।१।८ तै०ब्रा०—स्वाध्य के स्थान पर स्वाधिय —छन्द सशोधन, ऋग्वेद मे भी जात्य-स्वरित का सुस्पष्ट उच्चारण करके छन्द पूर्ति हो जाती है ।

जाओ। हे ! कल्याणमयी सुन्दर मेखले ! तुम्हें धारण करने वाले हम हिंसित न हों।

मा गृ० में मन्त्र का यह पाठ दिया गया है। तदनुसार आचार्य से मेखला ग्रहण करते हुए शिष्य इसका उच्चारण करता है। का०गृ० में केवल पाठभेद न के स्थान पर मा और अभिपर्येहि के स्थान पर अनुपर्येहि है। का०गृ० में अरातीं के स्थान पर अरातिम् अभिपर्येहि मह्य धर्तार के स्थान पर अनुपरेहि मह्याय मर्तार पाठ है और शुभगे अविद्यमान है। म०पा० में भी मन्त्र का उत्तरार्ध (अनुपर्येहि के स्थान पर अनुपरीहि को छोडकर) का० गृ० जैसा है। इसका पूर्वार्ध (तरुत्री के स्थान पर परस्पी पाठभेद के साथ) मा० गृ० के समान है। पूर्वार्ध का यह पाठ ज०गृ० में भी विद्यमान है। उत्तरार्ध में ज०गृ० में मा० गृ० का अभिपर्येहि पाठ रखा गया है, किन्तु नः समन्तम् के स्थान पर आ समन्तात् दिया गया है। म० ब्रा० में भी पाठ (तरुत्री के स्थान पर परस्वी को छोडकर) मा० गृ० के ही समरूप है। कुल मिलाकर इन पाठान्तरों से मन्त्र के भाव में कोई अन्तर नहीं आता। इस मन्त्र के भी इतने अधिक पाठान्तरों का कारण सम्भवतया इसका पूर्णतया गृह्य परम्परा पर आधारित होना है। प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में यह अनुपलब्ध है। इस मन्त्र में मेखला को नियम रक्षक और तपस्या को सफल करने वाली कहा गया है। इससे नियम-पालन और तपस्या ये दोनों शिक्षा के आदर्शों के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं।

मा० गृ० पा० गृ० और गा०गृ० में बालक के कटिप्रदेश पर मेखलाबन्धन के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ३।८।४) का विनियोग किया गया है[1]—

> युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
> तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ [५२२]

शोभन वस्त्र धारण किये हुए नित्यतरुण यह ब्रह्मचारी इस शरीर को प्राप्त हुआ है। यह बढ़ता हुआ उन्नत होता है। उसे बुद्धिमान् क्रान्तदर्शी विद्वान् अपनी शोभन बुद्धि के द्वारा एकाग्र मन से देवयोग्य कर्म करते हुए उन्नति (मोक्ष) प्राप्त करवाते हैं। दे० पा०

प्रस्तुत प्रसंग में इस मन्त्र के विनियोग का प्रमुख आधार युवा और जायमान शब्द प्रतीत होते हैं, क्योंकि जहाँ उपनयन संस्कार युवा छात्र से सम्बद्ध है वहाँ इससे ही बालक का एक नये जन्म में प्रवेश भी माना जाता है और इसी कारण उसे द्विज कहा जाता है। मेखला-बन्धन प्रसंग में परिवीत (चारों ओर से बद्ध) शब्द ने भी

1 मा०गृ० १।२२।८ पा०गृ० २।२।९ मा० गृ० १।८।

चरिष्णु पाठान्तर है और वाज्यजिनम् को वाज्यम् वाजिनम्- दो पृथक् शब्दों के रूप में दिया गया है। यह वाजिनम् भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है क्योंकि इसके कारण मन्त्र में से अजिन शब्द का पूर्ण लोप हो जाता है। शा० गृ० और का० गृ० में समिद्धम् और जरिष्णु के स्थान पर क्रमश समृद्धम् और चरिष्णु पाठ है। किर्स्ते के अनुसार समिद्धम् समृद्धम् का ही प्राकृतिक रूप है (हि० गृ० १।८।६ पर टि०)। परन्तु यह कल्पना करना अनावश्यक है क्योंकि समिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति एक स्वतन्त्र धातु (इन्ध्) से मानी जाती है। और प्रसग के अनुसार भी इस धातु से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सगत है क्योंकि अजिन का उल्लेख मित्र-सूर्य के (दीप्तियुक्त) नेत्र के रूप में किया गया है। का० गृ० में बलीय के स्थान पर बलाय और अहम् के स्थान पर अयम् पाठान्तर भी है।

इस मन्त्र का पूर्ववर्ती स्रोत उपलब्ध नहीं होता। शा० गृ० में इसके विनियोग के विषय में कोई विधान नहीं है। इससे पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि 'आचार्य को खडे होकर खडे हुए शिष्य का उपनयन करना चाहिये।' परन्तु आगामी सूत्र (२।२।१) में शिष्य की कमर पर मेखला बन्धन का निर्देश है। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि यह मन्त्र अजिन-प्रदानार्थ ही रखा गया है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मन्त्र के पश्चात् इति के अभाव में इसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती सूत्र से नहीं जोडा जा सकता।

एक मात्र कौ० गृ० (२।१।३५) में शिष्य को पशु-त्वचा उपहृत करने के प्रसग में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।२८।६) उद्धृत किया गया है —

उच्छिष्टं चम्वोर्भर सोमं पवित्र आ सृज।
नि धेहि गोरधि त्वचि ॥ [५२५]

हे विशेष ऋत्विग् (अथवा हरिश्चन्द्र) सोम के दोनों अधिषवण फलकों में से पिसने से बचे हुए सोम को शकट के ऊपर ले आओ। पिसे हुए सोम को दशा-पवित्र (छलनीरूप वस्त्र के छोर) में लाकर डालो और बचे हुए सोम को ऋषभ-चर्म पर रख दो ॥ सा०

सर्वानुक्रमणी में चर्म (त्वचा) को इस मन्त्र का देवता बताया गया है। या तो इसके कारण या मन्त्र में आये त्वचि शब्द के कारण सम्भवतया कौ० गृ० में उक्त प्रसग में इसका विनियोग किया गया है। सर्वानुक्रमणी के चर्म से वस्तुत अधिषवण चर्म का अभिप्राय है। यह चर्म सोम पीसने के काम आने वाले पत्थर पर चिपकाया जाता था।[1] विनियोग के प्रसग से इस मन्त्र का कोई स्पष्ट सम्बन्ध

---

१ वै० इ०, ख०१, पृ० २० अधिषवण पर टिप्पणी।

तपस्या से उत्पन्न हुई श्रद्धा की कन्या प्राणियों की सृष्टि करने वाले ऋषियों की भगिनी है। हे मेखले वह तुम हम में बुद्धि, मेधा और हमारी तपस्या तथा शक्ति स्थापित करो ॥

मन्त्र का यह पाठ अथर्व (६।१३३।४) में से उद्धृत है। इस मन्त्र वाले सूक्त का विषय मेखला बन्धन कर्म है। इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी उपनयन संस्कार के उपयुक्त बुद्धि मेधा तपस्या और शक्ति की प्रार्थना के अतिरिक्त इस मन्त्र का गृह्य विनियोग सुदृढ़ तथा प्राचीन परम्परा पर आधारित है। का० गृ० में इसके कुछेक पाठान्तर हैं। स्वसऋषीणाम् के स्थान पर स्वसर्षीणाम् वस्तुत सन्धि का ही दूसरा रूप है भूतकृताम् के स्थान पर भग्नकृताम् पाठ है और उत्तरार्ध में द्वितीय धेहि से पूर्व सा मा मेखले परिरेरिहस्व मयि पाठ है। इस परिवर्तन से उत्तरार्ध में जगती के स्थान पर त्रिष्टुभ् छन्द बन गया है। देवपाल के अनुसार परिरेरिहस्व में लिह धातु है। ल और र की ध्वनि का प्राय परस्पर-विनिमय हो जाता है (रलयोरभेद')।

अजिन अथवा पशु-त्वचा

विभिन्न वर्णों के शिष्यों के लिये विभिन्न पशुओं की त्वचा का विधान है। कुछ गृह्यसूत्रों में शिष्य को त्वचा के उपहरण के अवसर पर किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। अधिकांश गृह्यसूत्रों में इस प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है —

मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धम्।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम् ॥ [५२४]

मित्र के चक्षुरूप धारणशील बलिष्ठ तेजस्वी यशस्वी स्थायी दीप्तियुक्त अविनाशी चिरकाल पश्चात् जीर्ण होने वाले वस्त्ररूप शक्तिशाली अजिन (मृग-त्वचा) को मैं अपने चारों ओर धारण करता हूँ।

मन्त्र का यह पाठ पा० गृ० से उद्धृत है। आग्नि० गृ० में दधेऽहम् के स्थान पर दधस्व पाठ है। इसी प्रकार हि० गृ० में इस स्थान पर धत्स्व है और बलीय के स्थान पर भरीय पाठ है। आर० सामशास्त्री द्वारा सम्पादित बा० गृ० में मन्त्र का पाठ पा० गृ० के समान है। किन्तु डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित बा० गृ० में धरुणम् के स्थान पर वरुणम् समिद्धम् के स्थान पर च धृष्णु जरिष्णु के स्थान पर

---

१ पा० गृ० २।२।१० बौ० गृ० २।५।१६ आप० गृ० ४।११।११ (म० पा० २।२।११) हि० गृ० १।४।६ भा० गृ० १।६ आग्नि० गृ० १।१।२ का० गृ० ४१।१२ बा० गृ० ५।८ व० गृ० २।५ शां० गृ० २।१।३।

कोई संदेह नही कि केवल दण्ड-दान-कर्म के साथ इनका कोई विशेष सम्बन्ध नही है। किसी भी कर्म मे इनका विनियोग निस्संकोच किया जा सकता था।

आचार्य द्वारा दण्ड-दान के पश्चात् शिष्य निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे स्वीकार करता है[1] —

सुश्रव सुश्रवस मा कुरु यथा त्व सुश्राव सुश्रवा अस्येवमहं सुश्रव सुश्रवा भूया सयथा त्व सुश्रवो देवाना निधिगोपोऽस्येवमह ब्राह्मणाना ब्रह्मणो निधिगोपो भूयासम् ॥ [५२८]

हे शोभन कीर्तियुक्त (दण्ड), मुझे शोभन कीर्तियुक्त बना दो, हे शोभनकीर्ति। जिस प्रकार तुम शोभनकीर्ति हो, उसी प्रकार हे शोभनकीर्ति। मैं भी शोभनकीर्ति हो जाऊँ, हे शोभनकीर्ति। जिस प्रकार तुम देवो के कोष-रक्षक हो, उसी प्रकार मैं भी ब्राह्मणो और वेद का कोष-रक्षक हो जाऊँ॥

मन्त्र का यह पाठ म०पा० मे से उद्धृत है। अन्य गृह्यसूत्रो मे इसके पाठान्तर हैं। वा०गृ० ने इसमे तीन विराम दिये हैं—प्रथम कुरु के पश्चात्, द्वितीय सुश्रवा भूयासम् के पश्चात् और तृतीय अन्त मे। इसके अतिरिक्त देवानाम् से पूर्व सुश्रव का इसमे अभाव है, इसके आगे वेदस्य जोडा गया है और ब्राह्मणानाम् के स्थान पर मनुष्याणाम् पाठ है। मनुष्याणाम् पाठ से भाव मे औदार्य आ गया है। म०ब्रा० मे यह छन्दोबद्ध रूप मे दिया गया है। पद्य का पूर्वार्ध ऊपर के त्व सुश्रव सुश्रवा तक तत्समान है। उत्तरार्ध देवेष्वेवमह सुश्रव सुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम् है। गो०गृ० के अनुसार शिष्य को दण्ड-प्रदान करने के पश्चात् आचार्य उससे इस मन्त्र का उच्चारण करवाता है। कौशिक० मे मन्त्र का निम्नलिखित रूप प्राप्त होता है —

सुश्रव सुश्रवस मा कुर्वक्रोऽवियुरोऽह भूयासम्॥ [५२९]

मैं अकुटिल, और अयाचक हो जाऊ।

शा०गृ (४१।२२) मे विधान है कि दण्ड को अपने हाथ मे लेकर आचार्य की उसकी छाया मे शिष्य द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करवाना चाहिये। द्वितीय यथा से प्रारम्भ होने वाला मन्त्राश म०पा० के पाठ के बहुत समान है। केवल देवानाम् और ब्रह्मण के पश्चात् वेदस्य जोडा गया है। द्वितीय यथा से पूर्व का मन्त्राश इस प्रकार है —

सुश्रव सुश्रवा असि यथा त्व सुश्रवा असस्येव मा सुश्रव सौश्रवस कुरु॥

1 आप०गृ० ४।११।१५ (म०पा० २।५।१), वा० गृ० ५।२७, गो० गृ० २।१०।३७ (म० ब्रा० १।६।२१), शा० गृ० २।४।२६, कौशिक० ५६।३।

प्रतीत नहीं होता।

दण्ड

हि गृ० (१।७।१४) और आग्नि गृ० (१।१।४) में विधान है कि आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य को एक दण्ड प्रदान करना चाहिए —

अग्निष्ट आयु प्रतरां कृणोतु अग्निष्टे पुष्टिं प्रतरां दधातु।
इन्द्रो मरुद्भिरिह ते दधात्वादित्यस्ते वसुभिरा दधातु॥ [५२६]

अग्नि तुम्हारी आयु बहुत अधिक करे अग्नि तुम्हें बहुत अधिक पोषण प्रदान करे। मरुतों के साथ इन्द्र तथा वसुओं के साथ आदित्य इस अवसर पर तुम्हें आयु और पोषण प्रदान करें॥

व गृ (२।८) में मन्त्र के दोनों भागों का पृथक् विनियोग किया गया है। पूर्वार्ध का उच्चारण करते हुए आचार्य शिष्य को एक दण्ड और उत्तरार्ध के साथ एक भिक्षापात्र प्रदान करता है। उत्तरार्ध के विनियोग में व० गृ का रचयिता सम्भवतया हि गृ के विधान से भ्रान्त हो गया क्योंकि वहाँ इस सम्पूर्ण मन्त्र द्वारा दण्ड के पश्चात् शिष्य को भिक्षा-पात्र देने को कहा गया है। हि गृ में भिक्षापात्र प्रदान के अवसर पर किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। व गृ में उत्तरार्ध का पाठ म पा (२।४।४) के मन्त्र के निम्नलिखित उत्तरार्ध के समान है —

इन्द्रो मरुद्भिऋतुधा कृणोत्वादित्यस्ते वसुभिरा दधातु॥

म पा के मन्त्र का पूर्वार्ध हि गृ के मन्त्र के पूर्वार्ध के ठीक समान है। केवल कृणोतु और दधातु का परस्पर स्थानपरिवर्तन हो गया है। आप गृ (४।११।६) में इस मन्त्र का विनियोग उपनयन की एक सामान्य आहुति के लिए किया गया है। वस्तुत यह सामान्य प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि मन्त्र में दण्ड का कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

शा गृ (२।६।२) में विधान है कि आचार्य को ऋ ५।५१।११ १५ पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिष्य को दण्ड प्रदान करना चाहिए। इस मन्त्र-समूह के प्रारम्भिक शब्द ये हैं —

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भग ॥ [५२७]
अश्विन् और भग हमारे लिए कल्याण का विस्तार करें॥

ये पाँचों मन्त्र स्वस्तिवाचन मन्त्रों के नाम से प्रसिद्ध मन्त्रों का अंग हैं। इन सभी में विभिन्न देवताओं से सामान्य कल्याण की प्रार्थना की गई है। परन्तु इसमें

गदाधर ने तीन मन्त्र वाले मत की पोषक एक कारिका उद्धृत की है।[1] स्पष्टतया तीन मन्त्र अधिक तर्कसंगत प्रतीत होते है क्योकि उनसे तीन स्वतन्त्र वाक्य बनते है। पाँच मन्त्रो की गणना पाँच क्रियाओ के आधार पर की जा सकती है परन्तु उनमे से दूसरा और चौथा वस्तुत सहायक वाक्यांश हैं। इस मन्त्र के विनियोग मे बौ० गृ० (२।८) अद्वितीय है क्योकि तदनुसार शिष्य से भिक्षा लेकर आचार्य इसका उच्चारण करता हुआ उसका अभिषिचन करता है। मन्त्र मे किसी कर्ता का उल्लेख न होने के कारण इसकी सगति किसी भी पदार्थ के साथ बैठाई जा सकती है।

पा० गृ० (२।२।१२) मे विधान है कि आचार्य से दण्ड स्वीकार करते हुए शिष्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए —

यो मे दण्ड परापतद्वैहायसोऽधिभूम्या तमह पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ऽब्रह्मवर्चसाय। [५३०]

मेरा जो आकाशीय दण्ड भूमि पर आ पडा, उसे मैं दीर्घायु, विद्या और ब्रह्मतेज के लिए पुन ग्रहण करता हूँ॥

हि० गृ० (१।११।११) मे समावर्तन के अन्तर्गत यह विधान है कि अपने गिरे हुए दण्ड को उठाने के लिए छात्र को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। परापतत् (गिरा हुआ) और पुन शब्दों के महत्व को विशेषतया प्रदर्शित करने वाले इस विनियोग की मन्त्रार्थ के साथ पूर्ण सङ्गति है। इस गृह्यसूत्र मे कुछ पाठांतर है। वैहायस के स्थान पर विहायस (आकाश से) और तमहम् के स्थान पर इम तम् पाठ हैं, आददे के आगे प्रथम् जोडा गया है और आयुषे के आगे सारा अश निकालकर च बलाय च पाठ दिया गया है। परन्तु शिक्षासम्बन्धी उपनयन सस्कार मे मन्त्र मे से ब्रह्मणे और ब्रह्मवर्चसे निकालकर केवल बलाय डाल देना उपयुक्त प्रतीत नही होता। किन्तु सम्भव है कि रचयिता ने दण्ड के साथ विशेष रूप से बल का सम्बन्ध जोडना उचित समझा हो।

बौ० गृ० (२।५।१८-२३) मे शिष्य द्वारा आचार्य से दण्ड स्वीकार किये जाने पर निम्नलिखित छ वाक्यो के उच्चारण का विधान है —

सोमोऽसि सोमप मा कुरु॥

ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वा॥

---

१. प्रतिमन्त्र त्रिभि काष्ठैरग्ने सुश्रव आदिभि।
अग्ने सुश्रव इत्येक यथा त्व स्याद् द्वितीयकम्।
यथा त्वमग्ने देवाना मन्त्रेणापि तृतीयकम्।

मन्त्र के उपरिलिखित सभी रूपो मे कीर्ति और वेदो की रक्षा के सामर्थ्य की प्रार्थना सर्वसामान्य है। सम्भवतया (वेदों की) रक्षा के इस विचार से ही प्रस्तुत प्रसग मे इसके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी क्योंकि शारीरिक रक्षा करने के कारण दण्ड को रक्षा का प्रतीक माना जा सकता है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का विनियोग मेधाजनन कर्म मे भी किया गया है। तदनुसार शिष्य द्वारा नवनीत से पलाश वृक्ष के लेप के (मा गृ के अनुसार वृक्ष सेचन के) अवसर पर आचार्य को उससे इसका उच्चारण करवाना चाहिये।[1] यहाँ भी वृक्ष के अशभूत दण्ड का भाव विद्यमान है। बौ०गृ को छोडकर ये गृह्यसूत्र इस मन्त्र के पाठ मे का गृ के सश्लिष्ट हैं। बौ गृ का साम्य म पा से है। मा गृ मे केवल पाठभेद वेदस्य के स्थान पर वेदानाम् और ब्राह्मणानाम् के स्थान पर मनुष्याणाम् है। इसके अतिरिक्त इसमे सम्पूर्ण मन्त्र को दो मन्त्रो म विभाजित किया गया है। एक तो का गृ के समान कुरु तक और दूसरा शिष्टांश। भा गृ मे स्वम् और सुश्रवा के मध्य सुश्रव हू और प्रथम वेदस्य के स्थान पर ब्रह्मस्य पाठ है। मा गृ के समान ही यहाँ भी मनुष्याणाम् पाठ दिया गया है। भा गृ का पाठ प्रथम यथा तक म पा के समान है और तत्पश्चात् मा गृ के समान। मात्र भेद यह है कि दोनो स्थानो पर का गृ के वेदस्य के स्थान पर वेदेषु पाठ है और ब्रह्मण का अभाव है। परन्तु ये पाठान्तर नगण्य है क्योंकि अर्थ अपरिवर्तित ही रहता है। निस्सन्देह मेधाजनन के साथ वेद रक्षक की बात अधिक सङ्गत है।

पा गृ (२।४।२) मे इस मन्त्र का विनियोग समिदाधान मे किया गया है। तदनुसार समिधाओ के आधान से पूर्व शिष्य को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ईंधन रख कर अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। गृह्यसूत्रकार ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि मन्त्र का सम्बन्ध अग्नि के साथ है और तदनुसार आरम्भ मे और प्रत्येक स्वम् के पश्चात् अग्ने रखा गया है द्वितीय कुरु तक का मन्त्र का पूर्वार्ध भा गृ के समान है और अवशिष्ट आ गृ के समान। इस गृह्यसूत्र के प्राय सभी भाष्यकार इस मन्त्र को पाँच मन्त्र मानने पर सहमत है—प्रथम कुरु तक एक यथा से असि तक दूसरा एवम् से कुरु तक तीसरा द्वितीय यथा से द्वितीय असि तक चौथा और एवम् से भूयासम् तक पाँचवाँ। हरिहर ने उन विद्वानो का मत भी उद्धृत किया है जो इसे तीन मन्त्र मानते हैं—प्रथम कुरु तक एक द्वितीय कुरु तक दूसरा और अवशिष्ट तीसरा।[2] इसी प्रकार अपने पाँच मन्त्रो वाले मत के अतिरिक्त

१ का गृ १।२२।१६ मा गृ १।२२।१७ बौ गृ २।५।६४ भा गृ १।१।

२ पाणिना अग्निं परिसमूहति समुक्षयति इन्धनप्रक्षेपेण वक्ष्यमाणैः पञ्चभिर्मन्त्रैः। केचित्परिसमूहने त्रीन् मन्त्रान् मन्यन्ते।

कौशिक० (१०६।६) मे भी ऐसे ही वाक्य का विनियोग हल मे बैल की पूँछ उलझ जाने पर प्रायश्चित्त के निमित्त किया गया है। उसका पाठ इस प्रकार है —

वित्तिरसि पुष्टिरसि श्रीरसि प्राजापत्याना ता त्वामह मयि पुष्टिकामो जुहोमि ॥ [५३८]

तुम प्रजापति के पुत्रो का धन, पोषण और शोभा हो, अपने पोषण का अभिलाषी मैं उस प्रकार की तुम्हारी आहुति अर्पित करता हूँ।

क्योंकि मा० श्रौ० मे भी वाक्य का सम्बन्ध (प्रस्तर) ग्रहण करने की क्रिया से है, अत यह गृह्यविनियोग (दण्डग्रहण) के बहुत निकट है। अन्तिम वाक्य प्राय सभी प्राग्-गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थो मे है। उनमे इसके विनियोग के आधार पर उन्हें दो मुख्य वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। इन दोनो वर्गों की प्रमुख समानता यह है कि दोनो मे यह वाक्य राजसूय यज्ञ मे उद्धृत किया गया है। शुक्लयजुर्वेद-सम्बन्धी एक वर्ग मे इस वाक्य का उच्चारण यजमान द्वारा रथविमोचन कर्म में चक्रमार्ग मे उदुम्बर शाखा रखते हुए और उसका स्पर्श करते हुए किया जाता है।[1] कृष्ण-यजुर्वेदीय ग्रन्थों के दूसरे वर्ग के अनुसार रथविमोचन कर्म से पूर्व ब्रह्मा पुरोहित को देने के लिये अपने उदुम्बर-अलकरणो को उतारते हुए यजमान को इसका उच्चारण करना चाहिए।[2] सम्भव है कि इन दोनो वर्गों मे उदुम्बर की लकडी के साथ इस वाक्य के सम्बन्ध से गृह्यसूत्रो में दण्ड (जो उदुम्बर निर्मित भी हो सकता था) को ग्रहण करने के लिये इसके विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, किन्तु इसके विपरीत भा० गृ० (२।२१) मे समावर्तन के अन्तर्गत स्नातक को मणि उपहृत करने के प्रसङ्ग मे इसके उच्चारण का विधान है।

अश्मारोहण

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे आचार्य द्वारा शिष्य से अश्मारोह विधान है। इस अवसर पर आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का चाहिये[3] —

---

१ वा० स० १०।२५, वा० स० का० ११।७।५, श०ब्रा० ५।४।३।२ १५।६।३३।

२ तै० स० १।८।१५।२, मै०स० २।६।१२, ४।४।६, का० स० १५। १।७।६।५, आप० श्रौ० १८।१७।१२, मा० श्रौ० ६।१।४।१

३ आप० गृ० ४।१०।९ (म०पा० २।२।२), हि० गृ० १।४।१, बौ० गृ० माoगृ० १।८, आग्नि०गृ० १।१।२, मा०गृ० १।२२।१२, का० गृ वै० गृ० २।५।

ओजोऽस्योजो मयि धेहि ॥
बलमसि बल मयि धेहि ॥
पुष्टिरसि पुष्टिं मयि धेहि ॥
ऊर्गस्यूर्ज मयि धेहि ॥ [५३१ ५३६]

तुम सोम हो मुझे सोम रक्षक बनाओ । तुम ब्रह्मतेज हो तुम्हें ब्रह्म तेजके लिए (ग्रहण करता हूँ) । तुम ओज हो मुझमे ओज स्थापित करो । तुम बल हो मुझमे बल स्थापित करो । तुम पोषण हो मुझमे पोषण स्थापित करो । तुम जीवन रस हो मुझमें जीवनरस स्थापित करो ॥

प्रथम वाक्य को छोडकर शेष सभी विभिन्न प्राग् गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है । प्रथम वाक्य आग्नि गृ० (२।६।६) म भी मधुपर्क के अन्तर्गत दूसरी बार मधुपर्क-भक्षण के समय अतिथि द्वारा उच्चारणार्थ विनियुक्त किया गया है। यहाँ शब्दान्तर से मधुभक्षण ही सोमपान हो जायेगा। दण्डग्रहण प्रसंग मे रक्षा का प्रतीक होने के कारण सोमप का अर्थ सोमरक्षक ही संगत प्रतीत होता है। द्वितीय वाक्य तै स (५।६।११५ २।६) और आप० श्रौ (१६।३३।२) मे वेदी चयनके अन्तर्गत बृहस्पतिके निमित्त कुम्भेष्टकाओ के मध्य श्यामाक (सर्मे के चावल) की आहुति अर्पित करते हुए उच्चारणार्थ विनियुक्त है। यद्यपि इस श्रौतकर्म का दण्ड के साथ कोई सम्बन्ध नही है तथापि इस वाक्य का अर्थ इसके गृह्यविनियोग से संगत है क्योकि ब्रह्मतेज की प्राप्ति शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यो मे से है। तृतीय और चतुर्थ वाक्यो का विनियोग वा० स त ब्रा और का श्रौ मे सौत्रामणी याग के अन्तर्गत किया गया है।[1] त ब्रा के अनुसार तो इन वाक्यो द्वारा यजमान को विभिन्न ग्रहो की उपासना करनी चाहिए का श्रौ मे विधान है कि इनका उच्चारण करते हुए विभिन्न पदार्थों का विभिन्न ग्रहो के साथ मिश्रण किया जाना चाहिए। यहाँ भी श्रौत विनियोग गृह्य विनियोग का सूचक या पोषक नही है क्योकि दण्ड को ओज और बल का प्रतीक माना ही जाता है। पञ्चम वाक्य के शब्द पुष्टिरसि त स० (१।७।३।२) और आप श्रौ (१८।६।२) मे उपलब्ध होते है। अवशिष्ट वाक्य का सम रूप म स (४।२।७) में प्राप्त होता है। मा श्रौ (१।२।६।४) मे दर्श पौर्णमास याग के अन्तर्गत इससे मिलते जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग प्रस्तर (यज्ञासन) ग्रहण करने के लिए किया गया है —

पुष्टिरसि पोषाय त्वा। रयिमन्तं त्वा पुष्टिमन्तं गृह्णामि ॥ [५३७]

तुम पोषण हो धनयुक्त पोषणयुक्त तुम्हे पोषण के लिए ग्रहण करता हूँ ।

---

१ वा सं १९।९ त ब्रा २।६।१।४ ५ का० श्रौ १९।२।२ २९।

गया क्योंकि आप०गृ० में इसका विनियोग हस्तग्रहणके स्थान पर उपनयन के लिए ही किया गया है। आ०गृ० और वा०गृ० में उपनयामि के स्थान पर हस्त गृह्णामि पाठ है। भा०गृ० में भी मन्त्र का पाठ इन गृह्यसूत्रों के समान है, किन्तु हस्ताभ्याम् के आगे हस्तेन ते जोडा गया है।

जिस प्रकार विवाह और उपनयन में एकसे कर्मों में बहुत से मन्त्र समान हैं, उसी प्रकार यह आशा होनी स्वाभाविक है कि यह मन्त्र भी विवाह में उस कर्म के लिए विनियुक्त हुआ होगा। परन्तु केवल एक मा०गृ० (१।१०।१५) में विवाह के अन्तर्गत इसका विनियोग किया गया है। दोनों संस्कारों में इस मन्त्र का समान प्रयोग न होने का कारण सम्भवतया यह है कि इसका देवता सविता है, और सावित्री ऋचा का अनुवाचन उपनयन संस्कार का प्रमुख अंग होने के कारण सविता देवता का प्रमुख सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी संस्कारों से ही है। उपनयन में इस मन्त्र के उपर्युक्त प्रयोग के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में इसका प्रयोग अन्य संस्कारों में भी किया गया है। आ०गृ०, बौ०गृ०, पा०गृ० और कौशिक० में विधान है कि मधुपर्क कर्म में गृहस्थ से मधुपर्क ग्रहण करते हुए अतिथि को इसका उच्चारण करना चाहिये।[1] इस स्थिति में मन्त्र के अन्तिम शब्द के स्थान पर प्रतिगृह्णामि पाठ है। आप०गृ० (५।१२।११) के अनुसार समावर्तन के अन्तर्गत आचार्य से दण्ड ग्रहण करते हुए स्नातक को भी इसका उच्चारण करना चाहिये। इस कर्म की सगति के अनुसार म०पा० (२।६।५) में हस्ताभ्याम् के पश्चात् निम्नलिखित जोडा गया है —

आददे द्विषतो वधायेन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नश्शर्म मे भव यत् पाप तन्निवारय ॥
(शत्रुओंके वधके लिये मैं ग्रहण करता हूं। तुम इन्द्रके वज्र हो, इन्द्रसम्बन्धी तुम मेरे लिये शरण बन जाओ, जो पाप है उसे दूर रखो ॥)

वैं० गृ० (५।५) में इसका इससे भी भिन्न प्रयोग प्राप्त होता है। तदनुसार अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत अध्वर्यु को दक्षिणा देते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। कौशिक० (१३७।१८) में विधान है कि आज्यतन्त्र अर्थात् अन्वाधान के अन्तर्गत यजमान को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुरेदने का एक यन्त्र 'लेखन' ग्रहण करना चाहिये। उपरिलिखित विविध प्रयोगों में सर्वसामान्य बात यह है कि सभी स्थानों पर किसी न किसी पदार्थ को ग्रहण करने की क्रिया से मन्त्र का सम्बन्ध है। और इसी क्रिया-समानता के आधार पर विविध कर्मों में इस मन्त्र का प्रयोग हुआ होगा।

यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य के सर्वाधिक लोक-प्रिय मन्त्रों में से एक

---

१ आ०गृ०१।२४।१४,१५,बौ०गृ०१।२।३५,पा०गृ०१।३।१६-१७,कौशिक०६१।३।

मा तिष्ठेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरो भव ।
अभि तिष्ठ पृतन्यतस्सहस्व पृतनायत ॥ [५३६]

इस शिला पर खडे हो जाओ तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। शत्रुओं का प्रतिरोध करो और अपकारियों को नष्ट करदो।

इस मन्त्र का विनियोग विवाह संस्कार मे भी अश्मारोहण के लिये ही किया गया है।[1] इस मन्त्र का स्रोत अथर्व० २।१३।४ प्रतीत होता है। जै गृ (२।८) मे इसी कर्म मे इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

इममश्मानमारोहाश्मेव त्व स्थिरो भव ।
द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वा द्विषतो वधीत् ॥[५४०]

इस शिला पर आरोहण करो तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। शत्रु को रोक दो तुम्हें शत्रु नष्ट न करे।

इस मन्त्र के मूल विनियोग के विषय मे निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता क्योंकि अथर्व मे भी मन्त्र मे कर्ता का स्पष्ट उल्लेख नही है। परन्तु सूक्त म इसके पूर्ववर्ती और परवर्ती मन्त्रो का कर्ता पुलिंग होने के कारण इसके साथ-साथ वे मन्त्र भी मूलरूप मे उपनयन के निमित्त रहे होगे। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि तात्कालिक शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास ही नही अपितु शारीरिक शक्ति का विकास करना भी था।

हस्तग्रहण

अधिकाश गृह्यसूत्रो मे उपनयन के समय आचार्य द्वारा शिष्य के हस्तग्रहण के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2]—

देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुपनयामि ॥[५४२]

दानादिगुणयुक्त आदित्य की अनुमति पर मैं अश्विनों की भुजाओं से और पूषा के हाथों से तुम्हारा उपनयन करता हूँ ॥ हृ मि०

उपरिलिखित पाठ शा गृ हि गृ आग्नि गृ और भ गृ मे दिया गया है। म पा मे केवल देवस्य त्वा सवितु प्रसव उपनय ऽ सौ अश उपलब्ध होता है। यहाँ उचित रूप से ही हस्ताभ्याम या बाहुभ्याम शब्द का प्रयोग नही किया

---

१ विस्तृत विवेचनार्थ दे अध्याय ३ म स १४६ १५२।

२ शा गृ २।२।१२ का गृ ४१२ ।४ बौ गृ २।५।२८ आप गृ ४।११ ।१२ (मं पा २।३।२४) हि गृ १।५।८ मा गृ १।७ आग्नि गृ १।१।३ वा गृ ५।१२ भ गृ २।६।

के ग्रहण के अवसर पर निम्नलिखित वाक्यसमूह के उच्चारण का विधान है[1]—

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ॥
पूषा ते हस्तमग्रभीदर्यमा ते हस्तमग्रभीत् ॥
मित्रस्त्वमसि धर्मणाग्निराचार्यस्तव ॥ [५४२-५४४]

भग ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया, सविता ने हस्तग्रहण किया। पूषा ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया, अर्यमा ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया। तुम मित्र हो,धर्मानुसार अग्नि तुम्हारा आचार्य है।

उपरिलिखित पाठ शा०गृ० से उद्धृत है। आ०गृ० मे इसमे से केवल सविता हस्तमग्रभीत् और अग्निराचार्यस्तव पृथक् रूप से दिये गये है। जै०गृ० मे भग के स्थान पर इन्द्र है तथा धाता भी जोड दिया गया है। आप गृ० मे शा०गृ० के देवताओ की सूची मे अग्नि, सोम, सरस्वती, अश और मित्र के नाम भी जोड दिये गये हैं। और इन सब नामो मे से हि०गृ० और वै०गृ० मे भग, अश और अयमा के नाम निकाल कर बृहस्पति, वरुण, त्वष्टा, धाता, विष्णु और प्रजापति के नाम जोड दिये गये है। इन सभी गृह्यसूत्रो मे तृतीय वाक्य यथावत् है। विशेषतया उपनयन के प्रसग मे म० पा० द्वारा सूची मे सरस्वती का नाम सम्मिलित किया जाना इस बात का द्योतक है कि म० पा० के समयमे सरस्वती का विद्या के साथ सुदृढ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था—वह केवल एक नदी नही रह गई थी। परन्तु कुल मिलाकर यह नही कहा जा सकता कि देवनामो के चयन मे किसी विशेष बातकी ओर ध्यान दिया गया होगा। हाँ इन देव-नामो मे बारह आदित्यो के नामो का आधिक्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है। आदित्य नामोके आधिक्य का कारण सम्भवतया उपनयन का सावित्री ऋचा के साथ अनिवाय सम्बन्ध है। सविता भी एक आदित्य है और बुद्धि-प्रेरणा के लिये इसकी प्रार्थना की गई है। और विभिन्न गृह्यसूत्रो मे दिये गये देव-नामो को यदि एक साथ मिलाकर देखा जाये तो बारहो आदित्यो के नाम आ जाते हैं।

इन वाक्यो का स्रोत सम्भवतया अथर्व० (१४।१।५१) का यह मन्त्र है —

भगस्तेहस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ [५४५]

भग ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया है, सविता ने हस्तग्रहण किया है। तुम पत्नी हो, धर्मानुसार मैं तुम्हारा गृहपति हूँ ॥

१ आ० गृ० १।२०।५, शा० गृ० २।३।१, जै० गृ० १।१६, आप० गृ० ४।१०।१२ (म० पा० २।३।३-१२), हि० गृ० १।५।९-१०, वै० गृ० २।६।

रहा होगा क्योंकि अधिकांश ग्रन्थों में कम से कम दस बार यह आया है।[1] परन्तु गुह्य विनियोग के दृष्टिकोण से केवल वे ही स्थल महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ इसका सम्बन्ध कोई पदार्थ ग्रहण करने अथवा स्वीकार करने की क्रिया से है। सर्वप्रथम दर्श पौर्णमास के अन्तर्गत सवो-निर्माण प्रसङ्ग में इस मन्त्र का विनियोग भूमि खोदने के लिये फावड़ा हाथ में लेने की क्रिया में किया गया है। उसी याग में पुन यह विधान है कि यजमान को प्राशित्र (यज्ञान्न) स्वीकार करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये।[2] उखासम्भरण कर्म में भी यजमान द्वारा उखा (एक पात्र) के लिये मिट्टी खोदने के निमित्त अपने हाथ में फावड़ा ग्रहण करते हुए इसके उच्चारण का विधान है। एक अन्य स्थान पर सोमाभिषवकर्म के अन्तर्गत सोम पीसने के लिये उपांशुसवन पाषाण ग्रहण करते हुए इसका उच्चारण किया जाता है।[4] अश्वमेधयज्ञ में भी अश्व को बाँधने के लिये रस्सा लेते हुए इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है।[5] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन श्रौत विनियोगों के आधार पर ही मन्त्र के गुह्य विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। यह मन्त्र अथर्व (१९।५१।२) में भी उपलब्ध होता है। वहाँ हस्ताभ्याम् के आगे प्रसूत आरभे पाठ है।

कुछ गृह्यसूत्रों में आचार्य द्वारा अपने दक्षिण हाथ में शिष्य के दक्षिण हाथ

---

१ द व कान्कॉर्डेंस पृ०४९३ ४९४।

२ तै० स १।३।१।१ २।६।४।१ वा स १।२४ का सं० २।१२, २५।४ कपि स २।६ म सं १।२।११ श० ब्रा १।२।४।४ त ब्रा ३।२।९।१ का श्रौ० २।६।१२ बौ श्रौ० ६।२६ आप श्रौ० ११।९ मा० श्रौ० २।२।३।११।

३ श०ब्रा २।११ मा सं का २।३।४ त स २।६।८।६ श ब्रा० १।७।४।११ का श्रौ २।२।१६।

४ वा सं १।१९ त स ४।१।१।३ ३।१।१।४ का स १६।१ म स० २।७।१ आप श्रौ १६।१।७ बौ श्रौ १ ।१ मा श्रौ ६।१।१।२३ का श्रौ १६।२।८।

५ वा स ६।३ त स० ६।४।४।१ म स ४।५।४ श ब्रा ३।९।४।३ आप श्रौ १२।९।२ मा श्रौ २।३।३।१ का० श्रौ ९।४।५।

६ वा स २२।१ त स ७।१।११।१ का स अ १।२ त ब्रा ३।८।३।२ आप श्रौ २ ।२।३, बौ श्रौ १५।५ का श्रौ० २ ।१।२७।

का उच्चारण करते हुए सूर्यदर्शन करना चाहिये[1]—

तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत शृणुयाम शरद शत प्रब्रवाम शरद शतमदीना स्याम शरद शत भूयश्च शरद शतात् ॥ [५४७]

देवताओ द्वारा प्रेषित वह द्युतिशील नेत्र (सूर्य) पूर्व दिशा मे उदय हो रहा है। हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवित रहे, सौ वर्ष तक सुने, सौ वर्ष तक वोलें, सौ वर्ष तक दैन्यरहित रहें और इससे भी अधिक सौ वर्ष तक हम पुन जीवित रहें।

पा० गृ०, का० गृ० और मा० गृ० मे मन्त्र का उपरिलिखित पाठ दिया गया है। मै० स० (४।६।२०) मे केवल प्रब्रवाम शरद शतम् तक ही मन्त्र है। मन्त्र का प्राचीन रूप ऋ० ७।६६।१६ मे है जहां प्रथम पक्ति मे पुरस्तात् नही है और द्वितीय पक्ति केवल जीवेम शरद शतम् तक है। वस्तुत ऋग्वेद का मन्त्र पद्यमय है—इसका छन्द पुर-उष्णिक् है—तदनुसार पूर्वार्ध मे बारह अक्षर और शेष दोनो पादो मे से प्रत्येक मे आठ अक्षर है। परन्तु वा० स० और मै० स० मे छन्दोभङ्ग हो गया है और सम्पूर्ण मन्त्र गद्यमय हो गया है। कौ० गृ० (२।३।१३) मे पाठ ऋग्वेदानुसार है। इससे प्रतीत होता है कि प्राय गृह्यसूत्र मन्त्रो के पाठ मे अपनी सहिता की परम्परा का अनुसरण करते हैं। मन्त्र के पाठ के सम्बन्ध में आप० गृ०, हि०गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० की अपनी विशेष परम्परा है। तदनुसार वा० स० के अनुसार जीवेम शरद शतम् तक पाठ के पश्चात् निम्नलिखित पाठ है —

नन्दाम शरद शत भवाम शरद शत शृणवाम शरद शत प्रब्रवाम शरद शतमजीता स्याम शरद शतं ज्योक् च सूर्य दृशे ॥ [५४८]

हम सौ वर्ष तक प्रसन्न रहें, सौ वर्ष तक हो, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक वोलें, सौ वर्ष तक अविजित रहे और चिरकाल तक सूर्य के दर्शन के लिये (जीवित रहे)।

यहा द्वितीय पक्ति का अजीता शब्द अजिता का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। ज्योक् च सूर्य दृशे सम्भवतया सूर्यदर्शन के साथ विशेष सम्बन्ध प्रदर्शित करने को रखा गया है। इस मन्त्र का विनियोग अन्य प्रसङ्गो मे भी हुआ है। पा० गृ० (१।८।७) और का० गृ० (२५।४३) मे विवाह के अन्तर्गत भी वर द्वारा वधू को सूर्यदर्शन

१ पा०गृ०२।४।१५, का०गृ०४१।१४, मा०गृ०१।२२।११, आप०गृ०४।११।१८ (म०पा०२।५।१२), हि०गृ०१।७।१०, भा०गृ०१।६, आग्नि०गृ०१।१।४।दे० मन्त्र स०४७५ से पूर्व।

विवाहसूक्त के मध्य आने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप मे यह मन्त्र विवाह के अन्तर्गत वर द्वारा वधू को सम्बोधित करने के लिए था। कौशिक० (७६।१) द्वारा इसकी पुष्टि भी होती है क्योंकि तदनुसार आचार्य द्वारा इसका उच्चारण विवाह मे वधू का दक्षिण हाथ पकड कर यज्ञशाला से बाहर ले जाते हुए किया जाना चाहिये।[1]

बौ गृ (२।५।२६) और आप गृ ४।११।१६ (म पा २।५।२२) मे विधान है कि यदि आचार्य यह चाहे कि उसका शिष्य उससे विमुख न हो तो उसे शिष्य का हाथ अपने हाथ मे लेकर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

यस्मिन् भूत च भव्य च सर्वे लोका समाहिता ।
तेन गृह्णामि त्वामह मह्य गृह्णामि त्वामह
प्रजापतिना त्वा मया गृह्णाम्यसौ ॥ [५४६]

जिसमे भूत भविष्य और सभी लोक समाहित है उस प्रजापति के द्वारा मैं तुम्हे ग्रहण करता हूँ मैं तुम्हें अपने लिये ग्रहण करता हूँ मैं तुम्हे अपने द्वारा अर्थात् स्वय ग्रहण करता हू ।

हि गृ (१।१३।१६) और भा गृ (२।२७) मे इसे मधुपर्क के अन्त मे गृहपति द्वारा उस स्थिति मे उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है जब वह चाहे कि कोई भी मुझसे विमुख न हो। उक्त दोनो स्थलो पर इस मन्त्र के विनियोग का समान आधार विमुख न होने की अभिलाषा है। प्रथम पक्ति मे हि गृ मे समाहिता के स्थान पर इह श्रिता पाठ है। द्वितीय पक्ति का पाठ तेन त्वाह प्रतिगृह्णामि त्वामह ब्रह्मणा त्वा मह्य प्रतिगृह्णाम्यसौ है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं होता।

सूर्यवेक्षण सूर्यदर्शन

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो के अनुसार शिष्य को निम्नलिखित मन्त्र (वा स ३६।२४)

---

१ पद्धतियो में यह व्याख्या की गई है —आचार्य कुमारी दक्षिण हस्ते गृहीत्वा कौतुकगृहाद् बहि निष्कामयति। परन्तु द्वितीय पक्ति का वर को छोडकर किसी अन्य द्वारा उच्चारित किया जाना अनुचित प्रतीत होता है। यहा सूत्र मगस्त्वेत इति हस्ते गृहीत्वा निर्णयति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। सूत्रस्थ प्रतीक का सकेत अथर्व०१४।११२० की ओर है। अथर्व प ने इसे स्वीकार किया है और यह पूर्णत प्रसगानुकूल है। (दे कौशिक सम्पादित ब्लूमफील्ड पृ २ ३ पा टि ६ ११)

अपने हाथ से शिष्य के नाभि से ऊपर के शरीर का स्पर्श करना चाहिए। शरीर के इस भाग मे हृदय भी आ जाता है। मा० गृ० (१।२२।१०) मे हृदय-देश के स्पर्श के लिए इसका विशिष्ट विनियोग नही किया गया। तदनुसार शिष्य के मेखला-बन्धनके पश्चात् इसका केवल उच्चारण किया जाना चाहिये। हि०गृ० (१।५।११), आग्नि०गृ० (१।१।३) और वै० गृ० (२।६) मे मन्त्र का उत्तरार्ध तो उपरिलिखित मन्त्र के उत्तरार्ध के ठीक समान है, परन्तु पूर्वार्ध का पाठ मम हृदये हृदय ते अस्तु मम चित्त चित्तेनान्वेहि है।

इस मन्त्र का विनियोग विवाह के अन्तर्गत भी किया गया है। इसके स्रोतो का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय मे हुआ है (दे० म०स० १६०)। दोनो स्थलो पर मन्त्र के पाठ मे विशेष अन्तर है। जहाँ उपनयन मे बृहस्पति से प्रार्थना की गई है, वहाँ विवाह में प्रजापति से प्रार्थना की गई है। परन्तु सम्भवतया प्रमादवश म० ब्रा० (१।२।२१) में विवाह में भी बृहस्पति को ही रखा गया है।

इन गृह्यसूत्रो (हि०गृ०, आग्नि०गृ०, वै०गृ०) मे इसी प्रसग मे एक अन्य मन्त्र के उच्चारण का विधान भी है —

मामेवानुसरभस्व मयि चित्तानि सन्तु ते।
मयि सामीच्यमस्तु ते मह्य वाच नियच्छतात्॥ [५५०]

मेरे प्रति ही आसक्त रहो, तुम्हारे विचार मुझमे केन्द्रित हो। मेरे प्रति तुम्हारा सम्मान हो, मेरे लिए तुम अपनी वाणी नियन्त्रित करो॥

उपरिलिखि पाठ हि०गृ० मे से उद्धृत है। आग्नि०गृ०में सरभस्व के स्थान पर सगृहस्व और वै०गृ०में सामीच्यम् के स्थान पर सामीप्यम् तथा नियच्छतात् के स्थान पर नियच्छताम् पाठ है। हृदयालम्भन से सम्बद्ध प्रस्तुत दोनो मन्त्रो में वस्तुत गुरु-शिष्य सम्बन्ध के ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये गये है। यदि शिष्य हृदय से गुरु से सयुक्त हो, तभी उनमें परस्पर सामजस्य उत्पन्न होता है। और आदर्श शिक्षा के लिये यह अनिवार्य है।

नाभिस्पर्श

हि०गृ०, वा०गृ० और आग्नि०गृ०में आचार्य द्वारा शिष्य के नाभिस्पर्श के लिये निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है[1] —

प्राणाना ग्रन्थिरसि स मा विस्रस॥ [दे०१६१]
तुम प्राणो की ग्रन्थि हो, तुम शिथिल न होना।

---

१ हि०गृ०१।५।१२, आग्नि०गृ० १।१।३, वा०गृ०५।२१,(प्राणानाम्)के स्थान पर प्रह्वाण ,स पर वाक्य समाप्त।

कराने के समय इसके उच्चारण का विधान है। बौ० गृ० (२।४।११) में विधान है कि चूडाकरण के अन्तर्गत बालक को सूर्यदर्शन कराने के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। भा० गृ० (३।८।७) में इसे आग्रयण के अन्त में सूर्योपासना के निमित्त उद्धृत किया गया है। इस गृह्यसूत्र में एक अन्य स्थल (१।६।१) पर शान्तिप्रकरण के अन्तर्गत उसी क्रिया के लिये इसे दिया गया है। इन सभी स्थलों पर मन्त्र का सम्बन्ध अपने अधिष्ठातृ-देव सूर्य से अवश्य विद्यमान है। श्रौतयज्ञों में पहले ही सूर्योपासना के समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता था।[1]

गो० गृ० (३।८।५) और खा० गृ० (३।३।५) में विधान है कि पृषातक कर्म में ब्राह्मणों तथा पुरोहित द्वारा इस मन्त्र के उच्चारण किये जाने के समय गृहस्थ को पृषातकों का अवलोकन करना चाहिये। मन्त्र ब्राह्मण में यह मन्त्र उद्धृत नहीं किया गया। का० गृ० (२४।११) के अनुसार अर्घ्य (मधुपर्क) कर्म के अन्तर्गत अतिथि को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए मधुपर्क का अवलोकन करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों विनियोगों का आधार मन्त्र के चक्षु तथा पश्येम (हम देखें) शब्द रहे होंगे। का० गृ० में मन्त्र की प्रतीकेन उद्धृति की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये क्योंकि वह का० सं० में उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार की प्रतीकेन उद्धृतियों के आधार पर कलैंड को यह कल्पना करनी पड़ी कि अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही इस गृह्यसूत्र का भी सम्भवतया गृह्यकर्मों से सम्बद्ध मन्त्राध्याय नामक मन्त्रों का संग्रह रहा होगा।[2]

हृदयालम्भन अर्थात् शिष्य के हृदय-देश का स्पर्श

कुछेक गृह्यसूत्रों में आचार्य द्वारा शिष्य के हृदय-देश के स्पर्श के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[3] —

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ [५४६]

अपने नियम में तुम्हारा हृदय स्थापित करता हूँ, तुम्हारा मन मेरे मन का अनुगामी हो। एकाग्र मन वाले तुम मेरे वचन का पालन करो बृहस्पति तुम्हें मेरे लिये नियुक्त कर दे॥

का० गृ० (४१।६) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचार्य को

---

१ तु० आ० ४।४२।५ शा० श्रौ० ३।१७।६, ४।१२।१, १५।४।
२ का० गृ० भूमिका पृष्ठ ६।
३ आ० गृ० १।२१।७ (एकमना के स्थान पर एकव्रत) शां०गृ० २।४।१ पा० गृ० २।२।१६ कौ० गृ० ११।११५।

करना है। कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन देवताओं की सूची के विषय में परस्पर पर्याप्त समानता है।[1] म०पा० में निम्नलिखित सूची दी गई है—

अग्नये त्वा परिददाम्यसौ ॥ सोमाय त्वा ॥ सवित्रे त्वा ॥ सरस्वत्यै त्वा ॥ मृत्यवे त्वा ॥ यमाय त्वा ॥ गदाय त्वा ॥ अन्तकाय त्वा ॥ अद्भ्यस्त्वा ॥ ओषधीभ्यस्त्वा ॥ पृथिव्यै त्वा सवैश्वानरायै परिददाम्यसौ ॥ [५५२-५६२]

अमुक नाम का मैं तुम्हे अग्नि को सौपता हूँ ॥ सोम को ॥ सविता को ॥ सरस्वती को ॥ मृत्यु को ॥ यम को ॥ गद को ॥ अन्तक को ॥ जल को ॥ ओषधियो को ॥ अमुक नाम का मैं तुम्हे वैश्वानर सहित पृथिवी को सौपता हूँ ॥

हि०गृ० और आग्नि०गृ० मे प्रथम पाँच देवता नही है और सूची का आरम्भ निम्नलिखित से होता है—

कशकाय त्वा ॥ [५६३]

इसके अतिरिक्त अघोर, मख, वशिनी, वनस्पतय, सर्वभूतानि, विश्वे देवा, विश्वा देव्य को भी सूची मे सम्मिलित किया गया है। वै०गृ० मे सर्वभूतानि का अभाव है और वनस्पतय के पश्चात् द्यावापृथिव्यो, सुभूत और ब्रह्मवर्चस जोडा गया है—अन्यथा यह सूची हि०गृ० वाली सूची के समान है। एक भेद और है कि इसका आरम्भ कशकाय के स्थान पर शकाय से होता है। यह कहना कठिन है कि यहाँ शक से क्या अभिप्राय है। यद्यपि लौकिक संस्कृत मे यह एक जाति तथा देश का नाम है, किन्तु वेद मे यह अर्थ नही रहा होगा। प्राय ऋग्वेद मे इसका अर्थ गोमय (गाय का गोबर) किया जाता है। यजुर्वेद के शक से भी इसकी तुलना की जा सकती है। वहाँ अश्वमेध यज्ञ में यह मेध्य-पशु के नाम के रूप में आता है।[2] जहाँ तक कशक का सम्बन्ध है, ओल्डनबर्ग ने इसकी तुलना कृशन (म०ब्रा० १।६।२२) और कशन (अथर्व० ४।१०।७) से की है।[3] यह कश नामक विशेष पशु का कुत्सितार्थ रूप भी हो सकता है।[4]

---

१ आप०गृ०४।१०।१२ (म०पा०२।३।१३-२३), हि०गृ०१।६।५, अग्नि०गृ०१।१।३, वै०गृ०२।६।

२ वै०इ०ख०२, पृ०३४६ दे० शकपूत और शक।

३ से०बु०ई०ख०३०, हि०गृ०१।६।५ पर पा०टि०।

४ वै०इ०ख०१, पृ०१४४।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों मे भी इसी प्रसग मे यह वाक्य उद्धृत किया गया ह परन्तु स का अभाव ह और अन्तक इव ते परिददाम्यमुम् जोडा गया है।[1] किन्तु ज गृ० मे अमृत मृत्योरन्तर कुरु जोडा गया ह । इस वाक्य का विनियोग विभिन्न गृह्यसूत्रो मे विभिन्न कर्मों क अन्तर्गत किया गया है। अधिकाशत पाठ हि गृ क समान है। बौ गृ २।५।१५ और भा०गृ १।६ मे विधान ह कि शिष्य क मेखला बधन क पश्चात् आचार्य को मेखला की गाँठ बाँधते हुए इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर ग्रन्थि (गाँठ) श द पर अधिक बल दिया गया ह। का गृ (४१।१३) मे इसी (गाँठ बाँधने की) क्रिया क लिये उपरि लिखित वाक्य से आशिक समानता वाले निम्नलिखित वाक्य क उच्चारण का विधान है —

चित्तस्य समो ऽसि बध्यो ग्रन्थिरसि मा विस्र स ॥ [५५१]

तुम मेरे सम विचार हो दिव्य ग्रन्थि हो शिथिल न होना।

मा०गृ (१।२२।६) वा गृ (५।२१) और व गृ (२।६) मे इस मन्त्र का विनियोग शिष्य क हृदयालम्भन के लिए किया गया है। प्रथम दो गृह्यो मे विस्रस के स्थान पर विस्रसत् पाठ है। मा गृ मे प्राणानाम् के स्थान पर ब्रह्मण पाठ है और स तथा मा क मध्य ते है। एक अन्य स्थान पर प्राणानाम् पाठ सहित इस गृह्यसूत्र मे इस वाक्य का विनियोग श्वास-स्थान अर्थात् नासिका क स्पर्श के लिए किया गया है। केवल हि गृ (१।२१।४) मे इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत वधू के नाभिस्पर्श के लिए किया गया है। शा गृ (३।८।५) के अनुसार आग्रयण कर्म मे गृहस्थ को यव के नव अन्न का प्राशन करने के पश्चात् इस वाक्य का उच्चारण करते हुए अपना नाभिस्पर्श करना चाहिये। इस गृह्यसूत्र मे भी स का अभाव है और वाक्य से पूर्व नाभिरसि मा विभीथा॰ जोडा गया है।

यद्यपि विभिन्न गृह्य विनियोगो मे इस वाक्य का अधिकतम सम्बन्ध नाभि से है, तथापि प्राचीनतम स्थल त आ (१।३७।१) में भोजनोपरान्त हृदयालम्भन के लिए इसके उच्चारण का विधान है। शा गृ का विनियोग इसके बहुत निकट है। इस वाक्य का प्रमुख उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना है। परन्तु कुछ स्थलो पर सम्भवतया शिक्षा के साथ इसका विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्राणानाम् के स्थान पर ब्रह्मण (वेद की) पाठ रखा गया है। यह ध्यान देने की बात ह कि नाभि सारे शरीर का केन्द्र बिन्दु ह। कहा जाता ह कि यदि नाभि अपने स्थान से हिल जाये तो उदर विकार हो जाते हैं।

देवताओं को शिष्य-समर्पण

विभिन्न देवताओ को सम्बोधित करता हुआ आचार्य उन्हे शिष्य को समर्पित

१ गो गृ०२।१।२४ (म बा १।६।२) खा०गृ २।४।१४ जै गृ १२।१३।

प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। बृहस्पतये त्वा ॥ [५८५-५८६]

तुम्हें प्रजापति को सौपता हूँ। तुम्हे सविता देव को ॥ बृहस्पति को ॥

प्रथम दो वाक्य गो०गृ०, खा०गृ० और पा०गृ० मे भी विद्यमान हैं।[1] पा०गृ० मे उनमे निम्नलिखित जोडे गये हैं —

अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामि ॥ द्यावापृथिवीभ्या त्वा ॥ विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ॥ (दे०५६५) सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्यै ॥ [५८७-५८९, ३ रा छोडकर]

तुम्हे जल और ओपधियो को सौपता हूँ॥ द्यावापृथिवी को ॥ वश्वेदेवो को ॥ मैं तुम्हें नीरोगता के लिये सभी प्राणियो का सापता हू ॥

पा०गृ० की इस सूची का स्रोत श०ब्रा०११।५।४।३-४ है। इस ब्राह्मण मे इस सूची का विनियोग भी वही है। जै०गृ०(११।१७) मे भी लगभग यही सूची दी गई है। इसमे प्रथम और चतुथ वाक्यो का अभाव है और मूची भा०गृ० के उपरिलिखित चतुथ और पचम वाक्यो से आरम्भ होती है। शा०गृ० (२।३।१ मे ऐसे ही वाक्यो को भिन्न रूप मे उद्धृत किया गया है —

असावह चोभावग्न एत ते ब्रह्मचारिण परिददामि। इन्द्रैत ते। आदित्यैत ते। विश्वेदेवा एत वो ब्रह्मचारिण परिददामि दीर्घायुत्वाय सुप्रजास्त्वाय, सुवीर्याय,रायस्पोषाय, सर्वेषा वेदानामाधिपत्याय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥ [५९०-५९३]

यह (शिष्य का पिता) और मै, दोनो, हे अग्नि, तुम्हें यह ब्रह्मचारी सौंपते हैं॥ हे इन्द्र, तुम्हें ॥ हे आदित्य, तुम्हें ॥ हे विश्वेदेवो, दीर्घायु के लिये, शुभसन्तति, शुभवीरता, धनके पोषण, सभी वेदो पर अधिकार, शुभख्याति तथा कल्याण के लिये तुम्हें यह ब्रह्मचारी सौंपता हूँ॥

कौशिक०(५६।१३) की सूची मे अन्य गृह्यसूत्रो के समान भूत, अग्नि, अघोर, तक्षक, वैशालेय, विश्वेदेवा और सर्वभूतानि देवताओ के नाम तो आये ही हैं, इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, उदङ्क्य, शुल्वाण, शत्रुञ्जय क्षात्राण, मार्त्युञ्जय मार्त्यव हाहाहूहू, गन्धर्वौ, योगक्षेमौ, भय और अभय नाम भी सम्मिलित किये गये हैं।[2]

---

१ गो०गृ०२।१०।२७,२८ (म०ब्रा०१।६।२३,२४), खा०गृ०२।४।१७,१८, पा०गृ० २।२।२१

२ दे० अथर्व०८।१०।२३।

बौ गृ २।५।२७ में देवताओं की निम्नलिखित सूची प्राप्त होती है —

देवेभ्यस्त्वा परिददामि ॥ विश्वेदेवेभ्यस्त्वा ॥ विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ॥ सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ॥ सर्वाभ्यस्त्वा देवताभ्य ॥ [५६४ ५६८]

तुम्हे देवों को सौंपता हूँ ॥ विश्वेदेवों को । विश्वे देवों को ॥ सभी देवो को ॥ सभी देवताओं को ॥

इस सूची की तुलना त स ३।२।१ ।१ से की जा सकती है जहाँ यद्यपि क्रिया का अभाव है, तथापि प्रसगानुसार सौंपने का भाव निहित है ।[1]

मा गृ (१।८) की सूची सर्वथा भिन्न है —

प्राणाय त्वाचार्याय परिददामि ॥ कुबेराय त्वा महाराजाय ॥ तक्षकाय त्वा वैशालेयाय ॥ अग्नये त्वा (दे०५५२) ॥ वायवे त्वा ॥ सूर्याय त्वा ॥ प्रजापतये त्वा ॥ प्रजापत इम गोपाथामुम् ॥ [५६९ ५७५]

तुम्हे प्राण आचार्य को सौंपता हूँ ॥ कुबेर महाराज को ॥ तक्षक वैशालेय को ॥ अग्नि को ॥ वायु को ॥ सूर्य को ॥ प्रजापति को ॥ हे प्रजापति अमुक नामवाले इस शिष्य की रक्षा कीजिये ।

वा गृ (७।१२) में इनमें से केवल चतुर्थ से सप्तम वाक्य लिए गये है परन्तु उनका विनियोग चतुर्होतृकी दीक्षा के अन्तर्गत देवताओ को शिष्यसमर्पणार्थ किया गया है । का गृ (१।२२।५) में केवल सविता सरस्वती और विश्वेदेवा म पा और हि०गृ के अनुरूप है । तदतिरिक्त वहाँ यथोनिर्दिष्ट सूची दी गई है

कस्य ब्रह्मचार्यसि ॥ प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि ॥ कस्त्वा कमुपनयते ॥ काय त्वा परिददामि ॥ कस्म त्वा ॥ तस्म त्वा ॥ भगाय त्वा ॥ अर्यम्णे त्वा ॥ इन्द्राग्नीभ्यां त्वा ॥ [५७६-५८४]

तुम किसके ब्रह्मचारी हो ॥ तुम प्राण के ब्रह्मचारी हो ॥ कौन तुम्हें किसके पास उपनयनार्थ ले जाता है ॥ तुम्हे सुखको सौंपता हूँ ॥ किसको ॥ उसे ॥ भगको ॥ अर्यमा को ॥इन्द्राग्नी को ॥

प्रथम चार वाक्य भा गृ (१।२ ।७) मे ज्यो के त्यो है । विनियोग भी वही है । का गृ (४१।१७) मे इस प्रसग मे निम्नलिखित तीन वाक्य उद्धृत किये गये हैं —

१ दे०मं स १।२।६ आप०श्रौ १२।२११४ २ ।५।६ भा श्रौ २।१।८।११।

इन सूचियों मे तक्षक, गद, अघोर, मस इत्यादि अद्भुत नामो से उस काल मे जादू-टोने के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कौशिक० की सूची में ऐसे नामो का बाहुल्य है।

समिदाधान

अधिकांश गृह्यसूत्रों में अग्नि मे समिधाएँ डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] —

> अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
> यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवं मामायुषा वर्चसा सन्या मेधया
> प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ [५६७]

महान् जातवेदा अग्नि के लिये मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्नि, जिस प्रकार तुम समिधा से प्रज्वलित होते हो, उसी प्रकार मुझे आयु, तेज, धन, मेधा, सन्तान, पशुओं, ब्रह्मतेज, अन्न खाने के सामर्थ्य से प्रदीप्त करो॥

मन्त्र का यह पाठ म०पा० में से उद्धृत है। मा०गृ० और वै०गृ० मे भी यही पाठ है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० मे भी इससे बहुत मिलता जुलता पाठ है। केवल आयुषा, वर्चसा, सन्या का अभाव है और उनके स्थान पर प्रज्ञया पाठ है। जै०गृ० मे माम् के स्थान पर अहम् है और तदनुसार समेधय के स्थान पर समेधिषीय पाठ है, इससे पूर्व धनेन का समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त सन्या से पूर्व तेजसा और प्रजया से पूर्व प्रज्ञया समाविष्ट है। जै०गृ० के समान म०ब्रा० में भी अहम् और समेधिषीय है, परन्तु अवशिष्ट मन्त्र मे यह म०पा० के अधिक निकट है—केवल सन्या छोड़ा गया है और ब्रह्मवर्चसेन के पश्चात् धनेन डाला गया है। पा०गृ० मे मन्त्र का विस्तार और भी अधिक है। ब्रह्मवर्चसेन तक तो पाठ म०ब्रा० के समान है। तत्पश्चात् निम्नलिखित दिया गया है —

> समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी
> तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासम् स्वाहा॥

मैं (अग्नि) प्रज्वलित करता हूँ। मेरा आचार्य जीवित पुत्रो वाला हो, मैं

---

१ आ०गृ० १।२१।१, शा०गृ० २।१०।४, आप०गृ० ४।११।२२ (म०पा० २।६।२), मा०गृ० १।८, हि०गृ० १।७।२, आ०गृ० १।१।४, वै०गृ० २।७, पा०गृ० २।४।३, गो०गृ० २।१०।४२, (म०ब्रा० १।६।३२), खा०गृ० २।४।२७, जै०गृ० ११।२१, का०गृ० २।१, वा०गृ० ५।३४, कौशिक० ५७।२६।

उपरिलिखित वाक्यो के अतिरिक्त का गृ० म इसी प्रसङ्ग म निम्नलिखित दो वाक्य भी दिये गये है। इनमे (ब्रह्मचारी को) सौपने का भाव स्पष्टतया अभिव्यक्त नही किया गया —

देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी त गोपायस्व दीर्घायु स मा मृत ॥[५६४] अग्निपुत्रष ते। वायुपुत्रष ते। सूयपुत्रष ते। ब्रह्मपुत्रष ते ब्रह्मचारी त गोपायस्व दीर्घायु स मा मृत॥ [५६५]

हे सविता देव, यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है इसको रक्षा करो। वह दीर्घायु हो मरे नही॥ हे अग्निपुत्र यह तम्हारा (ब्रह्मचारी है) हे वायु पुत्र ॥ हे सूयपुत्र ॥हे ब्रह्मपुत्र यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है इसकोरक्षा करो वह दीर्घायु हो मरे नही ॥

मा गृ म केवल प्रथम वाक्य है और उसम दीर्घायु नही है। तत्पश्चात् गोपायस्व स मा मृत के स्थान पर गोपाय समावृतत् पाठ है। अन्य गृह्यसूत्रो के पाठो से तुलना करने पर पता चलता है कि समावृतत् स मा मृत का भ्रष्ट रूप है। किन्तु ड्रेस्डन का सुझाव है कि वृतत् अट रहित लुङ का रूप होना चाहिये। स और मा को पृथक-पृथक लेकर वह इसका अनुवाद वह मृत्यु को प्राप्त हो मरता ह। भा गृ (१।२ ।६) म स मा मृत पाठ सहित मा गृ के समान पाठ ह। यहाँ इसका विनियोग आचाय द्वारा शिष्य को सूयदशन कराने के प्रसग म किया गया ह। मं पा (२।३।२१) म इस वाक्य का आरम्भ अग्नी से होता ह सवित नही ह ते और ब्रह्मचारी के मध्य देव सूय शब्द है और ब्रह्मचारी के पश्चात् मा गृ के समान पाठ ह। म पा मे द्वितीय वाक्य का भी निम्नलिखित अश विद्यमान है —

एष ते सूय पुत्र स दीर्घायु स मा मृत ॥ [५६६]

हे सूय यह तुम्हारा पुत्र है वह दीर्घायु हो वह मरे नही।

का०गृ का सूर्य पुत्रस्ते इत्यादि पाठ इसी का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। आप गृ (४।११।३) मे विधान ह कि शिष्य से औपचारिक साक्षात्कार के पश्चात् आचार्य को इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। गृह्यसूत्रो मे इस प्रसग मे दी गई विविध देव भूतादि-सूचियो से यह स्पष्ट ह कि शिष्य को उन्हे सौपने का अभिप्राय यह था कि अध्ययन काल मे वह किसी प्रकार क मानुष अतिमानुष अथवा दवी प्रकोप से सुरक्षित रहे। यहाँ तक कि यम और मृत्यु को भी उसे सौपा गया ह क्योकि यम ही मृत्यु से रक्षा कर सकता है। म पा मे तो ब्रह्मचारी को सूय का पुत्र ही कहा गया है। पुत्ररूप मे की गई रक्षा से बढकर और कोई रक्षा नही हो सकती।

१ मा गृ अनु पृ ६६ पा टि ८।

विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न कर्मों के अन्तर्गत पाठान्तर सहित इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। अधिकांश स्थलों पर इसका सम्बन्ध शिशुसम्बन्धी कर्मों से है। हि० गृ० १।३।५ और आग्नि० गृ० १।१।२ में विधान है कि अग्न्याधान के अवसर पर एक आहुति इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्पित करनी चाहिए। वा० गृ० ३।१२ के अनुसार अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को अन्न खिलाने के समय इसका उच्चारण करना चाहिये। एक अन्य स्थल (४।५) पर चूडाकर्म के अन्तर्गत आहुति के लिये भी इसका विधान है। इन दोनों स्थलों पर गृणान के स्थान पर वृणान पाठान्तर है। यह पाठ संहिताओं द्वारा प्रपुष्ट है।[1] सम्भवतया ओल्डनबर्ग ने इसी आधार पर इस पाठ का अधिमान किया है।[2] का० गृ० ३९।२ के अनुसार अन्नप्राशन में शिशु को अन्न खिलाने से पूर्व आहुति के साथ इसका उच्चारण करना चाहिए। उपर्युक्त पाठान्तर के अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र में अपनी संहिता (का० सं०) के अनुसार घृतप्रतीक के स्थान पर घृत वसान पाठान्तर भी है। हि० गृ० १।६।२ और वै० गृ० २।६ में विधान है कि उपनयन में आचार्य को शिष्य के वामकर्ण में इस मन्त्र का जाप करना चाहिए। इन गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पाठ तै० सं० १।३।१४।४ तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के समान है।[3] तदनुसार देव के स्थान पर अग्ने, जरसं गृणान के स्थान पर हविषे जुषाण, पिबन्नमृतम् के स्थान पर पीत्वा मधु और जरसे नयेमम् के स्थान पर अभिरक्षतादिमम् पाठान्तर हैं। बौ०गृ०३।७।१२ में जातकर्म संस्कार में आयुष्यकर्म के निमित्त केवल आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाण अंश उद्धृत किया गया है। शा० गृ० १।२५।७ में नामकरण के अन्तर्गत एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का निर्देश है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋग्वेद से सम्बद्ध होने पर भी इस गृह्य में औचित्य और सौष्ठव की दृष्टि से इस यजुर्वेदीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ औचित्य को ध्यान में रखकर गृह्यसूत्रों द्वारा अपनी शाखा का आग्रह त्याग दिया गया है। इस गृह्यसूत्र में भी तै० सं० के पाठ का ही अनुसरण किया गया है—केवल हविषो जुषाण के स्थान पर हविषा वृधान और अभि के स्थान पर इह पाठान्तर हैं। मन्त्र के पूर्व इसमें निम्नलिखित भी दिया गया है —

आयुष्टे अद्य गीर्भिरयमग्निर्वरेण्य आयुर्नो देहि जीवसे ॥ [६००]

१ मै० सं० ४।१२।४, का० सं० ११।१३।

२ से० बु० ई० खं० ३०, पृ० १४४, सूत्र ५ पर पा० टि०।

३ वा० सं० ३५।१७, तै० सं० ३।३।८।१, श० ब्रा० १३।८।४।६, का० श्रौ० २१।४।२६, तै०आ०२।५।१,७।१, आप०श्रौ० १३।१६।१०,१४।१७।१, मा०श्रौ० २।५।४।२०।

मेधावी हो जाऊं तथा विरोध न करने वाला यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मतेज से युक्त अन्न खाने की सामर्थ्य वाला हो जाऊँ ॥

इस प्रकार इन गृह्यसूत्र मे सुविस्तृत प्रार्थना की गई है। मा गृ पा गृ० का गृ और का गृ मे अथर्व १६।६४।१ में मुख्य मन्त्र का अनिलघु रूप दिया गया है। प्रथम तीन गृह्यसूत्रो म मन्त्र का पूर्वार्ध म पा के समान ही है। अथर्व मे भी यह अंश बहुत भिन्न नही है। का गृ म मन्त्र का प्रारम्भ इदमहम से होता है और उसके पश्चात् अथर्व के अग्ने (म पा अग्नये) के स्थान पर अग्नौ पाठ है। पा गृ और पा गृ म अथर्व० मे समान उत्तरार्ध है स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदा प्रयच्छतु (वह जातवेदा मुझे श्रद्धा और मेधा प्रदान करे)।

का गृ म जातवेदा से पूर्व दीर्घ आयु का समावेश किया गया है। मा गृ मे मन्त्र का उत्तरार्ध तथा त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा है। (हे अग्नि तुम उस समिधा से वृद्धि प्राप्त करो और हम वेद से वृद्धि प्राप्त करें।) कौशिक में अथर्व मन्त्र का उद्धरण प्रतीक द्वारा इस प्रकार किया गया है —

अग्ने समिधम् इत्यादि ॥ [५९८]

निस्सन्देह अथर्व० मन्त्र के उत्तरार्ध की प्रार्थना (दे ऊपर) एक शिक्षार्थी के लिये आदर्श प्रार्थना है। सभी प्रकार की शारीरिक और भौतिक समृद्धि के अतिरिक्त उसके लिये श्रद्धा और मेधा परम आवश्यक है। श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रद्धा से गुरु-शिष्य सम्बन्ध मे एक अटूट सौहार्द उत्पन्न होता है। उसके सयोग से ही मेधा ज्ञान सामग्री को ग्रहण करने मे समर्थ होती है। समिदाधान ज्ञान की ज्योति जलाने का प्रतीक प्रतीत होता है।

बौ गृ मा गृ और का गृ मे अग्नि मे पलाश की समिधा डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है[1] —

आयुर्दा देव जरस गृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृत पिबन्नमृत चारु गव्य पितेव पुत्र जरसे नयेम स्वाहा ॥ [५९९]

हे अग्नि देव, आप आयु देने वाले वृद्धावस्था की स्तुति करने वाले घृतरूपी मुख वाले तथा घृतरूपी पृष्ठ वाले है। जिस प्रकार पिता (पोषण करके) अपने पुत्र को वृद्धावस्था प्राप्त कराता है उसी प्रकार अमृततुल्य सुन्दर, गौ के घृत का पान करते हुए आप इस ब्रह्मचारी को वृद्धावस्था प्राप्त कराइये अर्थात् आयुष्मान् कीजिये ॥

---

१ बौ गृ २।५।६ आप गृ० ४।१।२ (म पा २।२।१) का गृ १।८।

वर्ती साहित्य से होती है क्योंकि वहाँ भी इसका विनियोग दर्शपौर्णमास याग मे समिदाधान के लिये किया गया है।[1] कुछ ग्रन्थों में इसी क्रिया के लिये इसका विनियोग अग्निहोत्र के अन्तगत किया गया है।[2] मन्त्र मे अभिव्यक्त सर्वतोमुखी वृद्धि का भाव शिक्षा मे सगत है। शा० गृ० मे एक अन्य स्थल (२।८।६) पर उपनयन के अन्तर्गत ही आचार्य से औपचारिक उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् समिदाधान करते हुए शिष्य द्वारा समित् शब्द पर्यन्त मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

कुछ गृह्यसूत्रो द्वारा एक एक करके शिष्य द्वारा तीन समिधाओ के आधान के लिये क्रमश निम्नलिखित तीन वाक्यो का विनियोग किया गया है[3] —

एधोऽस्येधिषीमहि ॥
समिदसि समेधिषीमहि ॥
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ [६०२-६०४]

तुम ईंधन हो, हम तुम्हारे समान प्रदीप्त हो ॥ तुम समिधा हो, हम तुम्हारे समान प्रज्वलित हो ॥ तुम तेज हो, मुझमे तेज स्थापित करो ॥

मा० गृ० और वा० गृ० मे इनमे से तृतीय वाक्य नही है। केवल मा० गृ० मे प्रथम दो वाक्यों का विनियोग एकाधिक कर्मो मे किया गया है। इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत (१।११।२४) भी है और पाक यज्ञो के सामान्य वर्णन के अन्तर्गत भी (२।२।२५)। परन्तु दोनो स्थलो पर क्रिया समिदाधान की ही है। ये वाक्य प्राचीनतम रूप मे अथर्व० (७।८९।४) मे विद्यमान हैं। वहाँ एधिषीमहि और समेधिषीमहि के स्थान पर क्रमश एधिषीय और समेधिषीय (एकवचनान्त) पाठ हैं। कौशिक० (६।१२) मे दर्शपौर्णमास याग के अन्तर्गत समिदाधान के लिए इस अथर्व० मन्त्र का विनियोग किया गया है। अन्य स्थल (५७।२७) पर यह भी विधान है कि उपनयन मे समिदाधान के पश्चात् शिष्य को इसका उच्चारण करते हुए ऊष्मा अर्थात् धूम का भक्षण करना चाहिए। वाक्यो का सीधा स्रोत यजुर्वेद सहिताएँ प्रतीत होती हैं क्योंकि गृह्यसूत्रो का पाठ उनके पाठ के बहुत निकट है।[4] इनके गृह्यविनियोग का आधार भी ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम

१ श० ब्रा० १।८।२।४, शा० श्रौ० १।१२।१२, का० श्रौ० ३।५।२।

२ तै० ब्रा० ४।१।१४, आप० श्रौ० ३।४।६, मा० श्रौ० १।६।१।३४।

३ आ० गृ० ४।११।२२ (स० पा० २।६।३-५), का० गृ० २।१,२, मा० गृ० १।१।१६, वा० गृ० ५।३१, शा० गृ० २।१०।४।

४ वा० स० २०।२३,३८।२५, तै० स० १।४।४६।३,६।६।३।५, मै० स० १।३।३९, १०।१३,४।८।५, का० स० ४।१३,६।७,२९।३,३५।७,१४,३८।५।

प्रशंसा वचनों द्वारा पूजनीय यह अग्नि आज तुम्हें आयु प्रदान करे। हे अग्नि हमें दीर्घजीवनार्थ आयु दीजिये ॥

कौशिक (५३।११) में कहा गया है कि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को चूडाकर्म के निमित्त सामग्री एकत्र करनी चाहिए। उसी कर्म के अन्तर्गत एक अन्य स्थान (५३।१३) पर आज्याहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। कौशिक में मन्त्र का पाठ अपने वेद (अथर्व २।१३।१) के अनुसार दिया गया है। यह पाठ भी तै० सं० जैसा है—केवल भेद हविषो जुषाणः के स्थान पर जरसं वृणानः है। इस मन्त्र के विविध शिशुसम्बन्धी गृह्य विनियोगों का समान आधार सम्भवतया अग्नि से दीर्घ जीवन और पिता के समान बालक की रक्षा की प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त मन्त्र में दीर्घ जीवन का रहस्य अमृततुल्य गोदुग्ध का सेवन भी बताया गया है। जहाँ तक समिदाधान के लिये मन्त्र के विनियोग का सम्बन्ध है ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारों ने तै० ब्रा० (१।२।१।११) और आप० श्रौ० (५।६।३) का अनुसरण किया है। वहाँ अग्न्याधान के अन्तर्गत समिदाधान करते हुए ब्राह्मण द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। अन्य सभी गृह्य विनियोगों का आधार तै० सं० (२।२।३।२) और आप० श्रौ० (२।१ ।४) में आयुष्कामेष्टि में इसका विनियोग प्रतीत होता है।

शां० गृ० (२।१ ।४) हि० गृ० (१।८।४) और आग्नि० गृ० (१।१।४) में समिदाधान के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ [६०१]

हे अग्नि यह तुम्हारी समिधा है उससे तुम वृद्धि को प्राप्त हो और विस्तार को प्राप्त हो। इसी प्रकार हम भी अभिवृद्ध हों और विस्तार अर्थात् प्रसिद्धि प्राप्त करें ॥

उपर्युक्त मन्त्र का पाठ वा० सं० (२।१४) से उद्धृत है। पा० गृ० (२।४।५) में इसे प्रतीकेन (एष ते) दिया गया है। आप० गृ० और व० गृ० में इसके पाठान्तर हैं। म० पा० में प्यायस्व के पश्चात् च तयाहं उयसानो भूयासमाप्यायमानश्च है। वै० गृ० में वर्धस्व के स्थान पर समिध्यस्व है और प्यायस्व तथा वर्धिषीमहि के मध्य वर्धतां च यज्ञपतिरा च प्यायताम् हैं। इन पाठान्तरों के होने पर भी कुल मिलाकर मन्त्र का भाव अपरिवर्तित रहता है। मन्त्र के गृह्य विनियोग की पुष्टि पूर्व

१ आप० गृ० ४।११।२२ (म० पा० २।६।११) व० गृ० २।७।

मेधा मे वरुणो राजा मेधामग्निर्ददातु मे ।
मेधामिन्द्रश्च सूर्यश्च मेधा देवी सरस्वती ।। [६०९]

मुझे अगिरसो ने मेधा प्रदान की है, सप्तर्षियो ने मेधा प्रदान की है। उसी प्रकार अग्नि, वायु, और धाता मुझे मेधा प्रदान करे। राजा वरुण तथा अग्नि मुझे मेधा प्रदान करें, इन्द्र, सूर्य और सरस्वती देवी मुझे मेधा प्रदान करें ।।

अन्य देवताओ के नामो के साथ यहाँ सरस्वती के उल्लेख की ओर ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। इससे विद्यादेवी के रूप मे उसकी प्रतिष्ठा अभिपुष्ट होती है। द्वितीय मन्त्र का स्रोत वा० स० ३२।१५ प्रतीत होता है। वहाँ राजा के स्थान पर ददातु और ददातु मे के स्थान पर प्रजापति पाठ है और उत्तरार्ध मे इन्द्रश्च के पश्चात् प्रथम मन्त्र के वायुश्च इत्यादि शब्द है। का० गृ० मे इसी प्रसग मे हि० गृ० के द्वितीय मन्त्र (स० ६०६) के समान एक और मन्त्र उद्धृत किया गया है। उत्तरार्ध मे मनुष्यजा के स्थान पर मनुष्ये च और मेधा सुरभिर्जुषता स्वाहा के स्थान पर आविशतामिह पाठान्तर हैं। परन्तु इससे मन्त्र का भाव अपरिवर्तित रहता है।

आप० गृ० (४।११।२२) मे बारह मे से तीन समिधाओ का आधान करने के लिये शिष्य द्वारा निम्नलिखित तीन मन्त्रो (म० पा० २।६।६-८) के उच्चारण का विधान है —

अपो अद्यान्वचारिष रसेन समसृक्ष्महि ।
पयस्वाँ अग्न आगम त मा ससृज वर्चसा स्वाहा ।।[६१०]
स माग्ने वर्चसा सृज प्रजया च धनेन च स्वाहा ।।[६११]
विद्युन्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभि स्वाहा ।। [६१२]

आज मैंने जल का अनुसरण किया है, हम रस से सयुक्त हुए हैं। हे अग्नि, मैं आहुति के लिये दूध से युक्त आया हूँ। उस प्रकार के मेरा तुम तेज से सयोग करो।। हे अग्नि, मेरा सयोग तेज, सन्तति और धन से कीजिये।। इस प्रकार के मेरे विषय मे देवता जान लें, ऋषियो सहित इन्द्र मेरे विषय मे जान ले ।।

मन्त्रो मे तेज की कामना की गई है। वस्तुत विद्या से मनुष्य तेजस्विता प्राप्त करता है—यदि शिक्षा सन्तुलित हो। अधिकाश सहिताओ मे अन्तिम दो मन्त्र एक मन्त्र के रूप मे आये हैं और सभी मे इन मन्त्रो का क्रम भी यही है।[1] प्राचीन

---

1 ऋ० १।२३।२३,२४, अथर्व० ७।८६।१ २,१०।५।४६,४७, वा० स० २०।२२, गृ० वि० १६] का० स० ४।१३।

याग क अन्तर्गत अन्तिम स्नान अवभृथ म समिदाधान क लिये ही इनका विनियोग किया गया है।[1] वाक्यो म अभिव्यक्त तेज और दीप्ति की कामना शिक्षा क आदर्शों के पूणतया अनुकूल है।

हि गृ आग्नि गृ और वै गृ मे एष ते इत्यादि मन्त्र क अतिरिक्त एक एक करक तीन समिधाओ का आधान करने क लिए क्रमश निम्नलिखित तीन मन्त्रों का विनियोग किया गया है[2] —

मेधां म इन्द्रो दधातु मेधां देवी सरस्वती।
मेधां मे अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजौ स्वाहा॥ [६०५]
अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मन ।
दवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषतां स्वाहा॥ [६०६]
आ मां मेधा सुरभिर्विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगती जगम्या।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुप्रतीका जुषतां स्वाहा॥ [६०७]

इन्द्र मुझ बुद्धि प्रदान करे, देवी सरस्वती बुद्धि प्रदान करे। सुन्दर मालाओं वाले दोनो अश्विन् मुझ बुद्धि प्रदान कर॥ जो बुद्धि अप्सराओं में है और जो मन गधर्वों मे है जो मनुष्यों में दिव्य बुद्धि है वह सुरभित बुद्धि मेरे पास आये॥ वह शोभन मुख वाली सुरभित विश्वरूपा सुवण-सम वण वाली गतिशील पुन पुन प्राप्तियोग्य ऊर्जा से युक्त दूध से अभिवृद्ध होने वाली मेधा सब ओर से मेरे पास आये॥

इनमे से केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग जै गृ० (१२।३) द्वारा इस कम मे किया गया है। प्रथम दो मन्त्र ऋ खि १ ।।१५।१।२ १ है। प्रथम मन्त्र का विस्तृत विवेचन जातकर्म के अन्तर्गत किया गया है (दे म स ४३)। सभी मन्त्रो मे अभिव्यक्त मेधा की कामना शिक्षा-सम्बन्धी सस्कार मे अत्यन्त सङ्गत है।

ऊपर के प्रथम मन्त्र से मिलते-जुलते दो मन्त्रो का विनियोग का ग (४१।१८) मे शिष्य को औपचारिक उपदेश देने के पश्चात् आचार्य द्वारा उससे उच्चारण करवाये जाने के लिए किया गया है। उन मन्त्रो का पाठ इस प्रकार है —

मेधां मह्यमङ्गिरसो मेधां सप्तऋषयो ददु ।
मेधामग्निश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥ [६०८]

---

१ ऐ ब्रा २।६७ श ब्रा १२।८।२।११ त ब्रा २।६।६।४ आ०श्रौ ३।६।२६ सा श्रौ २।१२।११ आप श्रौ १३।२२।६ का श्रौ १८।५।१८।

२ हि गृ १।८।४ आग्नि गृ १।१।४ व गृ० २।७।

हम सर्वप्रेरक सविता देवता के उस पूजनीय प्रसिद्ध तेज का ध्यान करें जो (सविता) हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे ॥

बुद्धि के लिए उपनयन संस्कार में यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त परम्परा की दृष्टि से भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सभी हिन्दु सम्प्रदायों की यह मुख्य प्रार्थना है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्य किसी मन्त्रादि का उच्चारण न करके केवल इसका उच्चारण भी स्वतः सम्पूर्ण प्रार्थना मानी जाती है। इसके अनुकरण पर अन्य सम्प्रदायों में मन्त्र रचना भी की गई। उदाहरणार्थ निम्नलिखित भैरवी की गायत्री देखिये —

त्रिपुरायै विद्महे भैरव्यै धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥

सभी गृह्यसूत्रों में शिष्य द्वारा इसका अनुवाचन कराने का विधान किया गया है।[1] और उनमें इसके अनुवाचन की एक विशेष पद्धति दी गई है। तदनुसार पहले पादशः, फिर अर्धर्चशः और अन्त में सकलेन शिष्य द्वारा उसका उच्चारण कराया जाना चाहिए। बुद्धि की प्रार्थना होने के कारण इस मन्त्र की सर्व सामान्य विनियोगार्हता के आधार पर कुछेक गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग अन्यत्र भी किया गया है। वै०गृ० (१।१२) में आघाराहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (४।४) इसे गायत्री मन्त्र अभिहित करके अष्टका के अन्तर्गत गृहस्थ द्वारा पिण्डों के निमित्त निर्धारित स्थान पर जलाभिषेक के अवसर पर विनियुक्त किया गया है। कौशिक० (६१।६) में मधुपर्क ग्रहण करने के समय भी इसके उच्चारण का विधान किया गया है। मा०गृ० १।५।८ में उत्सर्जन अर्थात् शिक्षासत्रावसान पर और मा०गृ० १।५।२-३ में तर्पण पर इसके उच्चारण का निर्देश दिया गया है। अन्य अनेक गृह्यसूत्रों में सन्ध्योपासना के समय शिष्य द्वारा इसके उच्चारण का विधान है।[2]

अथर्व० और का०सं० को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं में यह विद्यमान है। वा०सं० और तै०सं० में तो यह अनेक बार आया है।[3] परन्तु अथर्व० तथा का०सं०

१ शा०गृ० २।५।१२, ७।१९, आ०गृ० १।२१।४,५, गो०गृ० २।१०।३५ (म०ब्रा० १।६।२९,३०) खा०गृ० २।४।२१, जै०गृ० १।३।३, बौ०गृ० २।५।४०, आप०गृ० ४।११।९ (म०पा० २।४।१३), हि०गृ० १।६।६,११, मा०गृ० १।९, आग्नि०गृ० १।१।३, वै०गृ० २।४, पा०गृ० २।३।३,५, भा०गृ० १।२२।१३, का०गृ० ४१।२०, वा०गृ० ५।२५,२६, कौशिक० ५६।८-११

२ आ०गृ० ३।४।७, शा०गृ० २।६।२, जै०गृ० १।१३, मा०गृ० १।२।३, का०गृ० १।२८, वा०गृ० ५।३० ।

३ वा०सं० ३।३५, २२।९, ३०।२, ३६।३, तै०सं० १।५।६।४, ४।१।११।१, मै०सं० ४।१०।३ ।

वैदिक ग्रन्थों में प्रथम मन्त्र के अधिक स्थलो म विद्यमान होने के कारण इसकी अधिक लोकप्रियता सिद्ध होती है। उपर्युक्त सहिताओ के अतिरिक्त मन्त्र सहिताओं मे भी यह एकाधिक बार उपलब्ध होता है।[1] मा गृ १।१।१७ और वा गृ ५।३२ में समिदाधान के ठीक पश्चात् शिष्य द्वारा अग्नि की उपासना के लिये इसका विनियोग किया गया है। मा गृ मे इसी कर्म के लिये इसका विनियोग विवाह तथा (१।११।२५) पाक यज्ञो के साधारण नियमो (२।२।२६) के अन्तर्गत भी किया गया है।

गृह्यसूत्रो में उद्धृत इन मन्त्रो का पाठ कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थोके पाठ के बहुत समान है। म पा के तृतीय मन्त्र (स ६१२) का पाठ विद्युत् अन्य सभी स्थलो पर विश' है। यही शुद्ध भी है। विन्तरनित्ज ने भी विद्युत् को भ्रष्ट-पाठ माना है।[2] जहाँ तक प्रथम मन्त्र के गृह्य विनियोग का प्रश्न है इसकी पुष्टि प्राग् गृह्यसूत्र प्रयोग से भी होती है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत इसका विनियोग अन्तिम कर्म अवभृथ स्नान के अवसर पर आहवनीय अग्नि की उपासना म किया गया है।[3] किन्तु इन सभी गृह्य तथा श्रौत परम्पराओ से विपरीत कौशिक ४२।१३ मे शिक्षा की अवधि पूर्ण करके लौटते हुए स्नातक द्वारा जल का अभिमन्त्रण करने के लिए इसके उच्चारण का विधान किया गया है। प्रकटरूप मे यहा विनियोग का मुख्य प्रेरणास्रोत आप' (जल) शब्द रहा होगा।

सावित्री मन्त्र का अनुवाचन

सावित्री-अनुवाचन उपनयन संस्कार का सर्वप्रमुख कर्म है। इस मन्त्र की शिक्षा न प्राप्त करने वाले को समाज का उत्तरदायित्वपूर्ण सभ्य सदस्य नही माना जाता था। इन व्यक्तियो को पतितसावित्रीक कहा जाता है। इसका अभिप्राय वे व्यक्ति हैं जिनका सावित्री शिक्षण का अधिकार समाप्त हो गया है। परम पूत मन्त्र (ऋ ३।६२।१०) को ही सावित्री अथवा गायत्री कहा जाता है —

तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥ [६१३]

---

१ ऋ० १०।९।१ त स ४।१।५।१ ५।६।१ म सं २।७।५ का स १६।४ ३९।१४

२ म पा सू, पृ २४।

३ श ब्रा १२।६।२१ त ब्रा २।६।६।५ ला श्रौ २।१२।११ आ श्रौ ३।६।२७ आप श्रौ० १३।२२।६ का श्रौ १०।८।१८ वै म स ६ २६ ४।

४ वे ई व कल्प पृ ३२२ ३२३।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादो के उच्चारण का विधान है। यहाँ न केवल पादो मे विभाजन की पद्धति गृह्यसूत्रो के निकट है अपितु श्रीमन्थ-भक्षण की तुलना कौशिक० के मधुपर्क-भक्षण से भी की जा सकती है। सावित्री ऋचा के महत्त्व का वर्णन गो०ब्रा० १।१।३४-३६ मे भी किया गया है। तदनुसार गायत्री के तीन पाद प्राप्त करने के लिये सविता ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का संयोग क्रमशः ऋग्, यजु और साम से किया।[1] इसके पश्चात् यह भी बताया गया है कि किस प्रकार प्रजा, कर्म, तप, सत्य, ब्रह्म और ब्राह्मण की सृष्टि की गई इत्यादि। संक्षेप मे यहाँ इस ऋचा को आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। जै० उप० ब्रा० ४।२८।२ मे भी गृह्य-पद्धति के समान ही पहले इसका अर्थ पादशः, फिर अर्धचशः और अन्त मे संकलेन दिया गया है। यहा इसका महत्त्व और भी बढ गया है। इसे मृत्यु से मुक्ति दिलाने वाली कहा गया है—"यो वा एना सावित्रीमेव वेदाप पुनर्मृत्युं तरति, सावित्र्या एव सलोकता जयति।' इस प्रकार आश्चर्य नही है कि गृह्यसूत्रो मे और आज भी उस परम-पूज्या सावित्री का हिन्दु-धर्म मे इतना महत्त्व हो।

परन्तु जहाँ सब गृह्यसूत्रो में इस कर्म मे इतने संगतार्थ मन्त्र का विनियोग हुआ है, वहाँ कुछ गृह्यसूत्रो मे विभिन्न वर्णों के बालको की उपनयन की आयु और मन्त्र के पाद मे अक्षरो की समानता के आधार पर ब्राह्मण शिष्य के लिये गायत्री छन्द वाले, क्षत्रिय शिष्य के लिये त्रिष्टुभ् छन्द वाले और वैश्य शिष्य के लिये जगती छन्द वाले सवितृ-देवता वाले मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है।[2] इन तीनो वर्णों के उपनयन की आयु क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह वर्ष है और उक्त छन्दो के पादो मे अक्षरो की संख्या भी क्रमशः उतनी ही है। वा० गृ० को छोडकर इन गृह्यसूत्रो मे इन छन्दो (त्रिष्टुभ् और जगती) के लिये विशिष्ट मन्त्र उद्धृत नही किये गए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मन्त्र के भाव की ओर ध्यान दिये बिना सवितृ-देवता वाले किसी भी मन्त्र का उच्चारण किया जा सकता है। इससे गृह्यसूत्रो के रचयिताओं की मन्त्रार्थ के प्रति उपेक्षा दृष्टि का संकेत भी मिलता है। उनके लिये मन्त्र की यज्ञ-परक स्थिति का अधिक महत्त्व था। वा० गृ० मे त्रिष्टुभ् और जगती छन्द वाले क्रमशः ऋ० ७।४५।१ और ५।८१।१ मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। परन्तु इन मे सवितृ-देव से सम्बन्ध को छोड उपनयन से विशेषसम्बद्ध और कोई बात नही है।

१ यह ध्यान देने योग्य है कि अथर्ववेदीय ब्राह्मण होते हुए भी इस स्थल पर अथर्व० का उल्लेख नहीं है। या तो रचयिता को उस वेद मे इस मन्त्र की अनुपस्थिति का ध्यान था, और या फिर तीन पादो के क्रम मे तीन ही वेद उद्धृत किये जा सकते थे, और त्रयी का अर्थ 'तीन वेदों मे पृथक् पृथक् वर्णित तीन प्रकार की विद्याएं' हैं।
२ शा० गृ० २।५।४-६, पा० गृ० २।३।७-१०, मा० गृ० १।२२।१३, वा० गृ० ५।२६।

मे इतने महत्त्वपूर्ण मन्त्र की अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है।[1] इस अनुपस्थिति तथा अन्य संहिताओं मे इसके प्रति साधारण से दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष निकालने को विवश होना पड़ता है कि संहिता काल तक इस मन्त्र को परम-पूज्य सावित्री का पद नहीं प्राप्त हुआ था। ऐ० ब्रा० और कौ० ब्रा० मे भी सवितृ-सम्बन्धी अनेक मन्त्रो मे से कोई एक के रूप मे यह अभिज्ञात था। उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० मे द्वादशाह याग के अन्तर्गत द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम दिवसो पर उच्चारणीय वैश्वदेव शस्त्र की प्रतिपद् ऋचा के रूप मे इसे उद्धृत किया गया है।[2]

तै० आ० (१०।२७।१) मे प्राणायाम मे इसका विनियोग किया गया है। कुछ श्रौतसूत्रो मे यह अग्निहोत्र यज्ञ मे आहवनीय अग्नि की उपासना के लिए विनियुक्त है।[3] परन्तु इसके गृह्यविनियोग का सीधा स्रोत श० ब्रा० (११।५।४।६) है क्योंकि यहीं प्रथम बार गृह्यसूत्रों के समान उपनयन कर्म मे उसी पद्धति से इसके उच्चारण का विधान किया गया है। सम्भवतया इसी ग्रन्थ मे सर्वप्रथम इस मन्त्र को परमपूज्या सावित्री का पद प्राप्त हुआ। श० ब्रा० मे तीन अन्य स्थलों पर भी यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। श० ब्रा० २।३।४।३९ मे अग्नि उपासना के प्रसंग मे इसका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि सविता देवताओ का जनक है अतः सविता द्वारा उत्पादित सभी कामनाएं इसमे (मनुष्य मे) समृद्ध हो जाती हैं। (सविता वै देवानां प्रसविता तथा ह्यस्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्व कामाः समृध्यन्ते।) एक और स्थान (१३।६।२।९) पर पुरुषमेध के संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् उल्लेख है कि पशु की परीक्षा करते हुए देव सवित इत्यादि तीन सावित्री ऋचाओ का उच्चारण करना चाहिए। उनमे दूसरी ऋचा विवेच्य गायत्री मन्त्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल तक (अन्य दो ऋचाओ के साथ साथ) इसे सावित्री नाम से अभिहित किया जाने लगा था। गृह्यविनियोग की दृष्टि से श० ब्रा० १४।९।३।११ १३ पुनः महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहां श्रीमन्थ[4] के प्रथम, द्वितीय और तृतीय कवल के साथ क्रमशः सावित्रीके

---

१ अपने लेख गायत्री में (रिसर्च बुलेटिन पंजाब वि० वि० १३ १९५४) पृ० ४ पर विश्वबन्धु ने लिखा है— यद्यपि गायत्री इसी रूपमें अथर्व में विद्यमान नहीं है तथापि सम्भवतया अनुक्रमणी में अथर्व १९।७१।१ (स्तुता मया वरदा वेद माता इत्यादि [९१४]) को ठीक ही इसका नाम दिया गया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त वेदमाता नामक पृथक् देवता मानकर गो० ब्रा० १।३८ मे इस गायत्री को ही वेदमाता कहा भी गया है (वेदानां मातरं सावित्रीम्)। किन्तु अनुक्रमणी और गो० ब्रा० दोनो ही संहिताओ के बहुत परवर्ती हैं।

२ ऐ० ब्रा० ४।३२।२ ५।५।६ १३।८ १९।८।

३ शां० श्रौ० २।१२।७ आप० श्रौ० ६।१८।१ ब० श्रौ० ३।८।

४ सभी औषधियों और फलों को पीसकर तैयार किया गया मिश्रण।

में मेधा की प्रार्थना विशेष रूप से मांगी गई है।

मा० गृ० (१।४।२), वा० गृ० (८।२।३) और का० गृ० (६।२) में आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

अप्वा नामासि तस्यास्ते जोष्ट्रीं गमेयम्। [६१६ क]

अहमिद्धि पितुः परिमेधामृतस्य जग्रभ अहं सूर्य इवाजनि ॥ [६१६ ख]

तुम निश्चय ही व्याधि (?) हो, उस प्रकार की तुम्हारी प्रसन्नता को मैं प्राप्त करूं। मैंने पिता ऋत की मेधा को सब प्रकार से ग्रहण किया है, मैं सूर्य के समान तेजस्वी हो गया हूँ ॥

मन्त्र के उत्तरार्ध में अभिव्यक्त ऋत द्वारा तेजस्वी होने की बात ब्रह्मचारी के लिये अभीष्ट आदर्श है। ब्रह्मचारी के जीवन में नियमों का अत्यधिक मूल्य है, नियम-पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी विद्या में निपुणता और उससे फलस्वरूप तेज प्राप्त करता है।

मा० गृ० और का० गृ० में मन्त्र का उपरिलिखित पाठ दिया गया है। इन गृह्यसूत्रों में अप्वा (स्त्री०) को अप्व (पु०) में और तदनुसार तस्यास्ते जोष्ट्रीम् को तस्य ते जोष्ट्रम् में परिवर्तित करके एक और मन्त्र बनाया गया है। इसके पश्चात् अप्वा के स्थान पर सरस्वती, युक्ति और मति रखकर तथा अप्व के स्थान पर सरस्वान्, योग और मन रखकर ६ बार इस मन्त्र की आवृत्ति की गई है। वा० गृ० में मन के स्थान पर सुमति पाठ है। मन्त्र के उत्तरार्ध में कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं है। का० गृ० में इसकी आवृत्ति तीन बार की गई है। योग और युक्ति सहित दो आवृत्तियां तो मा० गृ० की दो आवृत्तियों जैसी हैं। तीसरी आवृत्ति में अप्वा के स्थान पर रन्ति पाठ है। कैलेंड ने का० गृ० के अपने संस्करण में विभिन्न पाण्डु-लिपियों में अप्वा शब्द के अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है। देवपाल द्वारा पठित अपवा भी उनमें से एक है। उसने अपवा की निम्नलिखित व्युत्पत्ति दी है — पवते स्वरूपाच्च्यवते इति पवा अध्रुवा, तत्प्रतिषेधेन अपवा ध्रुवा विद्या ॥ उसने अप्वा पाठ भी स्वीकृत किया है और उसकी भी उपर्युक्त व्याख्या ही की है। परन्तु इसकी पुष्टि न तो प्राचीन परम्परा से होती है और न आधुनिक से। प्राचीन परम्परानुसार इसका अर्थ व्याधि अथवा भय है क्योंकि इससे आक्रान्त होकर मनुष्य क्षीण हो जाता है।[1] अधिक विशद होने के उद्देश्य से अभिनव परम्परा में इसे उदर सम्बन्धी

---

१ नि० ६।१२ और वा० सं० १७।४४ पर उव्वट और महीधर — व्याधिर्वा भयं वा। यस्मादेतया विद्धोऽपचीयते। अप शब्दान्त्याकारलोपस्ततष्टाप्।

नवम अध्याय

शिक्षा सम्बन्धी अन्य कर्म

उपाकर्म

कुछ गृह्यसूत्रों में इसे अध्यायोपाकरण भी कहा गया है । इस कर्म का अनुष्ठान शिक्षासत्र के आरम्भ के उपलक्ष्य में किया जाता है ।

आहुतियाँ

आ गृ (३।५।६ ६) और शा गृ (४।५।७-६) में विधान है कि विशिष्ट देवताओं को आज्यभाग और आज्याहुतियाँ अर्पित करने के पश्चात् ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल के प्रथम और अन्तिम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दधिमिश्रित खीलों अथवा धान की आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहिये । कुछ यजुर्वदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १।१८।६) का उच्चारण करते हुए सदसस्पति को एक आहुति अर्पित करनी चाहिए —

सदसस्पतिमद्भुत प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम् ।। [६१५]

इन्द्र के प्रिय सभी यज्ञों में प्रार्थनीय महान् धनरूप और मेधारूप सदसस्पति की मैं याचना करता हूँ ।।

आ गृ (१।२२।१३) और शा गृ (२।८।१) में इसका विनियोग उपनयन के अन्तर्गत ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को भिक्षा देने के पश्चात् और समिदाधान आदि के पश्चात् उसके द्वारा अनुस्पृष्ट आचार्य द्वारा आहुति देने के लिये किया गया है । भा गृ (१।५) में भी उपनयन के अन्तर्गत ही शिष्य द्वारा वस्त्र-परिधान से पूर्व आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है । गो गृ और खा गृ द्वारा इसका विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत मेधाजनन के प्रसंग में किया गया है (दे म० स ४३३) । ऋ के अतिरिक्त अन्य कुछेक प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी यह मन्त्र विद्यमान है । उपाकर्म का सम्बन्ध वेदाध्ययन के आरम्भ से होने के कारण मन्त्र

---

१ बौ गृ ३।१।६ पा० गृ २।१ ।११ आप० गृ ३।८।२ (म पा १।६।८) हि गृ १।८।१६ व गृ २।१ ।

२ ऋ खि १ ।१५११७ साम ११७१ वा स ३२।१३ त आ १ ।११४ शां श्रौ ६।१२।१।

वह सत्यवादी की रक्षा करे। (जिस प्रकार) मेरी रक्षा करे उसी प्रकार अन्य सत्य-वक्ता की रक्षा करे। मेरे मन में वाणी प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। हे सत्य, मुझमें सम्पूर्ण आयु प्रकट कर दीजिये। (हे मन्त्रो!) आप वेद की वाणियां हो। हम अध्ययन प्रारम्भ कर रहे हैं। सभी छन्द यहां उपस्थित हो॥

किसी भी विद्यार्थी द्वारा सत्र के प्रारम्भ में या दैनिक अध्ययन के प्रारम्भ में इससे बढ़कर और कोई आदर्श प्रार्थना नहीं हो सकती। केवल सत्य नहीं अपितु शाश्वत अर्थात् ईश्वरीय नियमों के पालन की प्रतिज्ञा और उसके साथ साथ 'जैसी कथनी वैसी करनी' की भावना के लिये प्रार्थना शिक्षा के उच्चतम आदर्शों की ओर इङ्गित करती है। हमें यह देखना है कि आज की शिक्षा कहाँ तक उन आदर्शों की प्राप्ति में सहायक है?

उपर्युक्त मन्त्र-पाठ मा० गृ० में से उद्धृत है। का० गृ० में सत्य वदिष्यामि के आगे ब्रह्म वदिष्यामि भी जोड़ा गया है। न० आ० ७।१।१ में प्रथम पंक्ति ब्रह्म-प्रार्थना के रूप में आई है। यही पंक्ति तैत्तिरीय उपनिषद् के आदि में भी आई है।

इस प्रसङ्ग में गुरु-शिष्य की एकात्मता और सुखसमृद्धि के लिये पा० गृ० (२।१०।२२) की निम्नलिखित प्रार्थना भी विशेषतया उल्लेखनीय है —

सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म।
इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे॥ [६१८]

यह ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या हमारे (गुरु और शिष्यों के) लिये साथ साथ हो, यह साथ साथ हमारी रक्षा करे और यह हमारे लिये साथ साथ बलशाली हो। इन्द्र अर्थात् सर्वप्रकाशक परमात्मा वह (उपाय) जानता है जिससे और जिस प्रकार हम परस्पर विद्वेष न करें॥

जै० गृ० (१।१४) में भी कुछ पाठान्तरों सहित यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। इसमें अवतु के स्थान पर भुनक्तु है, इदम् और ब्रह्म का अभाव है और वीर्य-वदस्तु के पश्चात् मा विद्विषामहे सर्वेषां नो वीर्यवदस्तु पाठ है। इस मन्त्र की तुलना उपनिषदों की प्रसिद्ध प्रार्थना सह नाववतु इत्यादि से की जा सकती है। उपनिषदों के 'नौ, विद्विषावहै' इत्यादि द्विवचनान्त रूपों से भिन्न गृह्यसूत्रों के न, विद्विषामहे इत्यादि बहुवचनान्त रूप विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि उपनिषदों में एक गुरु और एक शिष्य के लिये यह प्रार्थना हो और गृह्यसूत्रों के अनुसार शिष्यों की संख्या या गुरु-शिष्य दोनों की संख्या अधिक हो गई हो? दूसरे शब्दों में कहीं ऐसा तो नहीं कि गृह्यसूत्रों में प्रार्थना का सामूहिक रूप रहा हो?

रोग बताया गया है।[1] इस अर्थ मे अब्वा का प्रयोग अथर्व० ६।८ ६ म हुआ है। परन्तु यदि गृह्य विनियोग के प्रसग म इनम से कोई अर्थ लिया जाये तो यह प्रश्न होता है कि मन्त्र की पुनरावृत्ति करते हुए जहाँ इस शब्द का स्थानान्तरण सरस्वती युक्ति इत्यादि नामा से किया गया है वहाँ इसके स्थान पर अन्य रोगो के नाम क्यों न रखे जायें। रोग के नाम के स्थान पर वसे ही नाम अधिक सगत प्रतीत होते हैं। इस बात को ध्यान मे रखते हुए अब्वा (या अपवा) की देवपाल की व्याख्या इस प्रसग मे सबसे अधिक अनुकूल है। का गृ म ओष्ट्रीम् क स्थान पर जुष्टीयम् और जघम के स्थान पर जगृभ पाठ है। कलड ने इन दो शब्दो के भी अनेक पाठान्तरो का उल्लेख किया है। देवपाल ने ओष्ट्रीम् के स्थान पर ओष्ट्रीयम् तथा जघम क स्थान पर जगृह्व पाठ दिये हैं। उसने अहमिद्धि पितु के स्थान पर अहमिद्धमेघ भी पाठान्तर दिया है। देवपाल द्वारा प्रदत्त पाठान्तरो म लौकिक सस्कृत के निकट आने की ओर सरलीकरण की प्रवत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है कि इन पाठान्तरो सहित कोई मन्त्र कृष्णयजुर्वेद की किसी लुप्त सहिता म से उद्धृत हो। इस मन्त्र का उत्तरार्ध (६१६ख) ऋ साम और अथर्व म से उद्धृत पूर्ण गायत्री छन्द है।[2] यहाँ यह स्पष्ट है कि गृह्य विनियोग की आवश्यकतानुसार एक नये मन्त्र की रचना के लिये गृह्यपरम्परागत वाक्य का सयोजन सहिता मन्त्र के साथ किया गया है।

कुछेक गृह्यसूत्रो द्वारा दधि भक्षण के निमित्त ऋ ४।३६।६ का विनियोग इस क्रम म भी किया गया है।[3] इस मन्त्र के विवेचनार्थ देखिये मन्त्र स २८६।

मन्त्रोच्चारण

शा गृ मा गृ और का गृ म शिष्य द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है —

ऋत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु माम वतु वक्तारम् ॥ वाड् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरा वीर्मयि धेहि ॥ वेदस्य वाणी स्थ ॥ उपाकुमहेऽध्यायानुपतिष्ठन्तु छन्दांसि ॥ [६१७]

मैं शाश्वत सत्य कहूँगा सत्य कहूँगा वह (सत्य) मेरी रक्षा करे

---

१ म इ ख १ पृ० २७।

२ ऋ ८।६।१ साम० १।१२२ अथर्व० २०।११५।१।

३ शा गृ ४।५।१ अ गृ १४।१३ गो गृ ३।३।७ का गृ ६।४।

४ शा गृ ६।३।७ मा गृ १।४।४ ५ का गृ ८।४ शा गृ मे प्रतीकेन— ऋत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि।

किया गया है। प्राणायाम के लिये इस सूक्त का विनियोग तै०ग्रा० (१०।१।१३,१४) में भी प्राप्त होता है। जैसा कि अघमर्षण (पापशमन) नाम से ही ध्वनि निकलती है, शौचस्नानसम्बन्धी कर्मों में इसका विनियोग नामानुकूल है। परन्तु इस सूक्त के मन्त्रो मे अभिव्यक्त भावो से इसका सृष्टि-सम्बन्धी सूक्त होना स्पष्ट है। पापशमन से उनका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नही होता।

कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि अन्त मे निम्नलिखित दो मन्त्रो का उच्चारण करते हुए ब्रह्मचारियो को दूर्वा-घास का रोपण करना चाहिये[1]—

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुष परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥ [६२३]
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥ [६२४]

हे दूर्वे प्रत्येक कठोर डठल से अकुरित होती हुई, इस प्रकार तुम सहस्रो और सैकडो (शाखाओ) मे फैल जाओ। जो तुम सैकडो मे फैलती हो और सहस्रो मे अकुरित होती हो, हे देवी इष्टके, इस प्रकार की तुम्हे हम आहुति प्रदान करें।

सम्भवतया यहाँ दूर्वाघास के रोपण और उसके साथ उपर्युक्त मन्त्रो के उच्चारण मे यह भाव निहित है कि जिस प्रकार दूर्वा की शाखाओ प्रशाखाओ का विस्तार होता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी के प्रत्येक वेद और उसकी शाखाओ के ज्ञान का विस्तार हो।

शा० गृ० मे केवल प्रथम मन्त्र उद्धृत किया गया है। इस गृह्यसूत्र के विषय मे यह विशेष ध्यान देने योग्य है ऋग्वेदीय मन्त्र न होने पर भी इसे काण्डात् काण्डात् प्ररोहसि प्रतीकेन दिया गया है। ये दोनो मन्त्र पाठान्तर के विना सभी यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान हैं।[2] ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थो मे वेदी-निर्माण कर्म मे दूर्वा-इष्टकाओं की स्थापना में इनका विनियोग किया गया है।[3] सम्भवतया इनके गृह्य-विनियोग का आधार भी यही श्रौत विनियोग है।

---

१ शा० गृ० ६।६।६, बौ० गृ० ३।६।१०, हि० गृ० २।२०।१०, मा० गृ० ३।११, आग्नि० गृ० १।२।२।

२ वा० स० १३।२०,२१ तै० स० ४।२।६।२, ५।२।८।३, मै० स० २।७।१५, का० स० १६।१६।

३ श०ब्रा० ७।४।२।१४, १५, आप० श्रौ० १६।२४।१, मा० श्रौ० ६।१।७।१४, तै० आ० १०।१।७,८।

उत्सर्ग अथवा उत्सर्जन

यह कर्म शिक्षा के वार्षिक सत्र की समाप्ति का द्योतक है। इसका अनुष्ठान जलाशय के निकट होता है। सर्वप्रथम ब्रह्मचारी जलावगाहन करते हैं और तत्पश्चात् आपोहिष्ठीय ऋ० (१०।९।१-३) तथा हिरण्यवर्णा शुचयः इत्यादि चार मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।[1] इन दोनों मन्त्र-समूहों के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मन्त्र सं० १८६-१८८ और २५-२८। उसी समय

पवमानः सुवर्जनः इत्यादि (तै० ब्रा० १।४।८) [६१९]

सम्पूर्ण अनुवाक के उच्चारण का भी विधान है।[2] उक्त ब्राह्मण में स्वयं इस अनुवाक का विनियोग शुद्धीकरणार्थ किया गया है।[3] सम्भवतया इसके गृह्य विनियोग का आधार यही विनियोग है क्योंकि स्नान का अभिप्राय भी शुद्धीकरण ही है।

इन मन्त्रों के उच्चारण के पश्चात् यह विधान है कि अघमर्षण सूक्त के नाम से प्रसिद्ध ऋ० १०।१९० के निम्नलिखित तीन मन्त्रों के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारियों को तीन प्राणायाम करने चाहिए —

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ [६२०]
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ [६२१]
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ [६२२]

ऋत और सत्य सम्यक् प्रज्वलित तप से उत्पन्न हुए। फिर रात्रि उत्पन्न हुई, फिर मेघरूप जलयुक्त समुद्र उत्पन्न हुआ। उस मेघरूप जलयुक्त समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ। उस सारे संसार के द्रष्टा सर्वनियन्ता संवत्सर ने दिन रात का विधान किया। विधाता ने पहले के समान सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि की तथा उसने आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सूर्य-लोक की भी सृष्टि की ॥

शा० गृ० (१।४।२) में दैनिक स्वाध्याय के अनेक सूक्तों में इसका परिगणन

---

१. हि० गृ० २।१८।९, भा० गृ० ३।८, आग्नि० गृ० १।२।२।
२. हि० गृ० वही, भा० गृ० वही, आग्नि० गृ० वही।
३. द्र० बौ० ध० सू० २।१२।१२ ..., का० सं० ३८।२ ..., आप० श्रौ० १।७।११ १४।१ ।११
४. हि० गृ० २।१।८।९, भा० गृ० ३।८, आग्नि० गृ० १।२।२।

है।[1] गृह्यसूत्रों के समान ही ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे भी यह मन्त्र अग्नि से सम्बद्ध है। कुछेक ग्रन्थो मे इसका उल्लेख अग्नीध्र के लिये याज्या के रूप मे किया गया है।[2] पञ्चविंश ब्राह्मण (१३।८।१) के अनुसार द्वादशाह याग के षष्ठ दिवस की आज्यस्तुति मे इसे अग्नि के प्रति सम्बोधित करना चाहिये।

स्नान

गो०गृ० और खा०गृ० मे विधान है कि स्नान के लिये उद्यत ब्रह्मचारी को पहले निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अपनी अजलि मे से भूमि पर जल की धारा प्रवाहित करनी चाहिये[3] —

ये अप्स्वन्तरग्नय प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो (मरूक –छा०ब्रा०)
मनोहा खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अति तान् सृजामि ॥ [६२७]

जो गोह्य, उपगोह्य, मयूष (?) मन की नाशक, खल, रोगरहित, शरीर को दूषित करने वाली, इन्द्रिय-विनाशक अग्नियाँ जल के मध्य प्रविष्ट है, मैं उन्हें छोडता हूँ ॥

जल की धारा प्रवाहित करने की क्रिया उसमे से दूषित तत्त्व निकालने की प्रतीक प्रतीत होती है। इस वाक्य की तुलना शा०गृ० (५।२।५) द्वारा उत्सर्ग के अन्तगत आहुति के लिये प्रयुक्त निम्नलिखित वाक्य से की जा सकती है —

गृह्योऽपगृह्यो मयोभू आखरो निखरो नि सरो निकाम सपत्नदूषण ॥[६२८]

ग्रहण करने योग्य, उपग्रहण करने योग्य, समृद्धि प्रदान करने वाला, वहुत भयानक, नि सरण करने वाला, कामना सहित और शत्रुओ को दूषित करने वाला (जो अग्नि है उसे यह आहुति अर्पित है)।

यह वाक्य किसी कर्ता या क्रिया के अभाव के कारण अस्पष्ट है।

धारा प्रवाहित करने के पश्चात् गो०गृ० और खा०गृ० मे ब्रह्मचारी द्वारा निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अपने अभिषेक का विधान किया गया है[4] —

यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि ॥ [६२९]

(जल मे) जो कुछ द्युतिशील है, उसे मैं ग्रहण करता हूँ और उसके द्वारा अपने आपको अभिषिक्त करता हूँ ॥

---

१ ऋ० १।६४।१, अथर्व० २०।१३।३, साम० १।६६, २।४१४, मै०स० २।७।३।
२ ऐ०ब्रा० ६।१२।१२, कौ०ब्रा० २३।८, आ०श्रौ० ४।१३।७, ५।५।१९।
३ गो०गृ० ३।४।१३, १४ (म०ब्रा० १।७।१, २), खा०गृ० ३।१।११, १२।
४ गो०गृ० ३।४।१५ (म०ब्रा० १।७।३), खा०गृ० ३।१।१३।

जै गृ (१५।१) का निम्नलिखित वाक्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें वेदाध्ययन की समाप्ति का स्पष्ट संकेत है —

वेदेषु यथास्वं विश्रमन्ता छन्दांसि चतुरुत्तराणि शिवेन नो ध्यायन्तु। [६२५]

चार से अधिक सभी छन्द वेदों में स्वेच्छानुसार विश्राम करें और शुभ दृष्टि से हमारा ध्यान करें॥

यह वाक्य अन्यत्र अनुपलब्ध है।

समावर्तन

यह संस्कार ब्रह्मचारी के शिक्षाकाल की समाप्ति का द्योतक है। इसके पश्चात् उसे स्नातक कहा जाता है। अभिप्राय यह कि इस संस्कार में वह एक विशेष स्नान करता है और फिर उसे घर जाने की अनुमति मिल जाती है।

ब्रह्मचारी द्वारा अग्नि में पलाश-समिधा का आधान—

समिदाधान से लेकर आज्याहुतियों तक के कर्मों के अनुष्ठान के पश्चात् ब्रह्मचारी को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि में पलाश-समिधा का आधान करना चाहिये —

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ [६२६]

योग्य जातवेदा के लिये हम अपनी मनन शक्ति से रथ के समान यह स्तुति तैयार करें। क्योंकि सभा में इसकी हमारे प्रति बुद्धि कल्याणकारक है इसलिये हे अग्नि हम तुम्हारी मित्रता में कष्ट न प्राप्त करें।

अन्य गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। मा गृ और वा गृ में उपनयन तथा विवाह संस्कारों के अन्तर्गत अग्नि समूहन के समय इसके उच्चारण का विधान है। भा गृ में एक अन्य स्थल (२।२।५) पर भी पाकयज्ञों के सामान्य वर्णन में अग्नि-परिसमूहन के लिये इसका विनियोग किया गया है। गो गृ ४।५।१५ (मं ब्रा २।४।२) में विशेष कामनाओं की प्राप्ति के लिये यह विनियुक्त हुआ है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त विविध विनियोगों में मन्त्र का सम्बन्ध अधिष्ठातृ-देव अग्नि से है। यह मन्त्र कुछ संहिताओं में भी विद्यमान

---

१ आप गृ ५।१२।३ (म० पा २।७।१) हि गृ १।६।४ भा गृ २।१८ आग्नि गृ १।३।२।

२ ऋ०सं १।९४।१ १।१२ वा गृ ५।३१ १४।४।

पृथ्वी को सीचा, हे अश्विनो, वह जो आपका यश है उसमे मेरा अभिषेक कीजिये।

उपरिलिखित म०ब्रा० के पाठ से भिन्न पा०गृ० मे निम्नलिखित पाठ है —

येन श्रियमकृणुता येनावमृशता सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चता यद्वा तदश्विना यश ॥ [६३२]

जिसके द्वारा आप दोनो ने शोभा की सृष्टि की, जिसके द्वारा मदिरा का अपमान किया, जिसके द्वारा आँख का (ज्योति के लिये) अभिषेक किया, हे अश्विनो, इस प्रकार का जो आपका यश है (वह मुझे प्राप्त हो)।

इसमे कोई सन्देह नही कि पा० गृ० का मन्त्र अपूर्ण है और दूसरी ओर म०ब्रा० का पाठ शा०श्रौ० (८।११।१३) द्वारा भी पुष्ट है, तथापि गृह्य प्रसग मे पा०गृ० का पाठ (दे० स्त्रियम् के स्थान पर श्रियम् और अक्षान् के स्थान पर अक्षि) अधिक सगत प्रतीत होता है। सर्वांगीण शोभा, मदिरा से विरक्ति और दृष्टि मे ज्योति एक ब्रह्मचारी की वास्तविक उपलब्धि है। शा०श्रौ० मे अवभृथ के अवसर पर स्नान के पश्चात् जल मे से निकलते हुए होता द्वारा अपने ऊपर जल छिड़कने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

अधिकाश गृह्यसूत्रो मे समावर्तन-स्नान के निमित्त आपोहिष्ठीय (ऋ० १०।९।१-३) मन्त्रो तथा हिरण्यवर्णा शुचय इत्यादि मन्त्रसमूह का विनियोग किया गया है।[1] इन दोनो मन्त्रसमूहो के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये म०स० १८६-१८८ और २५-२८। केवल हि०गृ० (१।१०।२) मे पवमान सुवजन इत्यादि सम्पूर्ण अनुवाक (तै०ब्रा० १।४।८) का विनियोग किया गया है। इसका विवेचन भी उत्सग कर्म के अन्तर्गत हो चुका है।

का०गृ० (३।५) मे अन्य मन्त्रो के साथ साथ स्नान के अवसर पर निम्नलिखित दो मन्त्रो (का०स०२।१) के उच्चारण का भी विधान है —

शन्न आपो धन्वन्या शन्न सन्त्वनूप्या।
शन्न समुद्रिया आप शमु न सन्तु कूप्या ॥ [६३३]
आपो अस्मान् मातर सूदयन्तु घृतेन मा घृतप्व पुनन्तु।
विश्व हि रिप्र प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्य शुचिरापूत एमि ॥ [६३४]

---

१ शा०गृ० ३।१।४ और पा०गृ० २।६।१३ (केवल आपोहिष्ठीय), हि०गृ० १।१०।२ (केवल हिरण्यवर्णा), मा०गृ० १।२।११, का०गृ० ३।५, वा०गृ० ९।९, आप०गृ० ५।१२।६ (म०पा० २।७।१३-१८), भा०गृ० २।१९, आग्नि०गृ० १।३।३।

स्पष्ट ही यहाँ पर गुरुकुल के अन्तिम स्नान के अवसर पर उस वातावरण की समस्त तेजस्विता को समेट लेने की भावना व्यक्त की गई है। इसी क्रिया के साथ उच्चारणार्थ अधोलिखित मन्त्र भी उद्धृत किया गया है[1] —

यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय बलायेन्द्रियाय ।
वीर्यायान्नाद्याय त्विष्या अपचित्यै ॥ [६३०]

यश तेज ब्रह्मतेज बल ऐंद्रिय शक्ति वीरता अन्न भक्षण के सामर्थ्य दीप्ति तथा पतलेपन के लिये (मै अपना अभिषेक करता हूँ)।

उपर्युक्त मन्त्र म भी कर्ता और क्रिया का अभाव है। यदि यहाँ ऊपर के मन्त्र (६२६) के अह मामभिषिञ्चामि की अनुवृत्ति करली जाये तो अर्थ पूर्ण हो जाता है। पा गृ (२।६।१ ११) मे इन वाक्यो को एक भिन्न प्रकार से रखा गया है। तद नुसार तृतीय वाक्य (६३) मे से ब्रह्मवर्चसाय तक का अंश लेकर तीनो वाक्यो को मिलाकर दो बना दिये गये है। अब प्रथम वाक्य गो गृ के द्वितीय वाक्य के गृह्णामि तक चलता है और इसका विनियोग ब्रह्मचारी द्वारा स्नानार्थ भरित घटो मे से किसी एक से जल ग्रहण करने की क्रिया के लिये किया गया है। गृह्णामि शब्द इस विनि योग के पूर्णतया अनुकूल है। द्वितीय वाक्य का प्रारम्भ तेनाहम से होता है और यह गो गृ के तृतीय वाक्य के ब्रह्मवर्चसाय तक चलता है। इसका विनियोग पा गृ म उन आठ घटो मे से गृहीत जल द्वारा ब्रह्मचारी के अपने अभिषेक के लिये किया गया है। पा०गृ द्वारा किया गया वाक्यो का यह नया गठन एक सशोधन प्रतीत होता है क्योंकि इसक द्वारा प्रत्येक वाक्य मे कर्ता और क्रिया आ जाते है और उनक विनियोग मे भी अधिक स्पष्टता आ जाती है।

इन गृह्यसूत्रो मे अभिषेक क्रिया क लिये अधोलिखित मन्त्र का विनियोग भी किया गया है[2] —

येन स्त्रियमकृणुत येनापामृशत सुराम् ।
येनाक्षानभ्यषिञ्चत येनेमां पृथिवीं महीम् ।
यद्वां तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम् ॥ [६३१]

जिसके द्वारा आप दोनों ने स्त्री को (युवती) बनाया जिसके द्वारा मदिरा का अपमान किया जिसके द्वारा अक्ष वृक्षों को तथा इस विशाल

---

१ गो गृ ३।४।१६ (म ब्रा० १।७।४) खा गृ ३।१।१४।
२ गो गृ ३।४।१७ (मं ब्रा १।७।५) खा गृ ३।१।१५ पा गृ २।६।..

मध्याह्नसूर्य सम्बन्धी तपने वाले मरुतो के साथ सौ प्रकार के दान वाले अथवा सौ दिशाओ मे विभक्त हो ' ॥ सायकाल ससार को मिश्रित करने वालो के साथ सहस्रसनि हो ॥ सा०

मन्त्रों का यह पाठ म० ब्रा० में से उद्धृत है। पा०गृ० मे भ्राजभृष्टिभि के स्थान पर भ्राजभृष्ठ, आ त्वा विशान्त्वा मा विश के स्थान पर आविदन् मा गमय तथा द्वितीय मन्त्र में सान्तपनेभि के स्थान पर दिवायावभि पाठान्तर हैं। यहाँ सूर्यरूप मे इन्द्र की ही स्तुति की गई है। ये मन्त्र केवल गृह्यसूत्रो मे ही विद्यमान हैं, अत सम्भव है कि मौखिक गृह्य परम्परा से ही ये गृह्यसूत्रो मे आये हो।

गो०गृ० और खा० गृ० मे सूर्योपासना के लिये यह मन्त्र भी उद्धृत किया गया है[1] —

चक्षुरसि चक्षुष्ट्वमस्यव मे पाप्मान जहि।
सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसी ॥ [६३८]

तुम नेत्र हो, तुम नेत्रत्व हो, मेरे पाप नष्ट करो। राजा सोम तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हे नमस्कार हो, मुझ पर आघात मत करो।

मन्त्र मे यद्यपि सूर्य का स्पष्ट उल्लेख नही है, तथापि 'चक्षु' (नेत्र) से उसका सकेत अवश्य होता है क्योकि वैदिक साहित्य मे प्राय सूर्य की स्तुति देवताओ और ससार के नेत्र के रूप मे की गई है। यहाँ ब्रह्मचारी की शिक्षा की समाप्ति पर सूर्य के माध्यम से न केवल बाह्यदृष्टि अपितु अन्तर्दृष्टि की भी प्रार्थना की गई प्रतीत होती है।

हि०गृ० (१।६।६) मे सूर्योपासना के निमित्त ऋ०१।५०।१ तथा १।११५।१ मन्त्रो का विनियोग किया गया है। प्रथम मन्त्र का विस्तृत विवेचन सप्तम अध्याय मे आदित्यदर्शन के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०म०स०४७०)। द्वितीय मन्त्र अधो-लिखित है —

चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने ।
आ प्रा द्यावपृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ [६३६]

देवताओ का पूजनीय मुख, मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र उदय हो गया है। पृथ्वी, आकाश, और अन्तरिक्ष को उसने माप लिया है। सूर्य स्थावर और जगम, समस्त ससार का आत्मा है।

१ गो०गृ० ३।४।१६ (म०ब्रा० १।७।६), खा०गृ० ३।१।१६।

मरु भूमि का जल जलबहुल प्रदेश का जल समुद्र का जल तथा कुएँ का जल हमारे लिये शान्तिप्रद हो । ससार निर्माता जल हमारे पाप अपने सार से नष्ट कर दे घृत से पवित्र करने वाला जल घृत से मुझे पवित्र करे क्योकि यह जलदेव समस्त पाप को प्रवाहित कर देता है अत इस जल से पवित्र हुआ शुद्ध रूप वाला म स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करु ॥ दे०पा०

द्वितीय मन्त्र मे अभिव्यक्त पाप-नाशन तथा पवित्रता की प्रार्थना से शिक्षा के उद्देश्य द्योतित होते है । प्रथम मन्त्र का विनियोग एक अन्य स्थल (२७।१) पर भी नदी पार करने के लिए किया गया है । का गृ (४।३) द्वारा भी चौल के अन्तर्गत बालक के केशो को गीला करने के लिए इसका विनियोग किया गया है । प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य म भी यह मन्त्र उपलब्ध होता है ।[1] मा०श्रौ म भी गृह्यसूत्रों के समान ही इसका सम्बन्ध जल के साथ है । वहाँ वेदी निर्माण के अन्तर्गत गोष्ठ के स्वच्छीकरण के लिए इसके उच्चारण का विधान है । द्वितीय मन्त्र प्राय सभी सहिताओ मे विद्यमान है ।[2] इसके गृह्य विनियोग का मूल स्रोत न ब्रा (३।१।२।११) और आप श्रौ (१०।६।१) प्रतीत होता है क्योकि वहाँ सोमयाग के अन्तर्गत यजमान के स्नानार्थ इसका विनियोग किया गया है ।

सूर्योपासना

गो गृ खा गृ और पा गृ में सूर्योपासना के लिए निम्नलिखित तीन मन्त्रो के उच्चारण का विधान किया गया है[3] —

उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात् ।
दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वा त्वा विशाम्या मा विश ॥ [६२५]
सा तपनेभिरस्थात् । शतसनिरसि शतसनिं मा ॥ [६२६]
सायंयावभिरस्थात् । सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा ॥ [६२७]

उदय होता हुआ सूर्यरूप इन्द्र प्रकाशमान दीप्ति वाले प्रातःकाल ससार को मिश्रित करने वाले मरुतों के साथ स्थित हुआ है । हे सूर्य तुम दस प्रकार के दान वाले अथवा दस दिशाओ मे विभक्त हो मुझे भी दशसनि बना दो । मैं तुमम प्रविष्ट होता हूँ तुम मुझमे प्रविष्ट हो जाओ ॥

---

१ अथर्व १६।२।२ त ब्रा ६।४।१ मा श्रौ ६।१।५।२२ ।
२ ऋ १।१७।१ अथर्व ६।५१।२ वा सं ४।२ तै स १।२।१।१ म स १।२।१ ३।६।२ ।
३ गो गृ ३।७।१६ (म ब्रा १।७।६ ८) खा गृ ३।१।१७ १६ पा गृ २।६।१६

इन तीनो स्थानो के परिधानो के विमोचन के लिये पूर्वार्ध के तीन खण्ड किये गये। उत्तरार्ध के विनियोग का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य के मध्य जो दण्ड नियमो की स्थिरता का प्रतीक था, अब उसकी आवश्यकता नही, क्योंकि अब शिक्षा की समाप्ति पर स्नातक को नियम-पालन के विषय मे पूर्ण आत्म-विश्वास हो गया है। वैं० गृ० (२।१३) मे विधान है कि ब्रह्मचारी को उत्तरीय-विमोचन पूर्वार्ध द्वारा और यज्ञोपवीत-विमोचन उत्तरार्ध द्वारा करना चाहिये। इस विभाजन मे कोई विशेष तर्क नही प्रतीत होता। इन विमोचन-सम्बन्धी विनियोगों के अतिरिक्त भी कुछ स्थलो पर इसका विनियोग किया गया है। शा० गृ० (५।२।४) में उत्सर्ग के अन्तर्गत एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का निर्देश है। कौशिक० (८२।८) के अनुसार मृतक-संस्कार के अन्तर्गत शव के श्मशान पहुँच जाने पर किसी प्रौढ व्यक्ति को इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। यहाँ स्पष्ट ही शरीर से मुक्ति की भावना के प्रति संकेत होता है।

यह मन्त्र सभी संहिताओ मे अनेक बार आया है।[1] उत्तरार्ध मे अथर्व० के अथा के स्थान पर अधा पाठ को छोडकर सभी संहिताओ मे मन्त्र का यही पाठ है। ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रो मे विभिन्न कर्मों के अन्तर्गत अधिकतर वरुण को आहुति देने के लिये इसके विविध विनियोग हुए हैं।[2] किन्तु मेखला-विमोचन-सम्बन्धी गृह्य विनियोग का आधार श० ब्रा० और का० श्रौ० प्रतीत होते है क्योंकि वहाँ अग्नि-चयन के अन्तर्गत विष्णुक्रमो मे पाशोन्मोचनार्थ इसका प्रयोग किया गया है।[3] गृह्य-विनियोग का मूल-स्रोत आप० श्रौ० (१६।१०।१४) भी हो सकता है क्योंकि वहाँ सिंहासन पर अग्न्याधान कर्म मे अग्नि-पात्र को थामने वाले पाश के ग्रन्थि-विमोचनार्थ इसके उच्चारण का विधान है। इन दोनो कर्मों मे खोलने की क्रिया ही प्रधान है। यह मेखला-विमोचन के समकक्ष है।

आग्नि० गृ० (१।३।३) मे मेखला-विमोचनार्थ तै० सं० (१।१।१०।२) के निम्नलिखित समान मन्त्र का विनियोग किया गया है —

---

१ ऋ० १।२४।१५, अथर्व० ७।८।३३, १८।४।६९, वा०सं० १२।१२, तै० सं० १।५।११।३, २।५।१२।१, ४।२।१।३, ११।२, का०सं०३।८, १६।८, १९।११, २।१।१३, मै० सं० १।२।१८, २।७।८, ३।२।१, ४।१०।४।

२ तै०ब्रा०२।८।१।६, तै०ब्रा०२।४।१, शा०श्रौ०६।१०।११, ८।११।१५, का० श्रौ० २५।१।११, आप० श्रौ० ३।१३।१, ७।२७।१६, ६।८।७, १७।२२।३, मा० श्रौ० ५।१।१३।२६।

३ श०ब्रा० ६।७।३।८ (शिक्यपाश च रुक्मपाश चो मुञ्चते) का०श्रौ० १६।८।१७।

क्योंकि सभी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में यह मन्त्र प्रथम मन्त्र के साथ साथ आया है अतः उसका विवेचन इसके विषय में भी संगत है। संहिताओं में भी ये दोनों मन्त्र साथ-साथ आये हैं।[1] निरुक्त (१२।१५।१६) में भी इन्हें एक साथ उद्धृत किया गया है। श. ब्रा. के अतिरिक्त कुछेक श्रौतसूत्रों में भी ये साथ-साथ दिये गये हैं।[2]

मेखला विमोचन

सामवेदीय गृह्यसूत्रों तथा पा. गृ० में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए ब्रह्मचारी को अपनी मेखला का विमोचन करना चाहिये[3] —

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ [६४०]

हे वरुण हमसे ऊपर का पाश, नीचे का पाश और मध्यम पाश शिथिल कर दीजिये। हे आदित्य, हम पापरहित होकर पूर्णता के लिये आपके नियम में स्थिर रहें।

मा. गृ. (१।२३।२७) में भी इस मन्त्र का विनियोग मेखला विमोचन के लिये किया गया है परन्तु वहाँ संस्कार का उल्लेख नहीं। विभिन्न दीक्षाओं के वर्णन के पश्चात् केवल मात्र इस क्रिया को भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। ड्रेस्डन ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी की है कि यह सूत्र स्थान भ्रष्ट है क्योंकि इससे पूर्व के सूत्र की पुनरावृत्ति से अध्यायान्त का संकेत प्राप्त होता है।[4] हि० गृ. (१।१।१) में इसका विनियोग हुआ तो समावर्तन के अन्तर्गत ही है, किन्तु केवल एक ही क्रिया के साथ इसका सम्बन्ध नहीं। विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्ध के अनुसार उसे खण्डित किया गया है। तदनुसार उत्तरीय विमोचन के लिये अस्मत् तक प्रथम पाद का, अधोवसन विमोचनार्थ अवाधमम् का, मेखला विमोचनार्थ वि मध्यमं श्रथाय का और दण्ड विमोचनार्थ मन्त्र के सम्पूर्ण-उत्तरार्ध का उच्चारण किया जाना चाहिए। स्पष्ट तया यहाँ शरीर के ऊर्ध्व, मध्यम तथा अवर अंगों से सम्बन्ध के आधार पर क्रमशः

१. अथर्व. ११।२।१६।३५, वा. सं. ७।४१ ४२, तै. सं. १।४।४३।१, म. सं० १।३।३७, का. सं. ४।१६।

२. श. ब्रा. ४।३।४।१६ १, आ. श्रौ. ६।१।१८, शां. श्रौ. ६।२०।२१, का० श्रौ. १०।२।५।

३. गो. गृ. ३।४।२२ (म. ब्रा. १।७।१६), खा. गृ. ३।१।२२, ज. गृ. १७।१८, पा. गृ० २।६।१५।

४. मा. गृ. (अनु.) पृ. १७१

भा० गृ० और आग्नि० गृ० का पूर्वार्ध इसके पूर्वार्ध के लगभग समान है। भा०गृ० का एक मात्र पाठान्तर अयम् के स्थान पर इदम् और आग्नि० गृ० का सोम के स्थान पर भग है। भा० गृ० मे उत्तरार्ध अधोलिखित है —

स मा प्रविशत्वन्नाद्येन भगेन च दीर्घायुरहमन्नादो भूयासम् ॥

(वह मुझमे अन्नभक्षण की सामर्थ्य और तेज के साथ प्रवेश करे। दीर्घायु मैं अन्नभक्षण मे समर्थ हो जाऊँ।)

यहाँ छन्दोभङ्ग हो गया है, किन्तु आग्नि० गृ० मे उत्तराध भिन्न अर्थात् स मे मुख प्रसर्पतु आयुषे च भगाय च होने पर भी अनुष्टुभ् छन्द सुरक्षित है –

पा० गृ० के पाठ के बहुत समान होने पर भी म० पा० मे पाठ निम्नलिखित रूप मे उससे अधिक लम्बा है —

अन्नाद्याय व्यूहध्व दीर्घायुरहमन्नादो भूयासम्।
सोमो राजायमागमत् स मे मुख प्रवेक्ष्यति भगेन सह वर्चसा ॥[६४३]

हे दाँतो, तुम अन्न-भक्षरण-सामर्थ्य के लिये व्यूहरचना करो। दीर्घायु मैं अन्नभक्षरण मे समर्थ हो जाऊँ। यह राजा सोम आया है, वह भाग्य और तेज के साथ मेरे मुख मे प्रवेश करेगा।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है यह अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् का सयोग प्रतीत होता है। व्यूहध्वम् तक प्रथम पाद अनुष्टुभ् है, इसके आगे भूयासम् तक का अश त्रिष्टुभ् है उत्तराध मे क्रमश आगमत् तक, प्रवेक्ष्यति तक, और फिर अन्तिम—ये तीनो पाद अनुष्टुभ् हैं। इसकी तुलना मैक्डोनल द्वारा उल्लिखित गायत्री के साथ त्रिष्टुभ् के सयोग से की जा सकती है।[1] हि० गृ० मे निम्नलिखित रूप मे पूर्ण छन्दोभङ्ग के पश्चात् गद्यात्मक पाठ दिया गया है —

अन्नाद्याय व्यूहध्व दीर्घायुत्वाय व्यूहध्व ब्रह्मवर्चसाय व्यूहध्वम्
दीर्घायुरहमन्नादो ब्रह्मवर्चसी भूयासम् ॥ [६४४]

यह मन्त्र केवल गृह्यसूत्रो मे उपलब्ध होता है।

नेत्राभ्यञ्जन

अधिकाश कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे विधान है कि भावी स्नातक को निम्न-

---

१ वै०ग्रा० स्टू० परिशिष्ट II १० b २ (पृष्ठ ४४५)। ऋ०१०।२२ मे सर्वानुक्रमणी द्वारा इसे पुरस्ताद्‌बृहती की सज्ञा दी गई है।

इम वि ष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता सुकेत ।
धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि ॥ [६४१]

मैं वरुण के इस पाश को काट डालता हूँ जिसे शोभन मुख वाले सविता ने बांधा था । विधाता की योनि अर्थात् आदिस्रोत रूप सत्कार्यों के फलरूप लोक में मैं उसे पति के साथ सुखप्रद बनाती हूँ ॥

इसके गृह्य विनियोग का आधार श्रौत विनियोग प्रतीत होता है क्योंकि तदनुसार दीक्षा के अन्तर्गत यजमान पत्नी को अपनी मेखला शिथिल करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये ।[1] परन्तु इस प्रसग मे पत्या शब्द का विशेष महत्त्व है । सम्भवतया समावर्तन मे ब्रह्मचारी द्वारा उच्चारणार्थ इसका विनियोग करते हुए आग्नि० गृ० के रचयिता का ध्यान इस शब्द की ओर नही गया । कुछ गृह्यसूत्रों मे इस मन्त्र के साथ साथ एक अन्य मन्त्र प्र त्वा मुञ्चामि इत्यादि का विनियोग विवाह के अन्तर्गत वधू के शिखा विमोचन कर्म मे किया गया है (दे म स० १६०) । वहाँ पत्या सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न नही होती । वैसे यदि पति का अर्थ जगती-पति परमेश्वर किया जाये तो यह कठिनाई भी नहीं रहती । इसके अतिरिक्त मन्त्र मे (मेखलारूप) पाश के सविता द्वारा बाँधे जाने का उल्लेख भी है । और उपनयन में सविता का विशेष महत्त्व हम देख ही चुके हैं ।

८ दन्तपरिकर्म

अधिकांश यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे पाठान्तरो सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग दन्तपरिकर्म के लिये किया गया है[2] —

अन्नाद्याय व्यूहध्व सोमो राजायमागमत् ।
स मे मुख प्रमाक्ष्यते यशसा च भगेन च ॥ [६४२]

हे दांतो तुम अन्नभक्षण की सामर्थ्य के लिये व्यूहरचना करो यह राजा सोम आया है—वह यश और तेज द्वारा मेरा मुख अलंकृत कर देगा ।

इससे प्रकट होता है कि शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा शिक्षा का प्रमुख अग था और अन्न भक्षण का उद्देश्य केवल जिह्वा की तृप्ति नही अपितु तेज प्राप्त करना था । उपरिलिखित परिपूर्ण अनुष्टुभ् मन्त्र मा० गृ० में से उद्धृत है ।

१ आप श्रौ० १०।६।१३ वै श्र स ३।५।६।१२ कु श्रौ० १०।८।२४ शतपथ० १४।१।१८, ५८ ।
२ आप गृ ५।१२।६ (म पा २।७।१६) पा०गृ २।६।१७ हि गृ १।११।१ भा गृ २।२ आग्नि गृ १।३।३ व गृ २।१३ ।

प्राण, तुम नष्ट न हो।

अन्तिम पाद छोडकर यह मन्त्र लगभग अथर्व० (२।१५।१) के गायत्री पद्य जैसा है। अथर्व० मे तृतीय पाद के प्रारम्भ मे एवा है और विम के स्थान पर विभे- पाठ है। मन्त्र प्राण को सम्बोधित किया गया है, अत नेत्रो के साथ उसका सम्बन्ध पूर्णतया स्पष्ट नही है। सम्भवतया प्राण से यहाँ अभिप्राय सामान्य ज्ञानेन्द्रियो का है। कौशिक० (५४।११) मे अथर्व० मन्त्र का विनियोग गोदान के अन्तर्गत बालक को स्थालीपाक खिलाने के लिये किया गया है।

पा०गृ० (२।६।२७) मे नेत्राभ्यञ्जनार्थ निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है —

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ [६४७]

तुम वृत्र की आँख की पुतली हो, तुम दृष्टि-प्रद हो, मुझे दृष्टि प्रदान करो।

मा०गृ० (१।११।८) मे इसे विवाह के अन्तगत वधू के नेत्राभ्यञ्जनार्थ उद्धृत किया गया है। यह वाक्य वा०स० (४।३), तै०स० (६।१।१।५) और मै०स० (१।२।१) के एक मन्त्र का अश है।

इसके गृह्य-विनियोग का स्रोत ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है। श०ब्रा० और कुछ श्रौतसूत्रो मे विधान है कि अग्निष्टोम के अन्तर्गत दीक्षा के अवसर पर यजमान को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी आँखो मे अञ्जन लगाना चाहिए।[1] वृत्र की आँख की पुतली के अञ्जन कहे जाने के सम्बन्ध मे तै०स० ६।१।१।५ मे यह आख्यानक दिया गया है —"जब इन्द्र ने वृत्र को पराजित किया तो उस (वृत्र) की आँख की पुतली गिर कर अञ्जन बन गई।" कही इसका यह अभि-प्राय तो नही कि वृत्ररूपी मेघ मे से वर्षा की बूद के किसी विशेष स्थान पर गिरने से अच्छा अञ्जन बनता हो ?

आ०गृ० ३।८।६ मे इस कर्म के लिए निम्नलिखित वाक्य दिया गया है —

अश्मनस्तेजोऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ [६४८]

तुम शिला के तेज हो, मेरी दृष्टि की रक्षा करो।

केवल चक्षुर्मे पाहि शब्द पूर्ववर्ती साहित्य मे एक बडे वाक्य के अश के रूप मे

---

१ श०ब्रा० ३।१।३।१५, आप० श्रौ० १०।७।१, मा०श्रौ० २।१।१।३८, का०श्रौ० ७।२।३४।

लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी आँखो मे अञ्जन डालना चाहिये[1]—

यदाञ्जन त्रककुद जात हिमवत उपरि ।
तेन वामाञ्जे तेजसे वर्चसे भगाय च ॥

मयि पर्वतपूरुष मयि पर्वतवर्चस मयि पर्वतभेषज मयि पर्वतायुषम् ॥ [६४५]

तीन शिखरो से सम्बद्ध जो अजन हिमालय के ऊपर उत्पन्न हुआ है आँखो में तेज वर्चस्व और भाग्य के लिये उससे तुम्हारा अभ्यञ्जन करता हूँ । मुझमे पर्वताकार पौरुष हो मुझमे पर्वताकार वर्चस्व हो मुझमे पर्वताकार औषध हो मुझमे पर्वताकार आयु हो ॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ म पा मे से उद्धृत है। इन सभी गृह्यसूत्रो मे प्रथम पक्ति यथावत् है। द्वितीय पक्ति मे हि गृ आञ्जे तक म० पा के समान है और उसके पश्चात् अह अगेन सह वर्चसा पाठ है। तृतीय पक्ति मे से इसम केवल मयि पर्वतपूरुषम् लिया गया है। भा गृ की द्वितीय पक्ति में केवल मयि पर्वत वर्चसम् शब्द है । आग्नि गृ० की यह पक्ति तेन मां आयुष्य वर्चस्य मे अस्तु है। परन्तु इन सभी पाठान्तरो मे भाव एक समान ही है। दीर्घायु वर्चस्व और तेज की प्रार्थना सर्वत्र प्रमुख है। किसी भी गृह्यसूत्र मे प्रथम पक्ति के पाठान्तर न होने का कारण सम्भवतया इसका अथर्व० (४।९।९) से उद्धृत होना है। अथर्व का यह मन्त्र त ब्रा (६।१ १२) मे भी उद्धृत है—और वहाँ भी इसका प्रयोग नेत्राभ्यञ्जन के लिये किया गया है। त्रककुद का अर्थ त्रिककुद् पर्वत पर उत्पन्न होने वाला भी किया जाता है। इसी को आगे चलकर त्रिकूट पर्वत कहा जाने लगा[2]। म पा के मन्त्र की द्वितीय और तृतीय पक्तियाँ गृह्य-परम्परागत ही प्रतीत होती है और सम्भवतया इसी कारण गृह्यसूत्रो मे इनके पाठभेद दृष्टिगोचर होते हैं।

भा गृ १।२।११ मे नेत्राभ्यञ्जनार्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यत ।
एव मे प्राण मा बिभ एव मे प्राण मा रिष ॥ [६४६]

जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी न तो भयभीत होते है और न ही नष्ट होते हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण तुम न डरो उसी प्रकार हे मेरे

१ आप गृ ५।१२।११ (म पा २।८।११ ६।१) हि गृ १।११।५ भा गृ २।२२ आग्नि गृ १।३।५ ब गृ २।१५।
२ दे अमरकोष २।३।६३६।

(२।६।१८-१९) के दोनो वाक्यो को एक साथ लेकर मा०गृ० (१।६।२५) और वा०गृ० (१२।२) का पूर्ण मन्त्र बनता है जिसका विनियोग उनमे विवाह के अन्तगत वधू द्वारा अपने विविध अगो के स्पश के प्रसग मे किया गया है। मा०गृ० मे मन्त्र का पूर्वार्ध यह है —

प्राणापानौ मे तर्पय समानव्यानौ मे तर्पय उदानरूपे मे तर्पय ।

पा०गृ० मे जहाँ दोनो वाक्यो मे आँखो और कानो की पुनरावृत्ति होती है, वहाँ सम्भवतया उससे बचने के लिए प्राण और अपान के साथ साथ अन्य तीन प्राणो का भी परिगणन कर दिया गया है। वा०गृ० मे सभी स्थलो पर तपय के स्थान पर तर्पयामि रूप है। मा०गृ० और वा०गृ० के मन्त्र का उत्तरार्ध यथावत् पा०गृ० का दूसरा वाक्य (६५०) ही है—केवल यहाँ अन्तिम भूयासम् का अभाव है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे अगानुलेपनाथ अधोलिखित मन्त्र रखा गया है[1] —

अप्सरस्सु यो गन्धो गन्धर्वेषु च यद्यश ।
दैवो यो मानुषो गन्ध स मा गन्ध सुरभिर्जुषताम् ॥ [६५१]

जो सुगन्ध अप्सराओ मे है, और जो यश गन्धर्वों मे है, जो दिव्य और मानुष सुगन्ध है, वह यशोरूप सुगन्ध मुझे प्राप्त हो।

उपरिलिखित पाठ म० पा० मे से उद्धृत है। गृह्यसूत्रो मे कुछ पाठभेद है। भा०गृ० मे प्रथम पाद यद्वर्च अप्सरासु च है। दैव के स्थान पर दिव्य पाठ है और चतुर्थ पाद स मा विशतादिह है। हि०गृ० का पूर्वाध म०पा० के समान है, उत्तरार्ध मे दैव के स्थान पर दैव्य पाठ है और चतुथ पाद भा०गृ० के समान है। केवल मा के स्थान पर माम् भेद है। इन गृह्यसूत्रो मे इसके समान एक अन्य मन्त्र उपनयन के अन्तर्गत समिदाधान प्रसग मे उद्धृत किया गया है (दे०म०स० ६०६)।

नव-वस्त्रपरिधान

कुछ गृह्यसूत्रो के अनुसार भावी स्नातक को नव-वस्त्र परिधान के समय निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए[2] —

सोमस्य तनूरसि तनुव मे पाहि स्वा मा तनूराविश ॥ [६५२]

---

१ आप०गृ० ५।१२।८(म०पा०२।७।२४), हि०गृ० १।१०।४, भा०गृ० २।२०, वै०गृ० २।१४।

२ आप०गृ० ५।१२।८ (म०पा० २।७।२०), हि०गृ० १।१०।५, आग्नि०गृ० १।३।३, वै०गृ० २।१४।

उपलब्ध होते हैं।[1] गृह्य विनियोग का मूलाधार त०स० १।२।१।२ प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी सोमयाग के अन्तर्गत यजमान द्वारा चक्षुष्पा असि चक्षुर्मे पाहि वाक्य का उच्चारण करते हुए अपने नेत्राभ्यञ्जन का विधान है। शां०श्रौ० (८।४।९) के अनुसार भी सोमचरु के अवसर पर यजमान को अपनी उगली पर चर्बी लगा कर उससे अपनी आँखें आँजनी चाहियें। शिला के तेज विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि अंजन बनाने के लिए अवश्य ही किसी विशेष पत्थर का प्रयोग होता था।

अङ्गलेप द्वारा शरीर के अन्य अङ्गों का अनुलेपन

पा गृ (२।६।१८) में निर्देश है कि भावी स्नातक को अपने नासा रन्ध्रों और मुख पर अंगलेपन करते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए —

प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय। [६४६]

मेरे प्राण और अपान को तृप्त करो मेरी दृष्टि तथा कानों को तृप्त करो।

स्वल्प पाठान्तर सहित इस वाक्य का स्रोत यजुर्वेद-संहितायें हैं।[2] श ब्रा (३।९।४।७) में सोमाभिषवण प्रसंग में निग्राभ्य जल के प्रति यजमान द्वारा इससे मिलते जुलते वाक्य के उच्चारण का विधान है। गृह्य विनियोग में भी उक्त वाक्य अङ्गानुलेप को ही सम्बोधित किया गया है। यहाँ प्राणापानौ का अर्थ दोनों नासा रन्ध्र तथा चक्षु और श्रोत्रम् का अर्थ मुख के अन्य अंग हैं।

निम्नलिखित वाक्य का विनियोग पा गृ (२।६।१९) द्वारा एक बार और शरीर के विविध अंगों के अनुलेपनार्थ किया गया है —

सुचक्षा अहमक्षिभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्। [६५]

मैं आँखों से शुभ दृष्टि वाला मुख से तेजस्वी तथा कानों से शोभन श्रवण वाला हो जाऊँ।

इस वाक्य में भी मुखाङ्गों का ही परिगणन किया गया है। इन विविध अंगों को पृथक् पृथक् लेकर पा गृ द्वारा उस समय इसके उच्चारण का विधान किया गया है जब किसी व्यक्ति ने कोई अनिष्ट देखा सुना या छुआ हो।[3] पा गृ

१ वा स २।१६ १४।१७ वा स का २।४।४ त स १।१।१३।२ ३।२।१ ।२ ४ ३।६।२ म स १।२।१ ४।२६ २।८।३ ३।६।३ ४।१।१४ का स १।१२ १७।३ ३१।११ ३५।७ कौ ब्रा १६।५ श ब्रा १।८।३।१९ ६।२।१७ त ब्रा ३।२।९।५ शां श्रौ ४।७।१२ ७।१ ।१५ ८।४।६।

२ वा सं ६।३१ त स ३।१।८।१ म स १।३।२ का स ३।१०।

३ पा गृ ३।१।७ —अन्त्य भूयासम् निकालकर मयि दक्षक्रतु जोड़ा गया है।

मैं सब ओर से आवृत होने के लिए, यश धारण करने के लिए, दीर्घायु के लिए (तुम्हे धारण करता हूँ) जिससे मैं वृद्धावस्था को सुखपूर्वक प्राप्त करूँ। धन की पुष्टि का सब ओर से मैं आवरण करूँगा और बहुत समृद्ध सौ वर्ष तक जीवित रहूँगा। मुझे आकाश और पृथ्वी तथा इन्द्र और बृहस्पति ने यश से आवृत किया है, यश और भग मुझे प्राप्त करे, मुझे यश प्राप्त हो।

प्रथम मन्त्र की तुलना मा०गृ० (१।६।२७) और वा०गृ० (१२।३) मे विवाह के अन्तर्गत वधू द्वारा नव-वस्त्र-परिधान के अवसर पर विनियुक्त मन्त्र से की जा सकती है। वहाँ कुछ पाठान्तर हैं। **परिधास्यै यशोधास्यै** के स्थान पर **परिधास्ये यशोधास्ये, असिम** के स्थान पर **अस्तु** तथा **जीवामि** के स्थान पर **जीवेम** पाठ हैं। **च** का अभाव है। मा०गृ० मे उसी प्रसग मे उत्तरीय धारण करने के लिए द्वितीय मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। इसमे **भगश्च** के पश्चात् **मा रिषद् यशो मा प्रतिमुच्यताम्** पाठ है। ये दोनो मन्त्र गृह्य-परम्परागत प्रतीत होते हैं क्योकि किसी प्राग्-गृह्य-सूत्र ग्रन्थ में ये उपलब्ध नही। दीर्घायु, यश और ऐश्वय की कामना भावी गृहस्थ के लिए पूर्णतया आदर्श कामना है। इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन शिक्षा कितनी व्यावहारिक थी क्योकि उसी के बल पर स्नातक इन कामनाओ की पूर्ति की अभिलाषा कर सकता है।

आभूषण

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे विधान है कि स्नातक को दो कुण्डल और सुवर्ण अथवा बदर-वृक्ष की मणि लेकर उन्हें एक सूत्र मे बाध देना चाहिए। तत्पश्चात् इन्हे दर्वी मे लेकर उसे निम्नलिखित छ: मन्त्रो का उच्चारण करते हुए उन पर घृत की आहुतिया डालनी चाहियें[1] —

आयुष्य वर्चस्य सुवीर्यं रायस्पोषम द्भिद्यम्।
इद हिरण्य वर्चस्वज्ज्यैत्र्याया विशतान्माम्॥ [६५६]
उच्चैर्वाजि पृतनाजित्सत्रासाह धनञ्जयम्।
सर्वा समृद्धीर्ऋद्धयो हिरण्येऽस्मिन् समाहिता॥ [६५७]
शुनमह हिरण्यस्य पितुरिव नामाग्रभैषम्।
त मा हिरण्यवर्चस पुरुषु प्रिय कुरु॥ [६५८]

---

१ आप०गृ० ५।१२।६, ८ (म०पा० २।८।१-४, ८, ७।२५), हि०गृ० १।१०।६, ११।१, मा०गृ० २।२१, आग्नि०गृ० १।३।४, बै०गृ० २।१५।

तुम सोम का शरीर हो, मेरे शरीर की रक्षा करो मेरे अपने शरीर में प्रवेश करो।

म पा मे उपरिलिखित पाठ दिया गया है। हि गृ मे इसके आगे शिवा मा तनूराविश जोड़ा गया है। गृह्य विनियोग की पुष्टि त स और आप श्रौ द्वारा होती है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम की दीक्षा मे यजमान द्वारा नव वस्त्र-परिधान के समय इसके उच्चारण का विधान है।[1] वहाँ यह कथन पाहि तक है।

मा गृ (१।९।१२) और का गृ (६।६) मे इस क्रिया के लिए एक अन्य वाक्य दिया गया है —

वस्वसि वसुमन्तं मा कुरु सौवर्चसाय मा तेजसे ब्रह्मवर्चसाय परिदधामि ॥ [६५३]

तुम धन हो मुझे धनवान् बनाओ। अपने अन्दर सुवर्चस्व तेज तथा ब्रह्मतेज के लिए मैं तुम्हें धारण करता हूँ।

का गृ मे मा तेजसे के स्थान पर मायु तेजसे तथा परिदधामि (लट्) के स्थान पर परिदधानि (लोट्) पाठ है। क्स्डन ने माम् को दोनो पक्षो का वाचक मानकर तदनुसार अनुवाद किया है। यदि यहाँ मा ही रखा जाये तो इसे माम् के अर्थ मे ही मानना पड़ेगा अन्यथा परिदधामि के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित नही होता। दूसरी सम्भावना यह भी है कि इस मा को भी कुरु से सम्बद्ध किया जाये। तदनुसार अनुवाद होगा— सुवर्चस्व के लिए तुम मुझे धनवान् बनाओ।

पा गृ (२।१।६) और भा गृ (१।८।६) मे वस्त्र परिधान के निमित्त ऋ १।१५२।१ का विनियोग किया गया है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिये विवाह मे म स ११७।

पा गृ (२।६।२ २१) द्वारा क्रमश मुख्य वस्त्र और उत्तरीय धारण करने के लिए ब्रह्मचारी द्वारा निम्नलिखित दो मन्त्रो के उच्चारण का विधान किया गया है —

परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ [६५४]
यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ [६५५]

---

१ त सं १।२।१।१ ६।१।१।३ आप श्रौ १०।६।१।

पृतनाजि है—इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता, दूसरी ओर पृतनाजित् का स्पष्ट अर्थ शत्रुसैन्य-विजेता है। भा०गृ० में प्रथम मन्त्र मे हिरण्यम् के पश्चात् आयुषे रखा गया है और वर्चस्वज्ज्यैष्ठ्याय के स्थान पर वचसे जैत्रियाय पाठ है। आयुषे के समावेश से छन्दोभङ्ग हो गया है। चतुर्थ मन्त्र मे इस गृह्य मे विश्येषु के स्थान पर विश्वेषु पाठ है। परन्तु विश्येषु पाठ इसलिए रखा गया है क्योंकि जहा अन्य तीन वर्णों की गणना है वहाँ इस शब्द से एक वर्ण (वैश्य) का बोध होता है। पञ्चम मन्त्र म विराजम् के स्थान पर स्वराजम् तथा अभिश्री के स्थान पर अभिष्टि पाठ है। हि०गृ० मे प्रथम मन्त्र मे सुवीर्यम् का अभाव है। द्वितीय मन्त्र मे पृतनाजित् सत्रा-साहम् के स्थान पर पृतनाषाट् समासाहम् और समाहिता के स्थान पर समाभृता पाठ है। तृतीय मन्त्र के अन्त मे षष्ठ मन्त्र के चतुर्थपाद-भूत शब्दों ब्रह्मवर्चसिन मा कृणोतु को जोड़ा गया है। चतुर्थ मन्त्र मे यहाँ भी विश्येषु के स्थान पर विश्वेषु पाठ है। इसका पञ्चम मन्त्र भा०गृ० के पञ्चम मन्त्र से एकरूप है। आग्नि०गृ० मे मुख्य रूप से हि०गृ० का अनुसरण किया गया है। चतुर्थ मन्त्र मे यहा सभी स्थलो पर प्रियम् के स्थान पर यश पाठ दिया गया है और म०पा० का विश्येषु ही रखा गया है।

जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, केवल अन्तिम दो मन्त्रो के विषय मे ही मतभेद है। तदनुसार हि०गृ० और वै०गृ० मे पञ्चम मन्त्र का विनियोग आहुतियो के लिये नही किया गया। हि०गृ० मे तो यह कुण्डल पहनने के लिए विनियुक्त है और वै०गृ० के अनुसार किसी जल से पूर्ण पात्र मे आभूषण धोते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिए। आप०गृ० ८।२३।६ (म०पा० २।२२।२०) मे रोगादि-निवारण के निमित्त कर्म मे भी इसका विनियोग किया गया है। दूसरी ओर आप०गृ० और भा०गृ० मे इन आहुतियो के लिए षष्ठ मन्त्र नही प्रयुक्त हुआ। उनके अनुसार इसका उच्चारण करते हुए स्नातक को सुवर्ण-मणि को उदपात्र मे घुमाना चाहिये। हि०गृ० (१।११।३) मे कण्ठ पर बदर-वृक्ष की मणि बाँधने के लिये भी इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। इस विनियोग का प्रमुख आधार ओषधे शब्द है क्योंकि यह किसी भी काष्ठ-निर्मित पदार्थ का द्योतक है। पा०गृ० (१।१३।१) के अनुसार चतुर्थी कर्म के अन्तर्गत पत्नी के नासारन्ध्रो मे सिंही नामक ओषधि का रस डालते हुए पति को इसका उच्चारण करना चाहिए। इस गृह्यसूत्र मे सहस्वती के स्थान पर सरस्वती पाठ है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है —

अस्या अह बृहत्या पुत्र पितुरिव नाम अग्रभम् ॥

(विशाल 'पृथ्वी' के पुत्र मैंने पिता के नाम के समान इस (ओषधि) का नाम लिया है।) शा०गृ० (३।१।७) मे ब्रह्मचारी की ग्रीवा पर मणि बाधने के लिये केवल

प्रिय मा देवेषु कुरु प्रिय मा ब्राह्मणे कुरु ।
प्रिय विश्येषु शूद्रेषु प्रिय राजसु मा कुरु ॥ [६५६]
सम्राज च विराज चाभिश्रीर्या च नो गृहे ।
लक्ष्मी राष्ट्रस्य या मुखे तया मा स सृजामसि ॥ [६६०]
इयमोषधे त्रायमाणा सहमाना सहस्वती ।
सा मा हिरण्यवर्चस ब्रह्मवर्चसिन मा करोतु ॥ [६६१]

आयुप्रद वर्च प्रद वीरतायुक्त धन का पोषक उत्पादक यह वर्चो युक्त सुवर्ण विजय के लिए मुझमे प्रवेश करे ॥ (यह सुवर्ण) अत्यधिक बलशाली शत्रुसैन्य विजेता युद्ध-समर्थ तथा धन विजेता है इसी सुवर्ण म सब समृद्धियाँ और ऋद्धियाँ समाहित है ॥ मैंने पिता के नाम के तुल्य स्वर्ण का सुन्दर नाम ग्रहण किया है उस प्रकार के मुझे तुम स्वर्ण-सम तेजस्वी और सब जनो म प्रिय बना दो ॥ तुम मुझे देवताओ म प्रिय बना दो ब्राह्मण वर्ग मे प्रिय बना दो वैश्यो और शूद्रो म तथा क्षत्रियो म मुझे प्रिय बना दो ॥ सम्राट और विराट तथा उनकी जो शोभा हमारे घर मे है तथा राष्ट्र म जिस लक्ष्मी की प्रधानता है उससे मै स्वय को सयुक्त करता हूँ ॥ हे ओषधि जो यह तुम रक्षा करने वाली सहिष्णुता तथा शक्ति से युक्त हो उस प्रकार की तुम मुझे स्वर्ण-सम-तेजस्वी और ब्रह्मतेज से युक्त बना दो ॥

इन मन्त्रो मे बहुत सुन्दर ढग से व्यावहारिक गृहस्थ जीवन मे सुवर्ण का महत्त्व समझाया गया है । सामाजिक प्रतिष्ठा ही नही अपितु स्थूल सुख-समृद्धि के लिए भी धन अनिवार्य है । परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि धन से प्रभुता की उतनी कामना न करके सब जनो मे प्रिय होने की कामना अधिक व्यक्त की गई है । अभी तक ब्रह्मचारी इस भौतिक जीवन से नितान्त अस्पृष्ट था परन्तु अब उस जीवन मे प्रवेश करने से पूर्व उसे धन का महत्त्व बताया जा रहा है जिससे वह जीविकोपार्जन के लिए प्रेरित हो और सुख पूर्वक अपना तथा परिवार का पालन-पोषण करे । साथ ही साथ स्वाध्याय-जन्य ब्रह्मतेज को भी भुलाया नहीं गया । इस प्रकार का भौतिक और आध्यात्मिक सामञ्जस्य ही समाज की उन्नति के लिए आदर्श है ।

द्वितीय मन्त्र के प्रथम दो शब्दो को छोड कर मन्त्रो का उपरिलिखित पाठ म पा के अनुसार है । वहाँ प्रथम शब्द उच्चैर्वादि है परन्तु विन्तरनित्ज ने उच्चैर्वाजि पाठ भी दिया है । यह पाठ अधिकाश गृह्यसूत्रो मे स्वीकार किया गया है इसके अतिरिक्त सुवर्ण के लिए अत्यधिक बोलने वाला (उच्चैर्वादि) की अपेक्षा अत्यधिक बलशाली (उच्चैर्वाजि) अधिक अच्छा विशेषण है । द्वितीय शब्द अन्त्य तकार रहित

(वक्ष) से जोडा गया है। तै० ब्रा० (१।२।१।१६-२०) और आप० श्रौ० (५।११।५) इस मन्त्र का मूल स्रोत प्रतीत होते हैं क्योंकि वहाँ दर्धापुत्वाय से आगे का अश ठीक समान है। परन्तु जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, इन्हे स्रोत नही कहा जा सकता, क्योंकि उनमे विधान है कि अग्न्याधान के अवसर पर अग्नि-समिन्धन के पश्चात् यजमान को इसका उच्चारण करते हुए अग्नि मे श्वास लेना चाहिये। वस्तुत मन्त्र के इस अश की प्रार्थना सामान्य प्रकार की है।

कुण्डल पहनने के लिये हि० गृ० (१।११।२) और वै० गृ० (२।१५) मे निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है —

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे।
सवत्सरस्य धायसा तेन सन्ननुगृह्णासि ॥ [६६४]।

आयु तथा वर्चस्विता के लिये ऋतुओ तथा ऋतु-सम्बन्धी पदार्थों के द्वारा और वर्ष की धारण शक्ति के द्वारा तुम मुझे अनुगृहीत करो ॥

मन्त्र के अन्तिम शब्द का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। किर्स्ते के सुझाव का अनुसरण करते हुए ओल्डनबर्ग ने अथर्व० (५।२८।१३) के पाठ स हनु कृण्मसि के अनुसार 'हम उनसे जबडो का स्पर्श कराते हैं' (वी मेक दैम टच द जॉज) अनुवाद किया है। अथर्व० के उक्त मन्त्र से इसमे अन्य पाठभेद भी हैं। अथर्व० मन्त्र के पूर्वार्ध का अन्त्य शब्द त्वा है और उत्तरार्ध के धायसा के स्थान पर वहाँ तेजसा है। अथर्व० मन्त्र का विनियोग कौशिक० (५८।११) द्वारा आयुष्काम कर्म मे किया गया है। गृह्य-पाठ के अनुसार मन्त्र शुद्ध पुर-उष्णिक् छन्द मे है जिसके प्रथम पाद में बारह और अन्तिम दोनो पादो मे आठ आठ अक्षर होते हैं।[1]

पा० गृ० (२।६।२६) मे कुण्डल पहनने के लिये निम्नलिखित वाक्य दिया गया है —

अलकरणमसि भूयोऽलकरण भूयात् ॥ [६६५]

तुम आभूषण हो, तुमसे मेरा बहुत अधिक अलकरण हो जाये ॥

मा० गृ० (१।६।२४) और वा० गृ० (१२।१) के अनुसार विवाह-सस्कार मे वधू को आभूषण धारण करते हुए इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। इन गृह्यसूत्रों मे इसका पाठ अलकरणमसि सवस्मा अल मे भूयासम् है। यहाँ मे अतिरिक्त प्रतीत होता है और सम्भवतया इसीलिये वा० गृ० मे इसका अभाव है।

---

१ वै० श्रा० स्टू० परि० II ६ a २ (पृ० ४४)

प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है।

अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर शेष सभी मन्त्र ऋ १।१२८ के अन्त में दिये गये खिल सूक्त में उपलब्ध है। प्रथम तीन मन्त्र उस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों के अनुरूप है चौथा और पाँचवाँ मन्त्र क्रमश उस सूक्त के ग्यारहवें और चौथे मन्त्र के अनुरूप है। भा गृ (३।८।२१) में इस समस्त सूक्त का विनियोग ब्रह्मचारी की ग्रीवा पर सुवर्ण मणि बाँधने के लिए किया गया है। केवल प्रथम मन्त्र वा स (३४।५) में भी उपलब्ध होता है। षष्ठ मन्त्र के स्रोत के सम्बन्ध में उसके पूर्वार्ध की तुलना निम्नलिखित अथर्व (८।२।६) मन्त्र के उत्तरार्ध से की जा सकती है —

जीवला नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ [६६२]

भाग गृ ५।१२।८ (म पा २।७।२६) के अनुसार ग्रीवा पर मणि बाँधने के लिए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए —

अपाशोऽस्युरो मे मा स शारी ।

शिवो मोप तिष्ठस्व दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

शत शरद्भ्य आयुषे वर्चसे जीवात्वै पुण्याय ॥ [६६३]

तुम पाश नहीं हो मेरे वक्षस्थल को क्षीण न करना। दीर्घायु तथा शतवर्षपर्यन्त जीवन के लिये कल्याणकर होकर मेरी सेवा करना। सौ वर्षों के लिये दीर्घायु के लिये वर्चस्विता के लिये जीवन के लिये और पुण्य के लिये (मेरे पास रहना)।

यहाँ दीर्घायु के साथ साथ पुण्यकर्म की कामना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि तत्कालीन शिक्षा के द्वारा स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण न होकर परोपकारी दृष्टिकोण बनता था। हि गृ (१।११।३) भा गृ० (२।२१) और आग्नि गृ० (१।३।४) में मन्त्र में से केवल अपाशोऽसि शब्द लिये गये हैं किन्तु उसका विनियोग उपर्युक्त ही है। हाँ भा गृ में पाठान्तर सहित अपशिष्टाश का प्रयोग मणि को वक्षस्थल के मध्य टिकाने के लिये किया गया है। यहाँ मन्त्र निम्नलिखित वाक्य में परिणत हो गया है —

उरो मे मा सशारी शिवो मोपतिष्ठस्व मह्य दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

(मेरे वक्षस्थल को क्षीण न करना मुझे दीर्घायु अर्थात् सौ वर्षपर्यन्त आयु प्रदान करने के लिये कल्याणकर होकर मेरे पास रहना।)

इस उद्धरण में सम्भवतया उर शब्द के कारण इसका विशेष सम्बन्ध उर

मन्त्र का विनियोग किया गया है। दूसरी ओर पा० गृ० (२।६।२३) मे निम्नलिखित पाठ सहित द्वितीय मन्त्र का विनियोग स्नातक द्वारा (माला रूप मे) पुष्प ग्रहण करने के लिये किया गया है —

या आहरज्जमदग्नि श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय।
ता अह प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च॥ [६६८]

जिन (सुमनो) को जमदग्नि श्रद्धा, मेधा, काम और इन्द्रिय के लिये लाया था, उन्हे मै यश और ऐश्वर्य के साथ ग्रहण करता हूँ॥

गो०गृ० और खा०गृ० के अनुसार माला ग्रहण करते हुए निम्नलिखित वाक्य उसे सम्बोधित किया जाना चाहिये[1] —

श्रीरसि मयि रमस्व॥ [६६९]
तुम लक्ष्मी हो, मुझमे रमण करो॥

आग्नि०गृ० (२।६।६) मे वाक्य का रूप श्रीरस्येहि मयि श्रयस्व है। इस गृह्यसूत्र मे इसका विनियोग अर्घ्य के अन्तगत मधुपर्क ग्रहण करने के लिए किया गया है। केवल आद्य शब्द श्रीरसि पूववर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होते हैं।[2]

दर्पण-दर्शन

कुछेक गृह्यसूत्रो मे स्नातक द्वारा दर्पण-दर्शन के लिए पाठान्तर सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[3] —

यन्मे वर्चं परागतमात्मानमुपतिष्ठति।
इदं तत्पुनराददे दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥ [६७०]

लौटकर आई हुई मेरी जो वर्चस्विता अपने आप मे स्थिर है, उसे मैं दीर्घायु और वर्चस्विता के लिए पुन ग्रहण करता हूँ॥

वास्तव मे दर्पण से वर्चस्विता की प्रेरणा लेना अत्यन्त स्वस्थ परम्परा है। दर्पण यदि दर्प-हीन भावना से देखा जाये तो वह आयुवर्धक भी हो सकता है। और दूसरी ओर यदि मनुष्य उससे दृप्त हो तो वह विनाशक सिद्ध होता है।

उपरिलिखित पाठ म०पा० मे से लिया गया है। भा०गृ० मे पूर्वार्ध मे परागतम् के स्थान पर परापतितम् और उपतिष्ठति के स्थान पर परिपश्यत पाठ है।

---

१ गो०गृ० ३।४।२४ (म०ब्रा० १।७।११), खा०गृ० ३।१।२२।
२ तै०स० १।३।१०।१, आप०श्रौ० ७।२५।४, कौशिक० १०६।६।
३ आप०गृ० ५।१२।११ (म०पा० २।९।२) भा०गृ० २।२२, आग्नि०गृ० १।३।५।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस पाठ में अलंकरण का श्लिष्टार्थ (आभूषण और समय बताने वाला) लिया गया है। वधू मुख से उच्चारित इस वाक्य में ऐसी गन्ध आती है मानो विवाह के पश्चात् श्वसुरालय में सबसे उसकी प्रतिद्वन्द्विता होने वाली हो।

माला-धारण

कुछेक कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि स्नातक को माला धारण करते हुए निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये[1]—

शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम।
मुखं हि मम शोभय भूयांसं च भगं कुरु॥ [६६६]
यामाहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायान्यै।
इमां तामपि नह्येऽहं भगेन सह वर्चसा॥ [६६७]

हे शुभ माला मेरे मुख को शोभित करती हुई तुम मेरे सिर पर आरोहण करो। तुम मेरे मुख को सुशोभित करो, और बहुत अधिक ऐश्वर्य उत्पन्न करो॥ जिसे जमदग्नि काम की पुत्री श्रद्धा के लिये लाया था उस प्रकार की इस माला को मैं ऐश्वर्य और वर्चस्विता के साथ धारण करता हूँ॥

माला को यहाँ ऐश्वर्य और शोभा का प्रतीक माना गया है। द्वितीय मन्त्र में कामायनी श्रद्धा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतया इसके माध्यम से गृहस्थाश्रम में काम के महत्त्व के प्रति संकेत किया गया है। मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ म० धा० में से उद्धृत है। प्रथम मन्त्र में हि० गृ० में शिरः और हि के स्थान पर क्रमशः शुभगृ और च पाठ है और द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध में कामायान्यै के स्थान पर कामायास्यै पाठ है। यहाँ कामाय तथा अस्यै (अस्य) का विच्छेद करके दो शब्द माने गये हैं परन्तु यह कामायन्यै का भ्रष्ट पाठ भी हो सकता है। द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्ध में अपि नह्ये के स्थान पर सभी गृह्यसूत्रों से अतिमुञ्चे पाठ दिया गया है। आग्नि गृ० में द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध में आहरद् के स्थान पर मे बहार पाठ है और भ्रष्ट रूप से कामाय तथा अन्य को पृथक करके कामाय के स्थान पर रागाय दिया गया है। यहाँ इस मन्त्र का अन्तिम पाद आयुषे च अथाय च है।

म० गृ० (२।१५) में स्नातक को ग्रीवा पर मणि बाँधने के लिये केवल प्रथम

1 आप० गृ० ५।१२।११ (म० धा० २।८।६.१) हि० गृ० १।११।४ भा० गृ० २।२२ आग्नि० गृ० १।३।५।

हाथ मे छत्र लेते हुए निम्नलिखित वाक्य (म०पा० २।६।४) का उच्चारण करना चाहिए —

प्रजापतेश्शरणमसि ब्रह्मणश्छर्दिर्विश्वजनस्य
छायाऽसि सर्वतो मा पाहि ।। [६७३]

हे छत्र, तुम प्रजापति की शरण हो, ब्रह्मा की छत हो, सब जनो की छाया हो, तुम सब ओर से मेरी रक्षा करो ।।

अन्य गृह्यसूत्रो मे इसी कर्म मे इससे मिलते जुलते वाक्यो का, या इसी वाक्य के पाठान्तरो का विनियोग किया गया है। हि०गृ० (१।११।१०) और भा०गृ० (२।२२) मे इस वाक्य को केवल ब्रह्मणश्छर्दि तक उद्धृत किया गया है। वा०गृ० (६।१०) मे केवल विश्वजनस्य छायासि शब्द दिये गये हैं। आ०गृ० (३।८।१५) मे विश्वछयासि वाक्य रखा गया है। पा०गृ० (२।६।२६) मे निम्नलिखित दीर्घतर वाक्य प्रयुक्त किया गया है —

बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मान्तर्धेहि ।। [६७४]

तुम बृहस्पति की छत हो, मुझे पाप से छिपाकर रखो, मुझे तेज और यश से न छिपाकर रखो।

यहाँ बृहस्पति शब्द विशेष उल्लेखनीय है क्योकि शिक्षा सम्बन्धी कर्मो के साथ बृहस्पति का विशेष सम्बन्ध है। छत्र को यहाँ पापादि दुराचारो से आवरण का प्रतीक माना गया है। यह मन्त्र (६७३) आंशिक रूप मे वा०स० (५।२८) मे उपलब्ध है। वा०स० मे इन्द्रस्य छर्दिर्विश्वजनस्य छाया पाठ है। श०ब्रा० (३।६।१।२०) के अनुसार सोमयाग के अन्तर्गत सदस् पर छत डालने के अवसर पर इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिए। छत और छत्र का उद्देश्य प्राय समान होने के कारण यह अनुमान निराधार नही कि गृह्य विनियोग का प्रेरणास्रोत यह श्रौत-विनियोग ही है।

छत्र ग्रहण करने के लिये शा०गृ० (३।१।६) मे निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।१२३।४) का विनियोग किया गया है —

गृह गृहमहना यात्यच्छा दिवे दिवे अधि नामा दधाना।
सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद् भजते वसूनाम् ।। [६७५]

प्रतिदिन नये नाम धारण करती हुई, दिन होते ही प्रत्येक घर की ओर जाती है, द्युतिशीला यह (उषा) बार बार सोकर जागती हुई निरन्तर ही आगे-आगे आती है और धन प्राप्त करती है।

अंतिम पाद यहाँ भगेन सह वर्चसा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आग्नि०गृ० में म पा और आ गृ में पाठों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें म पा का परागतम् और आ गृ का परिपश्यति (इसके पूर्व आदर्शों का समावेश करके) रखा गया है। सम्भवत यह समावेश दर्पण के साथ मन्त्र का स्पष्ट सम्बन्ध अभिव्यक्त करने के लिए किया गया होगा। इसमे अन्तिम पाद आयुषे च भगाय च है। यहाँ भी आयुष्य का भाव म पा से और भग का भाव आ गृ से लिया गया प्रतीत होता है।

इसी प्रसग मे हि गृ (१।११।६) मे निम्नलिखित त०स (६।६।७।२) मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत किया गया है —

यन्मे मन परागत यद्वा मे अपरागतम्।
राज्ञा सोमेन तद्वयमस्मासु धारयामसि ॥ [६७१]

मेरा जो मन लौटकर आया है या जो लौटकर नही आया राजा सोम सहित उसे हम अपने मे धारण करते है।

यह मन्त्र उपर्युक्त मन्त्र (६७) का मूल स्रोत प्रतीत होता है। म स (४।७।२) और का स (२८।२) मे यह मन्त्र परागतम् के स्थान पर यम गतम् पाठान्तर सहित आया है। इस मन्त्र का गृह्य विनियोग ब्राह्मण और श्रौत साहित्य पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ अग्निष्टोम मे यह विधान है कि उद्गाता इसका उच्चारण करते हुए सोम के लिये उद्दिष्ट ओदनपिण्ड का अवलोकन करना चाहिए। अत श्रौत और गृह्य दोनो विनियोगो मे किसी पदार्थ के अवलोकन की क्रिया समान है।

पा गृ (२।६।२८) मे दर्पण दर्शनार्थ निम्नलिखित वाक्य दिया गया है —

रोचिष्णुरसि ॥ [६७२]

हे दर्पण तुम दीप्त करने वाले हो।

यहाँ भी अप्रत्यक्ष रूप मे रुच् अर्थात् तेज की कामना की गई है। यह प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे अनुपलब्ध है।

छत्र और उपानह

आप गृ (५।१२।११) और व गृ [1](२।१५) मे विधान है कि स्नातक

---

1 प ब्रा १।५।१७ , का श्रौ ५।१६।५ , आप श्रौ १३।१४।५ - २।५।२।७।

आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥ [६७६]

हे पितरो, दीर्घायु और वृद्धावस्था का वरण करते हुए (स्वर्ग को) आरोहण करो। ज्येष्ठक्रम से प्रयत्न करते हुए चलो। यहाँ पापनाशक, शोभनजन्मा, सबके प्रति समान प्रीति वाला त्वष्टा आपके चिरजीवन के लिए दीर्घ आयु करे ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद के एक पितृ-सूक्त में पितरों को सम्बोधित है। ऐसा प्रतीत होता है कि शा०गृ० का रचयिता उपानह्-धारण में इसके विनियोग के लिए **आरोहत** शब्द से प्रेरित हुआ, क्योंकि जूते पहनता हुआ मनुष्य मानो उन पर आरोहण करता है। यह मन्त्र अथर्व० (१२।२।२४) में भी है। आ०गृ० (४।६।८) में इसका विनियोग शान्ति कर्म के अन्तर्गत कुटुम्ब के सदस्यों को ऋषभ-चर्म पर चढ़ाने के लिए किया गया है। उस कर्म के अन्त्येष्टि से सम्बद्ध होने के कारण यह प्रयोग अनुचित नहीं प्रतीत होता। शा०गृ० के इस विनियोग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कई बार अपनी शाखा की संहिता के प्रति विशेष आग्रह के कारण गृह्यसूत्रों में गृह्यपरम्परागत संगत मन्त्रों के स्थान पर असंगत मन्त्रों का चयन किया गया है।

दण्ड-धारण

आप०गृ०, हि०गृ० और वै०गृ० में विधान है कि स्नातक को अभिनव दण्ड धारण करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए[1] —

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे ।
द्विषतो वधायेन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत् पापं तन्निवारय ॥

हि०गृ० में इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। उसी स्थल पर दण्ड को तीन बार पोंछने के लिए निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है —

इन्द्रस्य वज्रोऽस्यश्विनौ मा पातम् । [६८०]

हे दण्ड, तुम इन्द्र के वज्र हो। हे अश्विनो, (इसके द्वारा) मेरी रक्षा करो।

इससे प्रतीत होता है कि हि०गृ० में म०पा० के मन्त्र को द्विधा विभक्त किया गया है। परन्तु दोनों भाग दण्ड से सम्बद्ध हैं। हस्ताभ्याम् पर्यन्त मन्त्र तै०सं० २।६।४।१ में विद्यमान है और इन्द्रस्य वज्रोऽसि शब्द तै०सं० (५।७।३।१) के एक बड़े मन्त्र का अंश हैं। मन्त्र का अवशिष्टांश प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध है। इस मन्त्र के विस्तृत विवेचनार्थ देखिये मन्त्र संख्या ५४१।

---

[1] आ०गृ० ५।१२।११। (म०पा० २।६।५), हि०गृ० १।११।७, वै०गृ० २।१५।

यह उषा की स्तुति है और प्रकट रूप मे छत्र के साथ इसका कोई सम्बन्ध लक्षित नही होता। तथापि सम्भवतया मन्त्र के गृहम् शब्द से गृह्यसूत्रकार को धरण अथवा रक्षार्थ आवरण—छत्र का सकेत प्राप्त हुआ होगा।

लगभग सभी गृह्यसूत्रो मे उपानह् धारण के लिए मिलते जुलते वाक्यो का विनियोग किया गया है।[1] मा गृ हि गृ और वा गृ मे निम्नलिखित वाक्य है —

प्रतिष्ठे स्थो देवते मा मा सन्ताप्तम्॥ [६७६]

आप दोनो प्रतिष्ठाभूत देवता हो मुझ सन्तप्त न करना।

का गृ म सन्ताप्तम् के स्थान पर हिसिष्टम् पाठ है। म पा मे देवते के स्थान पर देवतानाम् पाठ है। आ गृ मे इस शब्द के स्थान पर सवतो पाठ है और तदनन्तर द्यावापृथिवी का समावेश किया गया है। पा गृ० मे पाठ इस प्रकार है —

देवना प्रतिष्ठे स्थ सवतो मा पातम्। [६७७]

आप दोनों देवताओं की प्रतिष्ठा हो मेरी सब ओर से रक्षा करो।

पा गृ० में आद्य शब्द नही है और सवत॰ के स्थान पर विश्वत॰ पाठ है। इस पाठ से अर्थ अपरिवर्तित रहता है।

केवल मा मा सन्ताप्तम् शब्द वा स (५।२३) और कुछ अन्य ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है।[2]

सामवेदीय गृह्यसूत्रो मे इस कर्म के निमित्त निम्नलिखित वाक्य दिया गया है[3] —

नेत्र्यौ स्थो नयत माम्॥ [६७८]

हे जूतियो तुम नेतृत्व करने वाली हो मेरा नेतृत्व करो।

ज गृ मे आद्य शब्द नेत्रे (आँखें) है। एक प्रकार से मार्ग रक्षक होने के कारण जूते नेतृत्व करने वाले और आँखें भी कहे जा सकते हैं।

शा गृ (३।१।१) में उपानह्-धारण करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १ ।१८९।६) का विनियोग किया गया है —

---

१ आ गृ ३।८।१४ बा गृ १।२।१६ का गृ ३।८ पा गृ २।६।३ आप गृ ५।१२।११(म पा २।९।१) हि गृ १।११।५ मा गृ २।२२।

२ म स १।२।१२ का स २।१३ प ब्रा १।४।१ वौ श्रौ ६।१२।२४ आप श्रौ ११।१७।१ ।

३ गो गृ ३।४।२५ (म ब्रा १।७।१२) ३।१।२३

को धन प्रदान करते हो।

यह मन्त्र कुछ अन्य संहिताओं मे भी उपलब्ध है।[1] संहिताओं में यह इन्द्र के प्रति सम्बोधित है और दण्डधारण कर्म के साथ इसका स्पष्ट सम्बन्ध नहीं। शा०श्रौ० (३।१३।१४) मे भी इसे आहुतियो के साथ दिया गया है। अत यह प्रतीत होता है कि इसके गृह्य-विनियोग का आधार अंकुश शब्द है। अंकुश दण्ड जैसा ही होता है और उसका उद्देश्य भी रक्षा करना है।

पा०गृ० (२।६।३१) मे इस प्रसङ्ग मे निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया गया है —

विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत ॥ [६८७]

मेरी सभी ओर से सभी विपत्तियो से रक्षा करो।

इसके समान शब्द यजुर्वेदीय संहिताओं मे एक मन्त्र के अंशरूप मे विद्यमान हैं।[2] इस वाक्य के गृह्य-विनियोग का आधार तै०ब्रा० (१।७।६।८) प्रतीत होता है क्योकि वहाँ राजसूय के अन्तर्गत राज्याभिषेक के अवसर पर इसका उच्चारण करते हुए राजा को बाण प्रदान किये जाते है। यह वाक्य कुछ अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे भी विद्यमान है परन्तु गृह्य-विनियोग की दृष्टि से उनका महत्त्व नही है।[3]

रथारोहण

शा०गृ०, गो०गृ० और खा०गृ० मे विधान है कि गृहप्रस्थान के लिए रथारोहण के समय स्नातक को ऋ० ६।४७।२६ (वनस्पते इत्यादि) मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।[4] इस विनियोग की पुष्टि श्रौत विनियोग से होती है क्योकि मा०श्रौ० ९।२।३।१९ और बौ०श्रौ० १०।२४ मे अश्वमेध याग मे रथ को सम्बोधित करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। इसका विस्तृत विवेचन विवाह के अन्तर्गत (म०स० २०६) किया जा चुका है। वहाँ भी गृह-प्रस्थान के अवसर पर वधू द्वारा रथारोहण के प्रसग मे इसका विनियोग किया गया है।

हि०गृ०(१।१२।२) और वै०गृ०(२।१५) मे तै०स० १।७।७।२(अङ्को न्यङ्को

1 अथर्व० २०।५।४, मै०स० ४।१२।३, का०स० ६।१०।

2 वा०स० ३७।१२ (विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि), तै०स० १।८।१२।३, मै०स० ४।६।३।

3 श०ब्रा० १४।१।३।२४, तै०आ० ४।५।४, का०श्रौ० २६।३।७।

4 शा०गृ० ३।१।१३, गो०गृ० ३।४।३०-३१ (म० ब्रा० १।७।१६), खा०गृ० ३।१।२७।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में दण्ड ग्रहण करने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है[1] —

गन्धर्वोऽस्युपाव उप मामव । [६८१]

तुम गन्धर्व हो निकट से रक्षा करो मेरी निकट से रक्षा करो।

जै० गृ० में इसका पाठ इस प्रकार है —

गन्धर्वोऽसि विश्वावसु स मा पाहि स मा गोपाय ॥ [६८२]

तुम विश्वावसु गन्धर्व हो। वह तुम मेरी रक्षा करो मेरा गोपन करो।

भा०गृ (२।८।१५) का वाक्य इससे मिलता जुलता है —

वेणुरसि वानस्पत्योऽसि सर्वतो मा पाहि ॥ [६८३]

तुम बाँस हो वनस्पति से उत्पन्न हो सब ओर से मेरी रक्षा करो।

यहाँ वेणु शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस गृह्यसूत्र में वैणव अर्थात् वेणु निर्मित दण्ड का विधान है।

मा गृ (२।२२) के अनुसार दण्डग्रहण के अवसर पर अधोलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिए —

लोके वेदायास्मि द्विषतो वधाय सपत्नान् श्वापदान् सरीसृपान् हस्तिनश्च ॥ [६८४]

संसार में मैं वेद के लिए हूँ शत्रु के वध के लिए हूँ। शत्रुओं हिंस्र पशुओं, सरीसृपों और हाथियों को (वश में करूँगा)।

वधाय तक तो यह वाक्य पूर्णतया स्पष्ट है, परन्तु तत्पश्चात् क्रिया के अभाव में यह अपूर्ण रह जाता है।

इस प्रसंग में आग्नि गृ (१।३।५) का निम्नलिखित वाक्य बहुत छोटा है —

सखा मे गोपाय ॥ [६८५]

हे मेरे मित्र मेरी रक्षा करो।

शा गृ (१।१।११) में इस कार्य के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ ८।१७।१) का विनियोग किया गया है —

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते ॥ [६८६]

तुम्हारा वह अंकुश दीर्घ हो जिससे तुम सोम सवन करने वाले यजमान

१ गो गृ ३।४।२ (म ब्रा १।७।१३) खा गृ ३।१।२४ ज गृ १८।

यणम् इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभिविशामि है। द्वितीय भाग वह काल वह श्रिय माभिवह हि०गृ० के अनुरूप है। इस भाग का उच्चारण करते हुए स्नातक को हाथी को हांकना चाहिए।

आप०गृ०८।२२।१७ (म०पा० २।२१।३१) मे पृथक् रूप से वर्णित गजारोहण कर्म मे शब्दों का क्रम परिवर्तित करके इसके अनुरूप ही एक वाक्य का विनियोग किया गया है —

हस्तियशसमसि हस्तियशसो भूयास वह काल वह श्रिय माभिवह।
इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभि निदधाम्यसौ ॥ [६६०]

पा०गृ० (३।१५।२, ३) में भी पृथक् वर्णित गजारोहण कर्म के अन्तर्गत इस वाक्य के आधार पर दो वाक्य बनाकर उन्हें उद्धृत किया गया है। पहले हाथी के स्पर्श के लिये निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है —

हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि। [६६१]

और हाथी पर चढने के लिए यह वाक्य दिया गया है —

इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सपारय ॥ [६६२]

मैं इन्द्र के वज्र के साथ तुम पर बैठता हूँ। मुझे कल्याणपूर्वक पार कर दो।

इनमे से कोई भी वाक्य प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध नही है।

इत्यादि) का विनियोग किया गया है। भा०गृ० (२।२६) के अनुसार इसका उच्चारण रथ चक्रों का स्पर्श करते हुए किया जाना चाहिए। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन भी विवाह के अन्तर्गत (मं०स २ १) किया जा चुका है।

हि गृ (१।१२।२) और म गृ० (२।१५) के अनुसार रथारोहण के अवसर पर अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण भी किया जाना चाहिए —

अयं वामश्विना रथो मा दु खे मा सुखे रिषत् ।
अरिष्ट स्वस्ति गच्छतु विविध्नन्नभिदासत ॥ [६८८]

हे अश्विनो आपका यह रथ न तो दु ख मे भग्न हो और न सुख में। भग्न हुए बिना यह हम पर आक्रमण करने वालों को नष्ट करता हुआ कल्याणपूर्वक चले।

आग्नि गृ (१।४।१) म केवल पूर्वार्ध का विनियोग रथ के चलना आरम्भ करने पर उच्चारणार्थ किया गया है। आप गृ ८।२२।१५ (म पा० २।२१।१६) मे अभिदासत के स्थान पर पृतनायत पाठ सहित यद्यपि सम्पूर्ण मन्त्र रखा गया है परन्तु उसका विनियोग किसी से प्राप्त रथ को चलाने के लिए किया गया है। पा०गृ० (३।१४।१२ १३) मे भी पृथक वर्णित रथारोहण कर्म म केवल पूर्वार्ध के उच्चारण का विधान रथ के विकल स्थिति में होने पर किया गया है। यहाँ द्वितीय पाद का पाठ मा दुर्गो मा स्तरो रिषत् है। अन्य गृह्यसूत्र साहित्य मे उपलब्ध न होने के कारण शुद्ध शाखा परम्परा ही इसका स्रोत प्रतीत होती है।

इसी अवसर पर अश्वारोहण का विकल्प भी है। हि गृ (१।१२।४) मे तदर्थ निम्नलिखित मन्त्र विनियुक्त है —

इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभ्युपविशामि वह काल वह श्रियं माभि वह हस्त्यसि हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि हस्तियशासि हस्तिवर्चसी भूयासम् ॥ [६८९]

मैं तुम पर इन्द्र के वज्र (अकुश) के साथ बैठता हूँ। तुम काल का वहन करो लक्ष्मी का वहन करो और मेरा वहन करो। तुम हाथी हो हाथी के यश हो हाथी का वर्चस्व हो मैं हाथी के यश मे स्थित हाथी के समान वर्चस्वी हो जाऊ ॥

अभिप्राय यह है कि जसे पशुओ मे हाथी को श्रेष्ठ तथा समृद्धि का चिह्न माना जाता है उसी प्रकार मुझे भी मनुष्यो मे श्रेष्ठ तथा समृद्धिप्रद माना जाये। भा गृ (२।२६) मे पाठ-भेद सहित यह पाया है। हस्त्यसि आदि का इसमे नितान्त अभाव है और तत्पूर्वांश द्विधा विभक्त है। तदनुसार प्रथम भाग का पाठ ~

कर्म के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा (दे० म० स० १०२३ के पश्चात्)।

आग्नि० गृ० (३।४।१) के अनुसार शव को भूमि पर रखते समय निम्न-लिखित वाक्य (का० स० ३६।७) का पाठ करना चाहिये —

आयुष प्राण सन्तनु ॥ [६६४]

आयु के प्राण का विस्तार करो।

यद्यपि व्यक्ति मर चुका है, तथापि इस प्रार्थना से प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म के पश्चात् दीर्घायुष्य की कामना की जा रही है। तै० ब्रा० (१।५।७।१) और आप० श्रौ० (१६।३२।३) में निर्देश है कि वेदी-निर्माण के अन्तर्गत अपानभृत् इष्टकाओं की स्थापना के पश्चात् बारह सन्तति इष्टकाओं में से प्रथम के आधान के समय इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। श्रौत और गृह्य विनियोगों का एक मात्र सम्बन्धसूत्र भूमि पर किसी पदार्थ को रखने की क्रिया है।

इसके पश्चात् आग्नि० गृ० (३।४।१) में निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि में आहुति अर्पित करने का विधान है —

मृत्योरधिष्ठानाय स्वाहा ॥ [६६५]

यह आहुति मृत्यु के अधिष्ठान के लिये है—स्वाहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि आहवनीय अग्नि को यहाँ मृत्यु का अधिष्ठान माना है। यह वाक्य किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

वै० गृ० (५।२) में विधान है कि शव के पाँव तक कोरे वस्त्र का किनारा रखकर उसे उससे आवृत करने के लिये निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिये —

यस्यो भेत्ता (यस्याभोक्ता) शकले सन्निधायेन्द्रो दोर्भ्या प्रातरन् प्रजापति ॥ [६६६]

इस वाक्य का अर्थ अस्पष्ट है। जैसा कि वै० गृ० के अनुवाद में कैलेण्ड ने कहा है इसका पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। यह वाक्य अन्यत्र अनुपलब्ध है।

कौशिक० (८०।१७) में इसी क्रिया के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों (अथर्व० १८।४।३१,२।५७) का विनियोग किया गया है —

एतत्ते देव सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्व यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ [६६७]
एतत्त्वा वास प्रथम न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभ पुरा।
इष्टापूर्तमनुसक्राम विद्वान्यत्र ते दत्त बहुधा विवन्धुषु ॥ [६६८]

दशम अध्याय

अन्त्येष्टिकर्म

गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों में वर्णित अन्त्येष्टि कर्म में बहुत समानता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस कर्म के लिये गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रों के बहुत ऋणी हैं क्योंकि उनमें भी श्रौताग्नि स्थापित करने वाले आहिताग्नि का अन्त्येष्टि कर्म वर्णित है। आगामी विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि इस कर्म की अधिकांश क्रियाओं में मन्त्रों का विनियोग श्रौत विनियोग पर आधारित है। क्योंकि इस कर्म में विनियुक्त अधिकांश मन्त्र ऋ० (१०।१४-१८) तथा अथर्व० (१८।१-४) के पितृ सूक्तों में से उद्धृत हैं अतः यह निष्कर्ष निरापद है कि श्रौत-साहित्य के बहुत पूर्व संहिता काल में भी इन मन्त्रों का प्रयोग अन्त्येष्टि में होता था। होरेस आई० पोलमैन ने ऋग्वेदीय पितृ-सूक्तों तथा उनके मन्त्रों की अन्त्येष्टि कर्म से सम्बद्ध कर्मबद्धता सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1]

दाह क्रिया-पूर्व-कर्म

अन्त्येष्टि का विस्तृत विवेचन केवल आ० गृ०, कौशिक०, आग्नि० गृ० और व० गृ० में किया गया है। पा० गृ० में भी इसका संक्षिप्त वर्णन है। कौशिक (८०।३) में विधान है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसके शव को दर्भाच्छादित भूमि पर उतारते समय निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।२।१९) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ [६६३]

हे पृथिवी! अति विस्तृत तुम इसके लिये सुखकारक कण्टकरहित तथा निवासयोग्य हो जाओ, इसे सुख शरण प्रदान करो ॥

अधिकांश गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग प्रत्यवरोहण कर्म में भूमि-स्पर्श अथवा भूमि पर शयन के लिये किया गया है।[2] अतः इसका विस्तृत विवेचन उस

---

१ ज० अ० ओ० सो० ५४, १९३४ पृ० २७६ से—द रिचुअलिस्टिक कांटीन्युटी ऑफ ऋग्वेद १०।१४-१८।

२ आ० गृ० २।३।७, शां० गृ० ४।१८।५, गो० गृ० ३।९।१८ (म० ब्रा० २।२।७), खा० गृ० ३।३।२४, पा० गृ० ३।२।११, आप० गृ० ७।१९।११ (म० पा० २।१८।८), हि० गृ० २।१७।६, भा० गृ० २।७।२-३।

मे उपलब्ध नही। ऊपर उठाने की क्रिया के प्रसग मे मेरु का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इसी गृह्यसूत्र मे यह भी कहा गया है कि श्मशान के मार्ग मे भी जहाँ-जहाँ अर्थी को उतार कर पुन उठाया जाये वहाँ भी इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिये।

शव-यात्रा

कौशिकसूत्र के अनुसार शव को ठेले मे श्मशान ले जाया जाना चाहिये। इस मे (८०।३४) और आग्नि० गृ० (३।५।३) मे विधान है कि ठेले मे दो बैलो अथवा पुरुषो को जोतते हुए निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।२।५६) का उच्चारण करना चाहिए —

> इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
> ताभ्या यमस्य सादन समितीश्चाव गच्छतात् ॥ [७०१]

इन दोनो अश्वो (वाहको) को मैं तुम्हारे प्राण-हरण और वाहन के लिये जोतता हूँ। उनके द्वारा तुम यम के निवास अर्थात् श्मशान और पितृ-समूह के पास जाओ।

तै० आ० ६।१।१, अन्त्येष्टि (इस कम से सम्बद्ध एक पद्धति), और आथर्वण पद्धति मे इसका विनियोग शव-वाहक चटाई को कपडे से बाँधने के लिये किया गया है। परन्तु उस स्थिति मे द्विवचनान्त इमौ निरर्थक हो जायेगा। इस मन्त्र से सकेत प्राप्त होता है कि शव को ठेले मे ले जाने की प्रथा अथर्व० जितनी प्राचीन है।[1]

कौ० गृ० (५।२।४) और आग्नि० गृ० (३।५।४) के अनुसार शव-यात्रा मे सम्मिलित व्यक्तियो को अर्थी को कन्धो पर रखते समय निम्नलिखित तीन मन्त्रो (ऋ० १०।१७।३-५) का उच्चारण करना चाहिये —

> पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा।
> स त्वैतेभ्य परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य ॥ [७०२]
> आयुर्विश्वायु परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
> यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देव सविता दधातु ॥ [७०३]
> पूषेमा आशा अनु वेद सर्वा सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
> स्वस्तिदा आघृणि सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ [७०४]

मार्गो का ज्ञाता विद्वान्, अविनाशी रश्मियो वाला, ससार का रक्षक, पूषा तुम्हे इस लोक से ले जाये, वह तुम्हे इन पितरो को समर्पित कर दे। और अग्नि शुभ-ज्ञानवान् देवो को तुम्हे समर्पित कर दे ॥ गमनशील,

---

१ विस्तृत विवेचनार्थ, दे० इ० वै० कल्प०, पृ० ३५५।

सविता देव तुम्हे धारण करने के लिये यह वस्त्र देता है। यम के राज्य मे उसे धारण किये हुए तुम सुख (तृप्ति) का अनुभव करो॥ तुम्हे यह वस्त्र पहले प्राप्त हुआ था जिस वस्त्र को तुमने पहले धारण किया था उसे उतार दो। जहाँ पराये जनो के प्रति बहुधा जो कुछ तुमने दिया हो उस इष्टापूर्त को अपना मानते हुए वहाँ तुम आगे जन्मो को प्राप्त हो॥

स्पष्ट ही यहाँ पुनर्जन्म का सकेत है। इसकी पुष्टि श बा (४।३।४।२६) से भी होती है क्योकि वहाँ त्वचा या शरीर को ही वस्त्र कहा गया है—त्वगिध वास। प्रथम मन्त्र म यम के राज्य का अर्थ यमनशील काल का राज्य सम्भव है।[1] द्वितीय मन्त्र मे स्पष्ट ही पहले वाले वस्त्र (शरीर) को त्यागने की बात कही गयी है। परवर्ती साहित्य यथा श्रीमद्भगवद्गीता (२।२२) म भी शरीर त्याग की तुलना जीर्ण वस्त्रो के त्याग से की गई है। आग्नि० गृ (३।५।२) मे उपर्युक्त प्रसङ्ग मे ही केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। इन अथर्ववेदीय मन्त्रो से सूचित होता है कि सम्भवतया अथर्व के काल मे भी इनका विनियोग वस्त्र को शरीर का प्रतीक मानकर इसी प्रसग मे किया जाता होगा।

इसके पश्चात् शयन अथवा अर्थी को जल द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। वै० गृ (५।२) मे विधान है कि इस क्रिया के पश्चात् अर्थी पर शव रखते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये —

गाङ्गेयाशिर या पूत भवत्स्यायाहृत भवेत्॥ [६६६]

हे गङ्गाजल (इसका) सिर पवित्र हो जाये, (पाप) दूर हो जाय।

इस वाक्य का पाठ भी भ्रष्ट है। मुख्य कठिनाई आयाहृतम् शब्द से उत्पन्न होती है। परन्तु इसके स्थान पर आपाहृतम् पाठ रखने से यह कठिनाई समाप्त हो जाती है। लिखने मे प और य की भ्रान्ति की बहुत सम्भावना है। अत इस प्रकार का पाठ-सशोधन अनुचित नही प्रतीत होता।

वै गृ मे ही आगे विधान है कि शव-वाहको को अर्थी उठाते हुए अधो लिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिये —

मेरोरह प्रसीदतु स इमान् परितो हरतु॥ [७]

मेरु का क्रोध शान्त हो जाये वह इन्हे सब ओर ले जाये।

यह वाक्य अनुष्टुभ् पद्य का अर्धांश प्रतीत होता है। परन्तु यह किसी अन्य ग्रन्थ

---

1 यमपितृ परिचय पृ २ २।

तृप्त नही होता।[1]

यह गाथा तै० आ० और मा० श्रौ० मे भी विद्यमान है। तै० आ० (६।५।३) मे इसका विनियोग अन्त्येष्टि मे ही हुआ है। मा० श्रौ० (६।१।२) मे विधान है कि अग्निचयन के अन्तगत उखाशीर्ष लेने और मिट्टी द्वारा उसका लेप करने के लिये इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी प्रसग मे यहाँ इसके साथ तीन अन्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं। यहाँ गाथा मे कुछ पाठभेद भी है। तदनुसार नीयमान के स्थान पर नयमान पाठ है और द्वितीय पाद मे सर्वत्र एकवचन के स्थान पर शब्दो के बहुवचनान्त रूप रखे गये हैं, अजम् के स्थान पर पशून् पाठ है। अन्तिम पाद का पाठ सुरया इव दुर्मद है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गाथा का द्वितीय पाद सामान्य वाक्याश रहा होगा क्योकि अनेक वैदिक मन्त्रो का यह अश है।[2]

कौशिक० (८०।३५) के मतानुसार शव उठाकर श्मशान को जाते हुए मार्ग मे कुछ प्रकीर्ण मन्त्रो तथा

हरिणी [७०८]

नामक आठ अथर्ववेदीय मन्त्रो के समूह का उच्चारण करना चाहिये।[3]

चिता पर शव रखने से पूर्व कर्म

आ० गृ०, कौशिक० और आग्नि० गृ० मे निर्देश है कि शव के श्मशान पहुँचने पर कर्ता को दाह-स्थल पर जल का अभिषिञ्चन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१४।९) का उच्चारण करना चाहिये[4] —

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एत पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ [७०९]

हे प्रेतादियो, तुम इस स्थान से हट जाओ, तुम पृथक् पृथक् हट जाओ, और अत्यन्त दूर चले जाओ, पितरो ने यह स्थान इस मृत शरीर को दिया है। दिनो मे तथा रात्रियो में जल द्वारा शोधित इस स्थान को इस शव की दाहक्रिया के लिये यम देता है॥ ह० मि०

१ वैवस्वत का अर्थ विवस्वान्—सूर्य का पुत्र—काल, दे० यमपितृ परिचय, पृ० ५।
२ ऋ०खि०५।८७।२, अथर्व० ८।७।११, म०पा० १।९।१०, हि० गृ०१।१८।५।
३ अथर्व० १८।३।८,९, २।४८, १।६१, २।५३, ४।४४, हरिणी—अथर्व० १८।२।११-१८।
४ आ० गृ० ४।२।१०, कौशिक० ८०।४२, आग्नि० गृ० ३।४।१।

सर्वतोगामी वायु तुम्हारी रक्षा करे प्रकृष्ट मार्ग पर आगे आगे चलता हुआ पूषा तुम्हारी रक्षा करे। जिस स्थान पर सत्कर्म करने वाले रहते हैं या जहाँ वे जाते हैं सवितृ–देव तुम्हें वहीं पहुँचा दें॥ पूषा इन सभी दिशाओं को क्रमानुसार जानता है वह हमें भयरहित मार्ग से ले जाये। कल्याणप्रद दीप्तियुक्त सब वीर पुरुषों सहित वह गन्तव्य को जानने वाला तथा प्रमाद रहित होकर हमारे सम्मुख चले॥ ह० मि०

ये मन्त्र अथर्व० तथा तै० आ० में भी उपलब्ध होते हैं।[1] तै० आ० का विनियोग गृह्यविनियोग के समान है। कौशिक० द्वारा इसका प्रयोग न किया जाना आश्चर्यजनक है। तृतीय मन्त्र तै० ब्रा० (२।४।१।५) में भी विद्यमान है। इन मन्त्रों में प्रमुख रूप से पथस्पति (मार्गों का स्वामी) के रूप में प्रसिद्ध पूषा की स्तुति है। मृतात्मा को उचित मार्ग से ले जाने का अभिप्राय उसे उसके कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म प्रदान करना प्रतीत होता है।

पा० गृ० (३।१०।१६) के अनुसार शव यात्रा में जाने वाले व्यक्तियों को सारे मार्ग में

यमसूक्त [७०५] तथा यमगाथा [७०६]

का उच्चारण करते हुए जाना चाहिये। इस सूक्त और गाथा के विषय में भाष्यकार स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ सूक्त के विषय में विश्वनाथ का कहना है कि यह अपेतो यन्तु पणयः शब्दों से प्रारम्भ होने वाला वा० सं० का पतीसवां अध्याय है। अन्य भाष्यकार इसे प्रसिद्ध यमसूक्त (यमसूक्तम् प्रसिद्धम्) कहते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि यह ऋ० १०।१४ है।[2] जहाँ तक यमगाथा का प्रश्न है अधिकांश भाष्यकार इसे छन्दोविशेष कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु हरिहर के अनुसार यह ऋग्विधि से गेय यमदेवताक साम है। विश्वनाथ का मत निर्णयात्मक है क्योंकि उसने निम्नलिखित यमगाथा उद्धृत की है —

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुरया इव दुर्मतिः॥ [७०७]

जिस प्रकार कोई दुर्बुद्धि मद्यप तृप्त नहीं होता उसी प्रकार दिन प्रतिदिन गौओं घोड़ों पुरुषों और गोष्ठों के पास ले जाया जाता हुआ काल

१ अथर्व० १८।२।५४ ५५ ७।१।९ तै० आ० ६।१।१ २।
२ ह० वै० कल्प० पृ० ३७७–टि० ११।

तृप्त नही होता ।[1]

यह गाथा तै० आ० और मा० श्रौ० मे भी विद्यमान है । तै० आ० (६।५।३) मे इसका विनियोग अन्त्येष्टि मे ही हुआ है । मा० श्रौ० (६।१।२) मे विधान है कि अग्निचयन के अन्तर्गत उखाशीर्ष लेने और मिट्टी द्वारा उसका लेप करने के लिये इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । इसी प्रसग मे वहाँ इसके साथ तीन अन्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं । यहाँ गाथा मे कुछ पाठभेद भी है । तदनुसार **नीयमान** के स्थान पर **नयमान** पाठ है और द्वितीय पाद मे सर्वत्र एकवचन के स्थान पर शब्दो के बहुवचनान्त रूप रखे गये हैं, **अजम्** के स्थान पर **पशून्** पाठ है । अन्तिम पाद का पाठ **सुरया इव दुर्मद** है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस गाथा का द्वितीय पाद सामान्य वाक्यांश रहा होगा क्योंकि अनेक वैदिक मन्त्रो का यह अंश है ।[2]

कौशिक० (८०।३५) के मतानुसार शव उठाकर श्मशान को जाते हुए मार्ग मे कुछ प्रकीर्ण मन्त्रो तथा

हरिणी [७०८]

नामक आठ अथर्ववेदीय मन्त्रो के समूह का उच्चारण करना चाहिये ।[3]

चिता पर शव रखने से पूर्व कर्म

आ० गृ०, कौशिक० और आग्नि० गृ० मे निर्देश है कि शव के श्मशान पहुँचने पर कर्ता को दाह-स्थल पर जल का अभिषिञ्चन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१४।९) का उच्चारण करना चाहिये[4] —

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एत पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ [७०९]

हे प्रेतादियो, तुम इस स्थान से हट जाओ, तुम पृथक् पृथक् हट जाओ, और अत्यन्त दूर चले जाओ, पितरो ने यह स्थान इस मृत शरीर को दिया है । दिनो मे तथा रात्रियो में जल द्वारा शोधित इस स्थान को इस शव की दाहक्रिया के लिये यम देता है ॥ ह० मि०

---

१ वैवस्वत का अर्थ विवस्वान्—सूर्य का पुत्र—काल, दे० यमपितृ परिचय, पृ० ५ ।

२ ऋ० खि० ५।८७।२, अथर्व० ८।७।११, म० पा० १।९।१०, हि० गृ० १।१९।५ ।

३ अथर्व० १८।३।८,९, २।४८, १।६१, २।५३, ४।४४, हरिणी—अथर्व० १८।२।११-१८ ।

४ आ० गृ० ४।२।१०, कौशिक० ८०।४२, आग्नि० गृ० ३।४।१ ।

सर्वतोगामी वायु तुम्हारी रक्षा करे प्रकृष्ट मार्ग पर आगे आगे चलता हुआ पूषा तुम्हारी रक्षा करे। जिस स्थान पर सत्कर्म करने वाले रहते हैं या जहाँ वे जाते हैं सवितृ–देव तुम्हें वहीं पहुँचा दें॥ पूषा इन सभी दिशाओं को क्रमानुसार जानता है वह हमें भयरहित मार्ग से ले जाये। कल्याणप्रद दीप्तियुक्त सब वीर पुरुषों सहित वह गन्तव्य को जानने वाला तथा प्रमाद रहित होकर हमारे सम्मुख चले॥ ह० मि०

ये मन्त्र अथर्व तथा तै आ में भी उपलब्ध होते हैं।[1] तै० आ० का विनियोग गृह्यविनियोग के समान है। कौशिक द्वारा इसका प्रयोग न किया जाना आश्चर्यजनक है। तृतीय मन्त्र तै आ (२।४।१।५) में भी विद्यमान है। इन मन्त्रों में प्रमुख रूप से पथस्पति (मार्गों का स्वामी) के रूप में प्रसिद्ध पूषा की स्तुति है। मृतात्मा को उचित मार्ग से ले जाने का अभिप्राय उसे उसके कृत्यों के अनुसार पुनर्जन्म प्रदान करना प्रतीत होता है।

पा गृ (३।१ ।६) के अनुसार शव-यात्रा में जाने वाले व्यक्तियों को सारे मार्ग में

यमसूक्त [७०५] तथा यमगाथा [७०६]

का उच्चारण करते हुए जाना चाहिये। इस सूक्त और गाथा के विषय में भाष्यकार स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ सूक्त के विषय में विश्वनाथ का कहना है कि यह अपेतो यन्तु पणय: शब्दों से प्रारम्भ होने वाला वा स का पतीसवाँ अध्याय है। अन्य भाष्यकार इसे प्रसिद्ध यमसूक्त (यमसूक्तम् प्रसिद्धम्) कहते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होते है कि यह ऋ १ ।१४ है।[2] जहाँ तक यमगाथा का प्रश्न है अधिकांश भाष्यकार इसे छन्दोविशेष कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु हरिहर के अनुसार यह ऋत्विग्विधि से गेय यमदेवताक साम है। विश्वनाथ का मत निर्णयात्मक है क्योंकि उसने निम्नलिखित यमगाथा उद्धृत की है —

अहरहर्नीयमानो गामश्वं पुरुषं जगम्।
अवस्वतो न तृप्यति सुरापा इव दुर्मति:॥ [७०७]

जिस प्रकार कोई दुर्बुद्धि मद्यप तृप्त नहीं होता उसी प्रकार दिन प्रतिदिन गौओं घोड़ों पुरुषों और गोष्ठों के पास ले जाया जाता हुआ काल

१ अथर्व १८।२।५४ ५५ ७।९।२ तै आ ६।१।१ २।
२ इ ब कल्प पृ ३७७–टि ११।

यमाय दहनपतये पितृभ्य स्वधा नम ॥
कालाय ॥
मृत्यवे ॥ [७११-७१३]

दहनपति यम को, पितरो को स्वधा नमस्कार ॥ दहनपति काल को ॥ दहनपति मृत्यु को ॥

उपर्युक्त पाठ वै०गृ० मे से उद्धृत है। आग्नि०गृ० मे केवल प्रथम वाक्य दिया गया है और वहाँ भी दहनपतये के स्थान पर पितृपतये पाठ है। इन वाक्यो की तुलना

यमाय पितृमते स्वधा नम (अथर्व० १८।४।७४) [७१४]

से की जा सकती है। कौशिक० (८८।४) मे इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ मे आहुति के लिये किया गया है।

इन दोनो गृह्यसूत्रो (आग्नि० गृ० ३।४।२, वै० गृ० ५।३) मे आगे विधान है कि मृतक के सम्बन्धियो को अपने वस्त्रो के किनारे हिलाकर उसे हवा करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

वातास्ते वान्तु पथि पुण्यगन्धा मन शुभा गात्रशुभा अनुलोमा ।
त्वचस्सुखा माससुखा अस्थिसौख्या वहन्तु त्वा मरुत सुकृता यत्र लोका ॥
[७१५]

तुम्हारे मार्ग मे पुण्य गन्ध वाली, मन को शुभ, शरीर को शुभ, अनुकूल, त्वचा को सुखद, मास को सुखद तथा अस्थियो को सुखद पवन बहे। मरुत् देव तुम्हें वहाँ ले जायें जहाँ सत्य कृत्य करने वालो का लोक है ॥

यह मन्त्र बौधायन पितृमेध सूत्र (३।२)में भी विद्यमान है। किसी सहिता में यह उपलब्ध नहीं।

वै०गृ० (५।३) मे निर्देश है कि चिता पर रखने से पूर्व निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए शव का जल से अभिषिचन करना चाहिये —

शिव यातु पर यातु सुकृत यातु तपो यातु ॥ [७१६]

कल्याण को प्राप्त हो, परम स्थान को प्राप्त हो, सुकृत-फल को प्राप्त हो, तप फल को प्राप्त हो ॥

व० गृ (५।२) के अनुसार ग्राम की सीमा पर तीन मार्गों पर बुहारी देने के लिये इसका उच्चारण करना चाहिये । अथर्व (१८।१।५५) मे इस मन्त्र का ठीक यही पाठ है । किन्तु यजुर्वेद परम्परा मे तृतीय पाद हटाकर उसके स्थान पर चतुर्थ पाद रखा गया है चतुर्थ पाद के स्थान पर द्वितीय पाद है और द्वितीय पाद येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना है ।[1] आग्नि गृ मे इन दोनो परम्पराओ का समन्वय उल्लेखनीय है । तदनुसार यजु परम्परा से पूर्वार्ध और ऋ० से उत्तरार्ध लिया गया है ।

त ब्रा (६।६।१) और आ श्रौ (४।१४।७) मे इस मन्त्र का समानान्तर प्रयोग प्राप्त होता है क्योकि वहाँ भी विधान है कि आहिताग्नि की अन्त्येष्टि मे इसका उच्चारण करते हुए पलाश-शाखा द्वारा चिता-स्थान की सफाई करनी चाहिये । ब्राह्मणो तथा अन्य श्रौत सूत्रो के अनुसार भी गार्हपत्य अग्नि के चयन के अवसर पर अग्निस्थल के परिमार्जन के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये ।[2] गृह्यसूत्रो मे अभिषिचन के लिये इसके विनियोग का आधार सम्भवतया श्रौतकर्मों का परिमार्जन है क्योकि दोनो क्रियाओ का उद्देश्य एकमात्र शुद्धि होने के कारण ये दोनो क्रियाएं समान कही जा सकती हैं । सायण के अनुसार यह मन्त्र भूत प्रेतात्मिको को सम्बोधित है किन्तु महीधर के मतानुसार यह यम के सेवको (यमभृत्या) को सम्बोधित है । इस मन्त्र का उद्देश्य अनिष्ट आत्माओ का निवारण अत्यन्त स्पष्ट है ।

व गृ० (५।३) मे श्मशान मे बने तीन मार्गों पर उत्तर से दक्षिण की ओर काष्ठखड्ग के द्वारा तीन या नौ नालियाँ खोदने के लिये उपर्युक्त मन्त्र के समान निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है —

अपसर्पतात सर्पत प्रेता ये के चेह पूर्वजा ॥ [७१०]

यह वाक्य स्पष्ट ही प्रेतो को सम्बोधित है ।

आग्नि गृ (३।७।२) और व गृ (५।३) मे विधान है कि निम्नलिखित तीनो वाक्यो का उच्चारण करते हुए क्रमश तीन नालियो मे तिल और चावल भरे जाने चाहिये —

---

१ वा सं १२।४५ त सं ४।२।४।१ क सं २।७।११ ३।२।३ का सं १६।११ २ ।१ ।

२ श ब्रा ७।१।१।२-४ त ब्रा १।२।१।१६ आप श्रौ ५।६।१ १६।१४।१ का श्रौ १७।१।३-४ मा श्रौ ६।१।५।१ ।

इन्हीं गृह्यसूत्रों (आ०गृ० ४।२।२०, कौशिक० ८०।४६) में विधान है कि चिता पर से मृतक का धनुष हटाने के समय निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।९) का उच्चारण करना चाहिये —

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥ [७१९]

इसको सन्तति, बल और वर्चस्विता के लिये मैं तुझ मृतक के हाथ से धनुष लेता हूँ। तू यहीं रह। हम इस संसार में शोभनवीरों से युक्त होकर सभी प्रतिस्पर्धी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ॥ ह०मि०

ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक की पत्नी का भावी पति ये शब्द कहता है। मन्त्र का पूर्वार्ध अथर्व० (१८।२।६०) में उपलब्ध होता है। वहाँ अस्मे के स्थान पर सह पाठ है और क्षत्र, वर्चस् तथा बल शब्द तृतीयान्त हैं। इसका उत्तरार्ध एक अन्य अथर्व० मन्त्र (१८।२।५९) का उत्तरार्ध है—जहाँ स्पृध के स्थान पर मृध पाठ है। इसी प्रसंग में कौशिक० द्वारा उद्धृत अथर्व० १८।२।६० का उत्तरार्ध निम्नलिखित है

समा गृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ।

(हे प्रेतसम्बन्धिजन! अत्यन्त पर्याप्त धन को स्ववश में करके संसार प्रजावर्ग को प्राप्त हो ॥) त्रि० ज०

तै० आ० (६।१।३) में भी गृह्य-विनियोग के समान ही इसका विनियोग हुआ है। इसमें मन्त्र का ऋग्वेदीय पाठ उद्धृत है।

वै० गृ० (५।३) में निर्देश है कि मृतक की सात ज्ञानेन्द्रियों पर सुवर्ण-खण्ड रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

आ ओ वह भवतात् तारयन्तु स्वरायन्ता रोहिणीं रोपयन्ताम् ॥ [७२०]

तुम इन्हें धारण करो, ये आपको पार कर दें, स्वर्ग को प्राप्त हों, तुम्हें रोहिणी पर आरोपित करें ॥

यह पाठ मुद्रित पुस्तक का है। वैखानसीय संहिता की मैसूर की प्रति में आ न वह हुवतात् तारयन्तु आदि पाठ है। जैसा कि कैलेण्ड ने कहा है, इस वाक्य का पाठ और इसलिये अर्थ सन्देहास्पद है।

आग्नि० गृ० (३।८।३) और वै० गृ० (५।५) के अनुसार शव-कर्ता को एक जलपूर्ण घट को तीन बार कुल्हाड़ी से धीरे से ठोकना चाहिये और प्रत्येक बार उसमें से बहने वाली जल की धारा का निम्नलिखित वाक्य से अभिमन्त्रण करना चाहिये

इसका स्रोत गृह्य-परम्परा प्रतीत होती है क्योंकि यह अन्यत्र अनुपलब्ध है।

चिता पर शव रखने के पश्चात् कर्म

कौशिक (८ १४४) और आग्नि गृ (३।५।६) के अनुसार शव के चिता पर रखे जाने के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व १८।३।१) का पाठ करते हुए मृतक की पत्नी को चिता पर उसके शव के पास बिठाना चाहिये —

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥ [७१७]

हे मनुष्य यह नारी पुरातन धर्म का पालन करती हुई पतिलोक (पुनर्विवाह द्वारा पतिलोक अर्थात् गृहस्थाश्रम) का वरण करती हुई तुझ मृतक के पास (आशीर्वादलाभाय) आई है। तुम इसे यहाँ (इस संसार में) प्रजा और धन दो अर्थात् इनकी प्राप्ति के लिये आशीर्वाद दो॥

यहाँ इह से स्पष्ट है कि मृतक की पत्नी सती होने के लिये नहीं बैठी अपितु वह पुनर्विवाह करके फिर से गृहस्थाश्रम में धन-सन्तति से समृद्ध होने के लिये आशीर्वाद की इच्छुक है। आगामी कर्म से भी इसकी पुष्टि होती है। तै आ (६।१।३) में भी इसका विनियोग गृह्य विनियोग के समान है। इसमें और आग्नि गृ में धर्मम् के स्थान पर विश्वम् पाठभेद है।

आ गृ (४।२।१८) और कौशिक (८ १४५) के विधानानुसार मृतक के अनुज अथवा अन्तेवासी अथवा किसी वृद्ध सेवक द्वारा निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी पत्नी को चिता पर से उठाना चाहिये —

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ [७१८]

हे नारी जो तुम अपने इस प्राणहीन पति के पास लेटी हो वह तुम उठो और इस जीवित संसार में आ जाओ। विवाह के समय तुम्हारा पाणि ग्रहण करने वाले तथा तुममें गर्भाधान करने वाले तुम्हारे पति का यह लोकान्तरप्राप्तिरूप जन्म ही है॥ह०मि

यह मन्त्र ऋग्वेद (१ ।१८।८) और अथर्ववेद (१८।३।२) में विद्यमान है। इसके गृह्य विनियोग और तै आ (६।१।३) के विनियोग में समानता है। शा श्री (१६।१३।१३) से भी ऐसे ही विनियोग का संकेत मिलता है क्योंकि वहाँ पुरुषमेध के अन्तर्गत यह निर्देश है कि वेदी पर पुरुष के साथ बैठी हुई उसकी पत्नी को इसका उच्चारण करते हुए उठाया जाना चाहिये।

चित्ति स्रुक् चित्तमाज्य वाग्वेदिराधीत बर्हि केतोऽग्निर्विज्ञातमग्निर्वाक्-पतिर्होता मन उपवक्ता प्राणो हवि सामाध्वर्यु ॥ [७२४]

विचार स्रुक् है, बुद्धि आज्य है, वाणी वेदी और अध्ययन पवित्र घास है, ज्ञान अग्नि है और विज्ञान भी अग्नि है, वाणी का स्वामी होता है, मन उपवक्ता है, प्राण आहुति है और साम अध्वर्यु है ॥

यद्यपि मनुष्य के विभिन्न अगो और उनके विशेष कार्यो का यहाँ युगल-रूप मे उल्लेख किया गया है, तथापि उपर्युक्त विनियोग का विशेष सम्बन्ध प्राणो हवि से प्रतीत होता है क्योकि नासिका प्राण का माध्यम है। यह वाक्य मै० स० (१।६।१) और का० स० (६।८) मे विद्यमान है। वै० गृ० मे एक अन्य स्थल (५।२) पर इसका विनियोग मृत्यु के ठीक पश्चात् मृतक के शरीर-प्रक्षालनार्थ किया गया है। तै० आ० (३।१।१) मे चातुर्होत्र वेदीचयन कर्म मे उच्चारणार्थ वाक्य के रूप मे इसे उद्धृत किया गया है। शा०श्रौ०(१०।१४।४) के अनुसार द्वादशाह याग मे होता द्वारा होतृ-वाक्य के रूप मे इसका पाठ किया जाना चाहिये। किन्तु किसी ग्रन्थ मे भी इसका विनियोग गृह्यविनियोग के अनुरूप नहीं है।

इसके पश्चात् आग्नि० गृ० (३।४।१) मे निर्देश है कि मृतक के मुख का अभिमन्त्रण चतुर्होतृ-वाक्य के द्वारा, सृक्काओं (मुख-कोणो) का अभिमन्त्रण पञ्चहोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार, कानो का षड्ढोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार और सप्तहोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार अस्थियो का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। उपर्युक्त क्रम मे वाक्यों का पाठ निम्नलिखित है —

पृथिवी होता द्यौरध्वर्यू रुद्रोऽग्नीद् बृहस्पतिरुपवक्ता ॥ [७२५]

अग्निर्होता अश्विनावध्वर्यू त्वष्टाग्नीन्मित्र उपवक्ता ॥ [७२६]

सूर्यं ते चक्षुर्वातं प्राणो द्या पृष्ठमन्तरिक्षमात्मागैर्यज्ञ पृथिवीं शरीरै ॥ [७२७]

महाहविर्होता सप्तहविरध्वर्युरच्युतपाजा अग्नीदच्युतमना उपवक्ता-नाधृष्यश्चाप्रतिधृष्यश्च यज्ञस्याभिगरावयास्य उद्गाता ॥ [७२८]

पृथिवी होता है, द्यौ अध्वर्यु, रुद्र अग्नीद् और बृहस्पति उपवक्ता है ॥ अग्नि होता है, दोनो अश्विन् अध्वर्यु, त्वष्टा अग्नीद् और मित्र उपवक्ता है ॥ सूर्य को तुम्हारी दृष्टि (प्राप्त हो), वायु को प्राण, आकाश को पृष्ठ-भाग और अन्तरिक्ष को तुम्हारी आत्मा (शरीर का सामने का भाग) प्राप्त हो, सब अगो से यज्ञ को और शरीरो से पृथिवी को प्राप्त करो ॥ महाहवि होता है, सप्तहवि अध्वर्यु, अच्युतपाजा अग्नीद्, अच्युतमना उपवक्ता, अना-

इमा आपो मधुमत्योऽस्मिंस्त लोक उपदुह्यन्ताम् ॥ [७२१]

ये माधुर्ययुक्त जल इस लोक मे तुम्हे सुख प्रदान करे ॥

दूसरी और तीसरी बार क्रमश अस्मिन् के स्थान पर अन्तरिक्षे और स्वर्गे पढा जाना चाहिये। यह मन्त्र अन्य किसी ग्रन्थ म अनुपलब्ध है।

घडे के इस प्रकार तोड जाने के पश्चात् खप्परो मे अवशिष्ट जल निम्न लिखित वाक्य (वै० गृ ५।५) के उच्चारण के साथ-साथ मृतक की सभी ज्ञानेन्द्रियो के विवरों मे डाला जाना चाहिये —

भू पृथिवीं गच्छतु। भुवोऽन्तरिक्ष गच्छतु। सुर्दिवं गच्छतु ॥ [७२२]

भू पृथ्वी को जाये भुव अन्तरिक्ष को जाये स्व आकाश को जाये ॥

आग्नि०गृ (३।४।३) मे इसी कर्म के निमित्त निम्नलिखित वाक्य उद्धत है।

दिवि जाता अप्सु जाता ॥ [७२२ अ]

ये इन्द्रियाँ द्युलोक से उत्पन्न हैं ये जल से उत्पन्न है।

यह वाक्य त ब्रा (३।७।१२।६) मे अग्निष्टोम के प्रारम्भ मे यजमान द्वारा उच्चारणार्थ दिया गया है। त आ (२।३।१) मे इसका विनियोग पाप विनाशक कर्म कूष्माण्ड होम मे किया गया है। सम्भवतया अप्सु शब्द से आग्नि गृ का रचयिता जल से सम्बद्ध क्रिया मे इसके विनियोग के लिये प्रेरित हुआ।

आग्नि गृ (३।४।१) मे कर्ता द्वारा मृतक के मुख मे दही चावल और तिल की आहुति डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

इद त आत्मन शरीरमय त (आत्मा) आत्मनस्त आत्मान शरीराद्
ब्रह्म निर्भिनद्मि भूर्भुव स्वरसौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ [७२३]

यह तुम्हारी आत्मा का शरीर है यह (शरीर) तुम्हारी (आत्मा अर्थात् अपना आप है)। तुम्हारे अपने आप की आत्मा को यह मैं स्वग लोक के लिये शरीर से ब्रह्मरूप मे पृथक करता हूं। भूर्भुव स्व ॥

इसी गृह्यसूत्र मे एक अन्य स्थल (३।७।५) पर इसका विनियोग अस्थि-सचय कर्म में अस्थियो पर घृत डालने के लिये किया गया है। यह अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नही है।

अब मृतक के शरीर के विभिन्न अगो का अभिमन्त्रण किया जाता है। आग्नि गृ (३।४।१) और वै गृ (५।५) मे दोनो नासा रन्ध्रो के अभिमन्त्रण के लिये निम्नलिखित वाक्य के दो बार उच्चारण का विधान है —

जाना चाहिये ।[1] तदनुसार आ० गृ० (४।३।२०) मे विधान है कि उक्त पशु की वपा (चर्बी) निकाल कर उससे मृतक के सिर तथा मुख आच्छादित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१६।७) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व स प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ [७३०]

हे मृतक, अग्नि का घर बनी हुई इस वेदी को सब ओर से प्राप्त हो, तू मास और चर्बी सहित इस चिता को पूर्णता से प्राप्त हो । इससे धर्षणशील, अतिशय से वस्तुमात्र को अकिञ्चित् करने वाली अग्नि तुझे विशेषरूप से जलाती हुई तुझे इधर उधर नही फेकती ॥ प्रि० र०

मन्त्र के इस अनुवाद के अनुसार मन्त्र से पशु की चर्बी रखने का सकेत प्राप्त नही होता । यह मन्त्र अथर्व० (१८।२।५८) मे भी (अन्तिम दो शब्दो के पाठ 'विधक्षन् परीङ्खयातै' सहित) विद्यमान है । कौशिक० (८१।२५) के अनुसार इसका उच्चारण मृतक के मुख पर सात छिद्रो से युक्त वपा रखते समय किया जाना चाहिये । ये सात छिद्र सम्भवतया ज्ञानेन्द्रियो के सात विवरो के प्रतीक हैं । तै०आ० (६।१।४) मे इसका विनियोग मृतक के समस्त शरीर पर वपा रखने के निमित्त किया गया है । परन्तु शा० श्रौ० (४।१४।१७) का विनियोग इसके गृह्यविनियोग के बहुत अनुरूप है क्योंकि वहाँ भी इसका उच्चारण करते हुए मृतक के मुख को वपा से आच्छादित करने का विधान है ।

आ० गृ० (४।३।२१) और कौशिक० (८१।२२) के अनुसार पशु की वृक्काएँ (गुर्दे) निकाल कर मृतक के दोनो हाथो मे रखते हुए अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमाद मदन्ति ॥ [७३१]

हे प्रेत, तू सुष्ठु मार्ग से सरमा—उषा के पुत्रभूत, एक दूसरे के पीछे भागते हुए दो कुत्तो के समान चार-चार प्रहरो वाले श्वेत और श्यामवर्ण दिन और रात को प्राप्त कर । और इस प्रकार उन कल्याणप्रद सूर्यकिरणो के पास जा, जो काल के साथ-साथ प्रकाशित होती है ॥ प्रि० र०

यदि इसका सायणादिकृत अर्थ भी लिया जाये तो भी हाथो मे वृक्का रखने का संकेत कही प्राप्त नही होता । सम्भवतया द्विवचनान्त सारमेयौ आदि शब्दो को

१ इ० वै० कल्प०, पृ० ३५८-३६१ ।

धृष्य और अप्रतिधृष्य यज्ञ के प्रशंसक तथा अयास्य उद्गाता है ॥

इन वाक्यों में विविध दैवी शक्तियों का विविध पुरोहितों के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु गृह्यविनियोग से इनका कोई विशिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। व गृ (५।४) में चतुर्थ वाक्य का विनियोग तो आग्नि गृ के समान अस्थियों के अभिमन्त्रणार्थ किया गया है परन्तु अन्य वाक्यों के विनियोग में अन्तर है। तदनुसार प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए दर्भ घास से मृतक के मुख का स्पर्श किया जाना चाहिये द्वितीय द्वारा कानों का और तृतीय वाक्य के द्वारा नेत्रों का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये।

तृतीय वाक्य को छोड़कर अन्य तीनों म स (१।६।१) में विद्यमान हैं। तै ब्रा पा श्रौ आप श्रौ में ये चारों वाक्य उन्हीं नामों से आये हैं जिनसे आग्नि गृ में।[1] तृतीय वाक्य की तुलना विभिन्न संहिताओं में स्वल्प पाठान्तर सहित विद्यमान निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है —

सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥[७२६]

तुम्हारे नेत्र सूर्य को प्राप्त हों आत्मा वायु को तुम नियमानुसार आकाश और पृथ्वी को प्राप्त हो। यदि जल में तुम्हारा हित है तो वहाँ जाओ अथवा ओषधियों में शरीर के साथ प्रतिष्ठित हो जाओ।

इस मन्त्र में पञ्चभूतों के पञ्चमहाभूतों में लीन होने तथा अन्य शरीर धारण करके आत्मा के पुनर्जन्म लेने के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत है। तै आ (६।१।४) में इसके अनुरूप उपरिलिखित तृतीय वाक्य का विनियोग अन्त्येष्टि के अन्तर्गत दाह क्रिया के लिये अग्नि प्रज्वलित करने के पश्चात् उच्चारणार्थ किया गया है। इसमें एक अन्य स्थल (६।७।३) पर मृतक की उपासना के लिये भी इसका विनियोग किया गया है। ये दोनों विनियोग इसके गृह्यविनियोग के अनुरूप हैं।

मृतक द्वारा विविध यज्ञों में प्रयुक्त यज्ञोपकरणों को निर्दिष्ट विधि के अनुसार उसके शरीर के विभिन्न अंगों पर रखा जाना चाहिये। इसके पश्चात् अनुस्तरणी (मादा-पशु) के शरीर के विभिन्न अंगों को मृतक के शरीर के विभिन्न अंगों पर रखा

1 तै ब्रा ३।२।१ ३।१ ४।१ ५।१ आ श्रौ १ ।१५।४ १६।४ १७।४ १८।४ मा श्रौ ५।२।१४।२४।

2 ऋ १ ।१६।३ अथर्व १८।२।७ म स ४।१३।४ का स १६।२१ दे ऐ ब्रा २।६।१३ तै आ ३।६।६।२।

हो, तो उन्हे इसका उच्चारण करते हुए पुन जलाना चाहिये । इसमे स्वर्गाय से पूर्व अग्नये वैश्वानराय का समावेश किया गया है। यह वाक्य शीघ्र ही प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि को सम्बोधित है। इसका स्रोत वा०स० ३५।२२ है। श०ब्रा०, तै०आ० और का०श्रौ० के अनुसार दाहक्रिया के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये[1]। शा० श्रौ० (४।१४।३६) मे विधान है कि इसका उच्चारण करते हुए कर्ता को मृतक-शरीर के साथ अग्नि का सयोग करना चाहिये । अत इसके गृह्यविनियोग का आधार ये श्रौत-विनियोग प्रतीत होते है।

दाह-क्रिया

कौशिक० (८१।३३) मे चिता मे अग्नि प्रज्वलित करने के लिये निम्नलिखित चार मन्त्रो का विनियोग किया गया है —

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वच चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृत यदा करसि जातवेदोऽथेमेन प्र हिणुतात् पितृँरुप ॥ [७३४]
श तप मातितपो अग्ने मा तन्व तप ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धर ॥ [७३५]
आरभस्व जातवेदस्तेजवद्धरो अस्तु ते
शरीरमस्य स दहाथैन धेहि सुकृतामु लोके ॥ [७३६]
प्रजानन्त प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्य पर्याचरन्तम् ।
दिव गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरै स्वर्ग याहि पथिभिर्देवयानै ॥[७३७]

हे अग्नि, इसे विकृत रूप से न जलाओ, इसे छोडकर इधर-उधर न जलो, इसकी त्वचा को और शरीर को न फेंकना। हे जातवेदा, जब तुम इसे पका डालो, तो इसे पितरो (सूर्य किरणो) के पास पहुँचा देना ।। हे अग्नि, शान्तिपूर्वक तपो, न तो शव का अतिक्रमण करके तपो और न ही किसी अन्य के शरीर को जलाओ। तुम्हारा बल वनो मे रहे और तुम्हारी जो ज्वलन शक्ति है, वह पृथिवी पर रहे ।। हे जातवेदा, तुम जलाना प्रारम्भ करो, तुम्हारा ज्वलन तेजोयुक्त हो। तुम इसके शरीर को पूर्णतया जला डालो और इसे पुण्यकार्य करने वालो के लोक में स्थापित करो ।। ज्ञानी पूर्वज गतिशील प्राण को इसके अगो मे से ग्रहण कर लें। तुम आकाश को जाओ और शरीर सहित (पुनर्जन्म में) प्रतिष्ठित हो जाओ, देवताओ के मार्ग से तुम स्वर्ग को प्राप्त हो ॥ ग्रि० र०

---

१ श०ब्रा० १२।५।२।१५, तै०आ० ६।२।१, ४।२, का०श्रौ० २५।७।३७ ।

यहाँ दो वृक्काओं ने प्रतीकरूप में ग्रहण किया गया है। ऋ (१।१४।१) और अथर्व (१८।२।११) इस मन्त्र के प्राप्तिस्रोत है। त स (१।८।५।२) में केवल उत्तरार्ध है। त आ (६।१।१) के अनुसार दाहक्रिया के पश्चात् कर्ता मृतक की उपासना इस मन्त्र द्वारा करता है परन्तु गा थौ (४।१४।१५) का विनियोग गृह्य विनियोग के पूर्णतया अनुरूप है क्योंकि वहाँ भी मृतक के हाथों में पशु की वृक्काएँ रखने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

इसी प्रकार पशु के अन्यान्य अंग भी मृतक के विभिन्न अंगों पर रखे जाते हैं परन्तु उन सब के साथ मन्त्रोच्चारण का विधान नहीं है।

आ गृ (४।३।२५) के अनुसार पहले जो चमस मृतक के उदर पर रखा गया था उसका अभिमन्त्रण निम्नलिखित मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये —

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ [७३२]

हे अग्नि इस चमस को तुम कुटिल रूप में न जलाओ। यह चमस देवताओं तथा सोम योग्य ऋत्विजों का भी प्रिय है। यह जो चमस देवों का पान साधन है उसमें अमर देव आनन्दित होते हैं॥ हृ० मि०

कौशिक (८१।६) में इसका विनियोग मृतक के सिर पर चमस रखने के लिये किया गया है। इस कर्म में इस मन्त्र का विनियोग त आ (६।१।४) में भी हुआ है। यह ऋ और अथर्व में विद्यमान है।[1]

अब दक्षिणाग्नि में अग्नि काम लोक और अनुमति को चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। इसके पश्चात् आ गृ (४।३।२६) और कौशिक (८१।३) के अनुसार पाँचवीं आहुति मृतक के वक्षःस्थल पर निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अर्पित की जानी चाहिये —

अस्माद्वै त्वमजायथा अयं त्वदधिजायतामसौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥[७३३]

इससे से निश्चय ही तुम उत्पन्न हुए थे यह तुम में से उत्पन्न हो स्वर्ग लोक के लिये॥

कौशिक में स्वर्गाय लोकाय का अभाव है। आग्नि गृ (३।४।५) में इसका विनियोग अस्थिसंचय में किया गया है। वहाँ यह निर्देश है कि यदि अस्थियाँ जला न

---

१ ऋ १।१६४।८ अथर्व १८।३।५३ (एष और मादयन्ते के स्थान पर अयम् और मादयन्ताम्)।

मे उपलब्ध है।[1]

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै०गृ० (५।५) मे आगे निर्देश है कि कर्ता को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए चिताग्नि की उपासना करनी चाहिये —

ब्राह्मण एकहोता स यज्ञ ॥ [७४२]

ब्राह्मण एकमात्र होता है, वह यज्ञ है।

बौ०गृ० (४।१०।१) के अनुसार गार्हस्थ्य अग्नि मे क्षति होने पर उसके प्रायश्चित्त कर्म मे इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० आ० (३।७।१) और आप० श्रौ० (८।४।३) मे वैश्वदेव याग मे उच्चारणार्थ अनुवाक के प्रारम्भ मे यह दिया गया है। इसमे अग्नि की ब्राह्मण, होता तथा यज्ञ के रूप मे स्तुति की गई है।

उपर्युक्त दोनो गृह्यसूत्रो मे विधान है कि निम्नलिखित मे से प्रथम मन्त्र आहिताग्नि मृतक के प्रति और द्वितीय मन्त्र अनाहिताग्नि मृतक के प्रति सम्बोधित किया जाना चाहिये —

य घर्मोऽग्निरभिजिर्हति या गति यन्ति युधि युद्धशूरा।
विधूतपापा विरजा विशोकास्ता गति याहि सुरभिर्नाकपृष्ठ स्वधानम ॥
[७४३]

या गति यन्ति युधि युद्धशूरास्तनुत्यजो मोक्षविदो मनीषिण।
सुकृतिनोऽग्निहोत्रहविष्ठारता गति याहि सुरभिर्नाकपृष्ठ स्वधानम ॥
[७४४]

यह कटाहरूप अग्नि जहाँ (आहुतियो) को ले जाती है, पापरहित, दोषहीन, शोकरहित युद्धवीर युद्ध मे जिस गति को प्राप्त होते है, उसी गति को प्रसिद्ध होकर, स्वर्ग पर आधृत तुम प्राप्त हो जाओ ॥ पुण्यकर्ता, अग्निहोत्र मे सबसे अधिक आहुति देने वाले, शरीरत्यागी, मोक्षविद्, मनीषी, युद्धवीर युद्ध मे जिस गति को प्राप्त होते है, उसी गति को

मन्त्रो मे मृतक के स्वर्गलाभ की कामना व्यक्त की गई है। उपरिलिखित पाठ आग्नि०गृ० में से उद्धृत है। वै०गृ० में पाठान्तर हैं। तदनुसार इसमे यम् के स्थान पर अयम् पाठ है, अभिजिर्हति के अनन्तर होमम् का समावेश है, युधि युद्धशूरा के स्थान पर बहवो हितवता पाठ है और द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध के रूप मे आया है (सुरभिर्नाकपृष्ठ के स्थान पर सुगति नाकपृष्ठम् पाठ सहित)। द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध प्रथम मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है—मात्र

1 वा०स० ८।४९, तै०स० ३।३।३।२, का०स० ३०।६, मै०स० १।९।१।

ये सभी मन्त्र अथर्ववेद में से उद्धृत हैं।[1] केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग त० आ० (६।१।४) में भी चिता प्रज्वलित करने के लिये किया गया है। शां० श्रौ० (४।१५।१) में भी इसी क्रम में इसका तथा ऋ० १०।१६ के अगले नौ मन्त्रों का विनियोग हुआ है।

आग्नि० गृ० (३।४।४) और व० गृ० (५।५) के अनुसार आहवनीय, दक्षिण तथा गार्हपत्य अग्नियों का चिता से संयोग कराने के लिये निम्नलिखित प्रथम तीन वाक्यों का क्रमशः उच्चारण किया जाना चाहिये। और सभ्य तथा आवसथ्य दोनों अग्नियों द्वारा एक साथ चिता प्रज्वलित करने के लिये चतुर्थ वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये —

अग्निर्यजुर्भिः सविता स्तोमैः। सेनेन्द्रस्य धेना बृहस्पतेः ॥
वाचस्पते विधेनामन्। वाचस्पते वाचो वीर्येण ॥
सोमः सोमस्य शुक्रः शुक्रस्य। वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचा ॥
वाग्घोता पत्नी दीक्षा ॥ [७३८-७४१]

यजुर्मन्त्रों के साथ अग्नि, स्तोमों के साथ सविता। इन्द्र की सेना बृहस्पति की धेना ॥ हे वाचस्पति, विधेनाम। हे वाचस्पति, वाणी की शक्ति से ॥ सोम सोमका (नेता है) शुक्र शुक्र का। हे वाचस्पति, निर्दोष वाणी के द्वारा ॥ होता वाणी है, पत्नी दीक्षा है ॥

प्रथम वाक्य के दो भागों को क्रमशः सम्भार और पत्नी कहा गया है, द्वितीय वाक्य के दो भागों को क्रमशः ग्रह और ऋतुमुख तथा तृतीय वाक्य के प्रथम भाग को ग्रह कहा गया है। प्रथम वाक्य का आदि शब्द अग्नि होने के अतिरिक्त इन वाक्यों में अग्नि के साथ सम्बन्ध का अन्य कोई संकेत नहीं। त० आ० में ये सभी वाक्य सभी स्थलों पर लगभग साथ-साथ ही आये हैं। इसके अनुसार प्रथम वाक्य का विनियोग चातुर्होत्र-वेदी-चयन के अवसर पर पत्नी इष्टकायें स्थापित करने के लिये किया गया है और द्वितीय वाक्य का ग्रह-इष्टकायें स्थापित करने के लिये। तृतीय वाक्य का प्रथम भाग पञ्चहोतृ-वाक्य का ग्रह भाग है और द्वितीय भाग षड्ढोतृ वाक्य का ग्रह भाग। अन्तिम वाक्य स्वयं षड्ढोतृ वाक्य का एक अंश है। प्रथम दो वाक्य केवल का० सं० और म० सं० में विद्यमान हैं[3] परन्तु तृतीय वाक्य सभी यजुर्वेदीय संहिताओं

---

१ अथर्व० १८।२।४, ३६, ३।७१, २।३४।५।

२ त० आ० ३।८।१, ६।१, २।१, २।१, ९।१, ४, ६।१।

३ का० सं० ६।१, ९ म०स० १।६, ९, ८, १४।

वै०गृ० (५।५) के अनुसार चिता प्रज्वलित होने के पश्चात् हृदय मन्त्रो का पाठ किया जाना चाहिये । तै०आ० (३।११) के सम्पूर्ण अनुवाक मे हृदय मन्त्र निहित माने जाते है । इस अनुवाक के आद्य शब्द ये हैं —

सुवर्णं घर्मं परिवेद वेनम् । इन्द्रस्यात्मान दशधा चरन्तम् । [७४७]

दस रूपो मे (दस दिशाओ मे) विचरणशील इन्द्र की आत्मा रूप इस सुवर्ण-कटाहरूपी अग्नि को मैं जानता हूँ ॥

इन मन्त्रो के हृदय नाम की व्याख्या करते हुए सायण ने कहा है कि इनके इस नाम का कारण यह है कि मानो ये होतृ-वाक्यो का हृदय प्रस्तुत करते है ।[1] तै०आ० मे इनका विनियोग चातुर्होत्र-वेदी के चयन मे इष्टकाधान के लिये किया गया है । अत इस विनियोग का गृह्य-विनियोग से कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता । अन्यथा अग्नि की स्तुति के रूप मे इनकी साधारण विनियोगार्हता तो है ही ।

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै० गृ० (५।५) मे विधान है कि अब किसी यज्ञोपवीती को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए तर्पण करना चाहिये —

स त्वा सिञ्चामि यजुषा प्रजामायुर्धनं च ॥ [७४८]

यजुर्मन्त्र के द्वारा तुममे सन्तति, आयु और धन सिंचित करता हूँ ।

यह तै०स० (१।६।१।१) के मन्त्र का पूर्वार्ध है । तै०आ० (६।१) मे अन्त्येष्टि कर्म से सम्बद्ध अनुवाक के आरम्भ मे इसे शान्ति-पाठ के रूप मे दिया गया है । आप०श्रौ० (४।१३।४) के अनुसार स्रुव मे मे वपा गिरने पर प्रायश्चित्त कर्म मे इसका उच्चारण किया जाना चाहिये ।

आग्नि०गृ० (३।४।४) के निर्देशानुसार दाहक्रिया के पश्चात् तीन मन्त्रो (ऋ० १।५०।१, १० , ११५।१) के द्वारा सूर्योपासना करनी चाहिये । इनमे से प्रथम और अन्तिम मन्त्रो का विवेचन पहले किया जा चुका है (दे०म०स० ४७० और ६३९) । द्वितीय मन्त्र (ऋ० १।५०।१०) निम्नलिखित है —

उद्वय तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम् ।
देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ [७४९]

अन्धकार से परे हम ऊपर के प्रकाश को ऊर्ध्व दृष्टि से देखते हुए देवताओ के ध्यान मे स्थित सर्वश्रेष्ठ प्रकाश सूर्य देव को प्राप्त हुए हैं ॥

---

१ चित्ति स्रुगित्यादीनां होतृमन्त्राणा हृदय रहस्य तत्त्व परमात्मस्वरूप प्रतिपादयतीत्ययमनुवाको हृदयमित्युच्यते ।

भेद मयम् के स्थान पर सुवध और महवो हितव्रता के स्थान पर सुधि भुवि शूरा हैं। इस मन्त्र का उत्तरार्ध क ग म दोनो मन्त्रो का निम्नलिखित मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है —

समुत्यजो मोक्षविदो मनीषिणो विधूतपापा विरजा विशोकास्तो गति गच्छ सुगति ॥ ये दोना मन्त्र बौधायन पितृमेध सूत्र (३।४) मे भी विद्यमान हैं। इनका मूल स्रोत गृह्य-परम्परा ही प्रतीत होती है।

मा गृ (४।४।६) मे चिता के प्रदीप्त होने पर उच्चारणाय मन्त्रो की एक लम्बी सूची दी गई है।[1] ये सभी मन्त्र ऋग्वेद के यमसूक्तो म से उद्धृत है। इनके गृह्य विनियोग का मूल स्रोत मा श्रौ (६।१ ।१६ २) प्रतीत होता है क्योकि वहाँ भी दीक्षित व्यक्ति क शव-दाह के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है।

कौशिक (८१।३४ ३६) मे निर्देश है कि चिताग्नि मे यम-आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। इन आहुतियो की सगति म उच्चारणाय मन्त्रो की दीघ सूचियाँ दी गई है। ये सभी मन्त्र भी अथर्व के यमसूक्तो मे से उद्धृत है। इसके पश्चात् सरस्वती देवी वाले छ मन्त्रो का उच्चारण करते हुए कुछ

सारस्वत [७४५]

आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। इनमे से भी अधिकाश मन्त्र अथव के यमसूक्तो मे से उद्धृत हैं और इसलिये साधारणतया अन्त्येष्टि कम में उनकी विनियोगाहता असन्दिग्ध है।

इसके पश्चात् (८१ ४४) विधान है कि मृतक के सम्बन्धियो को उसकी उपासना या तो इन मन्त्रो द्वारा और या

अनुस्थानी [७४६]

मन्त्रो (दशम मन्त्र छोडकर अथर्व १८।२।४ १८) द्वारा करनी चाहिये। इनमे से छ (११ १४ और १६ १७) का विनियोग त श्रा (६।३।१ २) मे इसी कर्म मे किया गया है। इस उपासना का विधान उस स्थिति मे किया गया है यदि मृतक आहिताग्नि न हो। यदि वह आहिताग्नि हो तो (८१।४५) यह विधान है कि उसकी उपासना अथव १८।४।१ १५ के पन्द्रहो मन्त्रों द्वारा की जानी चाहिये।

---

१ ऋ १ ।१४।७ ८ १ ११ १ ।१६।१ ६ १ ।१७।१ ६ १ ।१८।१ १३ १ ।१३।४ १ ।१४।१२।

२ अथव १८।१।४६ ५१ ५८ ६१ १८।३।१३ २।४६ ५६।

३ अथव १८।२।४१ ४९ ७।६८।१ २ १८।३।२५।

आग्नि०गृ० (३।४।४) के अनुसार जाते हुए उन्हे निम्नलिखित शब्दो का उच्चारण करना चाहिये —

न पुनरागमिष्यामहे ॥ [७५१]

हम फिर लौटकर नही आयेगे ।

किन्तु पा०गृ० (३।१०।१३) मे इस अवसर पर मृत व्यक्ति के सम्बन्धी से अनुमति के लिये निम्नलिखित शब्द दिये गये हैं —

उदक करिष्यामहे ॥ [७५२]

हम उदककर्म करेंगे।

वे सब नदी पर जाकर अवगाहन करते हैं और फिर मृतक के प्रति उदकाञ्जलि अर्पित करते हुए इन शब्दों का उच्चारण करते हैं[1]—

असावेतत्त उदकम् ॥ [७५३]

हे अमुक नाम वाले, यह तुम्हारे लिये जल (अर्पित) है ।

श्मशान से लौटकर घर पर कर्मानुष्ठान

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै० गृ० (५।६) मे निर्देश है कि जिस स्थान पर किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है, उस पर निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए तण्डुलमिश्रित तिल बिखेर कर उसे पवित्र किया जाना चाहिये —

स्वस्त्यस्तु वो गृहाणा शेषे शिवमास्ताम् ॥ [७५४]

तुम्हारे घर का कल्याण हो, शेष सर्वत्र शुभ हो ।

वै० गृ० मे शेषे शिवमास्ताम् शब्द नही हैं । यह वाक्य किसी प्राचीन ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं, अत गृह्यपरम्परागत प्रतीत होता है ।

पा०गृ० (३।१०।२८) के अनुसार कर्ता को रात्रि के समय किसी मृत्तिकापात्र में खुले आकाश में मृतक के लिये दूध और जल रखते हुए निम्नलिखित शब्द कहने चाहियें —

प्रेतात्र स्नाहि ॥ [७५५]

हे प्रेत, यहाँ स्नान करो ।

इससे यह विश्वास प्रकट होता है कि दाहक्रिया के पश्चात् भी मृतक किसी

---

१ शा०गृ० ४।१।४, गो०गृ० ४।२।३५, पा०गृ० ३।१०।२१, आग्नि०गृ० ३।४।४, वै०गृ० ५।६ ।

वै०गृ० (५।६) में भी दाहक्रिया के पश्चात् सूर्योपासना के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। यह मन्त्र सभी संहिताओं में अनेक बार आया है।[1] यद्यपि यह प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य की विस्तृत शृंखला में विद्यमान है[2] तथापि इसके विनियोग का सीधा स्रोत त० आ० (६।३।३) प्रतीत होता है क्योंकि इसमें भी मृतक की दाहक्रिया के पश्चात् इसके द्वारा सूर्योपासना का विधान है। वैसे साधारण सूर्योपासना के लिये अन्य कर्मों में कुछ अन्य ग्रन्थों में भी इसका विनियोग किया गया है।[3]

आ० गृ० (४।४।६) के अनुसार अन्त में कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।३) का उच्चारण करना चाहिए, और उसके इसे उच्चारित करते समय अन्य व्यक्तियों को पीछे देखे बिना श्मशान से चले आना चाहिये —

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ [७५०]

इस मृतक के जीवित सम्बन्धी हम मृत पितरों से लौट रहे हैं। इसके पश्चात् हमारी देवपूजा कल्याणकर हो। अब हम पूर्वदिशा की ओर नाचने और हँसने के लिये अतिशय दीर्घ आयु धारण करते हुए जा रहे हैं। द्र० मि०

कौशिक (८६।२१) के अनुसार मृतक के सम्बन्धियों को श्मशान से बाहर जाते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। इसके समानान्तर विनियोग त० आ० (६।१०।२) में भी दृष्टिगोचर होता है क्योंकि तदनुसार मृत्यु के दसवें दिन के कर्म में इसका उच्चारण करते हुए मृतक के ज्ञातिजनों को पूर्वाभिमुख होकर घर की परिक्रमा करनी चाहिये। इस विनियोग में प्राञ्च शब्द की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यह मन्त्र अथर्व० (१२।२।२२) में भी विद्यमान है। दीर्घायु की कामना तथा नाचने हँसने के उल्लेख से वैदिक ऋषियों का पूर्ण आशावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है।

उदककर्म

दाहकर्म की समाप्ति पर सभी जन नदी में अवगाहन करने जाते हैं।

---

१ अथर्व ७।५३।७ वा० सं० २।१२१ ३५।१४ ३८।२४ तै० सं० ४।१।७।४ ४।१।८।६ मै० सं० २।१२।५; ३।४।६ ४।२।२७ का० सं० १८।१६ २२।१ ३८।५।

२ दे० वैदिक कॉन्कॉर्डेंस पृ० २६३।

३ श० ब्रा० १२।६।२।८ १४।३।१।२८ तै० ब्रा० २।६।६।४ का० श्रौ० ४।३।४१ ६।५।

इसके अतिरिक्त यहाँ तृतीय पाद मण्डूक्यप्सु श भुव है। कौशिक० (८२।२६) मे इस अथर्व० मन्त्र का विनियोग ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की अस्थियो पर क्रमश दुग्ध, मधु अथवा जल अभिषिक्त करने के लिये किया गया है। कौशिक० के इस विनियोग की पुष्टि तै०आ० (६।४।१) से होती है क्योकि वहाँ भी अस्थियो पर जलाभिषेक करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। यहाँ ह्लादिके ह्लादिकावति के स्थान पर ह्लादुके ह्लादुकावति, सङ्गम के स्थान पर सङ्गमय और हर्षय के स्थान पर शमय पाठान्तर हैं।

कौशिक० मे इसी प्रसग मे निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।३।५) का विनियोग भी किया गया है[1]—

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि ॥ [७५८]

हे अग्नि, आप नदियो के सरकण्डो के पौधो तथा वेंत आदि पौधो के उत्तम रक्षक हैं, और आप जलाशयो के जलरक्षक किनारे के भी रक्षक हैं ॥

इस मन्त्र मे श्मशानाग्नि की विशेषता बताई गई है कि वह ऐसे प्रज्वलित की जाती है जिससे कि वह न तो नदियो के और न ही अन्य जलाशयो के तटो को थामकर रखने वाले सरकण्डे आदि पौधो को नष्ट कर सके। भूमि की उर्वरता की दृष्टि से इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है।

इस मन्त्र की तुलना एक यजुर्वेदीय मन्त्र से की जा सकती है—उसका तृतीय पाद उपरिलिखित मन्त्र के तृतीय पाद के ठीक समान है और प्रथम दो पादो का पाठ उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा है।[2] परन्तु पूर्ववर्ती साहित्य मे इसके गृह्य-विनियोग का कोई स्पष्ट सकेत प्राप्त नही होता। पूर्ववर्ती साहित्य मे इसका विनियोग यज्ञभूमि का कर्षण करने के लिये किया गया है। हाँ दोनो विनियोगो मे जलाशयों की रक्षा की भावना समान है।

कौशिक० (८२।२९) मे आगे चलकर अस्थिसञ्चय की क्रिया के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रो (अथर्व० १८।२।२४, २६) का विनियोग किया गया है —

१ अन्त्येष्टि और अथर्ववेद पद्धति मे उप द्याम् इत्यादि दो, हिरण्यपाणिम् इत्यादि (अथर्व० ३।२१।८-१०) तीन तथा शन्ते नीहार इत्यादि एक—इस प्रकार कुल पाँच मन्त्रों का विनियोग किया गया है।

२ वा०स० १७।६, तै०स० ४।६।१।१, मै०स० २।१०।१, का०स० १८।२०, श०ब्रा० ९।१।२।२७।

रूप में (सम्भवतया आत्मा के रूप में) रहता है और सभी सामान्य क्रियाएँ करता है। इस वाक्य का मूल भी गृह्य-परम्परा प्रतीत होती है।

अस्थि-सञ्चयन

व० गृ० में चतुर्थ दिवस अस्थि-सञ्चय का विधान है परन्तु उस प्रसङ्ग में किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। आग्नि० गृ० में इस कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। आग्नि० गृ० (३।४।५) में कहा गया है कि अस्थिसञ्चय करके कर्ता को इदं त एकं पर ऊ त आसीत् शरीरम् इत्यादि मन्त्र (दे० म० सं० ७२३) का उच्चारण करते हुए उन पर घी प्रवाहित करना चाहिये।

इसके पश्चात् निर्देश है कि यदि अस्थियाँ पूर्णतया न जली हों तो अस्मात्त्वमधि जातोऽसि इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनका पुनर्दाह किया जाना चाहिये।[1] (दे० म० सं० ७१३)

आ० गृ० और कौशिक० में इस कर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। आ० गृ० (४।५।४) में विधान है कि सर्वप्रथम दुग्धमिश्रित जल से शमी-शाखा के द्वारा शव-दाह-स्थल पर छिड़काव करना चाहिये—इस समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१६।१४) का उच्चारण करते हुए उस दाहस्थल की परिक्रमा करनी चाहिये —

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्या सु संगम इमं स्वग्निं हर्षय ॥ [७५६]

हे सतत वृष्टि ! हे अत्यन्त वृष्टि से युक्त भूमि ! हे आनन्दित करने वाली ! हे आनन्द से युक्त भूमि ! तुम (जल की अधिकता के कारण) मेढकियों से भली प्रकार संयुक्त हो जाओ और इस अग्नि को सुष्ठु प्रकार से शान्त कर दो ॥ ह०मि०

हरदत्त मिश्र के अनुसार यहाँ प्रोक्षणोदक को ही वृष्टिरूप में वर्णित किया गया है (प्रोक्षणोदकं वृष्टित्वेन रूप्यते)। भाव यह है कि वह भूमि पुनः हरी भरी हो जाये। यह मन्त्र अथर्व० (१८।३।६०) में भी विद्यमान है किन्तु वहाँ इससे पूर्व निम्नलिखित पंक्ति जोड़ी गई है —

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् [७५७]

हे भूमि ! तुम्हारे लिये ओस अनुकूल हो और वृष्टि अनुकूल होकर गिरे ॥

---

१ आग्नि० गृ० ३।४।५—अथ यदि न दहेयुस्तदुक्तमादाय पुनर्दहेयुः ॥

आ०गृ०(४।५।७) के अनुसार किसी पात्र में अस्थिसचय करने के पश्चात् एक गड्ढा खोदकर उस पात्र को उसमें उतारते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।१०) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥ [७६२]

तुम इस अतिव्यापिनी, विस्तीर्ण, शोभन सुख वाली भूमि माता के पास जाओ। ऊन के समान कोमल, युवती के समान सुखकारिणी यह तुम दक्षिणा देने वाले की पापों से रक्षा करे ॥ ह० मि०

युवति के स्थान पर पृथिवी और निर्ऋतेरुपस्थात् के स्थान पर प्रपथे पुरस्तात् पाठभेद-सहित यह मन्त्र अथर्व० (१८।३।४९) में भी विद्यमान है। आ०श्रौ० (६।१०।१९) में भी यह मन्त्र मृतक की दाहक्रिया के समय उच्चारणार्थ विनियुक्त है। किन्तु तै० आ० (६।७।१) में पितृमेध में वेदी पर मृत्तिका-लोष्ठ रखने के लिये इसका विनियोग किया गया है। कौशिक० (८६।१०) के अनुसार भी पितृमेध में जिस गड्ढे में मृतक की अस्थियाँ रखी गई हों उस पर ईंटें रखते समय इसका पाठ किया जाना चाहिये। मन्त्र में भूमि से पाप से रक्षा की प्रार्थना के कारण उपर्युक्त प्रत्येक विनियोग में किसी न किसी रूप में भूमि से इसका सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है।

कौशिक०(८२।३३)में भूमि में अस्थिकलश दबाने के लिये अथर्व०(१८।२।१९) मन्त्र स्योनास्मै भव इत्यादि का विनियोग किया गया है। इसके विस्तृत विवेचन के लिये दे०म०स० ६६३, तथा १०२३ के पश्चात्।

आ०गृ० (४।५।८) में विधान है कि जिस गड्ढे में अस्थिकलश रखा जाये उसे कलश के कण्ठ तक मिट्टी से भर देना चाहिये। इस समय गड्ढे में मिट्टी डालते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये —

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ [७६३]

हे पृथिवी, तुम ऊँची हो जाओ, इसे पीडित न करो, इसके लिये पोषण करने योग्य तथा शोभन रक्षा वाली हो जाओ। जिस प्रकार माता पुत्र को अपने आँचल से ढक लेती है, उसी प्रकार हे भूमि तुम इसे आवृत करो ॥

इसका मूल स्रोत ऋ० (१०।१८।११) तथा अथर्व० (१८।३।५०) प्रतीत होता है। इसके समानान्तर विनियोग शा० श्रौ० (४।१५।८) में उपलब्ध होता है, जहाँ अस्थि-सञ्चय-कर्म के अन्तर्गत अस्थिकलश को गड्ढे में दबाते हुए इसके उच्चारण का

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्व किञ्चनेह ॥ [७५६]
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते सङ्गत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ [७६०]

हे प्रेत (इस शरीर के जल जाने पर भी पुनर्जन्म में) तुम्हारा मन तुम्हें नहीं छोड़ता । उसी प्रकार तुम्हारे प्राण अंगों के रस तथा शरीर की कोई भी वस्तु तुम्हें नहीं छोड़ती ॥ हे जीव यह जो तेरा प्राण और अपान तेरे शरीर से निकल गया है इसी कारण इन्द्रियों से युक्त तेरा शरीर तुझसे पृथक् हो गया है । इकट्ठी होकर वे ऋतुसहचरित सूर्यकिरणें (पितर) तुझसे संगत होकर जैसे एक पक्व घास से बीज की शक्ति लेकर दूसरे घास में पहुँचाते हैं उसी तरह तुझको दूसरे शरीर तक पहुँचाती है ॥ प्रि० र०

इन मन्त्रों में मृत्यूपरान्त मनुष्य के शरीर के जलने पर जीव के विनाश का निराकरण किया गया है । इन मन्त्रों के पाश्चात्य पाठ का विधान है । कौशिक (८५।२६) में इन मन्त्रों का विनियोग पितृमेध याग के अन्तर्गत अस्थियों को गड्ढे में रखने के पश्चात् उच्चारणार्थ भी किया गया है । अथर्व० के यमसूक्त से उद्धृत होने के कारण अन्त्येष्टि कर्मों में इनकी सामान्य विनियोगार्हता है ।

कौशिक (८२।३२) में निर्देश है कि सञ्चय के पश्चात् अस्थियों को एक कलश में रखकर उसे निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व १८।२।२५) का उच्चारण करते हुए वृक्षमूल में स्थापित करना चाहिये —

मा त्वा वृक्षः सम्बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ [७६१]

न तो यह वृक्ष और न ही यह विशाल पृथ्वी देवी तुम्हें बाधित करे । जिनका राजा यम है ऐसे पितरों का लोक प्राप्त करके तुम वृद्धि प्राप्त करो ॥

अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जीव अस्थियों से भी बंधा हुआ नहीं है । उनके पृथ्वी में रहने पर भी वह स्वेच्छया पितृलोक में जा सकता है । तै० आ० (६।७।२) में इसके बहुत समान एक अन्य मन्त्र का विनियोग पितृमेध-याग में वेदी पर पालाश समिधाओं का आधान करने के लिये किया गया है । तै० आ० में उसका पाठ निम्नलिखित है —

मा त्वा वृक्षौ सम्बाधिष्टां मा माता पृथिवी मही ।
वैवस्वतं हि गच्छासि यमराज्ये विराजसि ॥

लिये उद्दिष्ट स्थालीपाक आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें —

विवस्वान्नो अभय कृणोतु य सुत्रामा जीरदानु सुदानु ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ [७६६]
विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृत न एतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यम गु ॥ [७६७]

जो सूर्य शोभन रक्षक, पुरातन दाता तथा शोभन दाता है, वह हमारे लिये अभयदान दे। इस ससार में ये वीर बहुत सख्या मे हों, मुझ मे गौओ, घोडो आदि पशुओ से युक्त समृद्धि हो ॥ सूर्य हमे अमरत्व प्रदान करे, मृत्यु को दूर कर दे और अमरत्व ले आये। वह इन वृद्ध पुरुषो की रक्षा करे, इनके शोभन प्राण यम को प्राप्त न हो ॥

इन मन्त्रो मे सारे समाज के लिये मृत्यु से रक्षा तथा दीर्घ, स्वस्थ, समृद्ध जीवन की अभिलाषा व्यक्त की गई है। कौशिक० मे स्वय प्रथम मन्त्र का विनियोग अन्य दो स्थलों पर भी किया गया है। प्रथम स्थान (८१।४८) पर दाहक्रिया की समाप्ति पर आहुति अर्पित करते हुए इसके उच्चारण का विधान है। द्वितीय स्थान (८६।१७) पर पितृमेध मे उपासनार्थ यह विनियुक्त है।

विधान है। इसके गृह्यविनियोग की तुलना त० श्रा० (६।७।१) से भी की जा सकती है क्योंकि उसके अनुसार पितृमेध में वेदी पर मृत्तिका लोष्ठ रखते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। ये सभी विनियोग भूमि से सम्बद्ध हैं और मन्त्र में अभिव्यक्त प्रार्थना के पूर्णतया अनुकूल हैं।

इसी गृह्यसूत्र (४।५।९) में आगे चलकर विधान है कि अस्थिकलश तथा गड्ढे को ढकने वाली मृत्तिका का अभिमन्त्रण अधोलिखित मन्त्र के द्वारा किया जाना चाहिये —

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ [७६४]

इस प्रकार ऊँची होती हुई पृथिवी भली प्रकार स्थिर रहे सभी मृतक सहस्रों की संख्या में इसमें ही शरण प्राप्त करें। (जन्मान्तर में भी) घृतादि से समृद्ध वह घर सर्वदा इस लोक में इसकी शरण बना रहे॥

इसका मूल स्रोत भी ऋ० (१०।१८।१२) तथा अथर्व० (१८।३।५१) है। पूर्ववर्ती मन्त्र के समान ही इसका विनियोग भी शा० श्रौ० तथा त० आ० द्वारा परिपुष्ट है।

अन्त में आ० गृ० (४।५।१०) में निर्देश है कि अस्थिकलश को किसी ढक्कन से ढकते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये —

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ [७६५]

मैं तुम्हारे लिये पृथ्वी को दृढ बनाता हूँ तुम्हारे चारों ओर इस ढेले को रखता हुआ मैं किसी द्वारा हिंसित न होऊँ। तुम्हारे लिये पितर इस चिता को धारण करें यहीं (इहलोक में) यम तुम्हारा घर बना दे॥

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के समान इसका आदि स्रोत भी ऋ० (१०।१८।१३) तथा अथर्व० (१८।३।५२) है। और विनियोग की दृष्टि से भी यह उनके समान शा० श्रौ० तथा त० आ० द्वारा सम्पुष्ट है। शा० श्रौ० के अनुसार कलश को ढकने के लिये मिट्टी के ढेले का प्रयोग किया जाना चाहिये। किन्तु इसमें गड्ढे में कलश की स्थापना से पूर्व उसे ढकने का विधान है। इसी प्रसंग में कौशिक (८६।८) में भी इसे उद्धृत किया गया है। सर्वत्र भूमि के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध भी दर्शनीय है।

कौशिक (८२।३६-३७) के अनुसार अस्थिसञ्चय की तृतीय रात्रि को कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों (अथर्व० १८।३।६१-६२) का उच्चारण करते हुए यम के

पाठान्तर सहित अथर्व० और वा० स० मे विद्यमान है।[1] मन्त्र के अर्थ से ही प्रकट है कि नवाग्न्याधान कर्म ऋग्वेदकाल मे किया जाता था। इसके गृह्यविनियोग के बहुत अनुरूप विनियोग का० श्रौ० (२१।४।२७, २८) मे किया गया है। कौशिक० मा०गृ० और का०गृ० मे सम्पूर्ण अविभाजित मन्त्र का विनियोग पुरातन अग्नि का वहन करने के लिये किया गया है।[2]

आ०गृ० (४।६।७) मे निर्देश है कि सन्ध्या के समय वातावरण निश्शब्द होने पर और सबके सो जाने पर कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।५३।६) का उच्चारण करते हुए दक्षिण कपाट से जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करनी चाहिये —

तन्तु तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मत पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बण वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्य जनम्॥ [७६६]

हे अग्नि, जिस प्रकार तन्तुवाय सूत्र फैलाकर वस्त्र बुनता है, उसी प्रकार तन्तुस्थानीय अग का विस्तार करते हुए स्तुति करने वाले यजमानो के यज्ञ कर्म का निर्दोष विस्तार करो। उसे पूर्ण करके इस लोक से दीप्त देवलोक को जाओ तथा अपनी प्रज्ञा द्वारा निर्मित प्रकाशक स्वर्गमार्गों की रक्षा करो। देवो के यज्ञभाग के ज्ञाता हो जाओ, देवजनो को अमृततुल्य आहुति द्वारा जीवित रखो॥ ह० मि०

यह मन्त्र तै० स० (३।४।२।२, ३।६) और का०स० (१३।११) मे भी विद्यमान है। हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० में औपासनाग्नि के पुनराधान के अवसर पर तीन तन्तुमती आहुतियो मे से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[3] यह अग्नि को सम्बोधित है, इसीलिये आ० गृ० मे भी शान्तिकर्म के अन्तर्गत पुनराधान के प्रसग मे इसे उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करने के लिये इसके विनियोग का आधार भी पूर्ववर्ती ऋग्वेदीय ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। ऐ०ब्रा० (७।१२।३) के अनुसार यदि किसी की गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियो के ऊपर से ठेला, रथ या घोडा निकल जाये तो उसे गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि तक जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करनी चाहिये। इन दोनो

---

१ अथर्व० १२।२।८ (देवेभ्य से पूर्व देव का सन्निवेश) वा० स० का० ३५।५३, वा०स० ३५।१९ (यमराज्ञ के स्थान पर यमराज्यम्—अधिक स्पष्ट)

२ कौशिक० ७१।१२, मा०गृ० २।१।८, का०गृ० ४५।६।

३ हि०गृ० १।२६।८, भा०गृ० ३।२, आग्नि०गृ० २।७।२।

एकादश अध्याय

शान्तिकर्म और श्राद्ध

शान्तिकर्म

इस कर्म का अनुष्ठान मृत्यु के सम्भावित दुष्परिणामों के निवारणार्थ किया जाता है। अन्य प्रकार से विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों द्वारा भी इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसकी प्रमुख क्रिया पुरातन गार्हपत्य-अग्नि की समाप्ति तथा उसके स्थान पर नवाग्नि का आधान है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि पुरातन अग्नि दैव के प्रतिकूल सिद्ध हुई।

आगामी पृष्ठों में विवेचनीय अधिकांश मन्त्र कौशिकसूत्र की ७१वीं और ७२वीं कण्डिकाओं में विनियुक्त हैं। यहाँ भी अग्न्याधान शान्तिकर्म के समान है क्योंकि इसके आरम्भ में (कौशिक ६९।१) निर्देश है कि यदि पिता की मृत्यु हो जाये तो ज्येष्ठ पुत्र को नवाग्नि का आधान करना चाहिये। आ गृ में इस कर्म का विस्तृत वर्णन दिया गया है। तदनुसार (४।६।२) कर्म-कर्ताओं को सूर्योदय से पूर्व पात्र और भस्म सहित अग्नि को दक्षिण दिशा की ओर ले जाते हुए निम्नलिखित मन्त्रार्ध का उच्चारण करना चाहिये —

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। [७६८]

शवरूप मांस के भक्षक अग्नि को मैं दूर ले जा रहा हूँ। दूषित शरीर (अशुद्धमेध्यं रिप्रम्—श ब्रा ३।१।२।११) का वाहक वह अग्नि ऐसे स्थान पर जाये जिसका शासक यम है॥

उस अग्नि को चतुष्पथ पर रखकर वे पीछे देखे बिना घर लौट आते हैं। अब (आ गृ ४।६।५) नवाग्नि प्रज्वलित करते समय निम्नलिखित मन्त्रार्ध के उच्चारण का विधान है —

इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥

यहीं (उसी वेदी पर) यह दूसरा अग्नि (हमारी श्रद्धा) जानता हुआ देवताओं के लिये आहुति ले जाये॥

ये दोनों मन्त्रार्ध मिलकर वस्तुतः ऋ १०।१६।९ बनता है। यह मन्त्र स्वल्प

इम जीवेभ्य परिधिं दधामि मैषा नु गादपरो अर्थमेतम् ॥
शत जीवन्तु शरद पुरूचीरन्तर्मृत्यु दधता पर्वतेन ॥ [७७०]

मैं इस मध्यम परिधि को इन जीवित व्यक्तियो के लिये स्थापित करता हूँ अर्थात् इनके और मृत्यु के मध्य अवरोधरूप स्थापित करता हूँ। इनके मध्य कोई दूसरा इस (मृत्यु) मार्ग को (शीघ्र) न प्राप्त हो। ये सब पर्वत (अवरोध) के द्वारा मृत्यु के मध्य व्यवधान उत्पन्न करे। बहुत अधिक ऋतुफलो को देने वाले सौ वर्षों तक वे जीवित रहे ॥ ह० मि०

इस गृह्यसूत्र के इससे अगले ही सूत्र मे अग्नि के उत्तर की ओर एक शिला रखते हुए इस मन्त्र के अन्तिम पाद के उच्चारण का विधान है। आप० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिला रखने के लिये सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] उपर्युक्त विनियोगो में रखने की क्रिया का आधार √धा, परिधि-समिधाओ का आधार परिधिम् और शिला का पर्वतेन शब्द रहा होगा। कौशिक० (७२.१७) मे निर्देश है कि अग्न्याधान के अवसर पर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए द्वारदेश पर शकराएँ स्थापित की जानी चाहियें।

यह मन्त्र अथर्व० १२।२।२३ (तु० ८।२।९) और वा०स० (३५।१५) मे भी विद्यमान है। परिधि-समिधाओ के आधान के लिये आ०गृ० के इसके विनियोग के समानान्तर ही शा०श्रौ० ४।१६।५ है क्योंकि वहाँ इसका विनियोग उन समिधाओ के आधान के पश्चात् आहुतियों के लिये किया गया है। और आ० गृ० ४।६।१० में तो इसका विनयोग ठीक वैसा ही है। शिला रखने के लिये इसके विनियोग की तुलना तै०आ० (६।१०।२) और आप०श्रौ० (१४।२२।३) के विनियोग से करनी चाहिये क्योंकि उनमे भी मृत्यु से दसवें दिन अनुष्ठित कर्मो मे अग्नि के दक्षिण की ओर अध्वयु द्वारा एक शिला रखते समय इसके उच्चारण का विधान है। श० ब्रा० (१३।८।४।१२) और का० श्रौ० (२१।४।२५) के अनुसार मृतक की अन्त्येष्टि के तत्काल पश्चात् लौटते हुए कर्ता को मर्यादा (समाधि) का लोष्ठ लेकर उसे समाधि और ग्राम के मध्य स्थापित करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। तै० ब्रा० (३।७।११।३) और आप० श्रौ० (९।१२।४) में दर्श और पौणमास के अन्तर्गत प्रायश्चित्त कर्म मे भी शिला स्थापित करने की क्रिया सन्निविष्ट है। इस प्रकार इस मन्त्र के विनियोगो को दो प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो ऋग्वेदीय ग्रन्थो के विनियोग—जिनमे परिधि-समिधाओ का आधान प्रधान है। दूसरे यजुर्वेदीय ग्रन्थो के विनियोग—जिनमे शिला (लोष्ठ) स्थापित करना

---

१ आप० गृ० ८।२३।१० (म०पा० २।२२।२४), आग्नि०गृ० ३।७।२।

अग्नियो के मध्य मे से किसी जन्तु के निकल जाने पर शा श्रौ (२।६।१३) मे भी उपयु क्त कर्म का विधान है। दक्षिण गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियो के आधान के अवसर पर आ श्रौ (२।२।१४) मे भी इस कम का निर्देश है। इन श्रौतसूत्रो मे दर्श-पौर्णमास यज्ञो म भी ऐसे ही कम का विधान किया गया है।[1] उनके अनुसार गार्हपत्य से लेकर आहवनीय अग्नि तक के अन्तर मे तृण पक्ति बिखेरने के लिये इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। सभी ऋग्वेदीय ग्रन्थो मे किसी पदार्थ को धारा या पक्ति के रूप मे प्रवाहित करने या डालने की क्रिया समान है। सम्भवतया इन विनियोगो की प्रेरणा मन्त्रस्थ तन्वन् (विस्तार करता हुआ) अन्विहि (पीछे जाओ) पथ रक्ष (मार्गों की रक्षा करो) शब्दो से प्राप्त हुई होगी। इसके अतिरिक्त प्राग गृह्यसूत्र ग्रन्थो मे विभिन्न यज्ञो मे आहुतियो के लिये भी इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।

नवाग्नि-आधान के पश्चात् कर्ता को ऋषभ-चर्म बिछाकर अधोलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए परिवार के सभी सदस्यो को उस पर चढाना चाहिये (आ गृ ४।६।८) —

आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्व यतमाना यतिष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायु करति जीवसे व ॥ (दे म स ६७६)

यह मन्त्र ऋ (१ ।१८।६) और अथर्व (१२।२।२४) मे विद्यमान है। आग्नि गृ (३।७।१) मे भी मृतक के दाहकर्म से दसवें दिन प्रात नवाग्नि-आधान के पश्चात् उपर्युक्त कर्म मे इसका विनियोग किया गया है। कौशिक (७२।६) के अनुसार भी अग्न्याधान के अवसर पर चटाई पर चढते हुए कर्ता को इसका उच्चारण करना चाहिये। आरोहण करने वालो के लिये मन्त्र मे दीर्घायु की कामना व्यक्त की गई है। त मा (६।१ ११) मे भी आग्नि गृ के समान ही इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। किन्तु शा गृ (३।१।?) मे इसका विनियोग समावर्तन के अन्तगत किया गया है।

आ गृ (४।६।६) के निर्देशानुसार कर्ता को अग्नि के चारो ओर परिधिरूप समिधा का आधान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १ ।१८।४) का उच्चारण करना चाहिये —

---

१ शां श्रौ १।१५।१५ आ श्रौ १।११।६ आप श्रौ ३।१ ।५।

२ ऐ ब्रा० ३।३८।५ ७।१।६ शा श्रौ ८।६।१६ आ श्रौ ३।१ ।१५ ५।२ ।६ आप श्रौ ६।८।७ १६।१७।१२।

अग्नि उठाने के लिये किया गया है । तदनन्तर (७१।२१) इसी कर्म मे और पितृमेध (८६।२४) मे कूदी को बाँधने के लिये इसके उच्चारण का विधान है । कौशिक० ७२।१३ मे नवाग्न्याधान कर्म के अन्तगत एक आज्याहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है । ऐसा प्रतीत होता है कि आ०गृ० मे का०श्रौ० (२१।४।७) द्वारा अनुसृत श०ब्रा० (१३।८।३।४) का अनुसरण किया गया है क्योंकि वहाँ भी अन्त्येष्टि कम के अन्तर्गत अस्थियो को भूमि मे दबाने के पश्चात् इसका उच्चारण निर्दिष्ट है । तै०आ० (६।७।३) में भी अस्थिकलश को वस्त्रावृत करने के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है । एक अन्य स्थान पर तै०आ० (३।१५।२) मे इसे मृत्यु-सूक्त के एक मन्त्र के रूप मे उद्धृत किया गया है । तै०आ० (३।७।१४।५) और आप० श्रौ० (२१।४।१) में इसका विनियोग द्वादशाह यज्ञ के लिये यजमान के दीक्षित हो जाने पर दक्षिणाग्नि मे आहुति अर्पित करने के निमित्त किया गया है ।

द्वितीय मन्त्र का विनियोग मा०गृ० (२।१।१३) और का०गृ० (४५।८) मे भी शान्तिकर्म के अन्तंगत किया गया है—तदनुसार पुरातन अग्नि छोडकर लौटते हुए ज्ञातिजनो को एक शाखा द्वारा अपने पदचिह्न मिटाने चाहियेँ । और इनमे इस क्रिया को ध्यान मे रखकर ही योपयन्त के स्थान पर लोपयन्त दिया गया है । कौशिक० (७१।२०) के अनुसार पुरातन अग्नि छोडने के लिये जाते हुए सम्वन्धियो को कूदी द्वारा पाव ढकने के समय इसका उच्चारण करना चाहिये । पितृमेध (८६।२३) मे भी इसी क्रिया के लिये इसका विनियोग किया गया है । मा०गृ० और का०गृ० के ठीक समान विनियोग तै० आ० (६।१०।२) मे प्राप्त होता है । शा० श्रौ० (४।१५।२) के अनुसार अन्त्येष्टि कर्म मे शव की दाह-क्रिया के समय सम्वन्धियो द्वारा चिता की परिक्रमा के अवसर पर कर्ता को इसका उच्चारण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध होता है कि मृतक से सम्बद्ध कर्मों म इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है ।

आ०गृ० (४।६।१०) मे निर्देश है कि इन चार आहुतियो के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।५, अथर्व० १२।२।२५) का उच्चारण करते हुए परिवार के सदस्यो का अवलोकन करना चाहिये —

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ [७७३]

जिस प्रकार दिन एक दूसरे के पीछे आते रहते हैं, जिस प्रकार ऋतुओ के साथ सब ऋतुएँ नियमित रूप से चलती हैं, जिस प्रकार दूसरा (मास) पहले वाले (मास) का (तारतम्य) नही छोडता, हे विधाता, उसी प्रकार इनकी आयु (निरन्तर) बनाइये ॥

प्रधान है।

तत्पश्चात् आ गृ (४।६।१०) मे विधान है कि चार मन्त्रो (ऋ १०।१८।१४) का उच्चारण करते हुए चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। इनमे से अन्तिम म (इम जीवेभ्य इत्यादि) का विवेचन ऊपर हो चुका है। तृतीय मन्त्र (इमे जीवा वि मृत इत्यादि) का विवेचन भी अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे म स ७५)। प्रथम दो मन्त्र ये है —

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा न प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ [७७१]
मृत्यो पद योपयन्तो यदैत द्राघीय आयु प्रतरं दधाना।
आप्यायमाना प्रजया धनेन शुद्धा पूता भवत यज्ञियास ॥ [७७२]

हे मृत्यु, देवयान से भिन्न जो तुम्हारा स्वकीय मार्ग है तुम उस दूसरे मार्ग का अनुसरण करो। दृष्टि तथा श्रवण से युक्त तुम्हें मै कहता हूँ कि न तो हमारी दुहिताओ दौहित्रो आदि को और न ही पुत्रों पौत्रो आदि को नष्ट करो॥ हे यज्ञार्ह ज्ञातिजनो क्योकि आई हुई मृत्यु के निधान स्थान को लुप्त करते हुए तुम गये हो अत दीर्घतर आयु को उत्कृष्ट रूप मे धारण करते हुए सन्तान और धन से अभिवृद्ध होते हुए तुम शुद्ध और मनसे पवित्र हो गये हो॥ ह०मि०

ये दोनो मन्त्र अथर्व (१२।२।२१ ३) मे भी विद्यमान है। प्रथम मन्त्र वा स ३५।७ मे भी उपलब्ध है। इस मन्त्र का गृह्यसूत्रो मे बहुविध विनियोग हुआ है। पा गृ के अनुसार विवाह संस्कार मे (कुछ आचार्यो के मतानुसार) संस्रव (यज्ञान्नशेष) के प्राशन के पश्चात् इसका उच्चारण करते हुए वर को एक आहुति अर्पित करनी चाहिये।[1] इस विनियोग की तुलना मा गृ (२।१८।२) और का गृ (४८।१) के उस विधान से की जा सकती है जिसके अनुसार पुत्रकाम के द्वारा अनुष्ठित यज्ञाहुत कर्म मे आहुति के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इस विनियोग का आधार मा न प्रजां रीरिष इत्यादि शब्द प्रतीत होते है। किन्तु हि गृ (१।२८।१) मे इसका विनियोग नवनिर्मित भवन की भूमि के शुद्धिकर्म मे आहुतियो के लिये किया गया है। तदनुसार इसम चक्षुष्मते का स्थानान्तरण वास्तोष्पते द्वारा किया गया है परन्तु पूर्वार्ध मे मृत्यु को सम्बोधन होने के कारण यह परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। कौशिक सूत्र मे इसका विनियोग चार स्थलो पर किया गया है। सर्वप्रथम (७१।११) इसका विनियोग पुरातन

१ पा गृ १।५।११-परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते।

शब्द से संकेत प्राप्त होता है कि अञ्जन का प्रयोग रोदन और शोक की समाप्ति के प्रतीकरूप मे किया जाता था।

आ०गृ० (४।६।१३) के अनुसार अश्मन्वती इत्यादि मन्त्र (ऋ० १०।५३।८) का उच्चारण करते हुए कर्ता को अग्नि के निकट स्थापित शिला का स्पर्श करना चाहिये। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०म०सं० २१०)। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य द्वारा अन्त्येष्टि मे इसके विनियोग की पुष्टि होती है ।

आ०गृ० (४।६।१४) में निर्देश है कि परिवार के सभी सदस्यों को अपने हाथ मे अग्नि और ऋषभ-गोमय लेकर सद्य-आहित अग्नि की परिक्रमा करते हुए जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करते समय आपोहिष्ठीय (ऋ० १०।६।१-३) मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिये । इन मन्त्रो का विस्तृत विवेचन भी विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०म०सं० १८६-१८८)।

परिवार के सदस्यो के इस प्रकार अग्नि की परिक्रमा करने के अवसर पर कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये (आ०गृ० ४।६।१४) -

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत ।
देवेष्वक्रत श्रव क इमां आ दधर्षति ॥ [७७५]

ये परिवार के सदस्य गो को अग्नि के चारो ओर ले जाते है, ये अग्नि भी उठाकर ले जा रहे है। इन्होने देवताओ के मध्य अपना यश फैलाया है, इनका धर्षण कौन करेगा ॥

यह मन्त्र ऋ०, अथर्व० और वा०सं० मे विद्यमान है।[1] अग्नि की परिक्रमा का भाव मन्त्र मे ही अभिव्यक्त है। इसके गृह्यविनियोग के सामानान्तर का०श्रौ० (२१।४।२७) का विनियोग है। वहाँ इसका परिदा नामकरण करके 'सब ओर से रक्षा करने वाले' मन्त्र के रूप में इसकी व्याख्या की गई है।[2] इस स्थान पर इसका विनियोग सद्य-आहित औपासनाग्नि मे आहुति के तत्काल पश्चात् उच्चारणार्थ किया गया है।

आ०गृ० (४।६।१८) मे विधान है कि सूर्योदय के पश्चात् उन्हे सोयें तथा

---

१ ऋ० १०।१५५।५, अथर्व० ६।२८।२, वा०सं० ३५।१८।
२ परिदा रक्षण तत्सज्ञं मन्त्रं वदति । दाङ् पालने परिदीयते समन्ताद्रक्ष्यते-ऽनेनेति परिदा रक्षणं तम् ॥ (महीधर)

अन्त्य शब्द एवास् से वे व्यक्ति सकेतित है कर्ता जिनका अवलोकन करता है। आग्नि गृ (३।७।१) के अनुसार अस्थिसचय करके श्मशान से लौटने पर सम्बन्धियो को उनकी आयु के अनुसार आरोहक्रम मे व्यवस्थित करने के अवसर पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। यहाँ सम्भवतया अनुपूर्वम् तथा न पूर्वमपरो जहाति शब्दो को विशेष रूप से ध्यान म रखा गया है। भा गृ कृत म त्र के विनियोग के ठीक समान विनियोग शा श्रौ (४।१६।६) मे उपल ध होता है। किन्तु आग्नि गृ का विनियोग त भा (६।१ ।१) के बहुत निकट है क्योकि उसके अनुसार दसवें दिन के कम मे परिवार के सदस्यो के कृष्ण-चर्म पर चढने के पश्चात् आरोहक्रम मे उ हे व्यवस्थित करते समय इसका उ चारण किया जाना चाहिये। निर्बाध जीवन की प्रार्थना होने के कारण इसकी भी सामान्य विनियोगार्हता सिद्ध है।

भा गृ ४।६।११ १२ मे विधान है कि इस समय जब महिलाएँ अपनी आँखो मे अञ्जन लगाय तो उनका अवलोकन करते हुए कर्ता को निम्नलिखित म त्र का पाठ करना चाहिये[1] —

> इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सविशन्तु।
> अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ [७७४]

शोभन पतियुक्त ये अविधवा स्त्रियाँ अञ्जनभूत घृत के द्वारा आँखो को आँज और इसके पश्चात् अश्रुरहित होकर नीरोग होकर सुन्दर आभूषणो वाली स तानोत्पत्ति योग्य ये (पुरषो से) पूव घर मे प्रवेश कर॥ ह०मि०

कौशिक (७२।११) के अनुसार इसका उच्चारण करते हुए कर्ता को स्त्रियो के मध्य अञ्जन वितरित करना चाहिये। आग्नि गृ (३।७।२) मे विनियोगार्थ म त्र के दोनो अर्ध भागो को पृथक किया गया है। पूर्वार्ध का उच्चारण करते हुए स्त्रियाँ अभिनव घृत के द्वारा आँखें आँजती है और उत्तरार्ध के द्वारा परिवार के सदस्य गृहप्रवेश के पश्चात् अश्मनी नामक पीठिका पर आरोहण करते है। उत्तरार्ध के विनियोग की प्रमुख प्ररणा सम्भवतया आरोहन्तु शब्द से प्राप्त हुई होगी। तै भा (६।१ ।२) और शा श्रौ (४।१६।६) मे भी इस मन्त्र का समान विनियोग प्राप्त होता है। त भा के अनुसार स्त्रियो को इसका उच्चारण करते हुए घी का आँखो से स्पर्श कराना चाहिये। शा श्रौ मे विधान है कि कर्ता को स्त्रियो की आँखो म अञ्जन अर्पित करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिय। अनश्रव

---

१ ऋ १ ।१८।७ अथर्व १२।२।३१ १८।३।५७।

द्दिष्ट है। वै०गृ० (५।१३) मे इसका विस्तृत वर्णन किया गया है, परन्तु इसमें किसी मन्त्र का विनियोग नही किया गया। का० गृ० (६६।१) के अनुसार इस श्राद्ध का अनुष्ठान अष्टका के समान होता है। दोनो कर्मो के मन्त्र भी समान हैं। केवल अन्तर यही है कि एक व्यक्ति को सम्बोधित होने के कारण मन्त्रो के पदो को एकवचन मे परिवर्तित किया गया है। अन्य गृह्यसूत्रो मे भी इसका सक्षिप्त वर्णन किया गया है। आग्नि०गृ० (३।११।२ मे विधान है कि एक पात्र को तिलो से भर कर उसे दर्भ घास द्वारा ढकना चाहिये। इस दर्भ घास पर एक पिण्ड रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

अयमोदन कामदुघोऽस्त्वनन्तोऽक्षीयमाण सुरभि सर्वकामै ।
स त्वोपतिष्ठत्वजरो नित्यभूत स्वधा दुहानामृतास्तर्पयन्त्वसौ ॥ [७७७]

सब कामनाओ से सुरभित, कामदोह, क्षीण न होने वाला यह ओदन अन्तहीन हो। जीर्ण हुए विना नित्यभूत वह तुम्हारी सेवा करे। अमुकनामवाला वह अभिवर्धनशील सुस्वास्थ्य से अमरो को तृप्त करे ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद अशत तै०स० और तै०आ० में विद्यमान है।[1] एकवचनान्त ओदन के साथ बहुवचनान्त क्रिया तर्पयन्तु असगत प्रतीत होती है। मन्त्र का अधिकाश केवल इसी गृह्यसूत्र मे उपलब्ध है।

आग्नि०गृ० (३।११।२) के अनुसार एक पिण्ड अर्पित करने के पश्चात् पात्र पर तिलोदक छिड़कते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

ऊर्जस्वती स्वधया वन्दमानास्तास्ते श्रयन्ती स्योना ।
ऊर्जं वहन्ती स्वधामक्षितोदका क्षीरमुदक घृत मधु पय. कीलाल परिस्रु-तम् ॥ [७७८]

यह जल ऊर्जा से युक्त है, सुस्वास्थ्य द्वारा तुम्हारा सत्कार करता है, इस प्रकार का सुखकर वह जल तुम्हारा आश्रय लेता है। वह दुग्धरूप जल, घृत, मधु, पय और प्रवाहशील भोजन, ऊर्जा तथा सुस्वास्थ्य का वहन करता है। इसका रस क्षीण नही होता ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद के समानान्तर शब्द वा०स० और तै०स० मे दृष्टिगोचर होते हैं।[2] एक अन्य स्थल पर आग्नि०गृ० (३।११।३) मे सपिण्डीकरण के अन्तर्गत इसी क्रिया मे इसका विनियोग किया गया है। यह मन्त्र इसी गृह्यसूत्र में

१ तै०स० ४।२।६।६, तै०आ० १०।४० (स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्)
२ वा० स० १२।७०, तै०स० ४।२।५।६ ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना ।

स्वस्त्ययन सूक्तों[1] का पाठ करना चाहिये और ऋ १।६७ सूक्त का पाठ करते हुए अग्नि मे अन्नाहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। शा गृ (४।१७।५) मे इसका विनियोग आग्रहायणी मे जल मे विभिन्न पदार्थ डबोने के लिये किया गया है। कुछ गृह्यसूत्रो मे इस सूक्त के केवल निम्नलिखित प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है —

अप न शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप न शोशुचदघम्। [७७६]
हे अग्नि हमारा पाप दूर करो हमे धन दो हमारा पाप दूर करो। ह मि०

अन्तिम पाद इस सूक्त का ध्रुव पाद है। आग्नि गृ (३।४।३) मे विधान है कि यदि मृतक आहिताग्नि हो तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए कर्ता को उसके अगूठे की गाँठ खोलनी चाहिये। उसी गृह्यसूत्र मे एक अन्य स्थान (३।७।१) पर अस्थि-सचय के पश्चात् घर लौटने पर सम्बन्धियो द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि मे आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। कौशिक० (८२।४) के अनुसार मृत्यु से अगले दिन अनुष्ठित कर्म मे इसके द्वारा मृतक के सम्बन्धियो का का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। पा गृ (३।१ ।११) के अनुसार दाह क्रिया के पश्चात् जलावगाहन करने से पूर्व मृतक के सम्बन्धियो को अनामिका द्वारा जल छिड़कते समय केवल अन्तिम पाद का पाठ करना चाहिये।

यह मन्त्र अथर्व (४।३३।१) मे भी विद्यमान है। वा स (३५।६ २१) मे इसका केवल अन्तिम पाद प्राप्त होता है। शा श्रौ (४।२।६) मे आहवनीय अग्नि के आधान के अन्तर्गत आहुतियो के लिये इसे उद्धृत किया गया है। त आ (६।१ ।१) के अनुसार इसका उच्चारण मृत्यु के दसवें दिन के कर्मों मे एक आहुति के साथ किया जाना चाहिये। तै आ ६।११।१ मे कक-आहुतियो के लिये इससे आरम्भ होने वाला सम्पूर्ण अनुवाक विनियुक्त है। एक ओर मन्त्र का अग्नि को सम्बोधित होना तथा दूसरी ओर उपर्युक्त श्रौत विनियोग—इन दोनो से आहुतियो मे इसके विनियोग का औचित्य प्रमाणित होता है। जल से सम्बद्ध कर्मों मे इसके विनियोग का सकेत सम्भवतया अघम् अपशोशुचत् शब्दो से प्राप्त हुआ होगा क्योकि जल के महान् शोधक माने जाने के कारण अधिकाश शुद्धिसम्बन्धी कर्म जल द्वारा अनुष्ठित किये जाते हैं।

श्राद्ध एकोद्दिष्ट

सद्योमृत एक ही व्यक्ति को अर्पित होने के कारण इस श्राद्ध का नाम एको

1 इन सूक्तों के विस्तृत विवेचन के लिये दे प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत म स १ ३१—१ ३४।

यजुर्वेदीय संहिताओं में है।[1] इनका गृह्यविनियोग पूर्ववर्ती साहित्य पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि उसमें पितरों को आहुतियां अर्पित करते समय इनके उच्चारण का विधान है।[2] किन्तु तै०ब्रा० (२।६।३।४, ५) और शा०श्रौ० (५।२। ११।३०) के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ में क्रमशः अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा ग्रह आहुतियां अर्पित करते हुए इनका उच्चारण किया जाना चाहिये।

अन्तिम दोनों मन्त्रों में से प्रथम का विनियोग शांखि०गृ० (३।११।३) द्वारा शा०गृ० के समान किया गया है। अन्तिम मन्त्र का विनियोग उस गृह्यसूत्र में मृतक के पात्र में से पितरों के पात्र में जल प्रवाहित करने के लिये किया गया है। किन्तु का०गृ० (६६।७) में इसका विनियोग पिण्ड वितरणार्थ हुआ है। इसमें प्रथम पाद के समाना व आकूतानि पाठ से यह मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् बन जाता है।[3] मा०गृ० (३।५।८) के अनुसार अध्यायोपाकरण के अन्तर्गत दही और सत्तू की एक आहुति अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों का स्रोत ऋ० (१०।१६१।३, ४) और अथर्व० (६।६४।२, ३) में है। तृतीय मन्त्र में अथर्व० में मन के स्थान पर व्रतम् पाठ है, चतुर्थ पाद तृतीय पाद के रूप में आया है और चतुर्थ पाद समान चेतो अभिसंविशध्वम् है। तै०ब्रा० (२।४।४।५) के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने समान जनों में प्रिय न हो तो एक विशेष कर्म में उसे अन्य तीन मन्त्रों के अतिरिक्त इन दोनों का भी उच्चारण करना चाहिये।

का०गृ० (६६।७) में पिण्ड-वितरणार्थ अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

स वो मनांसि स व्रता समु चित्तान्याकरत्।
अमी ये विव्रता स्थन तान्व संनमयामसि॥ [७८३]

यह पिण्ड आपके मन, आचरण और बुद्धि को समान बना दे। आप जो विविध आचरण वाले है, उन आपको हम समन्वित करते है॥

यद्यपि यह मन्त्र अथर्व० और मै०सं० में भी विद्यमान है, तथापि का०गृ० में

---

१ वा०सं० १६।४५,४६, मै०सं० ३।११।१०, का०सं० ३८।२।

२ श०ब्रा० १२।८।१।१६,२०, आप०श्रौ० १।१०।१२,१३, का०श्रौ० १६।३।२३, २४, ला०श्रौ० ३।२।१०।

३ वस्तुतः मन्त्र का यह पाठ मै०सं० २।२।६ और का०सं० १०।१२ में से उद्धृत है। का०गृ० का सीधा स्रोत का०सं० प्रतीत होती है।

उपलब्ध होता है ।

सपिण्डीकरण

एकोद्दिष्ट के पश्चात् सपिण्डीकरण नामक कर्म का अनुष्ठान किया जाता है । इस कर्म का उद्देश्य सद्यो-मृत व्यक्ति को परिवार के अन्य पूर्वजों के साथ श्राद्ध ग्रहण करने का अधिकारी बनाना है । पा गृ (५।१।४) मे पितरो के तीन पात्रों में प्रथम पिण्ड वितरित करने के लिये निम्नलिखित चार मन्त्रो का विनियोग किया गया है

ये समाना समनस पितरो यमराज्ये ।
तेषा लोक स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
ये समाना समनसो जीवा जीवेषु मामका ।
तेषा श्रीर्मयि कल्पतामस्मिल्लोके शत समा ॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम् ।
समान मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥ [७७१ ७८२]

यम के राज्य मे जो पितर समान मन वाले समान रूप से हैं देवताओं के मध्य उनका ससार, सुस्वास्थ्य नमस्कार और यज्ञ विहित हो ॥ जीवित जनो में जो समान रूप तथा मन वाले जीव मेरे हैं उनकी लक्ष्मी इस ससार में सौ वर्ष तक मुझमे बनी रहे ॥ इनका चिन्तन समान है संगति समान है मन और बुद्धि समान है । आपके प्रति समान मन्त्र सम्बोधित करता हूँ आपको समान आहुति अर्पित करता हूँ ॥ आपका अभिप्राय समान हो आपके हृदय समान हों आपका मन समान हो जिससे आपकी सङ्गति शोभन हो ॥

सपिण्डीकरण की भावना के अनुरूप ही इन मन्त्रो मे पितरो के पूर्ण समभाव की कामना व्यक्त की गई है । पा गृ (४।३।६) मे इसी प्रसङ्ग मे केवल प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग किया गया है । इन दोनो मन्त्रो का विनियोग भा गृ (३।१७) मे भी इसी क्रिया के निमित्त किया गया है । मानव गृ (२।११।२) मे ये मन्त्र इसी कर्म मे पितरो की उपासना के लिये प्रयुक्त किये गये हैं । इसमें द्वितीय मन्त्र में समाना के स्थान पर सजाता पाठ है । कौशिक (८९।१) मे भी मन्त्र का पाठ यही है और इसे पिण्ड पितृयज्ञ मे केवल जाप के लिये उद्धृत किया गया है । का गृ (६२।५) म इनका विनियोग मासाष्टका के अन्तगत क्रमश स्थाली पाक और मासपेशियो की आहुतियो के लिये किया गया है । इन दोनो मन्त्रो का स्रोत

तैं०स० (३।३।२।१) और आप०श्रौ० (१२।२७।११) के एक मन्त्र का अंश है।

आह्वान के पश्चात् पितरों को आसन देने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है[1] —

नान्दीमुखा पितर प्रीयन्ताम् ॥ [७८८]

नान्दीमुख पितर प्रसन्न हो जाये।

ये दोनो वाक्य केवल गृह्यसूत्रो मे विद्यमान हैं।

आग्नि०गृ० (२।३।२) के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणो को दधि, माष, मत्स्य-मास और अन्य भोज्य पदार्थों सहित यज्ञान्न प्रस्तुत किया जाना चाहिये, तदनन्तर गृहस्थ को उन्हे व्रीहि, यव, पुष्प और तिल समर्पित करते हुए निम्नलिखित प्रकार से उन्हें सम्बोधित करना चाहिये —

ओम् मन समाधीयताम् । प्रसीदन्तु भावमिश्रा ॥ [७८९]

ओम्, मन को एकाग्र किया जाये। आप महानुभाव प्रसन्न हो॥

इसके द्वारा नान्दीमुख मे पितरो को प्रसन्न करने का यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि इससे उत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हो जाये।

वै०गृ० (२।२) में विधान है कि ब्राह्मणो को भोजन कराते समय गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवना विपश्यन् ॥ [७९०]

सत्य मार्ग से लौटता हुआ, देवो और मर्त्यो को अपने-अपने कार्य मे प्रवृत्त करता हुआ, सभी लोको का निरीक्षण करता हुआ सर्वप्रेरक देव सुवर्ण वर्ण वाले (सूर्यमण्डल रूप) रथ मे आ रहा है॥

यह मन्त्र ऋ० और यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान है।[2] इनमे से केवल तैं०सं० मे द्वितीय शब्द सत्येन है, अन्य सभी मे यह शब्द कृष्णेन है। इसका अधिष्ठाता सवितृदेव है और इसीलिये प्रस्तुत गृह्य विनियोग से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता।

---

१ शा०गृ० ४।४।१३, बौ०गृ० १।१।२४, ३।१२।३,४, मा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० २।३।२।

२ ऋ० १।३५।२, वा० स० ३३।४३, ३४।३१, तै० स० ३।४।११।२, मै० स० ४।१२।६, १४।६।

इनका स्रोत वा स ही प्रतीत होता है।[1] कौशिक (१२।५) म एकत्वरता की प्राप्ति के निमित्त कर्म मे प्रयुक्त म त्रो मे से यह एक है।

का गृ ६६।७ मे उपर्युक्त प्रसग मे निम्नलिखित म त्र भी दिया गया है —

संसृजतु त्वा पृथिवी वायुरग्नि प्रजापति ।
संसृजध्व पूर्वेभि पितृभि सह ॥ [७८४]

पृथिवी वायु अग्नि और जापति तुम्हारा सयोग करे। तुम अपने पूवज पितरो से सयुक्त हो जाओ ॥

सपिण्डीकरण के अनुरूप समन्वय की भावना इसमे भी व्यक्त की गई है। यह म त्र अ य किसी ग्रन्थ मे अप्राप्य है।

अन्त मे आग्नि गृ (३।११।३) मे निम्नलिखित श दो से आरम्भ होने वाले सम्पूर्ण षट्क अनुवाक के उ चारण का विधान है —

उश तस्त्वा हवामहे ॥ [७८५]

यह अनुवाक त स (२ ६।१२) मे से उद्धत है। इसमे पितृयज्ञ मे प्रयुक्त याज्याएँ और पुरोनुवाक्याएँ समाविष्ट हैं। इस अनुवाक के म त्रो के भावो से पितृ सम्ब धी कर्मों मे उनकी सामा य विनियोगार्हता सिद्ध होती है।

आभ्युदयिक श्राद्ध

इसे ना दीमुख श्राद्ध या नन्दीश्राद्ध भी कहा जाता है। किसी भी उत्सव से पूर्व इसका अनुष्ठान किया जाता है। अ य श्राद्धो के समान इसमे भी पितरो के प्रतिनिधिरूप ब्राह्मणो को भोजन कराया जाता है। शा गृ (४।४।१२) और मा गृ (२।१९) मे ब्राह्मणो के आह्वान के लिये निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है

ना दीमुखान् पितृन् आवाहयिष्ये ॥ [७८६]

मैं ना दीमुख पितरो का आह्वान करूगा।

मा गृ (२।१९) मे इस क्रिया के लिये निम्नलिखित शब्द भी दिये गये है

इडा देवहू ॥ [७८७]

यह मेरी देवताओ का आह्वान करने वाली वाणी है।

मी गृ (२।१।२४) मे इसी प्रसग म इ हे उद्धृत किया गया है। ये शब्द

---

१ अथव ३।८।५ ६।६४।१ म स २।२।६ का स १ ।१२।
२ त ब्रा २।६।१६ के त ब्रा १।६।९ मी।

करने तथा आचमन करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। इसी सस्कार मे आगे चलकर (२४।१०) मधुपर्क के प्रसग मे अतिथि के पाद-प्रक्षालनार्थ जल का अभिमन्त्रण करने के लिये इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। एक अन्य स्थान (४५।८) पर एकाग्न्याधान कर्म मे जिस चतुष्पथ पर अग्नि की राख डाली गई हो वहाँ जलाचमनार्थ इसका विनियोग किया गया है। नक्षत्र यज्ञ मे (४६।१) मन्त्र द्वारा आप देवता को सम्बोधित किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकाशतया मन्त्र का विनियोग जल से सम्बद्ध कर्मो मे किया गया है। वा० गृ० मे इसके द्वारा ब्राह्मण के अभिमन्त्रण की बात आश्चर्यजनक है। ऋ० के अतिरिक्त यह मन्त्र अथर्व०, वा०स० और का० स० मे भी उपलब्ध होता है।[1] ब्राह्मण और श्रौत साहित्य के अनुसार भी इसका उच्चारण विभिन्न यज्ञो मे या तो जलाभिषेक, या जलाचमन या जलस्पर्श की क्रियाओ के साथ किया जाना चाहिए।[2] अत जलसम्बन्धी क्रियाओ मे इसके विनियोग की परम्परा अति पुरातन है।

आ० गृ० (४।७।८) और आग्नि०गृ० (३।३।१) मे विधान है कि इसके पश्चात् तीनो पात्रो मे तिल डालते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

तिलोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मित ।
प्रत्नवद्भि. प्रत्त स्वधया पितॄनिमाँल्लोकान् प्रीणयाहि न स्वधा नम॰।
[७६३]

तुम सोम सम्बन्धी तिल हो, गोसव यज्ञ मे देवो द्वारा तुम्हारा निर्माण हुआ है। पूर्वजो द्वारा तुम्हे अर्पित किया गया है, तुम सुस्वास्थ्य के द्वारा पितरो को, इन लोको को तथा हमे प्रसन्न करो। तुम्हे नमस्कार है ॥
ओ० व०

स्तेंत्स्लर ने कात्यायन और गोभिल के श्राद्ध कल्पसूत्रो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जहाँ यह मन्त्र विद्यमान है। ओल्डनवर्ग ने अनेक शब्दो यथा प्रत्त , प्रत्नवद्भि के पाठ सन्देहास्पद बताये है। परन्तु आप्टे ने सिद्ध किया है कि मन्त्र का पाठ तनिक भी भ्रष्ट नही है क्योकि इसका अर्थ बहुत सन्तोषजनक है । प्रत्नवद्भि शब्द से ऋ० (६।५४।१ इत्यादि) के उन विशेष मन्त्रो का अभिप्राय है जहा प्रत्न शब्द आया

---

१ अथर्व० १।६।१, वा० स० ३६।१२, का० स० १३।१५, ३८।१३।

२ गो० ब्रा० १।१।२६, तै० ब्रा० १।२।१।१, २।५।८।५, तै० आ० ४।४२।४, शां० श्रौ० ४।११।६, २१।१६, ८।६।७, ला० श्रौ० ५।३।१३, आप० श्रौ० ५।४।१, १६।१४।१, १६।३, मा० श्रौ० ६।१।५।२२।

मासिक श्राद्ध

इस श्राद्ध का अनुष्ठान नियमपूर्वक प्रतिमास किया जाता है। यह मासिश्राद्ध तथा पार्वणश्राद्ध नामों से भी प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम ब्राह्मणों का आह्वान किया जाता है और उन्हें पितरों के प्रतिनिधियों के रूप में बिठाया जाता है। ज. गृ. (२५।६) के अनुसार उन्हें बिठाते समय निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

आ मे गच्छन्तु पितरो भागधेयं विराजाहूता सलिलात् समुद्रियात्।
अक्षीयमाणमुपजीवतनन्मया प्रत्तं स्वधया मदध्वम् ॥ [७६१]

इस शोभन अन्न द्वारा आहूत मेरे पितर मेरे भाग्य के अनुसार (आकाश रूपी) समुद्र के जल में से आ जाय। मेरे द्वारा अर्पित इस अक्षय भोजन का उपभोग करो हे पितरो सुस्वास्थ्य से आनन्दित रहो॥

इसी गृह्यसूत्र (२५।१२) के अनुसार इसके पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए ब्राह्मणों को दर्भासन देने चाहियें —

एतत्ते पितरासनमसौ ये च त्वात्रानु तेभ्यश्चासनम् ॥ [७६२]

हे अमुक नाम वाले पिता यह तुम्हारे लिये आसन है और जो तुम्हारा अनुगमन कर रहे हैं उनके लिये यह आसन है॥

वस्तुत ब्राह्मणों को दिये गये ये दर्भासन पितरों के निमित्त प्रतीत होते हैं।

मा. गृ. (४।७।८) में विधान है कि पितरों के तीन पात्रों में जल प्रवाहित करने के पश्चात् उसका अभिमन्त्रण शन्नो देवी इत्यादि (ऋ. १०।९।४) द्वारा किया जाना चाहिये (दे० म. स. ३४)। आग्नि. गृ. (३।३।२) में निर्देश है कि कुशाग्रास के द्वारा मधु को घुमाकर उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रखते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।

कुछ गृह्यसूत्रों में अन्य कर्मों में भी इसका विनियोग किया गया है। हि. गृ. (१।५।७) के अनुसार इसका उच्चारण करते हुए आचार्य और शिष्य दोनों को अपना परिमार्जन करना चाहिये। आ. गृ. (४।२) में चूडाकर्म के अन्तर्गत प्रारम्भ में ब्राह्मण के निर्दिष्ट स्थान पर आसीन हो जाने पर इसके द्वारा उसके अभिमन्त्रण का विधान है। कौशिक (१४ १५) में इसका विनियोग इन्द्रमहोत्सव में राजा द्वारा जल के आचमनार्थ किया गया है। का. गृ. में चार विभिन्न प्रसंगों में इसे उद्धृत किया गया है। सर्वप्रथम (२३।४) विवाह संस्कार में वधू-गृह की ओर प्रस्थान से पूर्व कुछ इष्ट जनों के साथ वर को जलाशय पर जाकर अपने सिर पर

व्यत्यय के रूप में व्याख्या करता है।[1] परन्तु यह स्वीकार करने पर भी पुनरावृत्ति की कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि अन्तिम से पहले शब्द पार्थिवी में भी वही भाव (अर्थात् पृथिवी से उत्पन्न या सम्बद्ध जन) व्यक्त किया गया है। अतः इसके आधार पर तथा परम्परा और नियमित विभक्ति के आधार पर ओल्डनबर्ग का पयसा पाठ का सुझाव स्वीकार्य प्रतीत होता है।

अधिकांश कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में एक भिन्न पद्धति अपनाई गई है। तदनुसार हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० में विधान है कि सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करके पितरों को निमन्त्रित करना चाहिये[2] —

आयात पितरः सौम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः।
प्रजामस्मभ्यं ददतो रयिं च दीर्घायुत्वं च शतशारदं च ॥ [७९६]

हे सोम सम्बन्धी पितरो, हमें सन्तान, धन, दीर्घायु और सौ वर्ष का जीवन प्रदान करते हुए पहले के गम्भीर मार्गों से आओ ॥

इसकी तुलना एक मिलते जुलते अथर्व०, मै०सं० और का०सं० के मन्त्र से की जा सकती है।[3] तै०सं० (१।८।५।२) में आयात के स्थान पर परेत के स्वल्प पाठभेद से युक्त केवल पूर्वार्ध प्राप्त होता है। कौशिक० (८३।२७) में अथर्व० पाठ का अनुसरण करते हुए पितरों को निमन्त्रित करने के लिये ही इसका विनियोग किया गया है।

गो०गृ० (४।३।४) में पिण्डपितृयज्ञ के अवसर पर पितरों को निमन्त्रित करने के लिये निम्नलिखित समान मन्त्र (म०ब्रा० २।३।५) का विनियोग किया गया है —

एत पितरः सोम्यासः गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः।
दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत ॥ [७९७]

हे सोम-सम्बन्धी पितरो, पहले के गम्भीर मार्गों से आओ। यहाँ हमें सम्पत्ति दो और कल्याणकर तथा वीरों से युक्त धन दो ॥

यह मन्त्र का०सं० (९।६) मन्त्र से लगभग एकरूप है। का०सं० में एत के स्थान पर परेत और दत्त के स्थान पर दत्ताय का स्वल्प पाठभेद है। इस के अन्तिम पाद की तुलना अथर्व० (१८।८।८०) से भी की जा सकती है। पितृयज्ञ

१ नॉन ऋ० मन्त्रज इन आ० गृ०, पृ० ६१-६२।
२ हि०गृ० २।१०।५, भा०गृ० २।११, आग्नि०गृ० ३।१।१।
३ अथर्व० १८।४।६२ मै०सं० १।१०।३, का०सं० ९।६।

है।[1] प० ब्रा० १।४।८ के अन्तर्गत सायण द्वारा भी इस शब्द की उक्त व्याख्या की गई है।

आ० गृ० (४।७।१) के अनुसार पितरों को अर्घ्योदक अर्पित करते समय निम्नलिखित वाक्य बोला जाना चाहिये —

पितरिदं ते अर्घ्यं पितामहेदं ते अर्घ्यं प्रपितामहेदं ते अर्घ्यम्। [७६४]

हे पिता यह अर्घ्य आपके लिये है। हे पितामह यह अर्घ्य आपके लिये है। हे प्रपितामह यह अर्घ्य आपके लिये है॥

आ० गृ० (४।७।१३) में पितरों को अर्पित इस जल का अभिमन्त्रण करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

या दिव्या आपः पृथिवी सम्बभूवुर्या अन्तरिक्ष्या उत पार्थिवीर्याः।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु॥ [७६५]

जो दिव्य (आकाशीय) जल पृथिवी पर उत्पन्न हुआ, जो अन्तरिक्ष सम्बन्धी है और जो पार्थिव है, वह सुवर्ण वर्ण वाला यज्ञ के योग्य जल हमारे लिये कल्याणकारी और सुखकारी हो जाये।

मन्त्र के पूर्वार्ध का स्रोत का० सं० (१७।१६) प्रतीत होती है। इसमें पृथिवी और पार्थिवीर्या के स्थान पर क्रमशः पयसा और पार्थिवासः पाठ है। अथर्व (४।८।५) भी इसके बहुत समरूप है। तै० ब्रा० (२।७।१५।४) में भी पूर्वार्ध का इससे मिलता जुलता पाठ है। वहां इसका विनियोग राज्याभिषेक में राजा पर जलाभिषेक के लिये किया गया है। मन्त्र का तृतीय पाद हिरण्यवर्णा यज्ञियाः सम्भवतया तै० सं० (५।६।१।१) के सुप्रसिद्ध मन्त्र हिरण्यवर्णाः शुचयः इत्यादि का प्रतिरूप है। मन्त्र का अन्तिम पाद तो प्राचीन ग्रन्थों का बहुसामान्य वाक्य प्रतीत होता है क्योंकि यह उनके अनेक मन्त्रों का अन्तिम पाद है।

समानान्तर ग्रन्थों के पाठ का अनुसरण करते हुए ओल्डनबर्ग ने पृथिवी के स्थान पर पयसा पाठ का सुझाव दिया है। अच्छा होते हुए भी आप्टे के मतानुसार यह नितान्त आवश्यक नहीं क्योंकि आश्वलायन ने जानबूझकर मन्त्र का सम्बन्ध पृथिवी से स्थापित करने के लिये पृथिवी स्वीकार किया है क्योंकि पृथिवी पर प्रवाहित किये गये जल का अभिमन्त्रण इसके द्वारा किया जाता है। साथ ही वह पृथिवी की सप्तमी

---

१ लोन्ज० अल्टइ० हल बर गु० पृ० ६ ६१।

२ अथर्व १।३३।१ ४ तै० सं० ५।६।१।१, मै० स० २।१३।१ तै० ब्रा०

पातिव्रत्य धर्म का पालन न करती हुई जो मेरी माता प्रलोभन मे आई, मेरे पिता उसके उस रेत (वीज) को दूर करे, इन के लिये दूसरा गर्भ पतित हो जाये, स्वाहा ॥ जो जल स्थिर रहता है, जो वेग से प्रवाहित होता है, जो पशुओ के ऊव को आर्द्र करके सुस्थिर रहता है, उस विश्व का भरण करने वाले जल के द्वारा इस अपने पिता के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥ जो मेरी पितामही (दादी) .. मेरे पितामह (दादा) उसके उस रेत को ॥ पर्वतो तथा विशाल पृथिवी के द्वारा अन्तर्धान करता हूँ, मैं इन अनन्त दिशाओ के द्वारा इस पितामह के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥ जो मेरी प्रपितामही (परदादी) मेरे प्रपितामह (परदादा) उसके उस रेत को ॥ ऋतुओं, दिन रात और सन्ध्याओ के द्वारा अन्तर्धान करता हूँ। अर्धमासो के द्वारा तथा मासो के द्वारा मैं इस प्रपितामह के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥

मन्त्रो का उपरिलिखित पाठ म०पा मे से उद्धृत है। प्रथम, तृतीय और पचम मन्त्र स्वल्प परिवर्तनो सहित एक समान हैं। सभी मन्त्रो की भावना यह प्रतीत होती है कि कर्ता अपने पितरो को विश्वास दिलाना चाहता है कि मैं माता की अवैध सन्तान नही हूँ। अन्तर्दधे का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो भी अवैध सन्तान है, उसके स्थान पर मैं किसी अन्य वैध सन्तान अर्थात् अपने आप को स्थापित करता हूँ जिससे कि पूर्वज प्रसन्नता पूर्वक श्राद्ध स्वीकार करें। जल, पृथिवी, दिशाओ, ऋतुओ आदि से अन्तर्धान का अभिप्राय यह है कि उस अवैध सन्तान के साथ समय और स्थान दोनों की दृष्टि से दूर का भी सम्बन्ध नही है। शा०गृ० (३।१३।५) और वौ०गृ० (२।११।२५-२८) में प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पष्ठ—इन चार मन्त्रो का पाठान्तर सहित विनियोग अष्टका मे किया गया है। मा०गृ० (६३।४, ५) मे ये दो विभिन्न क्रियाओं के निमित्त विनियुक्त हैं। श्राद्ध के अन्तर्गत चतुर्थ और पष्ठ मन्त्रो का उच्चारण करते हुए कर्ता को पितरो को निमन्त्रित करना चाहिये। और शेष सभी मन्त्रो का उच्चारण उनके पादप्रक्षालनार्थं जल लाने के लिये किया जाना चाहिये। का०गृ० मे इनके पाठान्तर हैं। द्वितीय, चतुर्थ और पष्ठ मन्त्रो मे अन्य पितु इत्यादि के स्थान पर अन्यान् पितॄन् इत्यादि पाठ है। प्रथम, तृतीय और पञ्चम मन्त्रो म चरत्यननुव्रता के स्थान पर यच्चचारानुव्रतम् तथा प्राभु के स्थान पर माभि पाठ है। द्वितीय मन्त्र मे आर्द्रोघ्नी परितस्युषी व स्थान पर अद्रुग्धा परिसस्रुषी और मर्त्रोभि के स्थान पर धर्त्रोभि —— है। चतुर्थ मन्त्र मे आभि के स्थान पर दिवा और पष्ठ मन्त्र मे च सन्धिभि

मे इसका विनियोग करते हुए आ श्री (२।७।६) मे का स के पाठ का ही अनु सरण किया गया है। आ श्रौ मे भी पितृ-सम्बन्धी अनेक कर्मों में इसका विनियोग किया गया है।[1]

हि०गृ (२।१ ।६) और आग्नि गृ (३।१।२) मे विधान है कि निम्न लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए दक्षिण दिशा की ओर जल प्रवाहित करना चाहिये —

आपो देवी प्रहिणुताग्निमेते यज्ञ पितरो नो जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुत ये भजन्ते ते नो रयिं सर्ववीरान् नियच्छतात् ॥ [७६८]

हे आप देवियो अग्नि को भेजो ये हमारे पितर यज्ञ का सेवन कर। जो हमार पितर यहाँ विद्यमान ऊर्जा को प्राप्त करते हैं वे हमें धन तथा सभी वीर पुरुष प्रदान कर ॥

इस मन्त्र का स्रोत अथर्व (१८ ४।४) प्रतीत होता है क्योंकि स्वल्प पाठान्तर होने पर भी कुल मिलाकर इसमे भाव तत्सम है। कौशिक (८८।२३) मे इसका विनियोग पितृमेध के अन्तर्गत किया गया है। आप को सम्बोधित होने के कारण जल प्रवाहित करने के लिये इसका विनियोग अर्थानुकूल है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे पितरो के लिये तयार किये गये अन्न की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये निम्नलिखित छ मन्त्रो का विनियोग किया गया है —

यन्मे माता प्रलुलोभ चरत्यननुव्रता।
तन्मे रेत पिता वृङ्क्तामाभुरन्योऽवपद्यताममुष्मै स्वाहा ॥ [७६६]
यास्तिष्ठन्ति या धावन्ति या आर्द्रोघ्नी परि तस्थुषी।
अद्भिर्विश्वस्य भर्त्रीभिरन्तरन्य पितुर्दधेऽमुष्मै स्वाहा ॥ [८००]
यन्मे पितामही तन्मे रेत पितामह ॥ [८०१]
अन्तर्दधे पर्वतरन्तर्मह्या पृथिव्या।
आभिर्दिग्भिरनन्ताभिरन्तरन्य पितामहाद्दधेऽमुष्मै स्वाहा ॥ [८०२]
यन्मे प्रपितामही तन्मे रेत प्रपितामह ॥ [८०३]
अन्तर्दध ऋतुभिरहोरात्रैश्च सन्धिभि ।
अर्धमासैश्च मासैश्चान्तरन्य प्रपितामहाद्दधेऽमुष्मै स्वाहा ॥ [८०४]

---

१ आ श्रौ १।१।२।१४ ३७ ७ ६।५२ १ ।६।१।१५ तु आप श्रौ ११ ।७।
२ आप गृ ८।२१।३ (म पा २।१६।१ ६) हि गृ २।१ ।७ भा गृ २।११ आग्नि गृ ३।१।१।

तियो के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रो का उच्चारण किया जाना चाहिये —

यद्व॰ क्रव्यादङ्गमदहल्लोकाननयन् प्रणयन् जातवेदा ।
तद्वोऽह पुनरावेदयाम्यरिष्टा सर्वैरङ्गै सम्भवन्तु पितर स्वधा नमः स्वाहा ॥ [८०६]

वहाज्य जातवेद पितृभ्यो यत्रैतान् वेत्थ निहितान् पराके ।
आज्यस्य कुल्या उप ताँ क्षरन्तु सत्या एषामाशिष सन्तु कामैं स्वधा-नम स्वाहा ॥ [८०७]

आपको दूसरे लोको मे ले जाने वाले, आपको अपने मे समाहित करने वाले, माँसभक्षक जातवेदा अग्नि ने जो कि आपके शरीर को जलाया है, आपके उस शरीर के लिये मैं पुन प्रार्थना करता हूँ। पितर सब अगो सहित क्षतिरहित उत्पन्न हो जाये, स्वधा, नम स्वाहा ॥ हे जातवेदा, जहाँ तुम इन पितरो को परलोक मे अवस्थित जानते हो, वहाँ इनके लिये आज्य वहन करो। उनके पास आज्य की धाराए प्रवाहित हो, सब कामनाओ सहित इनके आशीर्वाद सत्य हो ॥ स्वधा, नम , स्वाहा ।

इनमें से प्रथम मन्त्र का स्रोत निम्नलिखित अथर्व० (१८।४।६४) मन्त्र प्रतीत होता है क्योकि पाठ मे पर्याप्त भेद होने पर भी इसका भाव वही है —

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्ग पितृलोक गमय जातवेदा ।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गा सर्वे पितरो मादयध्वम् । [८०८]

पितृलोक को ले जाने के लिये जातवेदा अग्नि ने तुम्हारा जो एक अग छोड दिया था, तुम्हारे उस इस अग को परिपूर्ण कर रहा हूँ। हे पितरो आप सब अगो सहित आनन्दित होइये ।

पूर्ण त्रिष्टुभ् छन्द वाले इस मन्त्र की अपेक्षा गृह्यसूत्रों के मन्त्र का छन्द विकृत है। कौशिक० (८८।५) में इस अथर्व-मन्त्र का विनियोग पिण्ड-पितृ-यज्ञ मे यव और ओदन मिश्रित करने के लिये किया गया है।

द्वितीय मन्त्र आज्यम् के स्थान पर वपाम् पाठ सहित वा० स० (३५।२०) मे उपलब्ध है। उस वा० स० मन्त्र का विनियोग प्राय सभी गृह्यसूत्रो मे अष्टका के अन्तर्गत किया गया है (दे० म० स० १०९०)। कौशिक० (४५।१४) मे भी वा० स० के समान वपाम् पाठ है, और उत्तरार्ध इस प्रकार है —

मेदस कुल्या उप तान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिष सन्तु कामा स्वाहा स्वधा ॥

इस सूत्र के अनुसार पितृ-सम्बन्धी काम्यकर्मो मे वपा की आहुतियो के साथ

के स्थान पर ससखिभि पाठ है। इनमें से प्रथम मन्त्र में पाठान्तर द्वारा पूर्ण अनुष्टुभ् हो जाने से छन्द में सुधार हुआ है। हि गृ और आग्नि गृ में द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध था प्राची सम्भवन्त्याप उत्तरहस्व या है। उत्तरार्ध में विश्वस्य से आगे भुवनस्य जोडने के कारण छन्दोभंग हो गया है। चतुर्थ मन्त्र में आभि के स्थान पर विभा पाठ है और अन्तःसाभि के आगे कृतिभि जोडा गया है। षष्ठ मन्त्र में च सखिभि के स्थान पर ससखिभि है और ऋतुभि के पश्चात् सर्वे जोडा गया है। इस प्रकार हम देखते है कि पाठान्तरो द्वारा मन्त्रो के भावो में विशेष सुधार न होते हुए भी छन्दोभंग अवश्य हो गया है। इन मन्त्रो का समानान्तर विनियोग आप श्रौ (१।९।९) में दश पौर्णमास याग के अन्तर्गत पितरो की उपासना में प्राप्त होता है।

अगली आहुती के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १०।१५।१३) का विनियोग किया गया है[1] —

ये चेह पितरो ये च नेह याश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेद स्वधाभियज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ [८०५]

जो पितर यहाँ है और जो नही है जिन्हे हम जानते है और जिन्हे नही जानते हे जातवेदा वे जितने भी है उन्हे तुम जानते हो (अत) तुम सुस्वास्थ्य द्वारा भलीप्रकार अनुष्ठित यज्ञ को ग्रहण करो।

म पा और आग्नि गृ मे उपरिलिखित पाठ से कुछ भेद है। म पा मे त्वम् के स्थान पर अग्ने तान् तथा यति के स्थान पर यदि पाठ है। चतुर्थ पाद का पाठ स्वधा भक्त स्वधया मदन्ति है। आग्नि गृ मे अन्त मे काम तथा स्वधा के स्थान पर तथा पाठ सहित मन्त्र म पा के अनुसार है। यह मन्त्र वा स (१९।६७) मे भी विद्यमान है। तै आ (३।१ १।७) मे एक अन्य मन्त्र के अंशरूप मे केवल द्वितीय पाद आया है। पितरो के प्रति आहुतियो मे इसके विनियोग का आधार आ श्रौ २।१९।२२ और वा श्रौ ३।१६।७ मे प्राप्त होता है क्योंकि वहा पिण्ड नामक कर्म मे एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। ऋग्वेद के यमसूक्त मे से उद्धृत होने के कारण मृतकसम्बन्धी कर्म मे इसकी विशेष विनियोगार्हता सिद्ध है। अग्नि जातवेदा को सम्बोधित होने के कारण आहुति के साथ इसका सम्बन्ध बहुत दृढ है।

हि गृ (२।११।१) और आग्नि गृ (३।२।२) के अनुसार अगली दो आहु

---

१ आप गृ ८।२१।३ (म पा २।१९।७) हि गृ २।११।१ आग्नि

अक्षीण हो, इनके लिये इस लोक और परलोक मे क्षीण न होना ।।

इस वाक्य मे प्रार्थना है कि पितर इहलोक और परलोक अर्थात् पुनर्जन्म मे भी भोजन की दृष्टि मे असन्तुष्ट न रहे । उपरिलिखित पाठ म०पा० मे से उद्धृत है । आग्नि०गृ० मे कुछ पाठान्तर है । इसमे त्वा और प्राणापानयो के मध्य विद्यावताम् का सन्निवेश किया गया है और एषाम् के स्थान पर पितृणाम् पाठ है । हि०गृ० और आग्नि०गृ० मे इसका उच्चारण पितामहो और प्रपितामहो को उद्दिष्ट करके भी करने का विधान है, और तदनुसार पितृणाम् को पितामहानाम् तथा प्रपितामहानाम् मे भी परिवर्तित किया गया है । इनमे वाक्यान्त मे निम्नलिखित भी जोड़ा गया है —

पृथिवी समन्तस्तस्मेऽग्निरुपद्रष्टा दत्तस्याप्रमादाय ऋचस्ते महिमा ॥

(हे सब ओर से सम पृथिवी, दिये हुए पदार्थों के प्रमत्त न होने देने के लिये अग्नि निरीक्षक है । ऋचाएँ तुम्हारी महिमा है ।।)

इस पङ्क्ति मे भी पितामहो और प्रपितामहो के लिये उच्चारित होने पर क्रमश पृथिवी को अन्तरिक्षम् और द्यौ मे, अग्नि को वायु और आदित्य मे तथा ऋच को यजूंषि और सामानि मे परिवर्तित किया जाता है । बौ०गृ० (२।११।३६) और आग्नि०गृ० (३।२।३) मे इसका विनियोग अष्टका के अन्तर्गत भी किया गया है । पृथिवी ते पात्रम् शब्द मा०श्रौ० (११।९।२।४) मे भी प्राप्त होते हैं जहाँ इनके द्वारा उन पात्रो का अभिमन्त्रण करने का विधान है जिनमे श्राद्ध के अवसर पर भोजन परोसा जाता है । अक्षितमसि इत्यादि शब्द अन्त तक अक्षितिरसि इत्यादि पाठान्तर सहित यजुर्वेदीय सहिताओ मे विद्यमान हैं ।[1] अन्नस्पर्शार्थ इसके गृह्यविनियोग के समानान्तर श्रौत विनियोग है जहाँ दर्शपौर्णमास के अन्तर्गत अन्वाहार्य अन्न का स्पर्श अथवा अवलोकन करते समय इसके उच्चारण का विधान है ।[2]

हि०गृ० (२।११।५) के अनुसार निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए कर्ता को ब्राह्मणो द्वारा इस भोजन का स्पर्श कराना चाहिये —

प्राणे निविष्टोऽमृत जुहोमि । [८११]

प्राण मे स्थित मैं अमृत की आहुति अर्पित करता हूँ ।।

इस गृह्यसूत्र (२।१२।१) मे भोजन करते हुए ब्राह्मणो का अवलोकन करते

१ वा०स०का० २।३।८, तै०स० १।८।३.३ , ७।३।४, का०स० ५।५ ।

२ आ०श्रौ० १।११।६ , १३।४, शा०श्रौ० ४।६।४ , ११।३, का०श्रौ ३।४।३०, मा०श्रौ० १।४।२।१२ ।

इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। एक अन्य स्थल (८४।१) पर पितृ-मेघ के अवसर पर तीन आज्याहुतियों के लिये इसका विनियोग किया गया है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अन्तिम स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्य बोला जाना चाहिये[1] —

अग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमः । [८०९]

कव्यवाहन स्विष्टकृत् अग्नि के लिये स्वधा नमः ।

अन्य गृह्यसूत्रों द्वारा पाठान्तर सहित इसका विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। मा० गृ०, कौशिक और ज० गृ० में स्विष्टकृते का अभाव है। मा० गृ० (२।९।१३) में यह अन्वष्टक्य के अन्तर्गत एक आहुति के लिये विनियुक्त है। कौशिक (८८।२) में पिण्डपितृयज्ञ में आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। ज० गृ० (२६।१) के अनुसार श्राद्ध में पितरों को विष्टर (आसन) दिये जाने के पश्चात् आहुति अर्पित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। म० पा० में भी स्विष्टकृते का अभाव है और नमः के स्थान पर स्वाहा है। इस पाठान्तर सहित इसका विनियोग आप० गृ० ८।२२।७ (म० पा० २।२१।६) में एकाष्टका कर्म के अन्तर्गत आ-याहुति के लिये किया गया है। स्विष्टकृते रहित इस वाक्य का स्रोत अथर्व जितने प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[2] इसका गृह्य विनियोग भी इन ग्रन्थों के विनियोग के समान है क्योंकि इनमें पिण्डपितृयज्ञ के अन्तर्गत आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि कर्ता को निम्नलिखित वाक्य का जाप करते हुए पितरों के लिये प्रस्तुत अन्न का स्पर्श करना चाहिये[3] —

पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां
त्वा प्राणापानयोर्जुहोमि अक्षितमसि मैषां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिंल्लोके ॥
[८१०]

पृथ्वी तुम्हारा पात्र है, आकाश ढक्कन है। ब्रह्म के मुख में तुम्हारी आहुति देता हूँ, ब्राह्मणों के प्राणापान में तुम्हारी आहुति देता हूँ। तुम

1 आप० गृ० ८।२१।४ (म० पा० २।१६।१३) का० गृ० ६१।६ हि० गृ० २।११।३ आग्नि० गृ० ३।१।२।

2 अथर्व० १८।४।७१ वा०स० २।२९ त० ब्रा० १।३।१०।३ मा० श्रौ० २।६।१२ आप० श्रौ० १।८।४ का० श्रौ० ४।१।२।१८।

3 आप० गृ० ८।२१।८ (म० पा० २।२०।१) हि० गृ० २।११।४ भा० गृ० २।१४ आग्नि० गृ० ३।१।२।

पर तीन बार जलाञ्जलि प्रवाहित करता है[1] —

मार्जयन्ता मम पितरो, मार्जयन्ता मम पितामहा, मार्जयन्ता मम प्रपितामहा । [८१४]

मार्जयन्ता मम मातरो, मार्जयन्ता मम पितामह्यो, मार्जयन्तां मम प्रपितामह्य ।। [८१५]

मेरे पितर मार्जन करें, मेरे पितामह , मेरे प्रपितामह , मेरी माताएँ मार्जन करें, मेरी पितामहियाँ , मेरी प्रपितामहियाँ ।।

यह पाठ म० पा० के अनुसार है । हि० गृ० और आग्नि० गृ० मे पितर , पितामहा इत्यादि के पश्चात् सौम्यास पाठ है तथा माताओं आदि से सम्बद्ध द्वितीय वाक्य नही दिया गया । बौ०गृ० (२।११।२८) मे ये वाक्य अष्टका में विनियुक्त है । इनके गृह्य विनियोग के समानान्तर आप०श्रौ० (१।८।१०) में दर्शपौर्णमास के अन्तर्गत स्फ्य (काष्ठ-खड्ग) पर जल प्रवाहित करने के लिये इनका विनियोग किया गया है । इस प्रकार श्रौत और गृह्य दोनो विनियोगो मे जलप्रवाह-क्रिया समान है ।

उपरिनिर्दिष्ट दर्भ घास पर उसे पितरों के लिये भोजन-पिण्ड रखते हुए निम्नलिखित वाक्यो का उच्चारण करना चाहिये[2] —

एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु, एतत्ते पितामह ,
एतत्ते प्रपितामह । [८१६]

एतत्ते मातरसौ याश्च त्वामनु, एतत्ते पितामहि ,
एतत्ते प्रपितामहि ।। [८१७]

हे अमुक नाम वाले पिता, यह (भोजन) आपके लिये और आपके अनुगामियो के लिये है । हे पितामह , हे प्रपितामह । हे अमुक नाम वाली माता, यह (भोजन) आपके लिये और आपकी अनुगामिनियो के लिये है । हे पितामही , हे प्रपितामही ।।

हि०गृ०, भा०गृ० और आग्नि०गृ० मे ये च त्वामनु शब्दो का तथा द्वितीय मन्त्र का नितान्त अभाव है । प्रथम मन्त्र का स्रोत तै० स० और का० स० मे प्राप्त

---

१ आप० गृ० ८।२१।९ (म० पा० २।२०।२–७), हि० गृ० २।१२।२, आग्नि० गृ० ३।१।३ ।

२ आप० गृ० ८।२१।९ (म० पा० २।२०।८–१३), हि० गृ० २।१२।३, भा० गृ० २।१२, आग्नि० गृ० ३।१।३ ।

समय कर्ता द्वारा निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है —

ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय । [८१२]

अमृतत्व के लिये मेरी आत्मा ब्रह्म (ब्राह्मण) में (स्थित हो)।

अन्य वाक्यों द्वारा व्यवहित होकर ये दोनों वाक्य तै० आ० (१०।३२ ३४) में भी विद्यमान हैं। वहाँ जलपान के पश्चात् इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। आप०गृ० ८।२१।६ (म पा० २।२।२६) में इन्हें एक वाक्य मानकर उसका विनियोग ब्राह्मणों द्वारा भोजन का भोग करने के पश्चात् शेष भोजन का भक्षण करते समय कर्ता द्वारा उच्चारणार्थ किया गया है। बौ गृ० (२।११।३८) और अग्निवे गृ० (३।३।२) में इसे अष्टका के अन्तर्गत उद्धृत किया गया है।

ज गृ० (२६।११) के अनुसार जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हों उस समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

यन्मेऽप्रकामा उत वा प्रकामा समृद्ध ब्राह्मणेऽब्राह्मणे वा।
य स्कन्दति निर्ऋतिं वात उग्रो येन न प्रीयन्ते पितरो देवताश्च।
वायुष्टत् सर्व शुन्धतु तेन शुद्ध न देवता मादयन्ता तस्मिञ्छुद्धे पितरो मादयन्ताम्॥ [८१३]

जो कि समृद्ध ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण के प्रति मेरी बलहीन या बलवती कामनाएं हैं जो वायु उस पाप को च्युत करता है जिससे हमारे पितर और देवता प्रसन्न होते हैं वायु वह सब कुछ शुद्ध करे। उस शुद्ध (अन्न) के द्वारा देवता आनन्दित हों उसके शुद्ध होने पर पितर आनन्दित हों।

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है।

मा गृ० (४।७।२६) और कौशिक (८८।२७) में विधान है कि ब्राह्मणों को सन्तुष्ट हुआ देखने पर कर्ता को अक्षन्नमीमदन्त इत्यादि मन्त्र (ऋ० १।८२।२) का उच्चारण करना चाहिये। इसका विस्तृत विवेचन विवाह के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे० म० स० १६८)। प्रस्तुत प्रसंग में इसके विनियोग की प्रेरणा गृह्यसूत्रकारों को सम्भवतया अक्षन्नमीमदन्त शब्द से प्राप्त हुई होगी।

ब्राह्मणों के भोजन करके चले जाने पर कर्ता उनके पीछे जाकर अनुष्ठीयमान कर्म के लिये उनसे भोजन का अवशिष्टांश लेने की अनुमति माँगता है। फिर एक जलपात्र और मुट्ठीभर दर्भ पास लेकर वह दक्षिणपूर्व दिशा की ओर जाता है और वहाँ दर्भ घास बिछाकर निम्नलिखित छः वाक्यों का उच्चारण करता हुआ उन

का०गृ० मे घृतम् और पय के मध्य मधु का समावेश किया गया है और अन्तिम तीन शब्दो का क्रम पितृन् मे तर्पयत रूप मे उलट दिया गया है। गो० गृ० और खा०गृ० मे इसका विनियोग इसी क्रिया के लिये पिण्डपितृयज्ञ मे किया गया है।[1] बौ०गृ० (२।११।४६) मे अष्टका मे इसका विनियोग किया गया है। जलसिञ्चनार्थ इसके विनियोग की पुष्टि श्रौतसूत्रो मे पितृयज्ञ के अन्तगत पितरो के लिये जलप्रवाहार्थ इसके विनियोग से होती है।[2]

निम्नलिखित दो वाक्यों को बोलते हुए पितरो को अञ्जन और अभ्यञ्जन अर्पित किया जाना चाहिये[3] —

आक्ष्वासौ आक्ष्वासौ ॥ [८२३]
अभ्यक्ष्वासौ अभ्यक्ष्वासौ ॥ [८२४]

हे अमुक नामक अञ्जन लगाओ, हे अमुक ॥ हे अमुक नाम वाले अभ्यञ्जन लगाओ, हे अमुक ॥

जै०गृ० के अनुसार वाक्यो मे शब्दो की पुनरावृत्ति नही की जानी चाहिये। तदनुसार द्वितीय वाक्य का उच्चारण पुष्प और धूप अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये। यह द्वितीय वाक्य आ०श्रौ० (२।७।५) और मा० श्रौ० (१।१।२।२६) मे भी पितृयज्ञ के अन्तर्गत पितरो को अभ्यञ्जन अर्पित करने के लिये विनियुक्त हुआ है।

हि०गृ० (२।१२।८) और आग्नि०गृ० (३।१।३) मे निर्देश है कि पितरो को वस्त्ररूप कोई वस्तु अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्यो का उच्चारण किया जाना चाहिये —

एतानि व पितरो वासास्यतो नोऽन्यत् पितरो मा योद्‌वम् ॥ [८२५]
एतानि व पितामहा पितामहा ॥ [८२६]
एतानि व प्रपितामहा प्रपितामहा ॥ [८२७]

हे पितरो, ये आपके लिए वस्त्र है, हे पितरो अब हमारे वस्त्र से भिन्न किसी और से सयुक्त न होना ॥ हे पितामहो ॥ हे प्रपितामहो ॥

गो०गृ० और मा०गृ० मे इनका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ मे किया गया है।[4] इनकी

१ गो०गृ० ४।३।२१ (म०ब्रा० २।३।१५), खा०गृ० ३।५।३१।
२ शा०श्रौ० ४।५।३, का०श्रौ० ४।१।१६, आप०श्रौ० १।१०।४।
३ हि०गृ० २।१२।६,७, आग्नि०गृ० ३।१।३, जै०गृ० २८।१।
४ गो०गृ० ४।३।२४ (म०ब्रा० २।३।१४), खा०गृ० ३।५।३०।

होता है।[1] इसके यहां विनियोग का आधार भी ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ पितृयज्ञ के अन्तर्गत कर्ता द्वारा पितरों को पिण्डदान करते समय इसके उच्चारण का विधान है।[2]

औ गृ (२७।१३) में इस कर्म के लिये इससे मिलते-जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है —

एतत्त पितरसौ ये च त्वात्रानु तस्मैश्च स्वधा नम
एतत्त पितामह , एतत्त प्रपितामह ॥ [८१८]

हे अमुक नामक पिता यह (भोजन) तुम्हारे लिये और जो यहाँ तुम्हारे अनुगामी है उनके लिये है। स्वधा नम। हे पितामह हे प्रपितामह ॥

इसका स्रोत भी ऊपर वाले वाक्य का स्रोत ही प्रतीत होता है।

हि गृ (२।१२।४) और मानि गृ (३।१।३) के अनुसार यदि कर्ता को अपने पूर्वजो के नाम न पता हो तो पिण्डदान के समय उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये —

स्वधा पितृभ्य पृथिवीषद्भ्य स्वधा पितामहेभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य
स्वधा प्रपितामहेभ्यो दिविषद्भ्य ॥ [८१६ ८२१]

पृथिवीवासी पितरो के लिये सुस्वास्थ्य अन्तरिक्षवासी पितामहो के लिये सुस्वास्थ्य द्युलोकवासी प्रपितामहो के लिये सुस्वास्थ्य ॥

स्वधा के स्थान पर इदम् पाठान्तर सहित भ गृ (२७।१५) में भी इसका विनियोग किया गया है।

भा गृ (२।१३) का गृ (१३।१६) और भ गृ (२८।५) में विधान है कि इन पिण्डो के चारो ओर निम्नलिखित मन्त्र (वा स २।३४) का उच्चारण करते हुए जल छिड़कना चाहिये —

ऊर्ज वहन्तीरमृत घृत पय कीलाल परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्। [८२२]

ऊर्जा अमृत घृत और अन्नरस रूप सद्योजात जल का वहन करने वाली हे आप तुम आहुति (स्वास्थ्य) हो तुम मेरे पितरो को तृप्त करो ॥

दे पा०

१ स स १।८।५।१ ३।२।५।५ का स ९।६।
२ स ब्रा ११।६।७ आप श्रौ ८।१६।६ का श्रौ २।६।१५।

निम्नलिखित वाक्यों का उच्चारण करके पितरों को प्रणाम किया जाना चाहिये[1] —

नमो व पितरो रसाय ॥ नमो व पितर शुष्माय ॥ नमो व पितरो जीवाय ॥ नमो व पितर स्वधायै ॥ नमो व पितरो मन्यवे ॥ नमो व पितरो घोराय ॥ पितरो नमो वो य एतस्मिल्लोके स्थ युष्मास्तेऽनु येऽस्मिल्लोके मा तेऽनु य एतस्मिल्लोके स्थ यूय तेषा वसिष्ठा भूयास्त येऽस्मिल्लोकेऽह तेषा वसिष्ठो भूयासम् ॥ [८३०-८३६]

हे पितरो, आपको रस के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको बल के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको जीवन के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको स्वास्थ्य के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको क्रोध अथवा मनन-शक्ति के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको भय (मे साहस) के लिये प्रणाम है ॥ हे पितरो, आपको प्रणाम है । जो उस लोक मे है, वे आपके अनुगामी हैं, जो इस लोक मे हैं, वे मेरे अनुगामी है । जो उस लोक मे है, आप उनमे श्रेष्ठ हो जायें, जो इस लोक मे है, मैं उनमे श्रेष्ठ हो जाऊँ ॥

पितरो को छ बार प्रणाम करने के निमित्त जै० गृ० (२८।२,५) मे ऐसे ही वाक्यो को उद्धृत किया गया है । इनमे से प्रथम तीन तो उपरिलिखित प्रथम तीन वाक्यो के तत्सम हैं । चतुर्थ और षष्ठ क्रमश ऊपर के षष्ठ और पञ्चम हैं । पञ्चम वाक्य का पाठ नमो व पितरो बलाय है । गो० गृ० और खा० गृ० मे पिण्ड-पितृयज्ञ मे इसी क्रिया के लिये ऐसे ही वाक्य दिये गये है ।[2] म० ब्रा० मे ऊपर का तृतीय वाक्य प्रथम, षष्ठ वाक्य तृतीय, प्रथम वाक्य चतुर्थ, चतुर्थ और पञ्चम क्रमश पञ्चम और षष्ठ वाक्य हैं । इसमे द्वितीय वाक्य नमो व पितर शूषाय है । इनका स्रोत तै०स० ३।२।५।५ है । अन्य सहिताओ के वाक्यो का तै०म० से आंशिक साम्य है ।[3] गृह्यसूत्रो मे ये प्रतीकेन उद्धृत किये गये हैं । इनके स्रोत का सकेत भाष्यकारो से ही प्राप्त होता है । इनके गृह्यविनियोग की पुष्टि तै० ब्रा० और कुछ श्रौतसूत्रो मे पिण्डपितृयज्ञमे पितरोकी उपासना के लिये इनके विनियोग से होती है[4]।

कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि पितरो को प्रणाम करने के पश्चात् गृहस्थ

---

१ हि०गृ० २।१२।१०, मा०गृ० २।१३, आग्नि०गृ० ३।१।३ ।

२ गो०गृ० ४।३।१८ (म०ब्रा० २।३।८-१४), खा०गृ० ३।५।२५-२६ ।)

३ अथर्व० १८।४।८१,८२, वा०स० २।३२ (घोराय तक तत्समान), का०स० ६।६ (बहुत समान), मै०स० १।३।१० ।

४ तै०ब्रा० १।३।१०।८, शा०श्रौ० ४।५।१,आ० श्रौ० २।७।७, का० श्रौ० ४।१।१२

तुलना था स के मिलते-जुलते वाक्यों से की जा सकती है।[1] इनके गृह्यविनियोग की पुष्टि तदनुरूप श्रौतविनियोग से होती है।

ज गृ (२७।२) में पितरों को वस्त्र अर्पित करने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है —

एतद्व पितरो वासो गृहान्न पितरो दत्त ॥ [८२८]

हे पितरो यह आपके लिये वस्त्र है। हे पितरो यह घर हमें दे दो ॥

भट्ट गुणविष्णु के मतानुसार यहाँ घर की प्रार्थना से अभिप्राय गृहिणी की प्रार्थना का है। अर्थात् हे पितरो मुझे गृहिणी से संयुक्त करो।[3] परन्तु गृह का अर्थ गृहिणी किये बिना भी यह सार्थक ही होगा क्योंकि तब इसका यह अभिप्राय होगा कि हे पितरो जिस घर में पहले आप निवास करते थे उसका स्वामी अब हमें बना दो। इस वाक्य का उपर्युक्त वाक्यों से निकट का साम्य है। गो गृ (४।३।२२) के अनुसार गृहान्न पितरो दत्त (म०ब्रा० २।३।१२) का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को गृहावलोकन करना चाहिये।

इसके पश्चात् यह विधान है कि कर्ता को भोजनपात्र का प्रक्षालन करके पिण्डों के चारों ओर जलसिञ्चन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

पुत्रान् पौत्रानभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ [८२९]

पुत्रों और पौत्रों को अभितृप्त करता हुआ यह मधुयुक्त जल पितरों के लिये स्वास्थ्य और अमृत का दोहन करती हुई आप देवी (उन्हें और हमें) दोनों को संतृप्त करें ॥

इस मन्त्र का स्रोत अथर्व (१८।४।३९) है। कौशिक (८८।२४) में इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में किया गया है। पितरों के लिए जलसिञ्चन क्रिया में इसका विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है।

---

१ का स २।३२ का स का २।७।४।

२ आ श्री २।७।६ का श्री ४।१।१६ आप श्री १।१ ।१।

३ दे म ब्रा २ ३।१२ पर भाष्य— गृहिण्या संयुक्तं मां कुरुध्वमित्यर्थः। गृहिणीप्रार्थन वाक्यार्थः।

४ आप०गृ ८।२१।९ (म पा २।२ ।२४) हि गृ २।१२।१ भा गृ २।१३ आग्नि गृ ३।१।३।

परायात पितर सोम्या गम्भीरै पथिभि पूर्व्यैं ।
अथ मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तु सुप्रजस सुवीरा ।। [८४०]

हे सोमसम्बन्धी पितरो, गम्भीर पुरातन मार्गों से लौट जाओ । हे शोभन सन्तान वाले, शोभन वीरो से युक्त पितरो, पुन आगामी मास मे हविर्भक्षण के लिए हमारे घर आ जाना ।।

मन्त्र का यह पाठ हि०गृ० मे दिया गया है । इस रूप मे इसके पूर्वार्ध का छन्द अनुष्टुभ् और उत्तरार्ध का त्रिष्टुभ् है । परन्तु भा० गृ० और आग्नि० गृ० म पूर्वार्ध मे प्रजामस्मभ्य ददतो रयिम् जोडा गया है । यह अश अपने आप म त्रिष्टुभ्-पाद है । इससे मिलते-जुलते एक मन्त्र (आयात पितर इत्यादि) का विवेचन पहले किया जा चुका है (दे०म०स० ७६६) । उस मन्त्र मे इस मन्त्र का उत्तरार्ध तो नही है, परन्तु भा०गृ० द्वारा जोडा गया अश विद्यमान है । प्रस्तुत मन्त्र का विनियोग कौशिक० (८८।२८) मे पिण्ड-पितृ-यज्ञ के अन्तगत इसी क्रिया के लिये किया गया है । पितरो को विदा देने की भावना के आधार पर यह श्राद्ध की समाप्ति का द्योतक है ।

भा०गृ० (४।७।१०) के अनुसार निम्नलिखित शब्दो द्वारा कर्ता को ब्राह्मणो को विदा करना चाहिये —

ओ स्वधोच्यताम् ।। [८४१]

ओम्, स्वधा (स्वास्थ्य) वचन कहिये ।।

ब्राह्मणो को अधोलिखित शब्दो द्वारा इसका प्रत्युत्तर देना चाहिये —

अस्तु स्वधा ।। [८४२]

स्वधा (स्वास्थ्य) हो ।।

इन शब्दो का स्रोत ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे प्रतीत होता है ।[1] इनमे विनियोग भी भा०गृ० के समान है क्योकि इनमे महापितृ-यज्ञ की प्रधानाहुतियो की तैयारी के प्रसग में श्रौषत् के लिये अध्वयु का आह्वान ओम् स्वधा है और अग्नीध्र द्वारा इसका प्रत्युत्तर अस्तु स्वधा है ।

गो०गृ० और खा०गृ०मे निर्देश है कि यदि गृहस्थ की पत्नी को पुत्रप्राप्ति की कामना हो तो उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए मध्यम-पिण्ड का भक्षण करना चाहिये[2] —

---

१ श०ब्रा० २।६।१।२४, गो०ब्रा० २।१।२४, आ०श्रौ० २।१६।१८, का०श्रौ० ६।११, आप०श्रौ० ८।१५।१२ ।

२ गो०गृ० ४।३।२७ (म०ब्रा० २।३।१६), खा०गृ० ३।५।३० ।

को निम्नलिखित तीन मन्त्रो का उच्चारण करते हुए किसी जलाशय के तट पर जाना चाहिये[1] —

एष ते तत मधुमाँ ऊर्मिस्सरस्वान् यावानग्निश्च पृथिवी च तावत्यस्य मात्रा तावती त एतां मात्रां ददामि यथाग्निरक्षितोऽनुपदस्त एवं मह्यं पित्रेऽक्षितोऽनुपदस्त स्वधा भवतां त्वं स्वधां तैः सहोप जीवऋचस्ते महिमा ॥ [८३७]

एष ते पितामह यावान् वायुश्चान्तरिक्षं च यथा वायुरक्षितो पितामहायाक्षितोऽनुपदस्त सामानि ते महिमा ॥ [८३८]

एष ते प्रपितामह यावानादित्यश्च द्यौश्च यथादित्योऽक्षितो प्रपितामहायाक्षितोऽनुपदस्त यजूंषि ते महिमा ॥ [८३९]

हे पिता मधु तथा जल मे युक्त यह तरङ्ग आपके लिये है। जितने विशाल अग्नि और पृथ्वी है उतनी इसकी मात्रा है। तुम्हें इसकी इतनी (अधिक) मात्रा मैं देता हूँ। जिस प्रकार अग्नि अविनाशी और अक्षय है उसी प्रकार मेरे पिता के लिये यह अक्षय और अक्षिन भी हो और स्वास्थ्य कर हो। तुम उनके साथ जीवित रहो ऋचाए तुम्हारी महिमा हैं॥ हे पितामह जितने विशाल वायु और अन्तरिक्ष है जिस प्रकार वायु अक्षय पितामह के लिये यह अक्षय साम तुम्हारी महिमा है॥ हे प्रपितामह जितने विशाल आदित्य और आकाश है जिस प्रकार आदित्य अक्षय प्रपितामह के लिये यह अक्षय यजु तुम्हारी महिमा है॥

उपरिलिखित पाठ म पा का है। मान्नि० गृ मे इनके पाठान्तर हैं। इसमे तत और मधुमान् के मध्य पितृ का अन्तर्धान है तावतीं त एतां मात्राम् के स्थान पर तावन्तमेन भूतम् महाम के स्थान पर मे सताय पाठ है, तथा पुन स्वधाम् और त के मध्य अक्षितम् और जीव और ऋच के मध्य असौ अन्तर्हित हैं। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे अनुपलब्ध हैं।

पिण्डदान के स्थान से लौट कर गृहस्थ को स्थाली म लगे हुए अवशेष को जलपात्र मे डालकर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रवाहित करना चाहिये[2] —

---

१ आप गृ ८।२१।६ (म पा २।१९।१४-१६) हि गृ २।१३।१ मा०गृ २।९।२, काठिन गृ ३।१।३।

२ हि गृ २।१३।२ मा गृ २।१४ काठिन गृ ३।१।३।

द्वादश अध्याय

पशुकल्याण और कृषि से सम्बद्ध कर्म

आश्वयुजीकर्म

पशुकल्याण से सम्बद्ध वैदिक कर्मो मे आश्वयुजीकर्म का विशेष महत्त्व है। यद्यपि नाम मे अश्व शब्द की प्रमुखता है, तथापि इस कर्म का उद्देश्य सभी पालतू पशुओ का कल्याण है। इसका अनुष्ठान आश्वयुज अर्थात् आश्विन मास की पूर्णिमा को होता है। इसकी विशिष्ट आहुतियाँ शिव, पशुपति इत्यादि देवों को अर्पित की जाती हैं। इससे शिव का पशुपालन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

मा०गृ० (२।३।६) मे निर्देश है कि पृषातक (दधि और आज्य का मिश्रण) की दो आहुतिया अर्पित करते समय निम्नलिखित दो मन्त्रो का उच्चारण किया जाना चाहिये —

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ [८४४]

प्र बाहवा सिसृत जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षत घृतेन ।
आ नो जने श्रवयत युवाना श्रुत मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ [८४५]

हे शोभन कर्म वाले मित्र और वरुण, जलरूप घृत के द्वारा हमारी गोचर-भूमि को और मधु के द्वारा हमारे मार्गो को सीच दीजिये। हे मित्र और वरुण, हमारे जीवन के लिये अपनी भुजाओ को फैलाइये, हमारी गोचर-भूमि को जलरूप घृत के द्वारा सब ओर से सीचिये, हे युवको, हमसे श्रुत स्तुति को सब जनो में सुनाइये। हम आपका आह्वान करते हैं।

गो०गृ० (३।८।२) मे केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग पायस की आहुतियो के लिये किया गया है। म०ब्रा० मे न होते हुए भी गो०गृ० मे इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। इसका कारण सम्भवतया यह है कि गो०गृ० द्वारा इसी के साथ साथ विनियुक्त दूसरा मन्त्र (दे०आगे) सामवेद का नही है। वह मन्त्र म०ब्रा० मे उद्धृत है। परन्तु यह साम० (१।२२०) मे विद्यमान है। उपरिलिखित दोनो मन्त्रो के यजुर्वेदीय सहिताओ में साथ साथ अस्तित्व से ऐसा प्रतीत होता है कि विनियोग के कारण वे एक दूसरे के निकट आये हैं। इस प्रसग में यह ध्यान देने योग्य है कि

आधत्त पितरो गर्भ कुमार पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुष स्यात् ॥ [८४३]

हे पितरो इस पिण्ड मे उस प्रकार से कमलमालाधारी अर्थात् अश्विन्-तुल्य कुमार गर्भ का आधान करो जिसमे कि यह पुरुष ही हो ॥

गु० वि०

ज गृ (२७।२) म यह पितरो को वस्त्र प्रदान करने के लिये विनियुक्त एक अन्य मन्त्र का अश है । इसका स्रोत म स्य स्यात् के स्थान पर असत् सहित वा स (२।३३) है । वा म के पाठ का अनुसरण करते हुए कौशिक (८६।६) मे इसका उच्चारण पिण्ड पितृ यज्ञ मे निर्दिष्ट है । तदनुसार यदि गृहस्थ की पत्नी को पुत्रप्राप्ति की कामना हो तो वह उसे मध्यम पिण्ड देता है । इसके गृह्य विनियोग के समानान्तर श्रौतकल्प म भी पिण्डपितृयज्ञ के अन्तगत यदि यजमान की पत्नी पुत्रप्राप्ति की इच्छुक हो तो उसे मध्यम पिण्ड देने के समय इसके उच्चारण का विधान है ।[1]

पिण्डपितृयज्ञ और अन्वाहार्य श्राद्ध

वस्तुत यह श्रौत यज्ञ है । केवल गो गृ और कौशिक म इसका वर्णन किया गया है । गो गृ के अनुसार इस यज्ञ के कम अन्वष्टक्य कर्मों के बहुत समान है । क्योंकि इस यज्ञ के अधिकाश मन्त्र श्राद्ध म न्त्र ही है अत ऊपर श्राद्ध म न्त्रों के अन्तगत उनका विवेचन हो चुका है । अन्वाहार्य श्राद्ध भी एक मासिक श्राद्ध है । परन्तु इसका सम्बन्ध भी अधिकतर श्रौतकल्प से है । इसका अनुष्ठान भी प्राय पिण्ड पितृयज्ञ के समान होता है और इसलिये इसम भी उन्हीं मन्त्रो का विनियोग किया गया है ।

१ आ श्री २।७।१४ ना श्रौ ४।१।२८ का श्री ४।१।२२ आप श्री १।१ ।११ मा श्री १।१।२।३१ ।

जलाने वाली किरणें आपको ले आये, आप घृत का पान करते हुए देवो का सत्कार कीजिये। दे०पा०

इनमे से प्रथम मन्त्र मै० स० ४।२।१० का है। मा० श्रौ० १।८।३।३३ के अनुसार पशु की आहुति अर्पित करने से पूव पृषदाज्य का अवलोकन करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० ३।७।४।४ और आप० श्रौ० ४।१।१० मे कुलायम के स्थान पर गृहपतिम् पाठ सहित केवल इसके प्रथम और तृतीय पाद उद्धृत किये गये हैं। वहा इस मन्त्राश को गार्हपत्य आधान के प्रसग मे दिया गया है। इस प्रकार इसका श्रौतविनियोग भी गृह्य-विनियोग के समान अग्नि से सम्बद्ध है। द्वितीय मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही। आ०गृ० २।१०।६ और शा०गृ० ३।६।३ में गोचर-भूमि से गौओं के लौटने पर इसके उच्चारण का विधान है। अथ को देखते हुए यह विनियोग अधिक सीधा प्रतीत होता है। तृतीय मन्त्र ऋ० १।८६।७, वा० स० २५।२० और का० स० ३५।१ मे उपलब्ध है। आप० श्रौ० (१४।१६।१) के अनुसार सोम-याग से सम्बद्ध प्रायश्चित्त आहुतियाँ अर्पित करते समय अन्य मन्त्रा के साथ साथ इसका उच्चारण भी किया जाना चाहिये। इसका श्रौत-विनियोग भी गृह्य -विनियोग के समान आहुति से सम्बद्ध है। चतुर्थ मन्त्र का स्रोत का० स० ३५।१ है। का० गृ० ३६.२ मे इसका विनियोग अन्नप्राशन सस्कार मे शिशु के अन्नप्राशन मे भी किया गया है। परन्तु अग्नि की स्तुति होने के कारण आहुति में इसका उपयु क्त विनियोग अधिक सगत प्रतीत होता है। आहुतियो के अतिरिक्त यदि आश्वयुजी के प्रमुख उद्देश्य (पशु-कल्याण) को ध्यान में रखा जाये तो प्रथम दो मन्त्र गौओ को सम्बोधित होने के कारण इस कर्म से सीधे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

गोभिल और खादिर का विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पायस की भी एक आहुति दी जानी चाहिए[४] —

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे ॥ [८५०]

हे रुद्र, हमारे पौत्रादि, पुत्रो, आयु, गौओ तथा घोडो के प्रति हिंसा न करो। हमारे पराक्रमी तथा वर्चस्वी मनुष्यो का वध न करो जिससे हम सदा ही यज्ञ करते हुए तुम्हारा आह्वान करें। गु० स्वा०

शा० गृ० (५।१०।२) के अनुसार यदि मधुमक्खिया घर मे अपना छत्ता

४ गो०गृ० ३।८।२(म० ब्रा० २।१।८-'भामित' के स्थान पर 'भामिन'), खा० गृ० ३।३।२।

ऋग्वेद मे वे पृथक पृथक आये हैं।[1] यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रो मे से केवल का श्रौ (१९।७।१७) और मा श्रौ (८।११।५) मे इन्हे साथ साथ उद्धत किया गया है। का श्रौ म इन्हे सयुक्त रूप से पायस्य कहा गया है, और अवभृथ इष्टि से याज्या और अनुवाक्या के रूप मे विनियुक्त किया गया है। मा श्रौ मे इनका विनियोग दाक्षायण यज्ञ मे आहुति के लिये हुआ है। गृह्य कर्म का उद्देश्य गो समृद्धि होने के कारण सम्भवतया भा गृ मे इनका वरण विशेष रूप से किया गया है क्योकि इनमे गोचर भूमि के उदकरूप घृत द्वारा सिंचन की प्रार्थना की गई है।

का गृ (५८।२) के अनुसार निम्नलिखित चार मन्त्रो का उच्चारण करते हुए पृषातक की चार आहुतिया अर्पित की जानी चाहियें —

इह प्रजा विश्वरूपा रमन्तामस्मिन् गोष्ठे विश्वभृतो जनित्री ।
अग्नि कुलायमभिसंवसाना अस्मानवन्तु पयसा घृतेन ॥ [८४६]
यासामूधश्चतुर्बिल मधो पूर्ण घृतस्य च ।
ता नोऽवन्तु पयस्वतीरस्मिन् गोष्ठे वयोवृध ॥ [८४७]
पृषदश्वा मरुत पृश्निमातर शुभयावानो विदथेषु जग्मय ।
अग्निजिह्वा मनव सूरचक्षसो विश्वे मा देवा अवसागमन्निह ॥ [८४८]
घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्निघृ ताहवनो घृतमस्य धाम ।
घृतप्रुषो हरितस्त्वावहन्तु घृत पिबन्यजताद्व देव देवान् ॥ [८४९]

यहाँ इस गोष्ठ मे गौओ की विश्वरूप सबका पोषण करने वाली रक्षक स तान क्रीडा कर। पशु धक अग्नि का सम्यक् आच्छादन करने वाली वे घृत और दुग्ध द्वारा हमारी रक्षा करें। जिनका दुग्धाधार चार स्तनो स युक्त मधुरस दुग्ध और घृत स परिपूर्ण है, वे दुग्ध स युक्त धन की वृद्धि करने वाली इस गोष्ठ मे रहने वाली गौए हमारी रक्षा कर। चितकबरे अश्वो वाले अल्प श करने वाले पृथ्वी आकाश अथवा वाणीरूपी माता वाले उत्कृष्ट फल प्राप्त कराने वाले यज्ञो मे जाने वाले अग्निरूपी जिह्वा वाले मननशील देखने मे सूर्यसदृश सबके सब मरुत् देवता इस यज्ञ मे अन्न तथा धन सहित आये। हे अग्निदेव आप घृत के द्वारा प्रकाशित करते हैं आप वडवाग्नि या वद्य ताग्नि हैं घृत की आहुति से युक्त है और घृत अथवा जल ही आपका स्थान है घृत अथवा उदक को

१ ऋ ३।६२।१६ ७।६ ।५ वा स २१।८९ त स १।८।२२।३ २।५।१२।३ म स ४।११।२ का स ४।१६ १२।१४।

आ०गृ० २।२।३ और पा०गृ० २।१६।३ के अनुसार पृषातक की आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

ऊन मे पूर्यता पूर्ण मे मोपसदत् पृषातकाय स्वाहा । [८५२]

मेरी कमी पूर्ण हो, मेरी पूर्णता नष्ट न हो, यह आहुति पृषातक को ।

पा०गृ० मे पूर्ण मे के पश्चात् केवल मा विगात् स्वाहा पाठ दिया गया है । यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही ।

पा०गृ० (२।१६।४) मे विधान है कि आ यात्विन्द्र प्रभृति अनुवाक का पाठ करते हुए घर के सदस्यो को दधि मधु घृत से मिश्रित पायस का अवलोकन करना चाहिये । भाष्यकारो के अनुसार इस अनुवाक के अन्तिम शब्द यूय पात स्वस्तिभि सदा न हैं । तदनुसार वा०स० २०।४७-५४ के मन्त्र मिलकर यह अनुवाक बनता है । इस अनुवाक का प्रथम मन्त्र यह है —

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुत सधमादस्तु शूर ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ [८५३]

इन्द्र हमारी रक्षा के लिए हमारे पास आये, स्तुति किये जाने पर वह वीर यहाँ हमारे साथ आनन्द ले । उसकी पुरातन शक्तियो की अभिवृद्धि करता हुआ आकाश हमारे बल के अभिभव को पुष्ट न करे ।

इस अनुवाक का यह मन्त्र ऋ० ४।२१।१ मे भी है । का०श्री० १९।६।१३ मे इस अनुवाक के मन्त्रो का उद्धरण विभिन्न आहुतियो की याज्याओ और पुरोनुवाक्याओ के रूप मे किया गया है । इन मन्त्रो मे सब ओर से रक्षा की कामना की गई है । आश्वयुजी मे इनके विनियोग का कोई विशिष्ट आधार नही दृष्टिगोचर होता ।

का०गृ० (५८।३) के निर्देशानुसार गौओ को लवण देते हुए अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

अम्भ स्थाम्भो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोष वो भक्षीय, रेवती रमध्वमस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्य वो बन्धुरितो मापगात मा मा हासिष्ट बह्वीर्मे भवत [८५४]

तुम जल हो, जलरूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम महत्ता हो, महत्तारूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम रस हो रसरूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम धन की पुष्टि हो, धन की पुष्टि के रूप मे तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, हे धनवती, तुम इस घर मे, इस गोष्ठ मे आनन्द प्राप्त करो, यह (मैं) तुम्हारा बन्धु हूँ, यहाँ से न जाओ, मुझे मत छोड देना, मेरे लिए बहुसख्यक हो जाना ।

बनाने लग तो उनके निवारणार्थ आहुतियो मे से एक के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद संहिताओ मे विद्यमान है ।[1] का०स० के अतिरिक्त अन्य सभी यजुर्वेदीय संहिताओ मे गायो के स्थान पर आयुधि पाठ है । उनमे अन्य गौण पाठान्तर भी है । यह मन्त्र शतरुद्रिय स्तोत्र का अंश है । त० ब्रा०, तै० आ० तथा मा० श्रौ० मे इसका विनियोग सामान्यतया आहुतियो के लिये किया गया है ।[2] गृह्यसूत्रो मे उपर्युक्त दोनो विनियोगो का आधार सम्भवतया मन्त्र मे विद्यमान सामान्य कल्याण की तथा रक्षा की प्रार्थना है ।

गो० गृ० (३।८।५) और खा० गृ० (३।३।५) मे आगे चलकर यह निर्देश किया गया है कि कर्ता को सुप्रसिद्ध तच्चक्षु इत्यादि (ऋ० ७।६६।१६) मन्त्र का उच्चारण करते हुए वृषातक का अवलोकन करना चाहिये । इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन उपनयन मे किया जा चुका है । (दे० म० स० ५४७)

शा० गृ० (४।१६।३) मे वृषातक की आहुतियो के लिये सम्पूर्ण सूक्त ऋ० ६।२८ का विनियोग किया गया है । उस सूक्त का प्रथम मन्त्र यह है —

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावती पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहाना॰ ।। [८५१]

ये गौए लौट आई है और इन्होने कल्याण किया है । अब ये इस गोष्ठ म रह और हम आनन्दित कर । सन्तानसहित य उसी प्रकार यहां विविधरूप वाली हो जैस पूर्व दिशा म प्रकाश उत्पन्न करने वाली उषाए इन्द्र के लिए होती है ।

आद्य शब्दो के आधार पर इस सूक्त को आगावीय नाम दिया गया है और मा० गृ० (२।१०।७) मे इसका विनियोग गौओ के गोचर भूमि से लौटने पर उच्चारणार्थ किया गया है । इसी प्रसंग मे खा० गृ० (३।६।१) मे इस सूक्त के केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है । अथर्व० (४।२१) मे स्वल्प पाठभेद सहित इस सूक्त के प्रथम सात मन्त्र है । त० ब्रा० (२।८।८।११ १२) और आप० श्रौ० (१६।१६।१८) म इस समस्त सूक्त का विनियोग उपहोमो मे किया गया है । क्योकि सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त की अधिष्ठातृदेवता गौए है अत उचित रूप मे ही इसका गृह्य विनियोग गौओ से सम्बद्ध है ।

---

१ ऋ० १।११४।८ वा० स० १६।१६ तै० स० ३।४।११।२ ४।५।१०।३ क० स० ४।१२।६ का० स० २३।१२ ।

२ त० ब्रा० २।८।६।६ तै० आ० १०।५३ मा० श्रौ० ११।२।६ ।

पूषा हमारी गौओ का अनुगमन करे अर्थात् उनकी रक्षा करे, पूषा हमारे अश्वो की रक्षा करे। पूषा हमें गति प्रदान करे ॥

का० गृ० के अनुसार यह आहुति आज्याहुतियो से पूर्व अर्पित की जानी चाहिये। शा० गृ० में एक अन्य स्थल (३।६।१) पर तथा हि० गृ० (१।१८।१) मे गौओ के गोचरभूमि की ओर प्रस्थान करने के समय इसके उच्चारण का विधान है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रसग मे और वृषोत्सर्ग मे भी इसके उच्चारण का उद्देश्य गोवन का कल्याण ही है। तै०ब्रा०२।४।१।५ पर अपने भाष्य मे सायण द्वारा उद्धृत बौ० श्रौ० के अनुसार भी इसका उच्चाण वृषोत्सर्ग के अवसर पर अन्न की आहुति के साथ किया जाना चाहिये। यही इसके गृह्यविनियोग का आधार प्रतीत होता है। यह मन्त्र ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद की सहिताओ मे उपलब्ध है।[1] ऋग्वेद के जिस सूक्त मे यह मन्त्र है उसका देवता पूषा है। इसी प्रकार का० स० मे भी इसके आस पास के कुछ मन्त्र पूषा को सम्बोधित हैं। परन्तु तै०स० और मै० स० मे इसके पूव या पश्चात् पूष-देवताक मन्त्र नही दिये गये।

शा० गृ०, पा० गृ० और का० गृ० मे विधान है कि इन आहुतिओ के पश्चात् कर्ता को

रुद्रो [८५६]

अर्थात् रुद्रसम्बन्धी अनुवाकों अथवा मन्त्रो का जाप करना चाहिये।[2] गृह्यसूत्रो के ही शब्दों मे रुद्रान् जपति। रुद्रान् के अभिप्राय के विषय मे इन गृह्यसूत्रो मे मतभेद है। शाङ्खायन गृह्यसग्रह के अनुसार रुद्रो से अभिप्राय ऋ० १।४३।११४,२।३३ और ७।४६ सूक्तो का है। पा० गृ० के अधिकाश भाष्यकारो के मतानुसार इस शब्द का आशय नमस्ते इत्यादि शब्दो से आरम्भ होने वाले वा० स० के षोडश अध्याय मे रुद्र-सम्बन्धी मन्त्र हैं।[3] किन्तु विश्वनाथ ने रुद्रम् (एकवचनान्त) पाठ किया है और इसकी व्याख्या रुद्रम् अध्यायम् की है। उसका भी अर्थ वही है। का० गृ० के भाष्यकार देवपाल ने रुद्रान् को का० स० १७।११-१६ के छ अनुवाक बताया है।[4] ये अनुवाक लगभग वा० स० का अध्याय ही हैं। वृषोत्सर्ग मे इन रुद्रसम्बन्धी मन्त्रो के विनियोग का कारण यह प्रतीत होता है कि वा० स० के एक मन्त्र (१६।१७) मे

---

१ ऋ० ६।५४।५, तै०स० ४।१।११।२, मै०स० ४।१०।३,११।१, का०स० ४।१५, २०।१५।

२ शा० गृ० ३।११।६, पा० गृ० ३।६।६, का० गृ० ५६।४।

३. दे० हरिहर—नमस्त इत्यध्यायाम्नातान् जपित्वा ॥

४ दे० देवपाल—रुद्राभिधान् षडनुवाकान् ॥

आ०गृ (२।३।६) में अर्थ से पूर्व सह स्थ को समीप का समावेश किया गया है। इस गृह्यसूत्र में इस मन्त्र का विनियोग गौओं को खिलाने अन्न के लिये किया गया है। क्या विशेष पदार्थ खिलाया जाय इसका उल्लेख नहीं है। का गृ में उद्धृत इस मन्त्र का पाठ का स (७।१ ६ ७) और मै स० (१।५।२ ६) के इसके पाठ के ठीक समान है। मा० गृ मे सह स्थ इत्यादि शब्दों का समावेश सम्भवतया स स (१।५।६।१ ८।१) के अनुकरण पर किया गया है क्योंकि उसमें भी ये शब्द विद्यमान हैं। यह मन्त्र वा स (३।२ २१) मे भी दिया गया है। वहाँ अन्न के स्थान पर अर्भ पाठ है। तदनुसार अर्थ भी अन्न के स्थान पर अर्भ हो जायेगा। मन्त्रस्थ गोष्ठ शब्द इस बात का परिचायक है कि यह म न गौओं को सम्बोधित है। सम्भवतया इसीलिये श्रौतसूत्रों में गार्हपत्योपासना म विनियुक्त होने पर भी किसी न किसी प्रकार इसका सम्बन्ध गौओं से जोड़ा गया है। शा श्रौ (२।११।६) और का श्रौ० (४।१२।५) के अनुसार इसका पाठ करते हुए यजमान को गौ के पास जाना चाहिये। आप श्रौ (६।१७।२) में विधान है कि उसे गोष्ठ के पास खड़े होकर इसका पाठ करना चाहिये। मा श्रौ (१।६।२।८) के मतानुसार उसे वत्स का स्पर्श करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिय। स्पष्ट है कि गौओं के साथ इसके प्रथगत तथा परम्परागत सम्बन्ध के आधार पर ही गृह्यसूत्रों मे गौओं के कल्याण से सम्बद्ध आश्वयुजी कम मे इसका विनियोग किया गया है।

वृषोत्सर्ग

जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह कर्म प्रजनन के निमित्त वृषभ को खुला छोड़ने से सम्बद्ध है। पा गृ ३।११।४ और पा गृ० ३।६।४ मे विधान है कि गौओं के मध्य अच्छी प्रकार से अग्नि प्रज्वलित करके और पूषा देवता को उद्दिष्ट चरु (यज्ञान्न) दूध से तयार करके गृहस्थ को इह रति इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सब प्रथम अग्नि में आ याहुतियाँ अर्पित करनी चाहिय। इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय मे किया जा चुका है। (दे म स २४४ २५८)

शा गृ (३।११।५) पा गृ (३ ६।५) और का गृ (५६।२) मे निर्देश है कि उपयु क्त पौष्ण (पूषा से सम्बद्ध) चरु की आहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

पूषा गा अन्वेतु न पूषा रक्षत्वर्वत । पूषा वाज सनोतु न ॥ [८५५]

---

१ अन्न का अर्थ अन्न होने के कारण यह पाठ अधिक स्वाभाविक लगता है। दे कीथ त०स (अनु) पृ ७४ पा टि ४।

एत वो युवान प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि न सचध्वम् ॥ [८५८]

इस युवा वृषभ को तुम्हारे प्रति हम यहाँ धारण करते है, उसके साथ क्रीडा करती हुई तुम वत्सो के पीछे पीछे विचरण करो। हे सौभाग्यवतियो, हमे जीवन से हीन न करो और धन की पुष्टि से हमारी सेवा करो ॥

इस मन्त्र और पूर्ववर्ती मन्त्र का गृह्यविनियोग आप० श्रौ० (६।१६।१३, १६।१७।२) के विनियोग के समान है क्योकि वहाँ पशुयाग मे पुराने वृषभ को स्थानान्तरित करने के लिए नये वृषभ को खुला छोडने के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है।

का०गृ० (५६।६) में विधान है कि वृषभ के दक्षिण कर्ण मे निम्नलिखित मन्त्र का जाप किया जाना चाहिये —

पिता वत्साना पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
रेतोधा त्वा यशोधा रायस्पोषायोत्सृजे ॥ [८५६]

हे वृषभ, तुम वत्सो के पिता अर्थात् जनक हो, अवध्यो (गौओ) के पति हो और विशाल (दही आदि से परिपूर्ण) गागरो के उत्पादक हो। अत वीर्य तथा यश के विधाता तुम्हे मैं धन की पुष्टि के निमित्त खुला छोडता हूँ ॥ (दे०पा०)

इस मन्त्र का सीधा स्रोत मै०स०(४।२।१०)प्रतीत होता है क्योकि वहाँ पाठ बहुत समान है। केवल भेद अथो के स्थान पर उतायम् और उत्सृजे के स्थान पर उत्सृजेत् है। मै०स० के उत्सृजेत् (विधि०) से प्रकट है कि मूलरूप मे यह मन्त्र विधि-वाक्य था, परन्तु गृह्यसूत्रो में इसे प्रार्थना के रूप मे परिणत कर दिया गया है। अथर्व० तथा कृष्णयजुर्वेदीय सहिताओ मे मन्त्र का पूर्वार्ध ही इसके पूर्वार्ध के ठीक समान है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० के जिस सूक्त मे यह मन्त्र विद्यमान है, वह सम्पूर्ण सूक्त मूलरूप में इस कर्म से ही सम्बद्ध रहा होगा। इस तथ्य की पुष्टि कौशिक० (२४।१६) द्वारा वृषोत्सग के आरम्भ मे आहुतियो के लिए इस सम्पूर्ण सूक्त के विनियोग से भी होती है। पूर्ववर्ती मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग भी आप०श्रौ० के विनियोग के समान है। किन्तु इसके गृह्य-विनियोग का मूल स्रोत मा०श्रौ० (६।५।६।१६) प्रतीत होता है क्योकि वहाँ भी खुला छोडे जाने वाले वृषभ के दक्षिण कर्ण मे ही इसके जाप का विधान है।

---

१ अथर्व०६।४।४, तै०स० ३।३।६।२, मै० स० २।५।१०, का० स० १३।६।

रुद्र का एक विशेषण पशूना पति दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण यह भी प्रतीत होता है कि वेद में प्राय इस देवता को दिव्य भिषक कहा गया है। (भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि— ऋ २।३३।४)

इसके पश्चात् कर्ता को पशुसमूह में से सर्वोत्कृष्ट वृषभ लेकर उसे चार श्रेष्ठ युवती गौओं के मध्य निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए खुला छोड़ देना चाहिये[1] —

एत युवान पति वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण।
मा न साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेम॥ [८५७]

मैं तुम्हें इस युवक वृषभ को पतिरूप में देता हूँ उस प्रिय के साथ क्रीडा करती हुई तुम विचरण करो। हमारे इस स्थान में तुम सात जन्मों से सम्बद्ध अपने पति से सौभाग्यविहीन न होना (और उसके फलस्वरूप) हम धन की पुष्टि और अन्न के द्वारा आनन्दित हों॥ ज०रा०

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पा गृ में से उद्धृत है। त स (७।१।६।१) के पाठ के यह बहुत समान है केवल भेद यह है कि वहाँ पतिम् के स्थान पर परि चरथ के स्थान पर चरत पाठ है साप्तजनुषा का विच्छेद साप्त जनुषा के रूप में किया गया है तथा असुभगा के स्थान पर सुभगा पाठ है। का गृ में पूर्वार्ध में तेन के स्थान पर अनेन पाठ है और उत्तरार्ध मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् है। शा गृ में तृतीय पाद मा वस्थान जनुषा सविदाना है। यह पाद भ्रष्ट प्रतीत होता है। पा गृ का पाठ भी त स के पाठ का भ्रष्टरूप प्रतीत होता है। ओल्डनबर्ग ने भी यही मानते हुए इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—हे स्वभावत सौभाग्यवती गौओ हमे शाप न दो। शा गृ और पा गृ दोनो में इस पाद के प्रथम चार अक्षरों के स्थान पर उसने मावस्थात (हमें न छोड़ो) पाठ का भी सुझाव दिया है। परन्तु पा गृ के भाष्यकार जयराम ने तनिक भी पाठान्तर किये बिना इस पाद की पर्याप्त सन्तोषजनक व्याख्या की है।

कौशिक (२४।२१) में पुराने वृषभ के स्थान पर नये को खुला छोड़ने के अवसर पर उपरिविवेचित मन्त्र के बहुत समान निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व ९।४।२४) के उच्चारण का विधान किया गया है —

---

१ शां गृ (कौ ए) ३।११।१४ पा गृ ३।९।६ का गृ ५९।५।
२ मोऽस्मात् स्थाने साप्तजनुषा सप्तजन्मसम्बद्धेन पत्या सह असुभगा मा भवतेति शेष।

ने ही अब अविद्यमान किसी सूत्र ग्रन्थ से समानरूपेण उद्धरण किया है या फिर उनमे किसी ऐसी मौलिक यज्ञ-पद्धति का सकेत है जो कभी लिपिबद्ध नही हुई।" उसका कहना है कि यह परम्परा तैं० स० (७।४।१७-२२) मे प्रतिबिम्बित होती है, और सम्भवतया इन दोनो गृह्यसूत्रो ने यही से उद्धरण किया है।[1] परन्तु केवल इसी के आधार पर विद्वान् लेखक द्वारा स्वय दिये गये सुझाव अनावश्यक लगते हैं क्योकि यह देखने मे आता है कि प्राय औचित्य के लिये गृह्यसूत्र अपनी शाखासे भिन्न शाखा में से भी मन्त्र उद्धृत करने में सकोच नही करते।

बौद्ध्यविहार

यह कर्म पर्णविहार अथवा क्षेत्रपति यज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका अनुष्ठान शूलगव के तत्काल पश्चात् किया जाता है। कुछ भाष्यकारो के अनुसार यह उसी कर्म का अग है। आपस्तम्ब ने विधान किया है कि ओदन के अवदानो के साथ दो दो पत्तो को दिव्य गणो मे निम्नलिखित मन्त्रो मे से एक एक का उच्चारण करते हुए वितरित करना चाहिये[2] —

गृहपोप स्पृश गृहपाय स्वाहा ॥ गृहप्युप स्पृश गृहप्यै स्वाहा ॥ घोषिण उपस्पृशत घोषिभ्य स्वाहा। श्वासिन उप स्पृशत श्वासिभ्य स्वाहा ॥ विचिन्वन्त उप स्पृशत विचिन्वद्भ्य स्वाहा। प्रपुन्वन्त उप स्पृशत प्रपुन्वद्भ्य स्वाहा ॥ समश्नन्त उप स्पृशत समश्नद्भ्य स्वाहा ॥ [८६२-८६८]

हे गृहरक्षक, इनका स्पर्श करो, गृहरक्षक को स्वाहा ॥ हे गृहरक्षिका इनका स्पर्श करो, गृहरक्षिका को स्वाहा ॥ हे घोषकरने वालो इनका स्पर्श करो, घोष करने वालो को स्वाहा ॥ हे श्वास लेने वालो, इनका स्पर्श करो, श्वास लेने वालो को स्वाहा ॥ हे चयन करने वालो, इनका स्पर्श करो, चयन करने वालो को स्वाहा ॥ हे पवित्र करने वालो, इनका स्पर्श करो, पवित्र करने वालो को स्वाहा ॥ हे सह-भक्षियो, इनका स्पर्श करो, सहभक्षियो को स्वाहा ॥

आगे चलकर आपस्तम्ब ने एक एक करके निम्नलिखित दोनो मन्त्रो का पाठ करते हुए दिव्यगणो को दस दस पत्ते दो वार वितरित करने का विधान किया है[3] -

---

१ ऋ० मन्त्रज इन दि गृह्यसूत्रज, पृ० ८-१०।

२ आप० गृ० ७।२०।५ (म० पा० २।१८।३३-३९)

३ आप० गृ० ७।२०।५ (म० पा० २।१८।४०-४१)

शा गृ ३।११।१२ और पा गृ ३।९।७ मे निर्देश है कि जब वृषभ गौओ के मध्य खडा हो तो उसका अभिमन्त्रण

मयोभू इत्यादि [८६०]

से लेकर अनुवाक के अन्त तक के मन्त्रो द्वारा किया जाना चाहिये। शा गृ के अनुसार इन शब्दो से ऋ १ ।१६९ इत्यादि का तथा पा गृ के अनुसार वा० स १८।४५,४ का सकेत प्राप्त होता है। ओल्डनबर्ग के मतानुसार पा गृ० का सकेत भी ऋ मन्त्रो के प्रति होना चाहिये क्योकि एक ओर जहाँ वा स मे मयोभू इत्यादि शब्द किसी मन्त्र के प्रारम्भ मे नही है वहाँ दूसरी ओर वा०स के सब मन्त्रो का वषोत्सर्ग से सम्बन्ध लक्षित नही होता। इसके अतिरिक्त अनुवाकशेषेण का प्रतिबन्ध भी ऋ मे ठीक घटता है क्योकि वहाँ भी मयोभू इत्यादि शब्द अनुवाक के मध्य आते है। इस दृष्टि से इन शब्दो से त स ७।४ १७ के प्रति भी सकेत प्रतीत नही होता क्योकि वहाँ ये शब्द अनुवाक के आरम्भ मे है।[1] ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट अनुवाक का विस्तार दशम मण्डल के अन्त तक है। इस अनुवाक के अन्तर्गत मन्त्रो का भी वषोत्सर्ग से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नही है। हा केवल प्रथम सूक्त के मन्त्रों (१ ।१६९।१ ४) का सम्बन्ध पशुकल्याण से अवश्य है। और शाखायन गृह्यसग्रह के रचयिता वासुदेव ने एक अन्य पाठ भी दिया है जिसके अनुसार केवल ऋ १ ।१६९ का उच्चारण किया जाना चाहिये। गृह्यसूत्रो मे अन्यत्र भी पशुकल्याण से सम्बद्ध कर्मों मे इसके मन्त्रो का विनियोग किया गया है। शा गृ (३।९।५) मे गौओ के गोष्ठो मे प्रवेश करने के समय इसके उच्चारण का विधान है। आ गृ (२।१०।५ ६) के अनुसार प्रथम दो मन्त्रो का उच्चारण गौओ के गोचरभूमि की ओर प्रस्थान के समय तथा अन्तिम दो का उनके वहाँ से लौटने के समय किया जाना चाहिये। तै ब्रा (३।८।१८।४) मे इस सूक्त के मन्त्रो को

गव्य [८६१]

नाम दिया गया है क्योकि वहाँ पशु प्राप्ति के लिये उद्दिष्ट गव्यहोम मे इनका विनियोग किया गया है। उपर्युक्त अनुवाक के सम्बन्ध मे ई डब्ल्यू फय् के मत का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। उसके अनुसार यहाँ वर्तमान सहिता के अतिरिक्त किसी अन्य अनुवाको मे विभाजित ऋक सहिता के प्रति सकेत है। उसके शब्दो मे मत हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सूत्ररचनाकाल मे १ ।१६९ सूक्त सहिता के अन्त के अधिक निकट था। उसका एक और सुझाव भी है। शा गृ और पा गृ० दोनो

१ से बु ई स ३ पृ XXXVIII

२ अपरे त्वेव पठन्ति मयोभूर्वात इति सूक्तेनैतां वत्सवृषं ऋषिवत्सुमन्त्रण भवति ॥

इत्यादि चतुर्थ मन्त्र लिया गया है। षष्ठ मन्त्र मे भा०गृ० मे प्रपुन्वन्त के स्थान पर प्रचिन्वन्त पाठ है। वस्तुत इस मन्त्र के सबसे अधिक पाठान्तर हैं। विन्तरनित्स ने अन्य पाण्डुलिपियो मे से दो और पाठान्तर प्रपुण्वन्त तथा प्रपिन्वन्त दिये हैं। कही-कही पर इस आद्य शब्द के पश्चात् शोषयन्त अथवा शोभयन्त शब्द भी आता है।[1] इनमे से अधिकाश मन्त्रो की तुलना शूलगव मे विनियुक्त श्वासिनी इत्यादि मन्त्रो से की जा सकती है। (दे०म०सं० १०५६)

हि०गृ० (२।६।५) मे विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए ओदन-राशि से परिपूर्ण पर्णमञ्जूषा को किसी वृक्ष पर लटका देना चाहिये —

निषङ्गिण उपस्पृशत निषङ्गिभ्य स्वाहा ॥ [८७६]

हे निषङ्गधारियो, इनका स्पर्श करो, निषङ्गधारियो को स्वाहा ॥

इस मञ्जूषा को लटकाने के लिये आपस्तम्ब और भारद्वाज ने इस मन्त्र का विनियोग किया है[2] —

नमो निषङ्गिण इषुधिमते ॥ [८७७]

धनुष से युक्त धनुर्धारी को नमस्कार ॥

किन्तु हि० गृ० (२।६।६) में इसका विनियोग इस मञ्जूषा के सम्मुख उपासना के लिये किया गया है। इसमे इसके आगे तस्कराणा पतये नम शब्द भी जोड़े गये हैं।

भा०गृ० (२।१०) के अनुसार कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी गौओ पर चन्दन तथा अन्य विशिष्ट पदार्थों से मिश्रित जल छिड़कना चाहिये —

शिव गोभ्य शिव गोपतये ॥ [८७८]

गौओ का कल्याण हो, गौओ के स्वामी का कल्याण हो ॥

इसी क्रिया के लिये हि०गृ० (२।६।७) मे यह मन्त्र दिया गया है —

शिवो भव शिवो भव ॥ [८७९]

कल्याणकर हो जाओ, कल्याणकर हो जाओ ॥

बौढ्यविहार में प्रयुक्त उपर्युक्त मन्त्रों में से कोई भी अन्यत्र प्राप्य नही है। देवगणो के विचित्र नामो से यह प्राय स्पष्ट है कि ये ही आगे चलकर शिव अथवा

१ म०पा०, पृ० ७१ पर पा०टि०।
२ आप०गृ० ७।२०।७ (म०पा० २।१८।४६), भा०गृ० २।६।

देवसेना उपस्पशत देवसेनाभ्य स्वाहा ॥ [८६९]

या अख्याता याश्चानाख्याता देवसेना उप स्पशत देवसेनाभ्य स्वाहा॥ [८७०]

हे देवसेनाओ इनका स्पश करो देवसेनाओ को स्वाहा ॥ जो देव सेनाएँ प्रसिद्ध है और जो देवसेनाए प्रसिद्ध नही हैं वे आप इनका स्पश करो देवसेनाओ को स्वाहा ॥

पुन यह निर्देश है कि एक एक करके निम्नलिखित मन्त्रो का उच्चारण करते हुए दिव्यगणो को दो दो पत्त वितरित किये जाने चाहिये

द्वारपोप स्पृश द्वारपाय स्वाहा ॥ द्वाराप्युप स्पृश द्वाराप्य स्वाहा । अन्वासारिण उप स्पृशतान्वासारिभ्य स्वाहा ॥ निषङ्गिन्नुप स्पृश निषङ्गिणे स्वाहा ॥ [८७१ ८७४]

हे द्वाररक्षक इनका स्पश करो द्वाररक्षक को स्वाहा ॥ हे द्वाररक्षिका ॥ हे अनुसरण करने वालो ॥ हे निषङ्गधारी ॥

हि गृ (२।६।२ ४) मे भी पत्तो के वितरण के लिए इसी प्रकार के मन्त्रों का विनियोग किया गया है । त नुसार सवप्रथम उपरिलिखित मन्त्रो मे से प्रथम दो दशम और एकादश मन्त्रो का उच्चारण करते हुए चार चार पत्त वितरित किये जाने चाहिय । इसमे द्वाराप और द्वारापि के स्थान पर क्रमश द्वारप और द्वारपि पाठ है । यह पाठ अधिक बोधगम्य है । कुछ और पत्तो के वितरणाथ तृतीय नयोदश द्वादश षष्ठ पञ्चम और सप्तम मन्त्रो का विनियोग किया गया है । षष्ठ मन्त्र मे अप्रुन्वन्त के स्थान पर अप्रुष्वन्त पाठ है । मन्त्र मे हि गृ मे आप गृ के समान ही अष्टम और नवम मन्त्रो का उच्चारण करते हुए दो बार दस-दस पत्तो के वितरण का निर्देश किया गया है । नवम मन्त्र मे इसम उपस्पृशत से पूर्व देवसेना का अभाव है और इसके पश्चात् देवसेनाभ्य के स्थान पर ताभ्य पाठ है । भा०गृ (२।६) मे भी पत्तो के वितरण के लिए हि गृ के समान ही मन्त्रो का विभाजन किया गया है । किन्तु इसमे मन्त्र मे द्वाराप और द्वारापि आप गृ के समान ही है । आरम्भ मे तृतीय और चतुथ पत्ता के वितरण के लिये इसमे निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है —

जयन्तोप स्पृश जयन्ताय स्वाहा ॥ [८७५]

शूलगव मे ओदन के पत्तो को जयन्त द्वारा स्पश कराने के लिय भी भा गृ आप गृ और हि गृ द्वारा इसका विनियोग किया गया है । भा गृ में द्वा मन्त्र (अन्वासारिण इत्यादि) का अभाव है और हि गृ द्वारा स्वक्त यथास्थित

---

१ आप गृ ७।२ ।९ (म पा २ १८ ४२ ४५)

होती है जिसके अनुसार किसी सगर्भ पशु की बलि के पश्चात् इसके द्वारा उपासना की जानी चाहिये। आप० श्रौ० (१६।१७।१-५) के अनुसार नये वृषभ के स्थानापन्न होने के अवसर पर वृद्ध वृषभ की बलि देते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। वस्तुत इस अनुवाक मे रुद्र की स्तुति की गई है, परन्तु सम्भवतया वृषभ के रूप मे उसका उल्लेख होने के कारण यहाँ वृषभ अथवा पशु से सम्बद्ध कर्म मे इसका विनियोग किया गया है। भा० गृ० का गृह्यविनियोग भी सम्भवतया इसी श्रौत विनियोग पर आधारित है। अन्यथा भी रुद्र को पशुपति भी माना जाता है। कही ऐसा तो नही कि वृषभरूप मे रुद्र का यह वर्णन शिव के पशु 'नन्दी' की कल्पना का मूलाधार हो ?

अन्त मे निर्देश है कि निम्नलिखित दो मन्त्रो द्वारा क्षेत्रपति की उपासना की जानी चाहिये[1] —

> क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि।
> गामश्व पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे ॥ [८८३]
> क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
> मधुश्चुत घृतमिव सुपूतमृतस्य न पतयो मृडयन्तु ॥ [८८४]

हम हितकारी जैसे क्षेत्र के पति के द्वारा विजयी है। गौओ और अश्वों का पोषण करके वह हमें सुखी करे ॥ हे क्षेत्रपति, जिस प्रकार गौ दूध देती है उसी प्रकार हमारे प्रति माधुर्ययुक्त, सुपवित्र तथा घृत के समान माधुर्य प्रवाहित करने वाली (जल की) धारा प्रवाहित कीजिये। ऋत अर्थात् नियमो के पालक देव हमें सुखी करें ॥

इन मन्त्रो का प्राचीनतम स्रोत ऋ० (४।५७।१-२) है, और वहाँ से तै० स० १।१४।२-३ तथा का० स० ४।१५ द्वारा इन्हे यथावत् उद्धृत किया गया है। मै०स० (४।११।१) मे केवल प्रथम तथा का०स० (३०।४) मे केवल द्वितीय मन्त्र है। ऋ० का यह सम्पूर्ण सूक्त (४।५७) आ०गृ० २।१०।४ और शा०गृ० ४।१३।५ मे क्षेत्रप्रकर्षण-सम्बन्धी कर्म मे विनियुक्त है और इसका विवेचन उसी कर्म के अन्तर्गत किया गया है (नीचे दे०)। अत यह ध्यान देने योग्य है कि इन मन्त्रो के गृह्यविनियोग मे इनकी देवता क्षेत्रपति का विशेष ध्यान रखा गया है। आग्नि० गृ० (२।५।१२) मे क्षेत्रलवन कर्म के अन्तर्गत पिण्डदान के लिये केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। इनके गृह्यविनियोग का आधार आ० श्रौ० (६।११।१४, १५) का वह विनियोग

१ आप० गृ० ७।२०।१६ (म० पा० २।१८।४७, ४८), हि० गृ० २।६।११, भा० गृ० २।१०।

रु के गण के रूप मे प्रसिद्ध हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल मे रुद्र अथवा शिव के विशेष महत्त्व[1] के साथ साथ उसके गणो की कल्पना का प्रादुर्भाव भी हो रहा था।

भा०गृ० (२।१) मे आगे चलकर यह विधान है कि एत युवानम् इत्यादि पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए अवशिष्ट जल वृषभ पर डाल दिया जाना चाहिये। सम्भवतया यहाँ भारद्वाज का सकेत त स (३।३।६) के सम्पूर्ण अनुवाक के प्रति है। इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र एत युवानम् इत्यादि और चतुर्थ मन्त्र पिता वत्सानाम् इत्यादि का विनियोग वृषोत्सर्ग मे भी हुआ है। अत उन दोनो का विस्तृत विवेचन उस कर्म के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे० म स ८५७ ८५९)। उस अनुवाक के शेष तीन मन्त्र निम्नलिखित है —

नमो महिम्न उत चक्षुषे ते मरुतां पितस्तदहं गृणामि।
अनु मन्यस्व सुयजा यजाम जुष्टं देवानामिदमस्तु हव्यम्॥ [८८०]
देवानामेष उपनाह आसीदपां गर्भ ओषधीषु न्यक्त।
सोमस्य द्रप्समवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् तदेषाम्॥ [८८१]
त्वां गावोऽवृणत राज्याय त्वां हवन्त मरुत स्वर्का।
वर्ष्मन् क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणस्ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥ [८८२]

हे मरुतो के पिता आपकी महिमा और चक्षु अर्थात् तेज के लिये मैं यह नमोवचन कहता हूँ। आप हमे अनुमति दीजिये जिससे हम शोभन विधि से यज्ञ कर हमारी यह आहुति देवताओ को प्रिय हो॥ ओषधियो में अभिषिक्त यह जल का गर्भ देवो का परस्पर-बन्धक था। (इसीलिये) पूषा ने सोम के रस का वरण किया और वह उनका महान् पर्वत (अर्थात् दृढ सयोजक) हो गया॥ गौओ ने आपका वरण किया शोभन गायक मरुतो ने आह्वान करके राज्य के निमित्त आपका वरण किया इस प्रकार बल के शक्तिशाली शिखर पर अधिष्ठित आप हमे उग्र (स्थिर) धन वितरित कीजिये॥

प्रथम मन्त्र को छोडकर इस अनुवाक के सभी मन्त्र मै स (२।५।१) में विद्यमान हैं। का स (२३।१) मे इसके केवल दो से चार तक मन्त्र हैं। अथर्व ६।४।४ ५ इस अनुवाक के तृतीय और चतुर्थ मन्त्र हैं तथा पञ्चम मन्त्र कुछ पाठभेद सहित अथर्व ३।४।२ है। तै स के इस अनुवाक मे मन्त्रो का विशेष क्रम मूल रूपेण पशुसम्बन्धी कर्म को ध्यान मे रखकर निश्चित किया गया होगा। इस बात की पुष्टि आप श्रौ ६।११।२ और मा श्रौ १।५।१८ के उस विनियोग से भी

१ इ व कल्प पृ ४६५।

होती है जिसके अनुसार किसी सगर्भ पशु की बलि के पश्चात् इसके द्वारा उपासना की जानी चाहिये । आप० श्रौ० (१९।१७।१-५) के अनुसार नये वृषभ के स्थानापन्न होने के अवसर पर वृद्ध वृषभ की बलि देते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । वस्तुत इस अनुवाक मे रुद्र की स्तुति की गई है, परन्तु सम्भवतया वृषभ के रूप मे उसका उल्लेख होने के कारण यहाँ वृषभ अथवा पशु से सम्बद्ध कर्म मे इसका विनियोग किया गया है । भा० गृ० का गृह्यविनियोग भी सम्भवतया इसी श्रौत विनियोग पर आधारित है । अन्यथा भी रुद्र को पशुपति भी माना जाता है । कही ऐसा तो नही कि वृषभरूप मे रुद्र का यह वर्णन शिव के पशु 'नन्दी' की कल्पना का मूलाधार हो ?

अन्त मे निर्देश है कि निम्नलिखित दो मन्त्रो द्वारा क्षेत्रपति की उपासना की जानी चाहिये[1] —

क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि ।
गामश्व पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे ॥ [८८३]
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मि धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुत घृतमिव सुपूतमृतस्य न पतयो मृडयन्तु ॥ [८८४]

हम हितकारी जैसे क्षेत्र के पति के द्वारा विजयी है । गौओ और अश्वो का पोषण करके वह हमे सुखी करे ॥ हे क्षेत्रपति, जिस प्रकार गौ दूध देती है उसी प्रकार हमारे प्रति माधुर्ययुक्त, सुपवित्र तथा घृत के समान माधुर्य प्रवाहित करने वाली (जल की) धारा प्रवाहित कीजिये । ऋत अर्थात् नियमो के पालक देव हमे सुखी करे ॥

इन मन्त्रो का प्राचीनतम स्रोत ऋ० (४।५७।१-२) है, और वहाँ से तै० स० १।१४।२-३ तथा का० स० ४।१५ द्वारा इन्हे यथावत् उद्धृत किया गया है । मै०स० (४।११।१) मे केवल प्रथम तथा का०स० (३०।४) मे केवल द्वितीय मन्त्र है । ऋ० का यह सम्पूर्ण सूक्त (४।५७) आ०गृ० २।१०।४ और शा०गृ० ४।१३।५ में क्षेत्रप्रकर्षण-सम्बन्धी कर्म मे विनियुक्त है और इसका विवेचन उसी कर्म के अन्तर्गत किया गया है (नीचे दे०) । अत यह ध्यान देने योग्य है कि इन मन्त्रो के गृह्यविनियोग मे इनकी देवता क्षेत्रपति का विशेष ध्यान रखा गया है । आग्नि० गृ० (२।५।१२) मे क्षेत्रलवन कर्म के अन्तर्गत पिण्डदान के लिये केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है । इनके गृह्यविनियोग का आधार आ० श्रौ० (९।११।१४, १५) का वह विनियोग

१ आप० गृ० ७।२०।१६ (म० पा० २।१८।४७, ४८), हि० गृ० २।९।११, भा० गृ० २।१० ।

द के गण क रूप म प्रसिद्ध हो गये । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल म रुद्र अथवा शिव के विशेष महत्त्व क साथ साथ उनके गणो की कल्पना का प्रादुर्भाव भी हो रहा था ।

मा गृ (२।१) म आगे चलकर यह विधान है कि एत युवानम् इत्यादि पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए अवशिष्ट जल वृषभ पर डाल दिया जाना चाहिये। सम्भवतया यहाँ आम्नाय का सकेत त स (३।३।६) क सम्पूर्ण अनुवाक के प्रति है। इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र एत युवानम् आदि और चतुर्थ मन्त्र पिता वत्सानाम् इत्यादि का विनियोग वृषोत्सर्ग म भी हुआ है । अत उन दोनो का विस्तृत विवेचन उस कर्म के अन्तर्गत किया जा चुका है (द म म ८५७ ८५६) । उस अनुवाक के शेष तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं —

नमो महिम्न उत चक्षुषे ते मरुतां पितस्तदहं गृणामि ।
अनु मन्यस्व सुयजा यजाम जुष्टं देवानामिदमस्तु हव्यम् ॥ [८८०]
देवानामेष उपनाह आसीदपां गर्भ ओषधीषु न्यक्त ।
सोमस्य द्रप्समवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् तदेषाम ॥ [८८१]
त्वां गावोऽवृणत राज्याय त्वां हवन्त मरुत स्वर्का ।
वर्ष्मन् क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणस्ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥[८८२]

हे मरुतो क पिता आपकी महिमा और चक्षु अर्थात् तेज के लिये मैं यह नमोवचन कहता हूँ । आप हमें अनुमति दीजिये जिससे हम शोभन विधि से यज्ञ कर हमारी यह आहुति देवताओ को प्रिय हो ॥ ओषधियों मे अभिषिक्त यह जल का गर्भ देवो का परस्पर-बन्धक था । (इसीलिये) पूषा ने सोम के रस का वरण किया और वह उनका महान् पर्वत (अर्थात् दृढ सयोजक) हो गया ॥ गौओ ने आपका वरण किया शोभन गायक मरुतो ने आह्वान करके राज्य के निमित्त आपका वरण किया इस प्रकार बल के शक्तिशाली शिखर पर अधिष्ठित आप हमें उग्र (स्थिर) धन वितरित कीजिये ॥

प्रथम मन्त्र को छोडकर इस अनुवाक के सभी मन्त्र भ स (२।५।१) में विद्यमान है । का स (२३।६) मे इसके केवल दो से चार तक मन्त्र है । अथर्व ६।४।४ ५ इस अनुवाक के तृतीय और चतुर्थ मन्त्र हैं तथा पञ्चम मन्त्र कुछ पाठभेद सहित अथर्व ३।४।२ है । त स के इस अनुवाक मे मन्त्रो का विशेष क्रम मूल रूपेण पशुसम्बन्धी कर्म को ध्यान मे रखकर निश्चित किया गया होगा । इस बात की पुष्टि आप श्री ६।१६।११ और मा श्री ३।५।१८ के उस विनियोग से भी

१ ई म कल्प पृ ४६२।

पाठ है।[1] श०ब्रा० ७।२।२।६ और का०श्रौ० १७।२।१२ मे इस मन्त्र का समानान्तर विनियोग प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ आहवनीयाग्नि के वेदीचयन के क्रम मे यज्ञभूमि पर कर्षण के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

शा० गृ० (४।१३।३) के अनुसार क्षेत्र-प्रकर्षण से पूर्व किसी द्यावापृथिवीय ऋचा के द्वारा आकाश और पृथिवी की उपासना की जानी चाहिये। वासुदेव द्वारा शाङ्खायनगृह्यसंग्रह मे इस उद्देश्य के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।२२।१३) उद्धृत किया गया है —

मही द्यौ पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभि ॥ [८८६]

विशाल आकाश और पृथ्वी हमारे इस यज्ञ को पोषणो से संयुक्त करें, वे हमे अपने पोषणो द्वारा परिपूर्ण करें॥

यह मन्त्र यजुर्वेद की भी सभी संहिताओं मे विद्यमान है।[2] ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे अनेक स्थलो पर यह मन्त्र उद्धृत किया गया है।[3] परन्तु केवल ऐ० ब्रा० और ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रों मे यह आकाश और पृथिवी की उपासना के लिये प्रयुक्त हुआ है।[4] कुछ ग्रन्थो मे इसे ऐसे कर्मों से सम्बद्ध किया गया है जिनका इसके अर्थ से कोई सम्बन्ध नही, और फिर इस स्थिति मे मन्त्र और कर्म का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कृत्रिम तर्क प्रस्तुत किये गये है। उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० (१।१६।५) मे इसका विनियोग घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के लिये किया गया है, और फिर इसकी पुष्टि मे निम्नलिखित आख्यानक दिया गया है —

एकबार देवताओ ने इसे (अग्नि को) उत्पन्न होते ही आकाश और पृथ्वी के मध्य पकड़ लिया। तब से वह (आकाश और पृथ्वी द्वारा) आवृत वही पर रखा गया है। फिर होता द्यावापृथिवी को सम्बोधित मन्त्र का उच्चारण करता है।" इसी प्रकार श०ब्रा० (७।५।१।१०) मे वेदीचयन के वर्णन मे इस मन्त्र के उच्चारण का विधान कूर्म की स्थापना के प्रसंग मे किया गया है। और साथ ही यह भी कहा गया

१ वा० सं० १२।६६, तै० सं० ४।२।५।६, मै० सं० २।७।१२, का० सं० १६।१२, दे० अथर्व० ३।१७।५—यहाँ सुफाला तो है परन्तु अन्य पाठान्तर हैं।

२ वा०सं० ८।३२, १३।३२, तै०सं० ३।३।१०।२, ४।१।११।३, ४।२।६।३, मै०सं० २।७।१६, ४।१० ३, का०सं० १३।१६।

३ दे० वै० कॉन्० पृ० ६६८।

४ ऐ० ब्रा० ८।१०।११, ५।१६।१०, आ० श्रौ० ६।५।१८, ८।१०।२, शा० श्रौ० ३।१२।६, ६।२०।२५, १०।१०।७, १३।२१।

प्रतीत होता है जिसके अनुसार पशु समृद्धि के लिये उद्दिष्ट अप्तोर्याम याग म आहुतियों के साथ इनका उच्चारण किया जाना चाहिये । इसी प्रकार शा श्रौ (१५।८।१८) मे अप्तोर्याम से अभिन्न एकाहयाग म आग्नियो के लिये इनका विनियोग किया गया है।[1]

क्षत्रप्रकर्षण-कर्म

इस कर्म क सामान्य लाङ्गलयोजन कृषिकर्म और हलाभियोग भी हैं। पा गृ (२।१ ।४) म विधान है कि क्षत्र म वायु की दिशा म ऋ ४।५७ के मन्त्रो का एक-एक करके उच्चारण करते हुए आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। शा गृ (४।१३।५) के अनुसार इस सूक्त का उच्चारण कर्म के अन्त म उपासना क समय किया जाना चाहिय। सर्वानुक्रमणी क अनुसार प्रथम तीन मन्त्रो का देवता क्षेत्रपति है चतुर्थ का शुन पञ्चम और अष्टम का शुनासीरौ तथा षष्ठ और सप्तम का सीता है। य सभी देवता क्षेत्र से अथवा क्षेत्रप्रकर्षण से किसी न किसी प्रकार अवश्य सम्बद्ध हैं। इस सूक्त के मन्त्र अन्य संहिताओ म विकीर्ण हैं। अत आप्टे के साथ साथ[2] प्रथम तीन मन्त्रो के एक पृथक वर्ग की बात सोचना अनुचित होगा क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य म उन्हें कर्मकाण्ड की दृष्टि से पृथक करके एकत्र कहीं भी नहीं रखा गया।

शा गृ ४।१३।४ और पा गृ २।१३।५ मे इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र का विनियोग हल के फाल का स्पर्श करने अथवा हल चलाने के लिये किया गया है —

> शुनं न फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
> शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ।। [८८५]

हमारे हल के फाल शोभन प्रकार स भूमि का कर्षण करें कृषक शोभन प्रकार से हल-वाहनो के साथ (खेतो की ओर) जाय। पर्जन्य मधु के समान जल से शुभ करे तथा कुदाल और हल हम में शुभ का आधान करें।।

वा स के अनुसार पा गृ मे भी न फाला के स्थान पर सुफाला पाठ दिया गया है। त स मे ऋ का न सुरक्षित है अन्य सभी संहिताओ मे सुफाला

---

१ दे शा श्रौ ९।१२।२ पर नारायण का भाष्य—'एकाहेन वायमप्तोर्यामो व्याख्यात' ।

२ ऋ मन्त्राज़ इन इडिया पृ २२ इनमें से कोई भी त सं ४।२।५।६ और वा स १२।६९-७१ मे विद्यमान नहीं है।

अश्विना फाल कल्पयतामुपावतु बृहस्पति ।
यथासद्बहुधान्यमयक्ष्म बहुपूरुषम् ॥ [८९०]

अश्विन् देवता फाल बनायें, बृहस्पति उसकी रक्षा करे, जिससे कि अधिक अन्न, नीरोगता और जन-समृद्धि हो ॥

इसका स्रोत अथर्व० की पैप्पलाद सहिता (८।१८।६) है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्लूमफील्ड इससे परिचित नही था क्योंकि उसके अनुसार यह किसी ज्ञात सहिता मे प्राप्त नहीं होता।[1]

कौशिक० २०।७ मे यह विधान किया गया है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए हल को अपूपो से आवृत कर देना चाहिये —

अपहता प्रतिष्ठा [८९१]
(राक्षसो की) प्रतिष्ठाएँ आहत (हो)।

इन शब्दो के विषय मे भी निश्चित नही है कि ये प्रतीक हैं अथवा स्वतन्त्र पूर्ण मन्त्र। किन्तु दारिल के अनेन मन्त्रेण शब्दो से ये शब्द अपने आप में पूर्ण मन्त्र प्रतीत होते हैं। तथापि जैसा कि ब्लूमफील्ड का अभिमत है, ये किसी भी ज्ञात सहिता मे उपलब्ध नही होते।

इसके पश्चात् (२०।८ मे) यह विधान है कि गृहस्थ को

लाङ्गल पवीरवत् (अथर्व० ३।१७।३ इत्यादि) सम्पूर्ण सूक्त [८९२]

का उच्चारण करते हुए स्वय क्षेत्र-प्रकर्षण करना चाहिये, और फिर हल चलाने वालो को हल दे देना चाहिये। यह सम्पूर्ण सूक्त कर्षण की क्रिया से सम्बद्ध है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल से ही इस क्रिया के साथ मन्त्रो का उच्चारण किया जाता था।

बीजवपन

इस कर्म का वर्णन केवल आग्नि०गृ० (२।५।१२) मे किया गया है। तदनुसार कर्ता को क्षेत्र मे जाकर प्रारम्भिक होमादि के पश्चत् तै०स० के अनुवाक ४।२।६ का पाठ करते हुए बीजवपन करना चाहिये। इस अनुवाक का आद्य मन्त्र निम्नलिखित है -

या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।
मन्दामि बभ्रूणामह शत धामानि सप्त च ॥ [८९३]

जो ओषधियाँ तीन युग पूर्व (कृत युग में) देवताओ से पूर्व उत्पन्न

1 दे०कौशिक०२०।५ पर उसकी टिप्पणी।

है कि कूम ही आकाश और पृथिवी का प्रतिरूप है।[1]

शा गृ (४।१३।३) मे ही आकाश और पृथिवी की उपासना के लिये निम्नलिखित वाक्य का भी प्रयोग किया गया है —

नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ [८८७]

आकाश और पृथ्वी को नमस्कार ॥

पा गृ (२।१३।४) मे विधान है कि गृहस्थ को हल मे बैल जोतते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ [८८८]

सुख की इच्छा से देवताओ के प्रति बुद्धिमान् मेधावी ऋत्विज् कर्षणसाधनो (हलादि) को जोतते है। वे जुओ को पृथक पृथक् (बैलो पर) स्थापित करते है। सा०

कौशिक (२०।१) मे इसका विनियोग जुओ और हल को बाहर निकालने तथा (२०।२ मे) दाहिने जुए मे एक बैल जोतने के लिये किया गया है। यह मन्त्र सभी संहिताओ मे विद्यमान है।[2] ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थो मे भी आहवनीय वेदीचयन के कर्म मे इसका विनियोग हल मे बैल जोतने के लिये किया गया है।[3] इस प्रकार इसका गृह्य और श्रौत विनियोग एकसमान है।

कौशिक० (२०।३) मे

एहि पूर्णक इत्यादि मन्त्र [८८९]

का विनियोग बायें जुए मे दूसरा बैल जोतने के लिये किया गया है। यह निश्चित नही है कि इन शब्दो को प्रतीकरूपेण उद्धृत किया गया है अथवा ये स्वतन्त्र मन्त्र ही हैं। दारिल ने इन्हें कल्पज कहा है। तदनुसार इस मन्त्र का स्रोत कल्पसूत्रों मे ही है। और यदि इन्हें स्वतन्त्र मन्त्र माना जाये तो भी अर्थ की दृष्टि से ये पूर्ण है। अर्थ है—हे पूरक (बैल) आओ।

कौशिक २०।५ के अनुसार हल मे लगाने से पूर्व फाल का अभिमन्त्रण निम्नलिखित मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये —

---

१ द्यावापृथिव्यौ हि कूम ।

२ ऋ १०।१०१।४ अथर्व ३।१७।१ वा स १२।६७ तै सं ४।२।५।५ म स २।७।१२ का स १६।१२।

३ श ब्रा ७।२।२।४ का श्रौ १७।२।११, आप श्रौ १६।१८।५।

स्वाहा भी जोडा गया है। कौशिक० (७४।१५) मे इनके प्रतिनिधि आरम्भ मे एव और मन्त्र सजूरब्दये स्वाहा दिया गया है। केवल इन दोनो मन्त्रो मे पृथ इमम सजूर्ऋतुभि सजूर्विधाभि शब्द प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह आश्चर्यजनक बात है कि यद्यपि ये शब्द केवल यजुर्वेद मे प्राप्त होते हैं,[1] तथापि मा० गृ० के मन्त्रो मे इनका नितान्त अभाव है। सम्भवतया मा० गृ० ने ये मन्त्र किसी ऐसे स्रोत से ग्रहण किये हैं जो अब उपलब्ध नहीं। आ० गृ० और कौशिक० द्वारा इन्ही मन्त्रो के उपरारम्भ ये शब्द यजुर्वेद से लेकर जोड दिये गये। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि यजुर्वेद मे इन शब्दो से आगे का अश नही है। श०ब्रा०, का०श्रौ० और आप०श्रौ० मे इन शब्दो का विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत इष्टकाधान के निमित्त किया गया है।[2] अत उस विनियोग का गृह्य-विनियोग से स्पष्ट सम्बन्ध नही है।

पा० गृ०, गो० गृ० और खा० गृ० मे आज्याहुतियो के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रो का विनियोग किया गया है[3] —

शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेऽभिमातिषाहे।
शत यो न शरदो[4] अजीयादिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा ॥ [८६७]
ये चत्वार पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति।
तेषा यो अज्यानिमजीतिमावहात्[5] तस्मै नो देवा परिदत्तेह सर्वे [८६८]

जो इन्द्र हमे सौ वर्षो तक जीवित रखे और जो सभी दुर्गतियो का विनाश करे, उस प्रकार के बहुत प्रकार के शस्त्रो वाले, अत्यन्त बलशाली, विविध प्रकार के रक्षक तथा प्रतिपक्षी राक्षसो के विजेता इन्द्र के लिये—(आहुति) ॥ जो देवप्राप्तिसाधनरूप चार मार्ग पृथ्वी और आकाश के मध्य विविध रूप मे चलते है, उनमें से जो मार्ग अविनाश, तथा शत्रु से अपराजय प्रदान करता है, हे सभी देवो, इस कर्म मे हमे उसे समर्पित करो ॥) सा०

उपरिलिखित पाठ म० ब्रा० मे से उद्धृत है। पा० गृ० मे प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध मे शरदो अजीयात् के स्थान पर शरदोऽजीजात्, तथा द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्ध में यो अज्यानिमजीतिम् के स्थान पर यो ऽज्यानिमजीजम् पाठ है। तै० स० और

१ वा० स० १४।७, तै० स० ४।३।४।२, मै० स० २।८।१, का स० १७।१
२ श० ब्रा० ८।२।२।८, का श्रौ० १८।८।१८, आप श्रौ० १७।१।२।
३ पा० गृ० ३।१।२, गो० गृ० ३।८।१० (म०ब्रा० २।१।९,१०) खा०गृ० ३।३।७।
४ खा०ब्रा० में गुए विष्णु—अजीजात, का०स० अनयत, तै०स० अजीतान्।
५ छा०ब्रा० में गु० वि० अजीजिमावहास्तस्मै।

हुइ मै उन भरण-पोषण करने वाली ओषधियों की एक सौ सात जातियो के प्रति आनन्दित होता हूँ।

इस अनुवाक म कुल बीस मन्त्र है। मन्त्रो की सख्या और पाठो मे अन्तर सहित यह अनुवाक अन्य सहिताओ मे भी उपलब्ध होता है।[1] ऋ० और वा०स० मे प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद का पाठ या ओषधी पूर्वा जाता है और म स० तथा का स मे यह या ओषधय प्रथमजा है। इस प्रकार उपर्युक्त पाठ केवल त स मे ही है। इस अनुवाक के गृह्य विनियोग के समानान्तर विनियोग ब्राह्मणो और श्रौत सूत्रो मे भी है क्योकि उनमे इसके चौदह पन्द्रह मन्त्र आहवनीय-चयन के अन्तगत विभिन्न ओषधियो के बीजवपन के लिय विनियुक्त है। उपर्युक्त अनुवाक के मन्त्रो मे ओषधियो के महत्त्वगान के साथ साथ उनकी विभिन्न जातियो का उल्लेख भी हुआ है यथा पुष्पवती प्रसूवती फलिनी अफला वीरुध्, पारयिष्णु इत्यादि।

आग्रयण

आग्रयण कम नवप्राशन नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके एक अन्य नाम नवयज्ञ का आधार सम्भवतया यह है कि इसमे प्रमुखरूप से वष के नवान्न की आहुतियाँ दी जाती हैं। यह कर्म ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो म भी वर्णित है। आ गृ (२।२।४) म विधान है कि सवप्रथम स्थालीपाक की आहुतियाँ अपित करते हुए निम्नलिखित मन्त्रो का पाठ किया जाना चाहिये —

सजूऋतुभि सजूर्विधाभि सजूरिन्द्राग्निभ्यां स्वाहा ॥ [८६४]
सजूऋतुभि सजूर्विधाभि सजूर्विश्वेभ्यो देवभ्य स्वाहा ॥ [८६५]
सजूऋतुभि सजूर्विधाभि सजूर्द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ [८६६]

ऋतुओ से सयुक्त (यज्ञ) विधाओं से सयुक्त इन्द्र और अग्नि से सयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा ॥ ऋतुओ (यज्ञ) विधाओ और विश्वदेवो से संयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा। ऋतुओ (यज्ञ) विधाओं और आकाश और पृथ्वी स सयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा ॥

इन आहुतियो के लिये गा गृ (२।३।११) मे मिलते जुलते मन्त्रो का विनियोग किया गया है। उन सब म विधाभि तक के छन्द का अभाव है। प्रथम मन्त्र मे इन्द्र और अग्नि का क्रम विपयय है। इसके अतिरिक्त एक मन्त्र सजू सोमाय

१ ऋ० १ ।९७ वा स १२।७५ ९९ म स २।७।१३ का स १६।१३।
२ श ब्रा ७।२।४।२६ का श्रौ १७।३।८ आप श्रौ १६।१९।११ बौ श्रौ १ ।२५।

अथर्व०, तै० स० और का० स० मे भी ये मन्त्र साथ साथ उपलब्ध होते हैं।[1] इस प्रकार ये शतायुधाय इत्यादि मन्त्रो के अनुक्रमागत है। अथर्व० मे प्रथम मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है —

ग्रीष्मो हेमन्त शिशिरो वसन्त शरद्वर्षा स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजाया निवात इद्व शरणे स्याम [१०० क]

का० स० में इसका पूर्वार्ध वसन्तो ग्रीष्मो मधुमन्ति वर्षा शरद्हेमन्त सुविते दधात है। द्वितीय मन्त्र मे से अथर्व० मे इद्वत्सराय परिवत्सराय शब्दो का अभाव है, मन्त्र का आरम्भ इदावत्सराय से होता है और चतुथ पाद अपि भद्रे सौमनसे स्याम है। तै०स० में पूर्वार्ध का पाठ अथर्व० के सदृश और उत्तरार्ध पा० गृ० (ऊपर) के समान है। इन सब पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि म० ब्रा० और पा० गृ०, दोनो पर ही तै०स० का सर्वाधिक प्रभाव पडा है। जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है गो०गृ० और खा०गृ० के विनियोग की पुष्टि मा०श्रौ० १।६।४।२१ से होती है क्योंकि वहाँ भी आग्रयण के अन्तर्गत आज्याहुतियो के लिये इनका विनियोग किया गया है।

पा०गृ० ३।१।३ मे इस अवसर पर स्विष्टकृत् आहुति के साथ अधोलिखित मन्त्र (का०स० २।१५) के उच्चारण का विधान है —

स्विष्टमग्ने अभि तत् पृणीहि विश्व च देव' पृतना अविष्यत्।
सुगन्नु पन्था प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजर न आयु ॥ [१०१]

हे अग्नि, उस शुभ यज्ञ को पूर्ण कर दीजिये। वह देव सभी शत्रुओ को नष्ट कर दे। हे अग्नि, शुभ मार्ग-निर्देशन करते हुए आइये, हमे तेजस्वी तथा जरारहित आयु प्रदान कीजिये।

हि०गृ० २।१७।३ मे पाठान्तर सहित इसे आग्रहायणी के अन्तर्गत स्विष्टकृत् आहुति के लिये विनियुक्त किया गया है। तदनुसार पृणीहि के स्थान पर पृणाहि, विश्व च के स्थान पर विश्वा, देव के स्थान पर देव, अविष्यत् के स्थान पर असिष्य, सुगन्नु के स्थान पर उरु न और न एहि के स्थान पर विभाहि पाठान्तर है। परन्तु बौ०गृ० १।६।१८ मे इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत लाजाहोम मे किया गया है। इसमें भी पाठ पा० गृ० के समान है। पा० गृ० और हि० गृ० के विनियोग की पुष्टि तै०ब्रा०, आप०श्रौ० द्वारा होती है, क्योंकि इनमे भी अनेक यज्ञो मे स्विष्टकृत् आहुति के लिये इसका उच्चारण विहित है।[2]

---

१ अथर्व० ६।५५।२,३, तै० स० ५।७।२।४, का० स० १३।१५।

२ तै०ब्रा० २।४।१।४, ३।१।३।३, १२।१।१, ३।४, आप०श्रौ० ६।८।८।

का स मे दोनो मन्त्र इसी क्रम मे विद्यमान है। का स मे द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद इमे चत्वारो रजसो विमाना है। इसमे पूर्वार्ध के अन्त मे पथ्यान भी जोडा गया है। इससे छन्द विकृत हो गया है। इस मन्त्र के का० स पाठ का अनुसरण करते हुए का गृ (२६।७) मे विवाह के पश्चात् पतिगृह के प्रति यात्रा के मध्य चतुष्पथ पार करते समय इसके उच्चारण का विधान किया गया है। चत्वार' पथ्याना' शब्द इस विनियोग के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे होगे। इन दोनो मन्त्रो के गृह्य विनियोग का आधार श्रौतविनियोग रहा होगा क्योकि श्रौत सूत्रो मे भी आग्रयण के अन्तगत आज्याहुतियो के लिये इनका विनियोग किया गया है।

गो गृ और खा गृ मे आज्याहुतियो के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रो का विनियोग भी किया गया है[3] —

ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्त शरद्वर्षा सुवित नो अस्तु।
तेषामृतूना शतशारदाना निवात एषामभये स्याम ॥ [८९९]

इद्वत्सराय परिवत्सराय सवत्सराय कृणुता बृहन्नम।
तेषा वय सुमतौ यज्ञियाना ज्योगजीता अहता स्याम ॥ [९००]

ग्रीष्म हेमन्त वसन्त शरद् और वर्षा (इन सब ऋतुओ से मै प्रार्थना करता हूँ कि) हमारा यह कम सुविहित हो सकडो वर्षो वाली उन इन ऋतुओ के निभय आश्रय म हम रहे। हे सम्बन्धिजनो इद्वत्सर परिवत्सर सवत्सर को महा नमस्कार करो। उन यज्ञयोग्य इद्वत्सरादि की शोभन बुद्धि म हम चिर काल तक जरारहित होकर अहत रह। सा०

पा गृ (२।२।२) म आग्रहायणी के अन्तगत आज्याहुतियो के लिये इन मन्त्रो का विनियोग किया गया है। यहाँ प्रथम मन्त्र का द्वितीय पाद शिवा वर्षा अभया शरन्न है। अन्तिम शब्द स्याम के स्थान पर वसेम है। द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार है —सवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सारायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नम ॥ शा गृ (४।१८।१) मे इसी कम के निमित्त केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है। आ गृ (२।४।१४) के अनुसार इसका उच्चारण अष्टका के अन्तर्गत एक स्थालीपाक-आहुति के साथ किया जाना चाहिये।

---

१ त० स ५।७।२।३ का स १३।१५ द्वितीय मन्त्र तु अथव ६।५५।१।
२ आप श्रौ ६।२९।१२ मा श्रौ १।६।४।२१ मा श्रौ ६।१६।१८।
३ गो गृ ३।८।१ (म ब्रा २।१।११ १२) खा गृ ३।३।७।
४ द्रा बा में गृ वि० ज्योग् जीता।

गोभिल और खादिर के अनुसार यदि इस अवसर पर अन्न के रूप में श्यामाक का भक्षण करना हो तो निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये[1] —

अग्नि प्रथम प्राश्नातु स हि वेद यथा हवि ।
शिवा अस्मभ्यमोषधी कृणोतु विश्वचर्षणि ॥ [६०३]

सर्वप्रधान अग्नि भक्षण करे, क्योंकि वह जानता है कि आहुति किस प्रकार की होती है। समाज का प्रेरक वह हमारे लिये ओषधियों को कल्याणकर बना दे ॥

किन्तु पा०गृ० ३।१।४ में इसका विनियोग किसी प्रकार का भी अन्न भक्षण करने के लिए किया गया है। बौधायन और आपस्तम्ब के अनुसार इसका उच्चारण मधुपर्क के अवसर पर अतिथि को उपहृत गौ की वपा की आहुति देते हुए किया जाना चाहिये।[2] म०पा० में इसके उत्तरार्ध का पाठ अरिष्टमस्माकं कृण्वन् ब्राह्मणो ब्राह्मणेभ्य है। इस मन्त्र का प्राचीनतम स्रोत का०म० १३।१५ है। तै०ब्रा०, भा०श्रौ०, मा०श्रौ० और आप०श्रौ० में भी इसका विनियोग आग्रयण में किया गया है।[3] इन तीन श्रौत-सूत्रों में तो श्यामाक-भक्षण के लिये ही इसका विनियोग किया गया है। अत गोभिल द्वारा इसके विनियोग का आधार यही श्रौत-विनियोग प्रतीत होता है।

अभिनव यवान्न-भक्षण की स्थिति में सामवेदीय गृह्यसूत्रों तथा पा० गृ० द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है[4] —

एतमु त्य मधुना सयुत यव सरस्वत्या अधिमनाव चर्कृषु ।
इन्द्र आसीत् सीरपति शतक्रतु कीनाशा आसन् मरुत सुदानव ॥ [६०४]

प्रजापति मनु के शासन में कृषकों ने इसी उस माधुर्य से युक्त यव को सरस्वती नदी के मधुर जल के द्वारा क्षेत्रों में बोया है। शतक्रतु इन्द्र हल का स्वामी था और शोभन दाता मरुत्-देव कृषक थे ॥ सा०

मन्त्र का यह पाठ तै० ब्रा० २।४।८।७ में से उद्धृत है। गृह्यसूत्रों में इसके पाठ में स्वल्प भेद हैं। म०ब्रा० में अधिमनाव चर्कृषु के स्थान पर अधिमनाव चकृषु

---

१ गो०गृ० ३।८।२० (म०ब्रा० २।१।१५) खा०गृ० ३।३।१३।
२ बौ०गृ० १।२।४८, ४६, आप०गृ० ५।१३।१६ (म०पा० २।१०।७)
३ तै० ब्रा० २।४।८।७, आप० श्रौ० ६।३०।१०, भा० श्रौ० १।६।४।२६, मा० श्रौ० ६।१७।१७।
४ गो० गृ० ३।८।२४ (म० ब्रा० २।१।१६), खा० गृ० ३।३।१४, जै० गृ० १।२४, पा०गृ० ३।१।६।

अधिकांश गृह्यसूत्रो मे विधान है कि इन आहुतियो के पश्चात् नवान्नप्राशन करते हुए गृहस्थ को अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1] —

भद्रान्न श्रेय समनष्ट देवास्त्वयावसेन समशीमहि त्वा।
स नो मयोभू पितो आविशस्व श तोकाय तनुवे स्योन ॥ [९०२]

हे देवो हम भद्रजनों के प्रति कल्याण प्राप्त कराइये। हे अन्न तुझ कल्याणकारी बल वाले के द्वारा हम तुझे शुद्ध रूप मे खायें। हे अन्न, इस प्रकार का तू हमारे लिये सुखकर हो जा तू हममें प्रविष्ट हो हमारी सन्तान के लिये कल्याणकर और हमारे शरीर के लिये सुखकर हो ॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पा गृ मे से उद्धृत है। म ब्रा० मे पितो आविशस्व की सन्धि करके पितवाविशस्व रूप कर दिया गया है। सामश्रमी के म ब्रा के सस्करण मे पितेवाविशस्व पाठ दिया गया है। परन्तु यह पाठ प्रसगानुकूल नही प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त म ब्रा म तन्व के स्थान पर तनुवे पाठ है। शा०गृ मे भी म ब्रा के समान पितवाविशस्व पाठ है। इसके अतिरिक्त अवसेन के स्थान पर क्वसेन पाठ है और चतुष पाद श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे है। शा गृ० का यह पाठ आ श्रौ के पाठ के ठीक समान है। कौशिक मे पूर्वार्ध तो पा० गृ के समान है परन्तु उत्तरार्ध

स न' पितो मधुमाँ आविवेश शिवस्तोकाय तन्वो न एहि है। यह पाठ का स० १३।१५ मे से उद्धृत प्रतीत होता है। दूसरी ओर पा गृ के पाठ का मूल स्रोत समानता के कारण तै स ५।७।२।४ ५ प्रतीत होता है। जहा तक विनियोग का प्रश्न है इसके गृह्यविनियोग का आधार ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है क्योकि वहाँ भी आग्रयण के अन्तर्गत ही अन्नप्राशन के निमित्त इसका प्रयोग किया गया है।[2]

पा गृ ३।१।५ मे इस अवसर पर अन्नप्राशन के निमित्त अन्नपतीय मन्त्र (अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि इत्य दि वा०स ११।८३) के पाठ का विकल्प भी दिया गया है। अधिकाश गृह्यसूत्रो मे इसका विनियोग शिशु के अन्नप्राशन सस्कार के अन्तर्गत किया गया है। इस सम्बन्ध मे यह विशेष उल्लेखनीय है कि दोनो कर्मों मे मन्त्र का सम्बन्ध अन्न भक्षण से है और यह मन्त्र अन्नपति को सम्बोधित है।

१ शा गृ० ३।८।३ गो गृ ३।८।१६ (म ब्रा २।१।१२) खा गृ ३।३।१३ पा गृ ३।१।४ आग्नि गृ १।७।४ कौशिक ७४।१९।
२ त ब्रा २।४।८।७ आ श्रौ २।९।१ आप श्रौ ६।३१।८, का० श्रौ ९।१७।१६ मा श्रौ १।६।४।२५।

दिया गया है तथा मृधा से पूर्व मा का अभाव है। कौशिक० (७४।२०) के अनुसार भक्षण के पश्चात् इस मन्त्र द्वारा अन्न का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। पूर्वार्ध मे म० श्रा० का क्रम रखते हुए इसमे शा० गृ० के समान पाठ है। उत्तरार्ध मे केवल शरीरात् तक पाठ शा० गृ० के समान है और उसके पश्चात् अनामयैधि मा रिषाम इन्दो पाठ है। यह मन्त्र प्राण को सम्बोधित है। प्राण से सभी अगो का सकेत भी होता है। आ० श्रौ० (२।९।१०) मे भी आग्रयण के अन्तर्गत इसका विनियोग नाभि-स्पर्श के लिये किया गया है। नाभि भी सभी प्राणो अर्थात् इन्द्रियो का केन्द्र मानी जाती है। यह बात शा०गृ०(३।८।५) द्वारा नाभिस्पर्श के निमित्त प्रयुक्त अधोलिखित मन्त्र से भी स्पष्ट हो जाती है —

नाभिरसि मा बिभीथा प्राणाना ग्रन्थिरसि मा विस्रस ॥ [९०६]

इससे मिलते जुलते मन्त्रो का विनियोग गृह्यसूत्रो द्वारा उपनयन और विवाह के अन्तर्गत भी नाभिस्पर्श के लिये किया गया है।

शा० गृ० (३।८।६) मे इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र[1] मे दिये गये अग-नामों के अनुसार इन्द्रियस्पर्श करने के लिये इसके उच्चारण का विधान किया गया है —

भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवासस्तनूभिर्व्यशेम देवहित यदायु ॥ [९०७]

हे देवो, हम कानो से श्रेयस्कर बात सुनें, हे याज्ञिको, हम आँखो से कल्याणकर पदार्थ देखें, दृढ अगो से सन्तुष्ट होते हुए अपने शरीरो से उस सारी आयु का भोग करें जो देवो द्वारा प्रदान की गई है ॥

एक अन्य स्थल पर शा० गृ० (५।५।११) मे कुछ विशेष अपशकुनो का उपशमन करने के लिये अनुष्ठित कर्म मे कानो का स्पर्श करते हुए इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है। मा० गृ०(२।११।१९)के अनुसार वृषोत्सर्ग कर्म मे समिदा-धान के पश्चात् कर्ता को कर्णस्पर्श करते हुए इसका पाठ करना चाहिये। यद्यपि यह मन्त्र तै० आ०, आ० श्रौ० और आप० श्रौ० मे भी विद्यमान है,[2] तथापि इसके गृह्य-विनियोग की तुलना केवल आ० श्रौ० ५।१९।५ के विनियोग से की जा सकती है जिसके अनुसार यदि सोम-याग मे सोम के लिये उद्दिष्ट चरु मे कर्ता अपना प्रतिबिम्ब देखने मे असमर्थ हो तो उसे इसका उच्चारण करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है

---

१ ऋ०१।८९।८, साम०२।१२२४,वा०स०२५।२१,मै०स०४।१४।२, का०स०३५।१

२ तै आ० १।१।१, २।१।३, आ० श्रौ० ८।१४।१८, आप० श्रौ० १४।१६।१।

पाठ है। किन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने अधिवनाव चक्रु षि पाठ देकर उसकी निम्नलिखित व्याख्या की है —वना वननीयया सरस्वत्या स्तुत्या सत्तुय ऋषि अवचक्रु षि अतिशयेन अधिकुरुध्व भवथेति भाव ॥ परन्तु स्पष्ट रूप से भ्रष्ट पाठ की यह दूराकृष्ट व्याख्या प्रतीत होती है। दूसरी ओर अधिमनो (मननिमित्तभूते मनोरथे) पाठ अधिक अच्छा है यद्यपि यहाँ भी सरस्वत्या के आगे तीरे (तट पर) का अध्याहार करना पडता है। पा गृ० मे त ब्रा के इन शब्दो के पाठ के स्थान पर अधिवनाय चक्रुषु पाठ है। परन्तु पा गृ का पाठ भी बहुत अच्छा नही है। त ब्रा० के अधिमनावचर्कृषु की सायण द्वारा निम्नलिखित व्याख्या की गई है —अधिमनो पुणाविभूते मनो प्रजापतौ रावति सति तस्मिन् काले कृषिका सरस्वत्या नद्या मधुरेण जलेन—अचर्कृषु सेवाप्रत्यवन्त ॥

कौशिक० ६६।१५ मे इसी क्रम मे अथर्व ६।३ ।१ का विनियोग किया गया है। यह मन्त्र उपर्युक्त मन्त्र के बहुत निकट है। केवल एतमु त्यम् के स्थान पर देवा इमम् पाठ है और द्वितीय पाद सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषु है। यह अथर्व मन्त्र ही इसका मूल स्रोत प्रतीत होता है। इसके गृह्य विनियोग का आधार भी श्रौत विनियोग प्रतीत होता है क्योकि तै ब्रा मा श्रौ आप श्रौ तथा मा श्रौ मे भी आग्रयण के अवसर पर नवान्न भक्षण के समय इसके उच्चारण का विधान है।[1]

गो गृ और खा गृ मे विधान है कि नवान्न प्राशन के पश्चात् ऊपर से नीचे की ओर सिर मुख तथा अन्य अगो का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

> अमोऽसि प्राण तदृत ब्रवीम्यमा ह्यसि सर्वमनुप्रविष्ट ।
> स मे जरा रोगमपमृज्य शरीरादमाम एधि मा मृधा न इन्द्र ॥ [६०५]

हे प्राण तू अन्न है—यह मैं सत्य कहता हूँ। अन्न के साथ साथ तू सबमें प्रविष्ट है। वह तू मेरे शरीर में बुढापे और रोग को दूर करके रोगशून्य हो जा। हे सब प्राणियों के ईश्वर तू हमारा विनाश न कर॥ [६ ५]

खा गृ (२।८।४)मे केवल हृदयरेश के स्पर्श के लिये इसका विनियोग किया गया है। इसमे द्वितीय पाद अमोऽसि सर्वोऽसि प्रविष्ट है। इसके अतिरिक्त अपमज्य के स्थान पर अपनुद्य अमाम के स्थान पर अमा मे मृधा के स्थान पर मधा० पाठ

---

1 तै ब्रा २।४।८।७ मा श्रौ ६।१८।७ आप श्रौ ६।३ ।३ मा श्रौ १।६।४।२४।

2 गो गृ ३।८।२१ (म ब्रा २।१।१४) खा गृ ३।३।१५।

वह सब सौ वर्ष तक जीवित रहते रहते ही मेरे लिये समृद्ध हो जाये ॥ यहाँ सम्पत्ति, वैभव, भूमि, वृष्टि, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, और लक्ष्मी हमारी सन्तान की रक्षा करे ॥ जिसकी उपस्थिति मे वैदिक और लौकिक कर्मों की समृद्धि होती है, मैं उस इन्द्रपत्नी सीता का आह्वान करता हूँ । वह प्रत्येक कर्म मे मुझसे वियुक्त न हो ॥ अश्वो तथा गौओ से युक्त और शोभन तथा सत्य वाणी से युक्त जो (देवी) आलस्यरहित होकर सब प्राणियो का भरणपोषण करती है, मैं इस कर्म में उस नित्य खल-रूप-मालाधारिणी उर्वरा (सीता) का आह्वान करता हूँ । वह मुझसे वियुक्त न हो ॥

उपरिलिखित मन्त्रो के स्रोत अज्ञात हैं । केवल आकस्मिक रूप से अन्तिम मन्त्र का प्रथम पाद अथर्व० ३।१२।२ के अंश के रूप मे प्राप्त होता है । पाठान्तर-सहित उस अथर्व० मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्रो मे नवशालानिर्माण के अन्तर्गत किया गया है ।[1] इन मन्त्रों मे सीता को इन्द्र की पत्नी कहा गया है । इसके अतिरिक्त सामान्य कल्याण की प्रार्थना के साथ साथ सीताके विशेषणरूप प्रयुक्त खलरूप-माला-धारिणी तथा उर्वरा शब्दो से प्रतीत होता है कि सीता इन्द्र अर्थात् वर्षा और सूर्य पर आश्रित समस्त कृषि की प्रतीक है ।

अग्नि के चारो ओर आस्तरण करने के पश्चात् अवशिष्ट कुशा घास पर गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रो का उच्चारण करते हुए क्रमश एक-एक के साथ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में सीता के रक्षको को बलि अर्पित करनी चाहिये (पा०गृ० २।१७।१३-१६) —

ये त आसते सुधन्वानो निषङ्गिण । ते त्वा पुरस्ताद् गोपायन्त्वप्रमत्ता
अनपायिनो नम एषां करोम्यह बलिमेभ्यो हरामीमम् ॥
अनिमिषा वर्मिण आसते । ते त्वा दक्षिणत . हरामीमम् ॥
आभुव प्रभुवो भूतिर्भू मि पार्ष्णि शुनकुरि । ते त्वा पश्चात् .. . ..
हरामीमम् ॥
भीमा वायुसमा जवे । ते त्वोत्तरत क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि हरामीमम् ॥
[६१४-६१७]

---

१ शां०गृ०३।३।१, पा०गृ०३।४।४, हि०गृ०१।२७।३, कौशिक०४३।११, अथर्व० मे मन्त्र का पाठ यह है —

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले ऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥

कि इस श्रौतविनियोग मे देखने की क्रिया पर विशेष ध्यान दिया गया है।

मन्त्र मे शा गृ० (३।८।७) द्वारा सूर्योपासना के लिए प्रसिद्ध मन्त्र तच्चक्षु र्देवहितम् इत्यादि (ऋ ७।६६।१६) के पाठ का विधान किया गया है। उपनयन तथा अन्य कर्मों मे भी गृह्यसूत्रो द्वारा प्राय सूर्योपासना मे ही इसका विनियोग किया गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रो मे भी अनेक स्थलो पर सूर्योपासना मे ही यह प्रयुक्त हुआ है।

आप गृ ७।१९।७ के अनुसार आग्रयण की प्रमुख क्रिया घर के शिखर पर यवाग्नि पिण्ड का उत्क्षेपण है। इस क्रिया के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र (म पा० २।१८।१) का विनियोग किया गया है

परमेष्ठ्यसि परमा मा श्रिय गमय ॥ [१०८]

हे अन्न तू शिखरस्थ है तू मुझे परम लक्ष्मी प्राप्त करा ॥

यह मन्त्र किसी अन्य ग्रन्थ मे अनुपलब्ध है।

सीतायज्ञ

इस यज्ञ मे कृषिकर्म की प्रतीकभूत देवी सीता को आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। पारस्कर ने इस यज्ञ का विस्तृत वर्णन किया है। पा गृ (२।१७।९) के अनुसार प्रारम्भिक कृत्य के पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें —

पृथिवी द्यौ प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृता ।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा न सन्तु हेतय स्वाहा ॥
यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्व समृध्यतां जीवत शरद शत स्वाहा ॥
सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्य श्रैष्ठ्य श्री प्रजामिहावतु स्वाहा ॥
यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् ।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीतां सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥
अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता ।
खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवां सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ [१०९–११३]

जिसके लिये पृथ्वी आकाश दिशाएँ और उपदिशाएँ सभी आकाशों से आवृत हैं उस इन्द्र का मैं यहाँ आह्वान करता हूँ। उसके आयुध हमारे लिये कल्याणकर हों॥ हे वृत्रनाशक इन्द्र मेरे इस कर्म में जो कुछ भी न्यून हो

त्रयोदश अध्याय

नियतकालिक कर्म

दर्श और पौर्णमास यज्ञ

कुछ गृह्यसूत्रों में इन यज्ञों को पार्वणस्थालीपाक नाम भी दिया गया है। ये श्रौतसूत्रो की दर्शपूर्णमासेष्टि के अनुरूप हैं। यज्ञ से पूर्व गृहस्थ और उसकी पत्नी द्वारा उपवास किये जाने का विधान है।[1] आग्नि०गृ० १।७।३ के अनुसार यज्ञ के दिन से एक दिन पूर्व गृहस्थ को अग्नि पर समिदाधान करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए समिधाओ की उपासना करनी चाहिये —

श्वो यज्ञाय रमता देवताभ्यो यज्ञाय त्वा गृह्णामि देवयज्यायै ॥ [६१६]

कल यज्ञ तथा देवताओ के लिये रमण करो, मैं तुम्हें यज्ञ और देवपूजा के लिये ग्रहण करता हूँ।

देवताभ्य तक का मन्त्राश तै० ब्रा० ३।७।४।३ और आप० श्रौ० ४।१।८ मे आहवनीय अग्नि के आधान के अवसर पर समिदाधान करते समय उच्चार्यमाण प्रथम मन्त्र का अन्त्य भाग है। आग्नि०गृ० का विनियोग इसके बहुत समान है। सम्भव है कि गृह्यमन्त्र इसी श्रौत मन्त्राश का विस्तार हो।

तत्पश्चात् आग्नि०गृ० मे निर्देश है कि आगामी दिवस यज्ञान्न बनाने के हेतु निम्नलिखित मन्त्र (तै०स० २।६।४।१) का पाठ करते हुए चरु (पात्र) मे तीन मुट्ठी चावल डाले जाने चाहियें —

देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अग्नये जुष्ट निर्वपामि अग्निषोमाभ्याम् ॥

(अग्नि के लिये निर्दिष्ट तुम्हें मैं अग्नि और सोम के लिये सवितृ-देव की प्रेरणा से अश्विनो की भुजाओ और पूषा के हाथो द्वारा अर्पित करता हूँ ॥)

इस मन्त्र का उच्चारण पूर्णमासी को निर्दिष्ट है। अमावास्या को मन्त्र के उत्तरार्ध मे अग्निषोमाभ्याम् के स्थान पर इन्द्राग्निभ्याम् पाठ होना चाहिये। बौ०गृ० ३।७।३ मे इसका विनियोग आयुष्यचरु के अन्तगत किया गया है। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। (दे०म०स० ५४१)

---

१ शा०गृ० १।३, आ०गृ० १।१०।२, गो०गृ० १।५।१-५।

जो वे शोभन धनुर्धारी तूणीर से युक्त बैठे हैं, वे अप्रमत्त होकर तथा अपने स्थान से हटे बिना पूर्व दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मैं इनको नमस्कार करता हूँ और इनके लिये यह बलि उपहृत करता हूँ॥ ये निर्निमेष शक्तिशाली बैठे हैं वे अप्रमत्त होकर दक्षिण दिशा में तुम्हारी रक्षा करें मैं यह बलि उपहृत करता हूँ॥ आभू (पराभूत करने वाले) प्रभू (स्वामी) भूति (वैभव) भूमि पार्ष्णि शुनकुरि—वे सब पश्चिम दिशा में तुम्हारी रक्षा करें मैं यह बलि उपहृत करता हूँ॥ भीषण तथा वेग में वायु के समान—वे उत्तर दिशा में क्षेत्र में खल में घर में मार्ग में रक्षा करें मैं यह बलि उपहृत करता हूँ॥

इन मन्त्रों के स्रोत अप्राप्य हैं। किन्तु ते त्वा गोपायन्तु इत्यादि शब्दों की तुलना निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व ८।१।१४) से की जा सकती है —

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्य स्वाहा॥

उपरिलिखित मन्त्रों में सीता के रक्षकों की तुलना पौराणिक दिक्पालों की कल्पना से की जा सकती है।

का गृ (७१।७) के अनुसार सीतायज्ञ में केवल एक आहुति निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्पित की जानी चाहिये —

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भि।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व॥ [६१८]

भूमिदेवता सीता को घृतरूप मधुर रस से सन्तृप्त किया जाये। सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमत अन्न के मधुररसयुक्त भाग का पोषण करती हुई हे सीता तुम दुग्ध सहित हमारी ओर पुन पुन आओ॥ दे०पा०

का गृ में यह मन्त्र का सं (१६।१२) से उद्धृत प्रतीत होता है। म स (२।७।१२) में भी इसका यही पाठ प्राप्त होता है। स्वल्प पाठान्तरसहित यह मन्त्र अन्य संहिताओं में भी विद्यमान है।[1] ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में आहवनीय वेदीचयन के अन्तर्गत हल चलाने के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है।[2] जैसा कि देवपाल की व्याख्या से भी स्पष्ट है यहाँ सीता का अर्थ खेत की क्यारी ही है। इस मन्त्र के गृह्य विनियोग की तुलना श्रौत विनियोग से की जा सकती है।

१ अथर्व ३।१७।९ वा स १२।७० तै स ४।२।५।६।
२ श ब्रा ७।२।२।१ का श्रौ १७।२।१२ आप श्रौ १६।१४।४।

युक्त धन दो ॥

इन मन्त्रो की तुलना अथर्व० ७।८०।१ तथा ७।७९।१ से की जा सकती है। कौशिक० (५।५) मे भी इनका विनियोग आग्नि० गृ० के प्रसङ्ग मे ही किया गया है। कौशिक० ५९।१९ के अनुसार सवकाम व्यक्ति को प्रजापति को आहुति अर्पित करते हुए इनका उच्चारण करना चाहिये। तै० स० ४।४।१०।३ मे इन्हें प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। वहाँ पूणमास और दश इष्टकाओं के आधान के लिये इनके उच्चारण का विधान है। आप० श्रौ० (१७।६।५,८) और मा० श्रौ० (६।२।३।८) मे भी इनका ठीक यही विनियोग हुआ है। किन्तु आप० श्रौ० ५।२३।४ के अनुसार साधारण दर्श-पौणमास आहुतियो से पूव अन्वारम्भणीय इष्टि की आहुति के समय इनका उच्चारण किया जाना चाहिये। यह विनियोग गृह्य विनियोग के अत्यन्त निकट है। तै० ब्रा० ३।१।१।१२ मे केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग नक्षत्रयज्ञ के अन्तगत पूणमास आहुति के निमित्त किया गया है।

आग्नि० गृ० (१।७।३)मे विधान है कि इन आहुतियो के पश्चात् जुहू को जल से भरकर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए यज्ञ-भूमि के भीतर प्रवाहित करना चाहिये —

> वैश्वानरे हविरिद जुहोमि साहस्रमुत्स शतधारमेतम्।
> तस्मिन्नेष पितर पितामह प्रपितामह स्वर्गे लोकेऽबिभरत् पिन्वमान स्वाहा ॥ [९२४]

वैश्वानर अग्नि के प्रति मैं सैकडो धाराओ वाले सहस्रमुखी झरने-रूप यह आहुति अर्पित करता हूँ। यह अग्नि उस आहुति में अभिवृद्ध होते हुए पिता, पितामह और प्रपितामह का स्वर्ग लोक में भरण पोषण करता है॥

इसका पूर्वार्ध अथर्व० १८।४।३५ का पूर्वार्ध ही है। अथव० मे उत्तराध मे निम्नलिखित रूप मे किंचिद् भेद है —

> स बिभर्ति पितर पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमान ॥

कौशिक० (८२।२२) के अनुसार अन्त्येष्टि कम के अन्तगत किसी दोही गई गौ के पीछे भूमि पर आहुतिया अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिए। आग्नि० गृ० के मन्त्र का सम्पूर्ण पाठ ठीक आप० श्रौ० (२।२१।७) के मन्त्र के समान है। और वहाँ इसका विनियोग भी गृह्यविनियोग से मिलता-जुलता है। तै० आ० (६।६।१) मे भी यह मन्त्र उद्धृत किया गया है, परन्तु इसमे स्वर्गे लोके

आगे चलकर आग्नि गृ में विधान है कि यज्ञान्न में से स्विष्टकृत् भाग निकालकर अग्नि में उसकी आहुति देते हुए पूर्णमासी को निम्नलिखित मन्त्रों में से प्रथम और अमावास्या को द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे ।
स नो दोहतां सुवीर्यं रायस्पोषं सहस्रिणं प्राणाय सुराधसे पूर्णमासाय स्वाहा ॥ [९२०]
अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना ।
सा नो अपानाय सुराधसेऽमावास्याय स्वाहा ॥ [९२१]

महाबलशाली वेगवान् पूर्णमास की हम पूजा करते हैं। वह हमारे लिये शोभन वीरता, सहस्रसंख्याक धन की पुष्टि उत्पन्न करे। प्राणभूत, पूजनीय पूर्णमास के लिये यह आहुति अर्पित है ॥ अमावास्या सौभाग्य शालिनी शोभनधन वाली गौ के समान पुन अभिवृद्ध होती हुई वह हमारे लिये अपानभूत पूजनीय अमावास्या को यह आहुति अर्पित है ॥

इन दोनों मन्त्रों का उत्तरार्ध परस्पर समान है। प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य में भी इन दोनों का विनियोग इसी प्रकार किया गया है।[1] उनका पाठ भी यहाँ ठीक यही है।

उपर्युक्त आहुतियों के साथ-साथ पूर्णमासी और अमावास्या को क्रमश एक एक और आहुति का विधान भी किया गया है। इनके साथ उच्चारणीय मन्त्र आग्नि गृ में प्रतीकेन उद्धृत किये गये हैं। तै स (३।५।१।१) में प्राप्त जाये निम्नलिखित पाठ दिया जा रहा है —

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यत पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवा अधिसंवसन्त उत्तमे नाक इह मादयन्ताम् [९२२]
यत्ते देवा अदधुर्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
सा नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् [९२३]

पौर्णमासी पश्चिम में भी पूर्ण है, पूर्व में भी पूर्ण है और मध्य (आकाश) में भी (पूर्ण होकर ही) चलती है। उसमें निवास करते हुए सभी देव यहाँ सर्वोन्नत स्वर्ग में आनन्दित हों। हे अमावास्ये तुममें निवास करते हुए देवों ने महत्त्व के कारण जो तुम्हारा भाग दिया है उसके द्वारा पूजनीय वह तुम हमारे यज्ञ को पूर्ण करो हे सौभाग्यशालिनी हमें शोभन वीरों से

१ तै ब्रा ३।७।५।१३ आप श्रौ २।२।५, मा श्रौ १।३।२।२

विधान केवल गोभिल और खादिर द्वारा किया गया है। तदनुसार स्विष्टकृत् आहुति के पश्चात् वेदी पर आस्तृत बर्हि मे से एक मुट्ठीभर कुश लेकर यजमान को निम्न-लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे तीन वार आज्य मे डुबाना चाहिये[1] —

अक्त रिहाणा वियन्तु वय ॥ [६२६]

अनुलिप्त (आज्य) को चाटते हुए पक्षी आकाश मे उड जायें ॥

सम्भवतया यहाँ वय से विद्युत्-रूप अग्नि का अभिप्राय है। मानो यही अग्नि घृत का भक्षण करके आकाश में पहुँचकर विद्युत् के रूप मे प्रकाशित होती है। विद्युत् को पक्षी कहा जा सकता है क्योकि वह पक्षियो के समान उडती हुई सी प्रतीत होती है। यह मन्त्र म० ब्रा० मे नही है, इसलिये गोभिल द्वारा इसका सकलपाठ दिया गया है। यह वा० स० (२।१६) और तै० स० (१।१।१३।१) मे विद्यमान है। वा० स० मे मन्त्र के प्रथम दो और अन्तिम दो शब्दो का परस्पर क्रम-विपर्यय हो गया है। तदनुसार वहाँ मन्त्र का यह रूप है —

व्यन्तु वयोऽक्त रिहाणा ॥ [६२७]

मै०स०(१।१।१३)और का०स०(१।१२)मे भी यह मन्त्र है, परन्तु मै०स० में तो अक्तम् के स्थान पर अन्तुम् और का० स० मे अर्यम् पाठ है। गृह्य-विनियोग के समानान्तर विनियोग प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे प्राप्त होता है क्योकि वहाँ दर्शपौर्ण-मास के अन्तगत प्रस्तर-गुच्छाग्रो का जुहू मे डुबाते या लिप्त करते समय इसके उच्चा-रण का विधान है।[2] मन्त्र के अर्थ के विषय मे कीथ का कहना है कि वह बहुत अस्पष्ट है।[3] उसका अपना अनुवाद इस प्रकार है — "लिप्त को चाटते हुए पक्षी दूर जायें।" किन्तु वा० स० २।१६ के भाष्य मे महीधर ने यज्ञ-प्रसङ्गानुसार इसकी सगत और बोधगम्य व्याख्या करने का प्रयत्न किया है—"घृतानुलिप्त प्रस्तर को चाटते हुए, प्रस्तर को लेकर पक्षिरूप छन्द जायें।" पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि गच्छन्तु। प्रस्तरमादायेति शेष। किंभूता वय। अक्त रिहाणा। अक्त घृतलिप्त प्रस्तर लिहाना आस्वादयन्त।

आगे गो० गृ० (१।८।२८) और खा० गृ० (२।१।२८) मे यह विधान है कि यजमान को उस कुशगुच्छ पर जल छिडक कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे अग्नि मे डाल देना चाहिये —

---

१ गो० गृ० १।८।२६,२७, खा० गृ० २।१।२६,२७।

२ श०ब्रा० १।८।३।१३,१४, तै०ब्रा० ३।३।६।३, का०श्रौ० ३।६।४-७, आप०श्रौ० ३।६।१, मा०श्रौ० १।३।४।१५।

३ तै० स० (अनु०) १।१।१३।१ (d) पर पा० टि० २।

शब्द नही हैं और पिन्वमानस् के स्थान पर अग्नि का विशेषणरूप पिन्वमाने पाठ है। सम्भवतया मन्त्र मे पिता पितामह और प्रपितामह का उल्लेख होने के कारण ही श० ब्रा० मे इसका विनियोग पितृमेध के अन्तर्गत एक कलश मे मधुमिश्रित दधि भरने के लिये किया गया है। इस विनियोग मे और कौशिक के विनियोग मे समानता है।

इसके आगे आग्नि० पृ० मे निर्देश है कि यजमान को यज्ञभूमि के बहि प्रदेश मे जलपूर्ण स्रुक् की आहुति देते हुए निम्नलिखित मन्त्र (तै० स० ४।२।१०।२) का पाठ करना चाहिये —

इम समुद्र शतधारमुत्स व्यच्यमान भुवनस्य मध्ये।
घृत दुहानामदिति जनायाग्ने मा हिसी परमे व्योमन् स्वाहा॥ [१२१]

सारे भुवन के मध्य फैले हुए सैकडो धाराओ वाले झरने के समान इस समुद्ररूप घृत का जीवन के लिये दोहन करती हुई अदिति को हे अग्नि परम आकाश मे आहत न करो॥

यजुर्वेद की अन्य सहिताओ मे भी यह मन्त्र स्वल्प पाठान्तर सहित विद्यमान है।[1] श० ब्रा० (७।१।१) के अनुसार पितृमेध के अन्तर्गत पूर्व मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का उच्चारण भी मधुमिश्रित दधि को कलश मे डालते समय किया जाना चाहिये। कृष्ण प्राग् गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थो मे इसका विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत किया गया है। उनके अनुसार सर्वप्रथम पशुओ के सिर वेदी मे रखे जाते हैं और फिर वह दक्षिण दिशा से उससे बाहर निकालकर विशेष मन्त्रो द्वारा उनकी उपासना की जाती है। इसी क्रम मे वृषभशीर्ष की उपासना के हेतु इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ मा हिसी (आहत न करो) पर विशेष बल दिया गया है शतधारमुत्सम् (सैकडो धाराओ वाला झरना) पर नही, क्योकि यह गृह्यकर्म के समान जल प्रवाहित करने के कर्म के लिये अधिक उपयुक्त है। गोभिल ने इन यज्ञो की प्रधान आहुतियो के साथ मन्त्रोच्चारण का विधान नही किया है। सभी आहुतियाँ केवल देवनाम के पश्चात् स्वाहा का उच्चारण करके अर्पित की जाती हैं।

यज्ञवास्तु

यह कर्म भी दर्शपौर्णमास का अग प्रतीत होता है। इस कर्म के अनुष्ठान का

---

१ वा० स० १३।४९ म० स० २।७।१७ का० स० १६।१७—सबमें समुद्रम् और भुवनस्य के स्थान पर क्रमश सहस्रम् और सरिरस्य पाठ है।

२ श० ब्रा० ७।५।२।१४ का० श्रौ० १७।५।१६ आप० श्रौ० १६।२७।१७ मा० श्रौ० ६।१।७।२१।

हे अग्नि, आप अपने प्रिय स्थान मे प्रदीप्त होते हुए हमे अपनी निर्बाध रक्षा से रक्षित कीजिये। हे युवा देव, हे बलिष्ठ, इस स्तोता को आपका भय न तो अब प्राप्त हो और न ही किसी अन्य काल मे ॥ ह० मि०

उपर्युक्त मन्त्रो मे प्रमुखरूप से पाप, कष्ट, रोग और भय-निवारण की प्रार्थना की गई है। प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग अष्टका के अगभूत पशुयाग के अन्तर्गत स्थालीपाक अवदान की आहुतियो मे भी किया गया है।[1] ऋ० के अतिरिक्त किसी अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में ये मन्त्र साथ साथ एक ही स्थान पर नही आये। केवल प्रथम तीन मन्त्र तै० स०, मै० स० और तै० ब्रा० मे एक स्थान पर आये हैं।[2] तै० ब्रा० में प्रथम मन्त्र को पशु याग मे आग्नेयी मह्ना (?) की वपा की आहुति के लिये पुरोनुवाक्या, द्वितीय को पुरोडाश आहुति की याज्या और तृतीय को सामान्य आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप मे उद्धृत किया गया है। तै० ब्रा० का प्रथम दो मन्त्रो का विनियोग आ० गृ० द्वारा अष्टका मे इनके विनियोग के अत्यन्त निकट है क्योकि दोनो मे पशुबलि अन्तर्निहित है। शा० श्रौ० ५।५।२ मे इनका विनियोग सोमयाग के अन्तर्गत प्रायणीय इष्टि की आहुति मे किया गया है। प्रथम मन्त्र समस्त वैदिक वाङ्मय मे अत्यन्त लोकप्रिय रहा होगा क्योकि प्राय सभी ग्रन्थो मे यह उद्धृत किया गया है।[3] श्रवणाकर्म मे इन चारो मन्त्रो के विनियोग की पुष्टि करते हुए आप्टे ने कहा है कि, "ऋ०१।१८९ का ऋषि अगस्त्य सर्पविष शामक सूक्त ऋ० १।१९१ का भी ऋषि है।"[4] परन्तु दो सूक्तो का एक ऋषि होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उसने दोनो सूक्तो की रचना एक ही उद्देश्य से की। इसके अतिरिक्त प्राय गृह्यसूत्रो मे ऋ० १।१९१ के मन्त्रों का विनियोग सर्पो से सम्बद्ध श्रवणाकर्म अथवा प्रत्यवरोहण दोनो कर्मो मे से किसी मे नही किया गया। अत प्रस्तुत गृह्यप्रसङ्ग मे इनके विनियोग के औचित्य का आधार केवल यही प्रतीत होता है कि ये सब अग्नि को सम्बोधित है और तदनुसार अग्नि को आहुति अर्पित करने के लिये इनका विनियोग किया गया है।

इसके पश्चात् आ० गृ०(२।१।६) मे विधान है कि यजमान को निम्नलिखित मन्त्र(ऋ० १।१८९।५) का उच्चारण करते हुए आज्यसहित पुरोडाश की आहुति

---

१ आ० गृ० २।४।१४ (दे० म०स० १०९१ से आगे)

२ तै० स० १।१।१४।३-४, मै० स० ४।१४।३, तै० ब्रा० २।८।२।३-५

३ वा० स० ५।३६, ७।४३, का० स० ३।१,६।१०, ऐ० ब्रा० १।९।७, श० ब्रा० ३।६।३।११, आ० श्रौ० ३।७।५, आप० श्रौ० २४।१२।१० इत्यादि।

४ ऋ० मन्त्रज इन हि आ० गृ०,पृ० २४।

य पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा ।[1]
पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुत तव स्वाहा ॥ [६२८]

पशुओं की पङ्क्तियों मे विचरण करने वाला बलशाली जो रुद्र पशुओं का स्वामी है, हे वह रुद्र ! तुम हमारे पशुओं का नाश न करो । यह आहुति तुम्हारी ही हो जाये ॥

गोभिल ने इस मन्त्र का भी गृह्यसूत्र मे सकलपाठ दिया है । न तो यह मन्त्र म ब्रा मे दिया गया है और न ही अन्यत्र उपलब्ध है ।

श्रवणाकर्म

इस कर्म को केवल श्रवणा नाम से भी अभिहित किया जाता है । इसके इस नामकरण का कारण यह है कि इसका अनुष्ठान श्रावण मास मे होता है । मा गृ (२।१।४) मे विधान है कि सामान्य स्थालीपाक तयार किया जाना चाहिये और सूर्यास्त के समय निम्नलिखित चार मन्त्रो (ऋ १।१८९।१ ४) का उच्चारण करते हुए एक-कपाल पुरोडाश के साथ साथ अग्नि मे इसकी आहुति दी जानी चाहिये —

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम ॥ [६२९]

अग्ने त्व पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय श यो ॥ [६३०]

अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टी ।
पुनरस्मभ्य सुवितायं देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र ॥ [६३१]
पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्रैरुत प्रिये सदन आ शुशुक्वान् ।
मा ते भय जरितारं यविष्ठ नून विदन्मापर सहस्व [६३२]

हे अग्नि हमे धन अर्थात् सुख-प्राप्ति के लिये शोभन मार्ग से ले जाइये हे देव आप सभी मार्ग जानते है । हमसे कुटिल पाप पृथक कीजिये हम आपको अत्यधिक नमस्कार करे ॥ हे अग्नि आप अभिनव रूप में कल्याणपूर्वक हमे सभी दुर्गम मार्गो अर्थात् कष्टों मे पार कर दीजिये । यह धन धान्यसम्पन्न विस्तृत पृथ्वी हमारे लिये नगर हो जाये । आप हमारे पुत्र-पौत्रों के आगत और अनागत कष्टो का शमन करने वाले हो जाइये ॥ हे अग्नि जो मनुष्यजातियों को अत्यधिक पीडित करते हैं उन उदराग्नि मान्द्यजनक रोगों को आप हमसे पृथक् कर दीजिये । हे देव हे पूजनीय सभी देवों के साथ साथ हम भी यथेष्ट विचरणार्थ भूमि प्रदान कीजिये ।

जग्धो मशको जग्धा वितृष्टिर्जग्धो व्यध्वर स्वाहा ॥ [६३८]
जग्धो व्यध्वरो जग्धो मशको जग्धा वितृष्टि स्वाहा ॥ [६३६]
जग्धा वितृष्टिर्जग्धो व्यध्वरो जग्धो मशक स्वाहा ॥ [६४०]

मशक खाया गया, वितृष्टि खाई गई, व्यध्वर खाया गया ॥ व्यध्वर खाया गया, मशक खाया गया, वितृष्टि खाई गई ॥ वितृष्टि खाई गई, व्यध्वर खाया गया, मशक खाया गया ॥

इन तीनो मन्त्रो का परस्पर भेद केवल इतना है कि इनमे मशक, वितृष्टि और व्यध्वर शब्दो को भिन्न क्रम मे रखा गया है। अर्थ सबका एक ही रहेगा। उपरिलिखित पाठ म० पा० मे से उद्धृत है। हि० गृ० मे वितृष्टि के स्थान पर विचष्टि पाठ है, द्वितीय मन्त्र मे मशक और विचष्टि का, तथा तृतीय मन्त्र मे व्यध्वर और मशक का क्रमविपर्यय हो गया है। विन्तरनित्ज द्वारा वितृष्टि के वितृष्णि और पिवृष्टि पाठान्तरो की ओर भी सकेत किया गया है।[1]

वैदिक इण्डेक्स (ख०२,पृ० १३८) मे मशक का अर्थ काटनेवाली मक्खी या मच्छर बताया गया है। इस प्रसङ्ग मे वितृष्टि का अर्थ निश्चित नही है। ओल्डनबर्ग ने इसका अर्थ पिपासु करके आगे प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है।[2] व्यध्वर का अर्थ बीधने वाला—छिद्र करने वाला देते हुए जैसा कि मैकडॉनल और कीथ द्वारा सुझाव दिया गया है, इसकी निरुक्ति व्यध् (बीधना) धातु से की जा सकती है।[3] अत इससे भी किसी कीट या कृमि का अभिप्राय हो सकता है। सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तीनो शब्दो मे काटने या आहत करने का भाव विद्यमान है। विशेषरूप से मशक शब्द से यह सकेत होता है कि आप० गृ० और हि० गृ० के अनुसार श्रवणाकर्म का उद्देश्य न केवल सर्पो को, अपितु वर्षा ऋतु मे वृद्धि को प्राप्त होने वाले अन्य कृमि-कीटों को शान्त करना भी था।

आ० गृ० (२।१।७) के अनुसार घृतानुलिप्त अन्नकणो की आहुति अजलि द्वारा अग्नि मे निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए अर्पित की जानी चाहिये —

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रव स्वर्का ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवा ॥ [६४१]

---

१ म० पा० (सम्पा०), २।१६।१५-१७ पर पा० टि०
२ से० बु० ई०, ख० ३०, पृ० २३७।
३ वै इ०,ख०२, पृ० ३३६। अथर्व० २।३१।४ मे ह्विट्ने ने इसकी व्युत्पत्ति वि-अध्वन् से की है। तदनुसार अर्थ है, मार्गभ्रष्ट अथवा विमार्ग।

अर्पित करनी चाहिये —

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाऽविष्यवे रिपवे दुच्छुनाय।
मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन् परा दा ॥ [६३३]

हे अग्नि आप हमे पाप हमारी समृद्धि के अनिच्छुक शत्रु दुर्भिक्ष के प्रति अर्पित न कीजिये। हे बलिष्ठ देव हमे आप दाँतो स युक्त काटने वाले खाने वाले और हमे आहत करने वाले अन्य प्राणियों आदि के वश में भी न कीजिये॥ हृ० मि०

मा गृ २।१।६ के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण सर्पों को असत यव की एक बलि देते हुए किया जाना चाहिये। मन्त्र के उत्तरार्ध के दत्वते आदि शब्दो का सर्पों के साथ विशेष सम्बन्ध ह। सम्भवत इनके ही आधार पर इस मन्त्र का विनियोग प्रस्तुत प्रसग मे हुआ है।

हि गृ (२।१६।४) मे विधान है कि स्थालीपाकाग्नि की आहुतियो के साथ निम्नलिखित चार मन्त्रो का पाठ किया जाना चाहिये —

नमोऽग्नये पार्थिवाय पार्थिवानामधिपतये स्वाहा ॥ [६३४]
नमो वायवे विभुमत आन्तरिक्षाणामधिपतय स्वाहा ॥ [६३५]
नम सूर्याय रोहिताय दिव्यानामधिपतये स्वाहा ॥ [६३६]
नमो विष्णवे गौराय दिश्यानामधिपतय स्वाहा ॥ [६३७]

पार्थिव पदार्थों के स्वामी पार्थिव अग्नि को नमस्कार है। अन्तरिक्ष सम्बन्धी पदार्थों के स्वामी विभवयुक्त वायु को नमस्कार है। दिव्य पदार्थों के स्वामी रक्तवर्ण सूय को नमस्कार है। सभी दिशाओ के पदार्थों के स्वामी गौरवण विष्णु को नमस्कार है॥

इन मन्त्रो का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वर्षा ऋतु म पृथ्वी अन्तरिक्ष आकाश अथवा किसी दिशा से जो भी विपत्ति हो सकती है उसे उन उन स्थानो के स्वामी शान्त कर दें। ये मन्त्र अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी का निर्देश है कि अग्नि मे स्थालीपाकाग्नि की आहुति देकर गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रो का पाठ करते हुए किंशुक पुष्पों की आहुति देनी चाहिये[1]—

---

१ आप गृ ७।१८।६ (म पा २।१६।१५ १७) हि गृ २।१६।५

स्वामियों को सम्बोधित किया गया है। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं।

आ० गृ० २।१।४, पा० गृ० २।१४।१० और मा०गृ० २।१६।१ में सक्तु-सहित दर्भास्तृत भूमि पर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा बलि देने का विधान है —

अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥ [६४५]

भूमि-सम्बन्धी अच्युत (सर्प) के लिये यह बलि अर्पित है ॥

पा० गृ० में अच्युताय के स्थान पर ध्रुवाय पाठ है। इन तीनों गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग शालानिर्माण कर्म में भी किया गया है। तदनुसार स्तम्भ गाढने के निमित्त बने हुए गढे में आहुति अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] इस प्रसंग में पा० गृ० में अच्युताय पाठ ही दिया गया है। स्पष्ट ही है कि स्तम्भ के अविचलित रहने की कामना की पुष्टि अच्युताय शब्द से होती है। किन्तु ध्रुवाय पाठ की पुष्टि तै० आ० १०।६७।१ द्वारा होती है। वहाँ भूमाय के स्थान पर भौमाय पाठ है। इस ग्रन्थ में इस मन्त्र का विनियोग वैश्वदेव यज्ञ में आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है। सम्भवतया गृह्यसूत्रों द्वारा श्रवणाकर्म में इसके विनियोग का प्रमुख आधार भूमाय (भौमाय) है क्योंकि सर्पों का भूमि से सम्बन्ध सुविदित है।

आ०गृ० २।१।९ में निर्देश है कि गृहस्थ को स्वच्छ भूमि पर पानी डालकर वहाँ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को सत्तुओं की बलि देनी चाहिये

सर्पदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ [६४६]

सर्पों के मध्य देवजनों के लिये यह बलि अर्पित है ॥

इसी गृह्यसूत्र में आगे (२।१।१४ में) कहा गया है कि प्रत्यवरोहण कर्म तक प्रतिदिन सायं प्रातः इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को बलि दी जानी चाहिये। पा० गृ० ३।४।८ में भी एक मन्त्र में सर्पदेवजनों को देवता बताया गया है। आ० श्रौ० २।४।१२ और आप० श्रौ० ६।१२।४ के अनुसार अग्निहोत्र में जल प्रवाहित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० ३।१२।८।२ की व्याख्या में सायण ने सर्पदेवजन उन्हें बताया है जो सर्पों के मध्य आकृति में देवों और मनुष्यों के समान लगते हैं।[2] वा०सं० ३०।८ में भी सर्पदेवजनों का उल्लेख है।

---

१ आ० गृ० २।८।१५, पा० गृ० ३।४।३, मा० गृ० २।११।७।

२ सर्पेष्वेव देवाकारा मनुष्याकाराश्च सर्पदेवजनाः ॥

यज्ञ में आह्वान होने पर शीघ्रगामी तथा शोभनगति वाले देवाश्व हमारे लिये सुखकर हों। सर्प भेड़िये और राक्षसों को अवरुद्ध करते हुए उन्हें तथा विभिन्न रोगजातियों को वे हमसे दूर कर दें ॥

पा० गृ० २।१।११ में इस मन्त्र का विनियोग अध्यायोपाकर्म में बिना चबाये अक्षत धान खाने के लिये किया गया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अध्यायोपाकर्म का काल भी श्रावण ही है। सम्भवतया उस कर्म में इसका विनियोग करते हुए भी पारस्कर ने श्रवणाकर्म और सर्पों के साथ उसके सम्बन्ध को विशेषरूप से ध्यान में रखा है। यह मन्त्र ऋ० और यजुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध होता है।[1] प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य से इसके गृह्य विनियोग की पुष्टि नहीं होती। श० ब्रा० ५।१।५।२२ और का० श्रौ० १४।४।५ में विधान है कि वाजपेययज्ञ में इसके द्वारा अश्वों को सम्बोधित किया जाना चाहिये। कुछ अन्य श्रौतसूत्रों में मासिकयज्ञों में से अन्यतम वरुणप्रघासकर्म में वाजिन आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है।[2] इस स्थिति में श्रवणाकर्म में विनियोग करते समय पा० गृ० में अहिम् शब्द को विशेषरूप से ध्यान में रखा गया है।

पा० गृ० २।१४।६ और भा० गृ० २।१ के अनुसार निम्नलिखित तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए सर्पों को घृतमिश्रित सक्तुओं की बलि दी जानी चाहिए —

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा ॥ [९४२]

श्वेतवायवान्तरिक्षाणां — ॥ [९४३]

अभिभू सौर्यदिव्यानाम् ॥ [९४४]

अग्निसम्बन्धी पाण्डुवर्ण पार्थिव सर्पों के स्वामी को यह बलि अर्पित है ॥ वायुसम्बन्धी श्वेतवर्ण अन्तरिक्ष के सर्पों के ॥ सूर्य सम्बन्धी अभिभूत करने वाले दिव्य सर्पों के ॥

इन मन्त्रों की तुलना म० सं० ९।१४, ९।३६ से की जा सकती है। उपरि लिखित पाठ पा० गृ० में से उद्धृत है। भा० गृ० में सब मन्त्रों में सर्पाणाम् का अभाव है और प्रथम शब्द का समास-विग्रह करके आग्नेयाय पाण्डराय पार्थिवानाम् इत्यादि पाठ दिया गया है। इन मन्त्रों में भूमि अन्तरिक्ष और आकाश के सर्पों के

---

१ ऋ० ७।३८।७ वा० सं० ९।१६, २१।१० तै० सं० १।७।८।२, ४।२।११।३ मै० सं० १।११।२, ४।१०।३ का० सं० १२।१४, १३।१४, २।१५।

२ आ० श्रौ० २।१६।१४ शा० श्रौ० ३।८।२३ का० श्रौ० १९।७।१८ आ० श्रौ० ८।१।३।११।

स्वामियो को सम्बोधित किया गया है। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं हैं।

आ० गृ० २।१।४, पा० गृ० २।१४।१० और मा०गृ० २।१६।१ मे सक्तु-सहित दर्भास्तृत भूमि पर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा बलि देने का विधान है —

अच्युताय भौमाय स्वाहा ।। [९४५]

भूमि-सम्बन्धी अच्युत (सर्प) के लिये यह बलि अर्पित है ।।

पा० गृ० में अच्युताय के स्थान पर ध्रुवाय पाठ है। इन तीनो गृह्यसूत्रो मे इस मन्त्र का विनियोग शालानिर्माण कर्म में भी किया गया है। तदनुसार स्तम्भ गाढने के निमित्त बने हुए गढे मे आहुति अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] इस प्रसग में पा० गृ० में अच्युताय पाठ ही दिया गया है। स्पष्ट ही है कि स्तम्भ के अविचलित रहने की कामना की पुष्टि अच्युताय शब्दसे होती है। किन्तु ध्रुवाय पाठ की पुष्टि तै० आ० १०।६७।१ द्वारा होती है। वहाँ भूमाय के स्थान पर भौमाय पाठ है। इस ग्रन्थ में इस मन्त्र का विनियोग वैश्वदेव यज्ञ मे आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है। सम्भवतया गृह्यसूत्रो द्वारा श्रवणाकर्म मे इसके विनियोग का प्रमुख आधार भूमाय (भौमाय) है क्योकि सर्पों का भूमि से सम्बन्ध सुविदित है।

मा०गृ० २।१।६ मे निर्देश है कि गृहस्थ को स्वच्छ भूमि पर पानी डालकर वहाँ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को सत्तुओ की बलि देनी चाहिये

सर्पदेवजनेभ्य स्वाहा ।। [९४६]

सर्पो के मध्य देवजनो के लिये यह बलि अर्पित है ।।

इसी गृह्यसूत्र मे आगे (२।१।१४ मे) कहा गया है कि प्रत्यवरोहण कर्म तक प्रतिदिन साय प्रात इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को बलि दी जानी चाहिये। पा० गृ० ३।४।८ मे भी एक मन्त्र में सर्पदेवजनो को देवता बताया गया है। आ० श्रौ० २।४।१२ और आप० श्रौ० ६।१२।४ के अनुसार अग्निहोत्र में जल प्रवाहित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० ३।१२।८।२ की व्याख्या में सायण ने सर्पदेवजन उन्हें बताया है जो सर्पो के मध्य आकृतिमे देवो और मनुष्यो के समान लगते हैं।[2] वा०स० ३०।८ मे भी सर्पदेवजनो का उल्लेख है।

---

१ आ० गृ० २।८।१५, पा० गृ० ३।४।३, मा० गृ० २।११।७ ।

२ सर्पेष्वेव देवाकारा मनुष्याकाराश्च सर्पदेवजना ।।

यज्ञ में आह्वान होने पर शीघ्रगामी तथा शोभनगति वाले देवाश्व हमारे लिये सुखकर हों। सर्प भेड़िये और राक्षसों को अवरुद्ध करते हुए उन्हें तथा विभिन्न रोगजातियों को वे हमसे दूर कर दें॥

पा गृ २।१।१५ में इस मन्त्र का विनियोग अध्यायोपाकर्म में बिना चबाये अक्षत धान खाने के लिये किया गया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अध्यायोपाकर्म का काल भी श्रावण ही है। सम्भवतया उस कर्म में इसका विनियोग करते हुए भी पारस्कर ने श्रवणाकर्म और सर्पों के साथ उसके सम्बन्ध को विशेषरूप से ध्यान में रखा है। यह मन्त्र ऋ और यजुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध होता है।[1] प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य से इसके गृह्य विनियोग की पुष्टि नहीं होती। श ब्रा ५।१।४।२२ और का श्रौ १४।४।५ में विधान है कि वाजपेययज्ञ में इसके द्वारा अश्वों को सम्बोधित किया जाना चाहिये। कुछ अन्य श्रौतसूत्रों में मासिकयज्ञों में से अन्यतम वरुणप्रघासकर्म में वाजिन आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है।[2] इस स्थिति में श्रवणाकर्म में विनियोग करते समय आ गृ ने अहिम् शब्द को विशेषरूप से ध्यान में रखा गया है।

पा गृ २।१४।६ और आ गृ २।१ के अनुसार निम्नलिखित तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए सर्पों को घृतमिश्रित सक्तुओं की बलि दी जानी चाहिए—

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा ॥ [६४२]

श्वेतवायवान्तरिक्षाणां " ॥ [६४३]

अभिभूः सौर्यदिव्यानाम् ॥ [६४४]

अग्निसम्बन्धी पाण्डुवर्ण पार्थिव सर्पों के स्वामी को यह बलि अर्पित है॥ वायुसम्बन्धी श्वेतवर्ण अन्तरिक्ष के सर्पों के ॥सूर्य सम्बन्धी अभिभूत करने वाले दिव्य सर्पों के ॥

इन मन्त्रों की तुलना म० सं १३४ १३६ से की जा सकती है। उपरि लिखित पाठ पा० गृ में से उद्धृत है। आ गृ में सब मन्त्रों में सर्पाणाम् का अभाव है, और प्रथम शब्द का समास विग्रह करके आग्नेयाय पाण्डराय पार्थिवानाम् इत्यादि पाठ दिया गया है। इन मन्त्रों में भूमि अन्तरिक्ष और आकाश के सर्पों के

१ ऋ ७।३८।७ वा सं ९।१६ २१।११ तै सं १।७।८।२ ४।२।११।२ मैं सं १।११।२ ४।१ ।२ का सं १२।१४ १३।१४ २ ।१५।

२ आ श्रौ २।१६।१४ आ श्रौ ३।८।२३ का श्रौ १६।७।१८ मा० श्रौ ५।१।३।११।

जो तुम दक्षिण दिशा में ॥ जो तुम पश्चिम दिशा मे···· ॥ जो तुम उत्तर दिशा में ॥

ये मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे अनुपलब्ध हैं। आश्वलायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने भी सर्पों को बलि प्रदान करने हेतु ऐसे ही मन्त्रों का विनियोग किया है[1] —

ये सर्पा पार्थिवा य आन्तरिक्ष्या ये दिव्याः।
तेभ्य इम बलिमाहार्षं तेभ्य इम बलिमुपकरोमि ॥[९५४]

जो सर्प पृथ्वीसम्बन्धी है, जो अन्तरिक्षसम्बन्धी हैं, जो आकाशीय हैं, जो दिशाओ से सम्बद्ध हैं, उनके लिये मैं यह बलि लाया हूँ, उनको मैं यह बलि प्रदान करता हूँ ॥

मन्त्र का यह पाठ आ० गृ० मे से उद्धृत है। म० पा० मे 'सर्पा' शब्द नही है और आद्य 'ये' से पहले

नमो अस्तु सर्पेभ्य [९५५]

शब्द हैं। उत्तरार्ध मे आहार्षम् के स्थान पर हरिष्यामि और उपकरोमि के स्थान पर आहर्षम् पाठ है। हि० गृ० मे इन्हे निम्नलिखित रूप मे चार मन्त्रों मे विभाजित किया गया है —

ये पार्थिवा सर्पास्तेभ्य इम बलिं हरामि ॥ य आन्तरिक्षा· ॥
ये दिव्या · · ॥ ये दिश्या ·· ॥ [९५६-९५९]

ये सभी मन्त्र भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही हैं।

आ० गृ० (२।१।१०) के अनुसार बलि-प्रदान के पश्चात् गृहस्थ को बलि की पश्चिम दिशा में बैठकर निम्नलिखित मन्त्रोच्चारण करना चाहिये —

सर्पोऽसि सर्पता सर्पाणामधिपतिरसि।
अन्नेन मनुष्यास्त्रायसेऽपूपेन सर्पान्।
यज्ञेन देवास्त्वयि मा सन्त त्वयि सन्तः सर्पा मा हिंसिषुर्ध्रुवां ते परिददामि ॥ [९६०]

तुम सर्प हो, तुम सर्पणशील सर्पों के स्वामी हो। अन्न से मनुष्यो की रक्षा करते हो, अपूप से सर्पों की तथा यज्ञ से देवों की। तुझ पर आश्रित सर्प, तुझ पर आश्रित मुझे आहत न करें। मैं तुम्हे ध्रुव (पृथ्वी) समर्पित करता हूँ ॥

---

१ आ० गृ० २।१।९, आप०गृ० ७।१८।१० (म०पा० २।१७।८), हि०गृ०२।१६।६। गृ० वि० २८]

पा गृ० २।१४।११ १२ के अनुसार घर से बाहर जाकर और गोमय द्वारा भूमि का लेप करके गृहस्थ को निम्नलिखित तीन मन्त्रो का पाठ करते हुए सर्पों का जल द्वारा प्रक्षालन करना चाहिये —

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व ॥ [६४७]

श्वेतवायवान्तरिक्षाणां ॥ [६४८]

अभिभू सौर्यदिव्यानां ॥ [६४९]

हे अग्निसम्बन्धी पाण्डुवर्ण पृथ्वी के सर्पों के स्वामी तुम अपना प्रक्षालन करो ॥ हे वायु सम्बन्धी श्वेतवर्ण अन्तरिक्ष के सर्पों के ॥ हे सूर्यसम्बन्धी पराभूत करने वाले आकाश के सर्पों के ॥

ये मन्त्र मूलरूप में उपरिविवेचित मन्त्र (स ६४२ ६४४) ही हैं। केवल अधिपतये के स्थान पर यहाँ अधिपते और उसी प्रकार प्रसङ्गानुसार स्वाहा के स्थान पर अवनेनिक्ष्व पाठ है। इसी गृह्यसूत्र (२।१४।१३ १४) मे इन्ही मन्त्रो का विनियोग सर्पों को बलि देने के लिये भी किया गया है और प्रसङ्गानुसार वहाँ अवनेनिक्ष्व का परिवर्तन एष ते बलि॰ मे किया गया है। एक बार और इसी गृह्यसूत्र(२।१४।१५ १६) मे इन मन्त्रो का विनियोग कंघ द्वारा सर्पों की कंघी करने के लिये किया गया है। और वहाँ भी प्रसङ्गानुसार अवनेनिक्ष्व के स्थान पर प्रलिखस्व पाठ दिया गया है। आगे चलकर (२।१४।१७ मे) यह विधान है कि इन्ही मन्त्रो का उच्चारण करते हुए सर्पों को अंजन लेप और मालाए दी जानी चाहियें और तदनुसार अन्तिम शब्द क्रमश अङ्क्ष्व अनुलिम्पस्व और उपनह्यस्व होगा। सर्पों को उपर्युक्त वस्तुए प्रदान करने के आधार मे यह भावना प्रतीत होती है कि इस प्रकार सर्प पूर्णतया सन्तुष्ट होकर अपने बिलो मे ही रहे अथवा बाहर भी निकलें तो हमे क्षति न पहुँचायें।

गोभिल और खादिर का विधान है कि गृहस्थ को निम्नलिखित चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चारो दिशाओ मे स्थित सर्पों को बलि देनी चाहिये[1] —

य प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलि ॥ [६५०]

यो दक्षिणस्यां ॥[६५१]

य प्रतीच्यां ॥[६५२]

य उदीच्यां ॥[६५३]

जो तुम पूर्व दिशा मे सर्पो के राजा हो तुम्हारे लिये यह बलि है॥

---

१ गो गृ ३।७।१३ १५ (म ब्रा २।१।१ ४) खा गृ ३।२।२।

आप० गृ० ७।१८।८ (म० पा० २।१७।५-७) मे इनका विनियोग इस कर्म मे आज्याहुतियो के लिये किया गया है। ये मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेदीय सहिताओ मे विद्यमान हैं।[1] उपरिलिखित पाठ तै० स० के अनुसार है। वा० स० मे द्वितीय मन्त्र मे अद के स्थान पर वामी पाठ है। मै० स० और का० स० मे भी नगण्य सा पाठान्तर है। ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रो मे इन मन्त्रो को सर्पनामान सज्ञा दी गई है और वेदीचयन के अन्तगत सुवर्णपुरुष के अभिमन्त्रणार्थ इनका विनियोग किया गया है।[2] इस विनियोग की पुष्टि मे श० ब्रा० (७।४।१।२७) मे कहा गया है कि ये लोक सर्प हैं, क्योकि जो कुछ भी सर्पण करता है, इन्ही लोको मे सर्पण करता है।[3] किन्तु इनके गृह्यविनियोग के समानान्तर विनियोग आप० श्रौ० (१६।२७।२२) मे प्राप्त होता है क्योकि वहा वेदीचयन के अन्तर्गत वेदी की दक्षिण दिशा मे सर्पशीर्ष का आधान करने के लिये इनका विनियोग किया गया है।

गो० गृ० और खा० गृ० के अनुसार सर्पों को वलि देने के पश्चात् गृहस्थ को अग्नि के पश्चिम की ओर भूमि पर अपने हाथ रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[4] —

नम पृथिव्यै दष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम।
सहत मा वि वधीर्विहत माऽभि स वधी ॥[९६५]

पृथ्वी के जवडे रूप अग्नि को नमस्कार है, हे विश्व का भरण करने वाले अग्नि, हम आपके समीप रहते हुए विनष्ट न हो। जो भी पदार्थ हमसे सयुक्त हो, उसे तुम नष्ट अर्थात् वियुक्त न करो। और हम से दूर जो विपत्तियाँ हैं, उन्हें हमसे सयुक्त न करो ॥ सा०

यद्यपि यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है, तथापि श्रवणाकर्म मे इसके विशिष्ट विनियोग का आधार दष्ट्राय शब्द प्रतीत होता है। यह मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नही है।

आगे इन गृह्यसूत्रो मे विधान है कि सन्ध्या के समय ओदन की आहुतिया अर्पित की जानी चाहियें और अग्नि की उत्तर दिशा में दर्भगुच्छ रखकर गृहस्थ को निम्नलिखित दो मन्त्रों का पाठ करना चाहिये[5] —

---

१ ऋ० खि० ७।५५।९-११, वा० स० १३।६-८, तै० स० ४।२।८।३, मै० स० २।७।१५, का० स० १६।१५।

२ श० ब्रा० ७।४।१।२८-३०, आप० श्रौ० ६।२२।४, मा० श्रौ० ६।१।७।४।

३ इमे वै लोका सर्पा यद्धि किंच सर्पत्येष्वेव तत्लोकेषु सर्पति ॥

४ गो० गृ० ३।७।१७ (म० ब्रा० २।१।५), खा० गृ० ३।२।६, ३।१७।

५ गो० गृ० ३।७।२१ (म० ब्रा० २।१।६,७), खा० गृ० ३।२।७।

मा गृ (२।१६।३) में भी सर्पों को बलि देने के निमित्त इससे मिलते जुलते मन्त्र का विनियोग किया गया है। उसमें प्रथम पंक्ति के अन्त्य असि का अभाव है और तृतीय पंक्ति का निम्नलिखित पाठ है —

त्वयि सन्त मयि सन्त मासिवर्मा रोरिषमा हिंसिषमा दश सर्पा ॥

इस पाठ से मन्त्र कुछ अस्पष्ट हो गया है। परन्तु कृ ष्ट्न के समान इसे मा गृ के पाठानुसार शुद्ध किया जा सकता है।[1]

आप गृ (७।१८।७) में आश्वत्थ की समिधाओं की आहुति के लिए निम्नलिखित मन्त्र (म पा २।१७।३) का विनियोग किया गया है —

त्राणमसि परित्राणमसि परिधिरसि।

अन्नेन मनुष्यांस्त्रायसे तृणै पशून् कर्तेन सर्पान् यज्ञेन देवान्स्वधया पितॄन् स्वाहा॥ [९६१]

तुम त्राण हो तुम परित्राण हो तुम परिधि (घेरा) हो। तुम अन्न से मनुष्यों की घास से पशुओं की काटने (?) से सर्पों की यज्ञ से देवों की और स्वधा से पितरों की रक्षा करते हो॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध उपरिलिखित मा गृ मन्त्र की द्वितीय पंक्ति से बहुत मिलता जुलता है। ये सभी प्राग् गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध हैं।

कुछ यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि सर्पों को बलि प्रदान के पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा उनकी उपासना करनी चाहिये[2] —

नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य सर्पेभ्यो नम ॥

येऽदो रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सद कृत ॥
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतींरनु। ये वावटेषु शेरते ॥[९६२-९६४]

जो भी सर्प पृथ्वी पर हैं उनको नमस्कार हो। जो अन्तरिक्ष में हैं जो आकाश में हैं उन सर्पों को नमस्कार हो॥ जो वहाँ आकाश के प्रकाश स्थल में या जो सूर्य की किरणों में हैं जिनका जल में निवास बना हुआ है ॥ जो यातुधानों के बाण हैं या जो वनस्पतियों में हैं या जो कुओं में लेटते हैं ॥

---

१ मा गृ (अनु) पृ १६८ पा टि ६।

२ बौ गृ ३।१।४ भा गृ २।१४।१८ हि गृ २।१६।७

दिव्य सर्पों के स्वामी को यह अर्पित है ।। दिव्य सर्पों को यह अर्पित है ।।

इसी गृह्यसूत्र मे आगे यह विधान है कि गृहस्थ को सर्पो का प्रक्षालन करना चाहिये, उनकी कघी करनी चाहिये, उनका अनुलेप करना चाहिये, उन्हें माल्यार्पण करना चाहिये, वस्त्रार्पण करना चाहिये, अजन देना चाहिये और दर्पण दिखाना चाहिये । इन सब क्रियाओ के साथ उपयुक्त मन्त्रो मे से प्रथम मे अधिपतये के स्थान पर अधिपति पाठ करके उसके आगे क्रमश अवनेनिक्ताम्, प्रलिखताम्, प्रलिम्पताम, आबध्नीताम्, आच्छादयताम्, आङ्क्ताम्, तथा ईक्षताम् का उच्चारण किया जाना चाहिये । इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र मे भी दिव्येभ्य सर्पेभ्य, के स्थान पर दिव्या सर्पा पाठ करके क्रमश उपरिलिखित शब्दो (अवनेनिक्ताम् आदि) के बहुवचनान्त रूपो का उच्चारण करना चाहिये । अन्त मे (४।१५।६) गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सर्पों को बलि प्रदान करनी चाहिये —

दिव्याना सर्पाणामधिपत एष ते बलि । दिव्या॰ सर्पा एष वो बलि ।।
आन्तरिक्षाणा । आन्तरिक्षा ।।
पार्थिवाना । पार्थिवा ।।
दिश्याना । दिश्या ।।[६७२-७५]

हे दिव्य सर्पों के स्वामी, यह तुम्हारे लिये बलि है । हे दिव्य सर्पो, यह तुम्हारे लिये बलि है ।। हे अन्तरिक्षसम्बन्धी सर्पो के स्वामी, । हे अन्तरिक्ष सम्बन्धी सर्पो, ।। हे पार्थिव सर्पो के स्वामी, । हे पार्थिव सर्पो, ।। हे दिशासम्बन्धी सर्पो के स्वामी । हे दिशा-सम्बन्धी सर्पो ।।

ये मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे उपलब्ध नही । परन्तु इनकी तुलना बलि-प्रदान के निमित्त अन्य गृह्यसूत्रो मे विनियुक्त इसी प्रकार के अन्य मन्त्रो से की जा सकती है ।

कुछ कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे विधान है कि गृहस्थ को तै० स० ५।५।१० अनुवाक के प्रथम बारह मन्त्रों का उच्चारण करके सर्पो की उपासना करनी चाहिये ।[1] इनमें से अन्तिम मन्त्र के वातनामम् इत्यादि शब्दो की पुनरावृत्ति सप्तम मन्त्र से लेकर प्रत्येक मन्त्र के साथ की जानी चाहिये । मन्त्रो का पाठ निम्नलिखित है —

---

१ बौ० गृ० ३।१०।६, आप० गृ० ७।१८।१२ (अ० पा० २।१७।२४-२५), हि० गृ० २।१६।६, मा० गृ० २।१।

सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमोऽस्माकं राजा सोमस्य वयं स्म
अहिजम्भनमसि सोमस्तम्ब सोमस्तम्बमहिजम्भनमसि ॥[९६६]

यां सन्धां समधत्त यूयं सप्तऋषिभिः सह।
तां सर्पा मात्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मा नो हिंसिष्ट ॥[९६७]

सोम राजा अर्थात् स्वामी है सोमगुच्छ (सब ओषधियों का) राजा है अर्थात् उनमे श्रेष्ठ है सोम हमारा भी राजा है हम सोम के (अधीन) हैं। हे दभगुच्छ सोमगुच्छ से सम्बद्ध तुम सर्पों के हिंसक हो तुम सोमगुच्छ से सम्बद्ध सर्पों के हिंसक हो ॥ हे सर्पो तुमने मरीचि आदि सप्तर्षियों से जो सन्धि की उसका उल्लंघन न करो तुम्हें नमस्कार हो, हमारे प्रति हिंसा न करो ॥ मा

प्रथम मन्त्र मे दभगुच्छ को ही सर्पभक्षक (अहिजम्भन) कहा गया है। द्वितीय मन्त्र मे नमस्कारपूर्वक सर्पों से सप्तर्षियो की सन्धि का पालन करने और हमारी हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है। ये मन्त्र भी अन्यत्र अनुपलब्ध हैं और सम्भवतया शुद्ध गृह्य मूल के हैं।

आ० गृ (२।१।११ १२) और मा गृ (२।१६।४) के अनुसार गृहस्थ को निम्नलिखित शब्द बोलते हुए अपने कौटुम्बिको को ध्रुव को समर्पित करना चाहिये —

ध्रुवामु ते ध्रुवामु ते ॥ [९६८]

हे ध्रुव इसे तुम्हे समर्पित करता हूँ। हे ध्रुव इसे तुम्हें ॥

मा गृ के अनुसार अन्त मे उसे स्वयं को भी निम्नलिखित शब्द बोलते हुए ध्रुव को समर्पित करना चाहिये —

ध्रुव मां ते परिददामि ॥ [९६९]

हे ध्रुव मैं स्वयं को तुम्हें समर्पित करता हूँ ॥

वस्तुत परिददामि पूर्ववर्ती शब्दोंके साथ भी बोला जाना चाहिये। ध्रुव यहाँ सर्पविशेष का नाम प्रतीत होता है। हरदत्त ने इसे सर्पों का स्वामी कहा है (ध्रुवो नाम सर्पाणामधिपतिः)।

शा गृ (४।१५।४) मे घृतमिश्रित सत्तुओ की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये निम्नलिखित मन्त्रों का विनियोग किया गया है —

विष्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा ॥[९७०]
विषेभ्यः सर्पेभ्यः स्वाहा ॥ [९७१]

नाम है ॥ तुम निश्चय ही वज्रधारी हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर पश्चिम दिशा मे है, स्वप्न तुम्हारे वाण हैं, गह्वर (गढा) वायुनाम है ॥ तुम निश्चय ही दृढ, स्थिर हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर उत्तर दिशा मे है, जल तुम्हारे वाण है, समुद्र वायुनाम है ॥ तुम निश्चय ही स्वामी हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर ऊर्ध्व दिशा में है वर्षा तुम्हारे वाण हैं, रक्षक वायुनाम है ॥ तुम निश्चय ही पृथ्वीसम्बन्धी क्रव्य (नि० विकृत्तात् जायते—मास या काष्ठ) हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर यहाँ (पृथ्वी पर) है, अन्न तुम्हारे बाण है, निर्निमेष वायुनाम है, उस प्रकार के तुम्हें नमस्कार है, तुम हमें सुख प्रदान करो, उस प्रकार से सुखी हम जिमसे द्वेष करते हैं, और जो हमसे द्वेष करता है, उसे तुम्हारे वश मे करता हूँ ॥

हि० गृ० और मा० गृ० मे ये मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत हैं। मा० गृ० मे इनमें से प्रथम छ मन्त्रो के तुल्यरूप मन्त्रो का दो स्थलो पर विनियोग किया गया है। एक तो (२।११।८) वास्तुकर्म के अन्तगत दिशाओ को आहुतियाँ अर्पित करने के निमित्त, और दूसरे (२।१६।२) श्रवणाकर्म में सर्पों को बलिप्रदान से पूर्व दिशाओ को ही आहुतियाँ अर्पित करने के निमित्त। मै० स० (२।१३।२१) मे इन बारह मन्त्रोमेंसे केवल प्रथम छ मन्त्र हैं। उनकी तुलना अथर्व०३।२७ और १२।३।५५-६० से भी की जा सकती है। आथर्वण मन्त्रो का विनियोग कौशिक० (१४।२५) द्वारा युद्धके अवसर पर उच्चारणार्थ किया गया है। उसी सूत्र द्वारा अन्यत्र(५०।१३) इनके उच्चारण का विधान विक्रयार्थ प्रवास को जाने वाले श्रेष्ठी की सुरक्षा की कामना से किया गया है। इनके गृह्यविनियोग का समानान्तर विनियोग आप०श्रौ० और बौ० श्रौ० मे द्रष्टव्य है क्योंकि तदनुसार अग्निचयन कर्म के अन्तगत प्रथम छ मन्त्रों द्वारा सर्पों को आहुतियाँ दी जानी चाहियें और अन्तिम छ मन्त्रो का उच्चारण महा आहुतियाँ अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये।[१] किन्तु मा० श्रौ० (६।२।६।२३) मे अग्निचयन के अन्तगत साधारण आहुतियो के साथ इनके उच्चारण का विधान है। यद्यपि इन मन्त्रो में सर्पों का उल्लेख नही है, तथापि सब ओर से रक्षा की प्रार्थना होने के कारण ये प्रसङ्गानुकूल ही हैं।

आप० गृ० ७।१८।१२ (म० पा० २।१७।६-१२) मे सर्पोपासना के लिये निम्नलिखित मन्त्रो का विनियोग भी किया गया है —

तक्षक वैशालेय धृतराष्ट्रैरावतस्ते जीवास्त्वयि न सतस्त्वयि सद्भ्यो वर्षास्यो न परिदेहि ॥ [६८८]

---

१. आप श्रौ० ७।२०।१४-१५, बौ० श्रौ० १०।४६-५०

समीची नामासि प्राची दिक तस्यास्तेऽग्निरधिपतिरसितो रक्षिता यश्चाधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्तौ नो मृडयतां ते य द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि त वो जम्भे दधामि ॥
ओजस्विनी नामासि दक्षिणा दिक तस्यास्त इन्द्रोऽधिपति पृदाकु ॥
प्राची नामासि प्रतीची दिक तस्यास्त सोमोऽधिपति स्वजो ॥
अवस्थावा नामास्युदीची दिक तस्यास्ते वरुणोऽधिपतिस्तिरश्चिराजि ॥
अधिपत्नी नामासि बृहती दिक तस्यास्ते बृहस्पतिरधिपति श्वित्रो
वशिनी नामासीय दिक तस्यास्ते यमोऽधिपति कल्माषग्रीवो ॥
हेतयो नाम स्थ तेषां व पुरो गृहा अग्निव इषव सलिलो ॥
निलिम्पा नाम स्थ तेषां वो दक्षिणा गृहा पितरो व इषव सगरो ॥
वज्रिणो नाम स्थ तेषां व पश्चाद् गृहा स्वप्नो व इषवो गह्वरो ॥
अवस्थावानो नाम स्थ तेषां व उत्तराद् गृहा आपो व इषव समुद्रो ॥
अधिपतयो नाम स्थ तेषां व उपरि गृहा वर्षं व इषवोऽवस्वान् ॥
क्रव्या नाम स्थ पार्थिवास्तेषां व इह गृहा अन्न व इषवोऽनिमिषो वातनाम
तेभ्यो वो नमस्ते नो मृडयत त य द्विष्मोयश्च नो द्वेष्टि त वो जम्भे दधामि ॥
[१७६-१८७]

सम्यक नाम वाली तुम पूर्व दिशा हो उस प्रकार को तुम्हारा अग्नि स्वामी है असित रक्षक है, जो स्वामी है और जो रक्षक है उन दोनों को नमस्कार है वे दोनो हम सुख प्रदान कर उस प्रकार के सुखी हम जिससे द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है, उसे आपके वश म करता हू ॥ तुम ओजस्विनी नाम की दक्षिण दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा इन्द्र स्वामी है पदाकु रक्षक ह ॥ प्राची नाम को तुम पश्चिम दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा सोम स्वामी है, स्वज रक्षक ह ॥ अवस्थित नाम की तुम उत्तर दिशा हो उस प्रकार की तुम्हारा वरुण स्वामी है तिरश्चिराजि (तिरछी पंक्तियो या किरणों वाला सूय ?) रक्षक है ॥ स्वामिनी नाम की तुम बृहती दिशा (ऊर्ध्व दिशा) हो उस प्रकार की तुम्हारा बृहस्पति स्वामी है श्वित्र (गतिशील) रक्षक है ॥ नियन्त्रक नाम को तुम यह दिशा (अधो दिशा) हो उस प्रकार की तुम्हारा यम स्वामी है चितकबरी ग्रीवावाला (शिव अथवा अग्नि) रक्षक है ॥ तुम निश्चय ही आयुध हो उस प्रकार के तुम्हारा घर पूर्व दिशा में है अग्नि तुम्हारे बाण हैं जल वायुनाम है ॥ तुम निश्चय ही मरुत् हो उस प्रकार के तुम्हारा घर दक्षिण दिशा में है पितर तुम्हारे बाण है

दोनो तृतीयान्त पदो से मन्त्र अस्पष्ट हो जाता है।[1] द्वितीय मन्त्र मे अघान के स्थान पर ददश पाठ है और उत्तरार्ध मे पादावृत्ति नहीं की गई। निस्सन्देह श्रवणाकर्म मे ददश (काटा) अधिक प्रसगानुकूल है। पा०गृ० २।१४।४,५ में श्रवणाकर्म के आरम्भ मे भी आज्याहुतियो के निमित्त इन मन्त्रो का विनियोग किया गया है। प्रथम मन्त्र मे यहाँ मानुषी के स्थान पर वारुणी और इमा के पश्चात् प्रजा सर्वाश्च राजबान्धवैं पाठ है। तृतीयान्त राजबान्धवैं की अस्पष्टता के साथ-साथ इस पाठ से पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द भी विकृत हो गया है। द्वितीय मन्त्र मे अघान के स्थान पर ददर्श पाठ के साथ-साथ यहा भी पादावृत्ति नही की गई। आ०गृ० (२।३।३), शा०गृ० (४।१८।१) और मा०गृ० (२।७।१) में इन मन्त्रो का विनियोग प्रत्यवरोहण कर्म के अन्तर्गत खीर अथवा आज्य की आहुतियो के लिये किया गया है। आ० गृ० और पा० गृ० में प्रथम मन्त्र का पाठ लगभग एकसमान है। आ०गृ० में एक ओर जहाँ प्रजा के अभाव से छन्द मे पूर्णता आई है, वही दूसरी ओर राजबान्धवै पाठ लौकिकसस्कृत के अधिक अनुकूल है क्योकि म०पा० के राजबन्धवी शब्द मे आदिवृद्धि का अभाव लौकिक-सस्कृत-सम्मत नही है।[2] इसमे द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध न वै श्वेतश्चाभ्या-गारेऽहिर्जघान किचन है। शा०गृ० मे द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध के अभाव के अतिरिक्त शा०गृ० और पा०गृ० के मन्त्रों में पूर्ण साम्य है। जहि और बन्धवै के स्थान पर क्रमश अहि और बन्धव्य को छोडकर मा०गृ० का प्रथम मन्त्र पा०गृ० के समान है। इसके द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध आ०गृ० के समान है। उत्तरार्ध श्वेताय वैतहव्याय स्वाहा है। मन्त्र सर्पों को सम्बोधित होने के कारण ही सम्भवतया सभी गृह्यसूत्रो मे उनका विनियोग सर्पो से सम्बद्ध कर्मो मे किया गया है। प्रथम मन्त्र का स्रोत अथर्व० १०।४।३ प्रतीत होता है। वहाँ इसका पूर्वार्ध अप के स्थान पर अव पाठसहित विद्यमान है।

शा०गृ० ४।१५।२२ मे विधान है कि अन्त मे कर्ता को सुत्रामाणम् इत्यादि-मन्त्र (ऋ० १०।६३।१०) का उच्चारण करते हुए शय्यारोहण करना चाहिये। सम्भवतया गृह्यकार को आरोहण कर्म मे इसके विनियोग की प्रेरणा आरुहेम शब्द से प्राप्त हुई। हाँ, मा०गृ० (२।७।२,३) मे प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत भूमि पर आस्तृत कुशास्तरण पर जल छिडकने और उसे रगडने के लिये इसका विनियोग करते हुए मन्त्र-देवता पृथिवी का ध्यान अवश्य रखा गया है। इसी प्रकार मा०गृ० २।११।६,१० में भी वास्तुकर्म के अन्तर्गत उसी क्रिया के लिये इसका विनियोग किया गया है। इस

---

१ वे०, सें०बु०ई०, ख० ३०, पृ० २३८, पा०टि० मे ओ०ब०—प्रथम मन्त्र में मैंने राजबान्धवी पाठ लिया है।

२ छान्दस ह्रस्वत्वम्—हरदत्त।

धृतराष्ट्रऐरावत तक्षकस्ते वैशालेयो जीवा ॥ [९८९]

अहिंसातिबलस्ते जीवा ॥ [९९०]

अतिबलाहिंसस्ते जीवा ॥ [९९१]

ये दन्दशूका पार्थिवास्तांस्त्वमित परोगव्यूति निवेशय।
सन्ति च न शफिन सन्ति दण्डिनस्ते वो मैह्मिनसा न्येव्यूयमस्मान्
हिनसात ॥ [९९२]

हे तक्षक वैशालेय धृतराष्ट्र ! तुम्हारे जीव ऐरावत हैं। तुममें अव स्थित हम तुम अपने मे अवस्थित सर्पो को सौंप दो ॥ हे धृतराष्ट्र, ऐरावत तुम्हारे जीव तक्षक-वैशालेय है ॥ तुम्हारे जीव अहिंसातिबल है ॥ तुम्हारे जीव अतिबलाहिंस है ॥ जो पार्थिव सर्प है तुम उन्हे यहाँ से दो कोस से भी दूर बसा दो। हमारे खुरधारी तथा दण्डधारी (योद्धा) है, न तो वे तुम्हे हिंसित कर और न ही तुम हमें हिंसित करो ॥

इन मन्त्रो मे विभिन्न विशिष्ट सर्पों को नाम लेकर सम्बोधित किया गया है। परन्तु प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य मे ये अप्राप्य हैं।

कुछ गृह्यसूत्रो मे कहा गया है कि जल-सिंचन करते हुए घर की परिक्रमा करते समय परिवार के सदस्यो को इन मन्त्रो का पाठ करना चाहिये[1] —

अप श्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च।
सप्त च मानुषीरिमास्तिस्रश्च राजबन्धवी ॥ [९९३]

न वै श्वेतस्याभ्याचारेऽहिर्जघान कञ्चन।
श्वेताय वैदर्वाय नमो नम श्वेताय वैदर्वाय ॥ [९९४]

हे श्वेतचरण तुम सामने और पीछे से इन सात मानुषी सन्ततियों और तीन राजबन्धु सन्ततियो को छोड जाओ ॥ निश्चय ही श्वेत (-चरण) के आधिपत्य मे सर्प ने किसी का वध नही किया। विदर्व के पुत्र श्वेत (-चरण) को नमस्कार है, नमस्कार है श्वेत (-चरण) विदर्व-पुत्र को ॥

उपर्युक्त पाठ म पा का है। हि गृ मे राजबन्धवी के स्थान पर राजबान्धव और अभ्याचारे के स्थान पर अभ्याचारेण पाठ है। आ गृ मे मानुषी के स्थान पर मानवी पाठ है परन्तु हि गृ का राजबन्धवं रखा गया है। परन्तु इन

---

१ आ गृ ७।१८।१२ (क दा० २१।४।२६ २७) मा० गृ २।१४।१६ हि गृ० २।१६।८ आ गृ २।१।

लिये किया गया है ।[1] इन्द्र के नाम पर आधारित यज्ञ मे मरुतो को आहुतियाँ अर्पित करने का कारण सम्भवतया यह है कि वेदो मे प्राय इन्द्र और मरुतो की साथ-साथ स्तुति की जाती है । एक दूसरे के विशेषण भी समान हैं ।

इन्ही मन्त्रों के आगे एक मन्त्र है जिसमे मरुतो को इन्द्र का आज्ञानुकारी कहा गया है । पा०गृ० (२।१५।६) मे इसका विनियोग इस यज्ञ के अन्त में किया गया है। मन्त्र निम्नलिखित है —

इन्द्र दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्र दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् एवमिम यजमान दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ [१००२]

दिव्य प्रजा मरुतों ने इन्द्र का अनुसरण किया । जिस प्रकार दिव्य मरुतो ने इन्द्र का अनुसरण किया, उसी प्रकार सब दिव्य और मानवी प्रजायें इस यजमान का अनुसरण करें ॥

पा०गृ० (२।१०।१७) मे अध्यायोपाकर्म के अन्तगत यदि आचार्य को अधिक शिष्यो की अभिलाषा हो तो उसके द्वारा इन सब मन्त्रो के उच्चारण का विधान है । सम्भवतया उस प्रसग मे मरुतो के सख्या—बाहुल्य से इनके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी ।

---

1 का० श्रौ० १८।४।२३-२५, आप० श्रौ० १७।१६।१६, बौ०श्रौ० १०।५२, ५३, मा०श्रौ० ६।२।५।२३ ।



मन्त्र का विवेचन विवाह कर्म में भी किया जा चुका है। (दे म स २ ६)

इ यज्ञ

इस यज्ञ का अनुष्ठान प्रोष्ठपद की पूर्णिमा को किया जाता है। पा गृ (२।१५।५) में विधान है कि प्रारम्भिक आहुतियों के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों (वा स १७।८ ८६) का पाठ करते हुए अश्वत्थ पर्णों पर मरुतों को बलि अर्पित करनी चाहिये —

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्मांश्च।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंहा ॥
ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ्। मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥
ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्ता च विधर्ता च विधारय ॥
ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च अन्तिमित्रश्च दूरेअमित्रश्च गणः ॥
ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥
स्वतवांश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥
उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥
[६६५ १००१]

द्युतिशील ज्योति वाला विचित्र ज्योति वाला सत्य ज्योति वाला ज्योतिर्मय द्युतिशील शाश्वतनियम-पालक और पाप से परे ऐसा दूसरी प्रकार का समान प्रकार का विरोधी प्रकार का परिमित सुपरिमित और भरण सहित शाश्वत नियम सत्य नित्य धारक धारणकर्ता विविध रूप से धारणकर्ता और विविध रूप से धारण कराने वाला शाश्वत नियमों पर विजय प्राप्त करने वाला सत्य-जयी सेना का विजयी अच्छी सेना वाला गतिरूपी मित्र वाला दूर शत्रुओं वाला और गण इस प्रकारके ऐसे सवत्र निवासी समान प्रकार के विरोधी प्रकार के परिमित सुपरिमित हे भरण कर्ता मरुतो आज हमारे इस यज्ञ में आओ आत्मवान् विनाशक सन्तापक गृहयाजी क्रीडनकर्ता शाकभोजी और विजयी उग्र भयानक विनाशक अकम्पक सहनशील आक्रामक और विक्षेपक को आहुति अर्पित है ॥

इनमें से अन्तिम मन्त्र की विमुक्त संज्ञा की गई है। इन मन्त्रों में मरुतों के उनचास नाम परिगणित हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में अन्तिम दो मन्त्र नहीं हैं।[1] श्रौतसूत्रों में इनका विनियोग अग्न्याधान कर्म में मरुतों को पुरोडाश अर्पित करने के

---

१ त सं० ४।६।५।५ ६ म स २।११ का सं १८।६।

कर्म के अन्तर्गत स्थालीपाक आहुतियो के लिये किया गया है। इन गृह्यसूत्रो मे स्थालीपाकाहुतियो के निमित्त एक अन्य मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। हि० गृ० के उस मन्त्र का और इस (प्रथम) मन्त्र का उत्तरार्ध एक ही है। भा० गृ० मे उत्तरार्ध यह है —

संवत्सर कल्पयन्ती सा न' कामदुघा भवत् ॥

(वर्ष का निर्माण करती हुई वह हमारे लिये अभीष्ट-फलप्रदा हो ॥)

इन दोनो गृह्यसूत्रो मे उस मन्त्र का पूर्वार्ध निम्नलिखित है —

शिवा पशुभ्यो दारेभ्य शिवा नक्त शिवा दिवा ॥

(पशुओं और पत्नियो के लिये कल्याणकरी, रात्रिमे कल्याणकरी, दिनमे कल्याणकरी)

द्वितीय मन्त्र का विनियोग का० गृ० (६०।५) द्वारा इसी कर्म मे आज्याहुति के लिये किया गया है। इसी गृह्यसूत्र मे इसी मन्त्र का विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत शिशु-जन्म के तत्काल पश्चात् आहुति अर्पित करने के लिये भी किया गया है (३४।४)। सम्भवतया इस दोहरे विनियोग का आधार उत्तरार्ध मे अभिव्यक्त सन्तति-सम्बन्धी प्रार्थना है। क्योकि अधिकाश गृह्यसूत्रो मे इन दोनो का विनियोग अष्टका कर्म में किया गया है, अत इनका विस्तृत विवेचन उसी कर्म मे किया जायेगा। (दे० म० स १०७४ के आगे)

स्थालीपाकाहुतियो के लिये उपर्युक्त दो मन्त्रों के साथ-साथ हि० गृ० १।१७।२ और भा० गृ० २।२ में निम्नलिखित दो मन्त्रो का विनियोग भी किया गया है —

इडायै सृप्त घृतवच्चराचर जातवेदो हविरिदं जुषस्व।
ये ग्राम्या पशवो विश्वरूपास्तेषा सप्तानामिह रन्तिरस्तु पुष्टि. ॥
पौर्णमासी पूरयन्त्यायान्त्यपरापरान्।
मासार्धमासान् विभजति सा न पूर्णाभिरक्षतु ॥ [१००५-१००६]

हे जातवेदा, इडा की प्रवाहशील, घृत से युक्त, चर और अचर इस आहुति को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कीजिये। सभी रूपो वाले जो ग्राम्य (पालतू) पशु हैं, उन सातो प्रकार के पशुओ के लिये यहाँ सुखद निवास और पोषण प्राप्त हो ॥ समृद्धि प्रदान करने वाली, एक दूसरे के पश्चात् आने वाली, महीनो और पक्षो का विभाजन करती हुई यह पूर्ण पूर्णमासी हमारी रक्षा करे ॥ ओ० व०

मन्त्रो का उपरिलिखित पाठ हि० गृ० में से उद्धृत है। भा० गृ० में **इडायै**

चतुर्दश अध्याय

वार्षिक यज्ञ

आग्रहायणी

इस कर्म का एक और नाम प्रत्यवरोहण भी है। उपर्युक्त नाम तथा आग्र हायणीकर्म नाम का आधार यह प्रतीत होता है कि इसका अनुष्ठान नववर्षारम्भ को या मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को किया जाता है। क्योंकि इस कर्म में विनियुक्त कुछ मन्त्रों में आग्रहायणी को संवत्सरस्य पत्नी कहा गया है अतः सम्भवतया इसे नव वर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि अष्टका को भी नववर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता था।[1] और इस बात की पुष्टि अधोगामी विवेचन से भी होती है क्योंकि प्रत्यवरोहण और अष्टका के बहुत से मन्त्र परस्पर समान हैं।

आहुतियाँ

पा. गृ. (३।२।२) में विधान है कि स्थालीपाक-श्रपण के पश्चात् कर्ता को चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। इन चार मन्त्रों में से अन्तिम दो (संवत्सराय इत्यादि तथा ग्रीष्मो हेमन्त इत्यादि) का विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है (दे. म. स. ८६६, ६. ०)। प्रथम दो मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

> यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्।
> संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ [१० ३]
>
> संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रीमुपास्महे।
> प्रजां सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै॥ [१००४]

आती हुई गाय के समान जिस रात्रि का लोग अभिनन्दन करते हैं, जो वर्ष की पत्नी है वह हमारे लिये कल्याणकारिणी हो॥ जो वर्ष की प्रतिमा है हम उस रात्रि की उपासना करते हैं। मैं अपनी सन्तान को वीरतायुक्त बनाकर दीर्घ आयु प्राप्त करूं॥

हि. गृ. (१।१७।२) और भा. गृ. (२।२) में प्रथम मन्त्र का विनियोग इसी

---

१ ई. व. कल्प पृ. ४१४।

श्वेतवर्ण अतिबलशाली अश्व (सूर्य) सर्वदा उषा मे गर्भ धारण करता हुआ विविधवर्णा (ऋतुओ) का विधान करता है। इस ससार मे रहने वाले लोग (उसके) साथ सक्रमणशील है। (हे सूर्य) तुम उषा के अनुगामी होकर उनके लिये प्रकट हुए हो। विविधवर्ण किरणो वाले श्वेत (सूर्य) के लिए यह आहुति है। प्रजापति के सन्तानभूत हमे अभय प्राप्त हो।।

उपर्युक्त मन्त्रो मे से प्रथम किसी अन्य ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है। इस मन्त्र का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। इसी कारण ऊपर जो अर्थ दिया गया है वह बहुत स्पष्ट नही बन पड़ा है। ड्रेस्डन इसका पूर्ण अनुवाद करने मे असमर्थ रहा है। किन्तु उसने केवल रौयिदश्वाय को अशुद्ध माना है और इसके स्थान पर रौहिदश्वाय के बोहृतलिंक के सुझाव का उद्धरण देते हुए स्वय रोहिताश्व अथवा रोहिताश्व पाठ का सुझाव प्रस्तुत किया है।[1] यहाँ रौपदश्वाय पाठ अधिक सगत होगा क्योकि मन्त्र के पूर्वार्ध मे वपत् (व) का उल्लेख हुआ ही है। वस्तुत सम्पूर्ण उत्तरार्ध ही भ्रष्ट है है और ड्रेस्डन द्वारा किया गया इसका अनुवाद बोधगम्य नही है।[2] आ०गृ० २।३।५ के अनुसार इसी कर्म के अन्तर्गत अग्नि का अवलोकन करते हुए कर्ता को दूसरे मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। यह मन्त्र भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं है।

इन दो मन्त्रो के अतिरिक्त मा० गृ० और आ० गृ० मे इसी प्रसग मे अन्य दो मन्त्रो (अप श्वेतपदा इत्यादि तथा न वै इत्यादि) का भी विनियोग किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन पीछे किया जा चुका है। (दे०म०स० ९९०, ९९१)

आ०गृ० का विधान है कि इसके तत्काल पश्चात् हेमन्त का मनन करते हुए कर्ता को निम्नोक्त मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

शिवो न सुमना भव ॥ [१०१०]

हे हेमन्त, हमारे प्रति कल्याणकर और सुमनस्क हो जाओ।

यह हि०गृ० १।१६।१८ मे अशुभ पक्षी के अपशकुन के उपशमनार्थ प्रयुक्त एक मन्त्र का अश है। यह सभी यजुर्वेदीय सहिताओ के एक मन्त्र का भी अश है।[3] वह

---

१ मा०गृ० (अनु०), पृ० १३१, पा०टि० ४।

२ "चक्र का निर्माण करता हुआ (?) जल मे प्रवेश करता हुआ (?) (?) यह समस्त चर ससार।" उसके मतानुसार—"प्रोपादसाविरसि इतना भ्रष्ट है कि उसका कोई विद्वत्सम्मत सशोधन नहीं हो सकता।"

३ वा०स० १६।१३,५२, तै०स० ४।५।१।४, १०।४, मै०स० २।९।२, का०स० १७।११,१६।

सुप्तम् के स्थान पर इवाया एवम् पुष्टि के स्थान पर पुष्ट्यै परान् के स्थान पर परम् और मासाधमासान् विक्कति के स्थान पर अधमासान् विममन्ती पाठान्तर है। अन्तिम पाठान्तर के द्वारा निस्सन्देह द्वितीय मन्त्र का छन्द संशोधन होकर पूर्ण अनुष्टुभ् बन गया है। गो गृ ४।१।१३ (भ ब्रा २।२।१४) मे प्रथम मन्त्र का विनियोग अष्टका के अन्तर्गत एक अन्नाहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। कौशिक १३८।१ मे अथव ३।१०।६ का विनियोग इसी क्रिया मे किया गया है। यह अथर्व मन्त्र भी उपरिलिखित मन्त्रो मे से प्रथम के बहुत समान है। इस मन्त्र का उत्तरार्ध स्वल्प पाठान्तर सहित त ब्रा (३।११।१२) में विद्यमान है। भारद्वाज द्वारा दिया गया इसका पाठ कुछ श्रौतसूत्रो मे इसके पाठ के बहुत निकट है। उन श्रौतसूत्रो मे यज्ञाग्नि के अगारो पर यज्ञ-सामग्री तपाने के लिये इसका विनियोग हुआ है।[1] द्वितीय मन्त्र किसी अन्य-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे अनुपलब्ध है। सम्भवतया इसका स्रोत अब लुप्त है।

गोभिल और खादिर द्वारा पायसाहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है[2] —

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे ।
सा न पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरां समाम् । [१००७]

जो यह आग्रहायणीरूपा (प्रथमा) गौ यम में उत्पन्न हुई और दुग्ध रूपी आहुति मे कारणरूप मे प्रविष्ट हुई यह इष्टफलदायिनी उत्तरोत्तर प्रतिवर्ष हमें विविध कामनाएँ प्रदान करे ॥ गु० वि०

यह मन्त्र अथर्ववेद मैत्रायणी और काठक संहिताओ मे विद्यमान है।[3] क्योंकि अधिकाश गृह्यसूत्रो में इससे अत्यधिक मिलते-जुलते मन्त्र का विनियोग अष्टका में किया गया है अत इसका विस्तृत विवेचन वहीं आगामी अध्याय मे किया जायेगा।

मानव गृह्यसूत्र (२।७।१) के अनुसार पायसाहुति के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिये —

श्वेतो रश्म्यो विदधात्यश्वो बभ्रुगर्भ धृष सत्वयो ज्योक ।
सम अनाश्चक्रमयो वसाना औपावसाथिरसि विश्वमेतत् ।
श्वेताय रौचिवश्चाय स्वाहा ॥ [१००८]
अभय न प्राजापत्येभ्यो भूयात् स्वाहा ॥ [१००९]

---

१ भा श्रौ २।२।१७ आप श्रौ ६।१।७ मा श्रौ १।६।१।१५।
२ गो गृ ३।६।९ (भ ब्रा २।२।१) खा गृ ३।१।१८।
३ अथव ३।१०।१ मै स २।१३।१ , का स ३९।१ ।

के लिये इसे अनुवाक्या के रूप मे उद्धृत किया गया है। परन्तु इस समस्त श्रौत-विनियोग से इसके गृह्य-विनियोग के साथ इसका विशेष सम्बन्ध लक्षित नही होता। किन्तु सामान्य प्रार्थना के रूप में इसके विनियोग का औचित्य सर्वत्र सिद्ध हो सकता है।

स्थालीपाक-आहुति के लिये का० गृ० (६०।३) में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिव । रात्रि स्तोमं न जिग्युषे ॥ [१०१३]

हे आकाशपुत्रि रात्रि, जिस प्रकार विजयी की स्तुति की जाती है, तथा किसी को गौएँ उपहार दी जाती हैं, उसी प्रकार मैं आपको आहुति प्रदान कर रहा हूँ। इसे स्वीकार कीजिये ॥ दे० पा०

यह मन्त्र ऋ०(१०।१२७।८) और का०स०(१३।१६)मे विद्यमान है। तै०ब्रा० (२।४।६।१०) के अनुसार यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे कोई अपशकुन देखे तो उसे इसका उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विनियोग मे रात्रि और स्वप्न को परस्पर सम्बद्ध माना गया है। गृह्यसूत्रकार के मस्तिष्क में भी सम्भवतया मार्गशीर्ष की पूर्णमासी रही होगी।

इसी गृह्यसूत्र मे आगे (६०।५) अन्य आहुतियो के साथ निम्नलिखित मन्त्रो (का० स० ४०।११) का विनियोग किया गया है —

अव ते हेडो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भि ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनासि शिश्रथ कृतानि ॥ [१०१४]
उदुत्तम वरुण पाशमस्मदवाधम वि मध्यम श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥[1]
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भि ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयु प्रमोषी ॥ [१०१५]

हे वरुण, स्तोत्रो, पञ्चमहायज्ञो आदि, पुराडाशादि आहुतियो द्वारा हम आपका क्रोध दूर करते हैं। अत प्रसन्नचित्त हाकर हे बलवान्, ज्ञानवान्, दीप्तियुक्त देव, आप हमे निवास प्रदान कीजिये और हमारे द्वारा किये गये अपराधो को नष्ट कीजिये ॥१॥ हे वरुण, यजमान आहुतियो द्वारा जिन पदार्थों की आशा करता है, उनकी इच्छा से मन्त्रद्वारा आपकी स्तुति करता

१ इस मन्त्र के विस्तृत विवेचनार्थ दे० म० स० ६४० (समावर्तन)।

मन्त्र रुद्र को सम्बोधित है और शतरुद्रीय स्तोत्र मे सम्मिलित है।

शा०गृ ४।१८।२ और कौ गृ ४।४।६ मे आज्याहुतियो के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है —

सुहेमन्त सुवसन्त सुग्रीष्म प्रतिधीयताम्।
सुवर्षा सन्तु नो वर्षा शरद शम्भवन्तु न ॥ [१०११]

हमें शुभ हेमन्त शुभ वसन्त और शुभ ग्रीष्म प्रदान की जाये। वर्षा हमारे लिये शुभ वर्षा हो शरद् हमारे लिये कल्याणकर हों ॥

मन्त्र का यह पाठ शा०गृ मे से उद्धृत है। कौ गृ मे प्रतिधीयताम् के स्थान पर प्रतिसुखन्ताम् पाठ है। पा०गृ ३।२।१२ के अनुसार उपनीत व्यक्ति प्रत्यवरोहण के पश्चात् इस मन्त्र का पाठ करते हैं। इसमे पूर्वार्ध के अन्त मे न भी है और उत्तरार्ध शिवा नो वर्षा सन्तु शरद सन्तु न शिवा है। यह मन्त्र किसी प्राग् गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही। क्योकि इस मन्त्र मे सभी ऋतुओ का परिगणन किया गया है अत आग्रहायणी अथवा नववर्ष उत्सव के अवसर पर इसका प्रयोग सगत है।

का गृ ६ ।२ मे निर्देश है कि अग्नि मे अपूप अनदानो की आहुति अर्पित करते समय निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये —

एवा वन्दस्व वरुण बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्।
स न शर्म त्रिवरूथ वि यसत् पात नो द्यावापृथिवी उपस्थे ॥ [१०१२]

हे मेरे आत्मा! महान् वरुण की ही वन्दना करो उस अमरत्व के रक्षक विद्वान् को नमस्कार करो। वह हमें तीनों लोको द्वारा वरणीय शरण प्रदान करे। हे पृथ्वी और आकाश अपने अक में हमारी रक्षा कीजिये ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद मत्रायणी और काठक सहिताओं मे विद्यमान है।[1] कौ ब्रा ६।६ और ऐ ब्रा १।३ ।२७ के अनुसार अग्नीषोम प्रणयन कर्म के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति यजमान की शरण ग्रहण करना चाहे अथवा उससे रक्षा की कामना करे तो होता को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस कर्म की परिसमाप्ति करनी चाहिये। तै ब्रा २।५।८।४ और आप श्रौ० १४।६।१ के अनुसार इसी कर्म मे ब्रह्मा इसका उच्चारण करते हुए अपने अक मे सोम लेता है। मा श्री २।२।४।३३ के अनुसार यजमान को इसका उच्चारण करते हुए पूर्वद्वार से प्रवेश करना चाहिये। आ श्री ३।७।१५ और शा श्री ६।१ ।११ मे वरुण के लिये उद्दिष्ट पशु की आहुति

1 ऋ ८।४२।२ म स १।२।१२ का स १७।१६।

में इसके विनियोग की पुष्टि तै० ब्रा० और आप० श्रौ० से होती है क्योंकि इन ग्रन्थों में भी विभिन्न यज्ञों में स्विष्टकृत् आहुति के साथ ही इसके विनियोग का विधान है।[1]

पा० गृ० (३।२।७) में विधान है कि अवरोहण कर्म के पश्चात् कर्ता को अग्नि का अवलोकन करते हुए निम्नांकित मन्त्र का जाप करना चाहिए —

अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः ।
सुवीर्योऽयं श्रेष्ठ्ये दधातु नौ ॥ [१०१७]

यह अग्नि सबसे वीर है, यह सबसे अधिक ऐश्वर्यवान् है, यह हजारों की प्रतिस्पर्धा करने वालों में श्रेष्ठ है। यह शोभन वीरता वाला हम दोनों (दम्पती) को कल्याण प्रदान करे॥

शां० गृ० ३।७।३ में प्रवास से लौटने पर गृहस्थ द्वारा उच्चारणार्थ इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है —

अयं नो अग्निर्भगवानयं नो भगवत्तरः ।
अस्योपसद्ये मा रिषामायं श्रेष्ठ्ये दधातु नः ॥[१०१८]

यह अग्नि हमारे प्रति ऐश्वर्यवान् है, यह हमारे प्रति अधिक ऐश्वर्यवान् है। हम इसके सान्निध्य में दुःखी न हों, यह हमें कल्याण प्रदान करे॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द में है। कौशिक० (८८।१३) में इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ के अन्तर्गत अग्नि में समिदाधान करने के लिए विहित है। तदनुसार भगवान् के स्थान पर सम्यक्ष, भगवत्तर के स्थान पर वसुवित्तम और श्रेष्ठ्ये दधातु नः के स्थान पर रक्षतु नः प्रजाम् पाठान्तर हैं। अग्नि को सम्बोधित होने के कारण पा० गृ० और कौशिक० में इसके विनियोग का औचित्य स्पष्ट है। शां०गृ० में भी सम्भवतया प्रवास से लौटकर गृहस्थ इसके द्वारा गृह्याग्नि को ही सम्बोधित करता है। तै०सं० १।५।१०।२ और का०सं० ७।१४ में भी इससे मिलता जुलता एक मन्त्र प्राप्त होता है।

भूमि-स्पर्श

हि० गृ० (२।१७।४) में विधान है कि कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ करते हुए अपने हाथों से भूमिस्पर्श करना चाहिये —

प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे ।
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ॥[१०१९]

१ तै० ब्रा० ३।५।१।४, ३।१।३।३, १२।१।१, ३।४, आप० श्रौ० ६।८।८।

हुआ तथा अनादर न करता हुआ आपके पास जाता हूँ। हे सवस्तुत आप मेरी उस प्रार्थना को जानिये हमारी आयु का नाश न कीजिये ।।३।।

यद्यपि ये मन्त्र ठीक इसी क्रम में केवल का स में प्राप्त होते हैं तथापि अन्य संहिताओं में भी ये एक दूसरे के बहुत निकट विद्यमान हैं।[1] त ब्रा त०आ शा० श्रौ और आप श्रौ में भी ये मन्त्र साथ ही साथ उद्धृत किये गये हैं।[2] इनमें से त ब्रा और शा श्रौ में इनका विनियोग वरुण को अर्पित पशु की आहुति के लिये किया गया है। त आ में ये कूष्माण्डहोम के प्रसङ्ग में विनियुक्त है। आपस्तम्ब के अनुसार वेदीनिर्माण के प्रसङ्ग में यजमान के दीक्षा स्नान के स्थान पर तीन अष्टकाओं के आधान के समय इनका पाठ किया जाना चाहिये। आ श्रौ शा श्रौ और मा श्रौ में केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग वरुण-यज्ञ में आहुतियों के लिये किया गया है।[3] अन्तिम दो मन्त्रों का कर्मकाण्डीय महत्त्व सर्वविदित है क्योंकि प्रायः सभी श्रौत और गृह्य कर्मों में यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया में इनका पाठ किया जाता है।

हि गृ (२।१७।३) में स्वल्प परिवर्तन सहित निम्नलिखित मन्त्र (का स २।१५) के पाठ के साथ एक स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करने का विधान है —

स्विष्टमग्ने अभि तत् पृणाहि विश्वा देव पृतना अभिष्य।
उरु नः पन्था प्रदिशन् विभाहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुः।। [१०१६]

हे अग्नि हमारे इस यज्ञ को शुभ करके पूर्ण कर दीजिये हे देव सभी शत्रुसेनाओं को नष्ट कर दीजिये। हमारे लिये विस्तृत मार्ग का निर्देश करते हुए प्रकाशित होइये और हमें जरारहित तेजस्वी आयु प्रदान कीजिये ।।

पा गृ (३।१।३) में इसका विनियोग आग्रयणकर्म में स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। इसमें इसके पृणाहि के स्थान पर पृणीहि विश्वा के स्थान पर विश्वकृत देव के स्थान पर देव अभिष्य के स्थान पर अविष्यत् उरु नः के स्थान पर सुगन्तु और विभाहि के स्थान पर न एहि पाठान्तर है। बौ गृ (१।६।१९) में इसे विवाहकर्म के अन्तर्गत लाजाहोम में विनियुक्त किया गया है। इस गृह्यसूत्र में भी मन्त्र का पाठ पा गृ के बहुत समान है। हि गृ और पा गृ

१ ऋ १।२४।१४ १५,११ स स २।५।१२।१ ४ २।११।२ म स ४।१ ।४ १४।१७।

२ त ब्रा २।८।२।६ त आ २।४।१ शा श्रौ ६।१ ।१ आप श्रौ १७।२२।१

३ आ श्रौ ६।१३।७ शा श्रौ ८।१।१५ मा श्रौ ५।१।३।२६

ये दोनों ही मन्त्र यजुर्वेदीय संहिताओं में साथ साथ ही नगण्य पाठान्तर-सहित उपलब्ध होते हैं।[1] इसी प्रकार से ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में भी ये दोनों साथ साथ ही विद्यमान हैं।[2] इन सभी ग्रन्थों में प्रथम मन्त्र का विनियोग यजमान के दीक्षा-कर्म में यजमान द्वारा उच्चारणार्थ उस समय किया गया है जब वह यज्ञ आसन्दी से मृगचर्म पर उतर कर आता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में भी यह मन्त्र अवरोहण अथवा विस्तृत अर्थ में भूमि-स्पर्श से सम्बद्ध था। पा० गृ० का नये यान पर बैठने के कर्म में इसका विनियोग भी इन कर्मों के बहुत निकट है। और इन सब विनियोगों के मूल में प्रतितिष्ठामि (प्रतिष्ठित होता हूं) शब्द है। बौ० गृ० के विनियोग की केवल लक्षणा द्वारा ही यह व्याख्या की जा सकती है कि पशु को यान में जोतने के माध्यम से मानो वह अपने प्रतिष्ठित होने की बात कहना चाहता है। ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में द्वितीय मन्त्र का विनियोग विविध रूप में किया गया है। श० ब्रा० में इसका उल्लेख साम के उक्थ अथवा प्रतिष्ठा के रूप में किया गया है। का० श्रौ० के अनुसार इसका उच्चारण उदकाञ्जलि अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में विधान है कि मृगचर्म पर उतरने के पश्चात् आज्याहुतियों के साथ इनका पाठ किया जाना चाहिये। किन्तु इनमें से किसी विनियोग द्वारा हि० गृ० के विनियोग की पुष्टि नहीं होती।

शा० गृ० (४।१८।४) में निर्देश है कि भूमि पर जलाभिषेक करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ४।५८।१) का उच्चारण करना चाहिए —

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ [१०२१]

यह माधुर्ययुक्त जल की लहर समुद्र से प्रकट हुई है और (सूर्य) किरण के सान्निध्य से इसने अमृतभाव की प्राप्ति की है। यह (लहर) कि घृत का गुप्त नाम है, देवों की जिह्वा (रस) और अमरत्व का केन्द्र है

आप० गृ० ४।१०।१२ (म० पा० २।३।२) के अनुसार उपनयन के समय आचार्य को इस मन्त्र का पाठ करते हुए शिष्य द्वारा उस (शिष्य) के ऊपर तीन बार जलाभिषेक कराना चाहिये। मा० गृ० १।११।२२ में इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत सप्तपदी के पश्चात् अग्नि में तीन घृतानुलिप्त शमी-समिधाओं के आधान के

---

१ वा० सं० २०।१०।२१, मै० सं० ३।११।८, का० सं० ३८।४।

२ श० ब्रा० १२।८।३।२२,२८, तै० ब्रा० २।६।५।६,७, का० श्रौ० १९।४।२३,२४, आप० श्रौ० १९।१०।२,३।

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशा सुराधस ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितु सवे। देवा देवैरवन्तु मा ॥[१०२०]

मै बल के आधार पर और राष्ट्र के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ मैं घोडों और गौओ अर्थात् पशुधन के आधार पर प्रतिष्ठत हूँ मैं अगों तथा आत्म शक्ति पर प्रतिष्ठित हूँ मैं इन्द्रियों और पुष्टि के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ मैं पृथ्वी आकाश तथा यज्ञ के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ ॥ बृहस्पति के नेतृत्व मे सवितृ-देव की प्ररणा पर सुपूज्य तीन ग्यारह अथवा तेंतीस देव अन्य देवो के साथ मेरी रक्षा कर ॥

विभिन्न गृह्यसूत्रो म प्रथम मन्त्र के विभिन्न विनियोग दृष्टिगोचर होते हैं। गो गृ और खा गृ म इनका विनियोग अग्नि के पश्चिम मे आस्तृत घास पर हाथ रखने क लिये किया गया है।[1] म० ब्रा मे द्वितीय पक्ति के पादो का परस्पर विपयय हो गया है। इसके अतिरिक्त इस पक्ति मे इसमे आत्मन् के स्थान पर आत्मनि प्राणेषु के स्थान पर प्राणे तथा पुष्टे के स्थान पर पुष्टौ पाठान्तर हैं। भा गृ (२।२) म इसके द्वारा कर्ता के प्रत्यवरोहण-स्थल क अभिमन्त्रण का विधान है। शाङ्खायन और आपस्तम्ब के मतानुसार परिवार के सदस्यो को तृणास्तरण पर लेटते हुए इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये।[2] म पा मे प्रथम पक्ति तो ठीक हि गृ के समान है किन्तु उसके पश्चात् निम्नलिखित पाठ है —

प्रति प्रजायां प्रतितिष्ठामि सव्ये ।
इह धृतिरिह विधृतिरिह रन्तिरिह रमति ॥

पा गृ मे क्षत्र के स्थान पर ब्रह्मन् राष्ट्रे के स्थान पर क्षत्रे प्राणेषु के स्थान पर पशुषु और पुष्टे के स्थान पर पुष्टौ पाठ है। साथ ही इसमे प्रत्यङ्गु प्रतितिष्ठाम्यात्मन् शब्दो का अभाव है और हि गृ के मन्त्र की तृतीय पक्ति के स्थान पर प्रतिप्रजायां प्रतितिष्ठाम्यन्ने पाठ है। आग्रहायणी मे इस मन्त्र के उपर्युक्त विविध विनियोगो के अतिरिक्त पा गृ (३।१ ।२) मे विधान है कि यदि मार्ग में यान मे कोई क्षति हो जाये तो नये यान पर बैठते हुए राजा अथवा वधू को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। बौ गृ (४।४।७) मे भी इसी प्रसङ्ग में यान मे पशु जोतनेके समय इसका विनियोग किया गया है। द्वितीय मन्त्र किसी अन्य गृह्यसूत्र मे प्रयुक्त नही हुआ है।

---

१ गो गृ ३।८।११ (म ब्रा २।२।२ ३) खा गृ ३।३।१८।
२ शां गृ ४।१८।१ आप गृ ७।१९।९ (मं पा २।१८।३

मे ग्रन्य कर्मों मे भी इसका विनियोग किया गया है । मा० गृ० २।११।१६ मे विवाह सस्कार में आहुतियो के साथ उच्चारणीय माङ्गल्य मन्त्रो मे यह भी सम्मिलित है। कौशिक० १४०।६ मे इन्द्रमहोत्सव मे एक आहुति के साथ इसक उच्चारण का विधान है। आ० श्रौ० २।१०।४,६।१।५ मे सामान्य समृद्धि प्राप्त करने के लिये उद्दिष्ट विविध काम्यकर्मो मे इसका विनियोग किया गया है। का० श्रौ० १९।६।१३ मे इसे पशु-पुरोडाश की आहुति के लिये याज्या के रूप मे लिया गया है। वस्तुत यह मन्त्र सामान्य समृद्धि की प्रार्थना है और उपयुक्त सभी स्थलों पर इसकी विनियोगार्हता सिद्ध है।

शा०गृ० ४।१८।३ के अनुसार पलाश-शाखा द्वारा भूमि का सम्माजन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र[1] का उच्चारण किया जाना चाहिये —

श नो मित्र श वरुण श नो भवत्वर्यमा ।
श न इन्द्रो बृहस्पति श नो विष्णुरुरुक्रम ॥ [१०२३]

हमारे लिये मित्र कल्याणकर हो, वरुण कल्याणकर हो, हमारे लिये अर्यमा कल्याणकर हो। हमारे लिये इन्द्र और बृहस्पति कल्याणकर हो, विस्तृत गति वाला विष्णु हमारे लिये कल्याणकर हो ॥

इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग श्रौत विनियोग द्वारा सम्पुष्ट है क्योंकि मा० श्रौ० ६।१।५।२२ मे भी इसे वेदीचयन कर्म मे भूमिसम्माजनार्थ दिया गया है।

शयन

कुछ गृह्यसूत्रो मे विधान है कि परिवार के सभी सदस्यो को भूमि पर अथवा भूमि पर आस्तृत शय्या पर लेटते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[2] —

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा न शर्म सुप्रथ ॥
(दे० म स० ६९३)

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे भी इसी कर्म की अन्य क्रियाओ के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। गोभिल, खादिर और आपस्तम्ब के अनुसार गृहस्थ को अपने हाथो से भूमिस्पर्श करते समय इसका उच्चारण करना चाहिये।[3] सम्भवतया

---

१ ऋ० १।९०।९, वा० स ३६।९, अथर्व० १९।९।६—द्वितीय और चतुर्थ पाद परस्पर विपर्यासित, द्वितीय पाद का पाठ—श विष्णु श प्रजापति ।

२ आ० गृ० २।३।६, पा० गृ० ३।२।१३, का० गृ० ६०।८, हि० गृ० २।१७।९।

३ गो०गृ० ३।९।१८ (म०ब्रा० २।२।७), खा०गृ० २।३।२४, आप०गृ० ७।१९।११ (म० पा० २।१८।८)

लिये किया गया है। यह मन्त्र यजुर्वेदीय संहिताओं में भी विद्यमान है।[1] ऋग्वेदीय ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में इस मन्त्र से प्रारम्भ होने वाले सम्पूर्ण सूक्त का विनियोग विविध कर्मों में आज्याहुतियों के लिये किया गया है।[2] आप० श्रौ ५।१७।४ और मा श्रौ १।५।४।१९ में अग्न्याधान के अन्तर्गत अग्नि पर एक घृतानुलिप्त शमी समिधा के आधान के समय इसके उच्चारण का विधान है। यही मा० गृ में इसके विनियोग का आधार प्रतीत होता है। इस मन्त्र के सभी श्रौत विनियोगों से घृत अथवा आज्य के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। किन्तु गृह्यसूत्रों में यह जल से भी सम्बद्ध है। मन्त्र के इस दोहरे विनियोग की पुष्टि शौनकीय सर्वानुक्रमणी से भी होती है क्योंकि वहाँ अग्नि सूर्य आप अथवा घृत को इस समस्त सूक्त का देवता बताया गया है। परन्तु यास्क ने इसका केवल एक ही देवता—आदित्य अथवा सूर्य बताया है क्योंकि वह समुद्र और जल से उदय होता है।[3] यद्यपि यास्क ने इसकी पुष्टि में ब्राह्मण वाक्य उद्धृत किया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उसके ध्यान में इसका विनियोग नहीं आया।

का गृ ६।६ में शय्या पर जलसिंचन करने के निमित्त सुप्रसिद्ध आपोहिष्ठीय मन्त्रों (ऋ १।९।१ ३) का विनियोग किया गया है। इसके पश्चात् इसमें शय्या को शमीशाखा द्वारा झाड़ने के लिये निम्नलिखित मन्त्र[4] का विनियोग किया गया है —

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र हवे हवे सुहव शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्र पुरुहूतमिन्द्र स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्र॥ [१०२२]

मैं परित्राण करने वाले इन्द्र रक्षक इन्द्र प्रत्येक आह्वान पर सुख पूर्वक आह्वानयोग्य शूरवीर इन्द्र अनेक जनों द्वारा आहूत शक्र (शक्तिशाली) इन्द्र का आह्वान करता हूँ। समृद्ध इन्द्र हमें कल्याण प्रदान करे॥

कौशिक और मानव ने इसका विनियोग विशिष्ट काम्य कर्मों में किया है। कौशिक ५९।१४ के अनुसार समृद्धि के इच्छुक व्यक्ति को इसका उच्चारण करना चाहिये। मा गृ २।१५।६ में अपशकुनों के दुष्प्रभाव के उपशमन के निमित्त कर्म में तिलों की आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इन दोनों गृह्यसूत्रों

१ वा स १७।८९ मै स १।६।२ का स ४०।७।
२ ऐ ब्रा ५।१६।६, कौ ब्रा २५।१ आ श्रौ ८।९।२ शां श्रौ ११।१३।११।
३ नि ७।२७ इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते, समुद्राद् ह्येषोऽद्भ्य उदेतीति च ब्राह्मणम्॥
४ ऋ ६।४७।११ अथर्व ७।८६।११ वा सं २०।५० स स १।६।१२।५
मै स ४।९।२७ का स १७।१८।

हे पृथ्वी, सत्य ही तुम पर्वतोके बलको धारण किये हुए हो। हे महती, गमनशीला, (तुम ऐसी हो) जो अपने महत्त्व से भूमि को अर्थात् उसके निवासियो को (सुख-समृद्धि से) प्रसन्न करती हो ॥

आप० गृ० ७।१६।११ (म० पा० २।१८।६) के अनुसार भूमिस्पर्श के समय इसका पाठ किया जाना चाहिये। यह ऋग्वेद और कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओ में विद्यमान है।[1] मै० स० मे यह स्योना पृथिवि आदि मन्त्र के पश्चात् निर्बाधरूप से आता है। शा० श्रौ० तथा आप० श्रौ० मे भी ये दोनो मन्त्र उपरिलिखित प्रसङ्ग मे ही एक साथ प्रयुक्त किये गये हैं। उस मन्त्र के समान ही यह मन्त्र भी पृथ्वी को ही सम्बोधित है। कीथ ने इसे अस्पष्ट कहा है। इसका प्रमुख कारण खिद्रम् शब्द है। कीथ के अनुसार इसका अर्थ भार है।[2] ग्रिफिथ द्वारा अनुसृत सायण ने इसकी व्याख्या पर्वतों अर्थात् मेघो का भेदन करने वाला बल की है। मूल रूप मे यह व्याख्या यास्क (नि० ११।३७) की है। परन्तु ऐसी व्याख्या के आधार में पृथ्वी क एक अन्तरिक्ष रूप की कल्पना अन्तर्निहित है।[3] तथापि इस मन्त्र के कर्म-विनियोग को दृष्टि में रखते हुए इस कल्पना की सीधी सङ्गति प्रतीत नही होती।

पा० गृ० ३।२।८ में विधान है कि परिवार के सदस्यो को कुशास्तरण पर लेटते हुए तीन मन्त्रो (वा० स० २१।६-८) का उच्चारण करना चाहिये। उनमे से प्रथम (सुत्रामाणम् इत्यादि) मन्त्र का विवेचन विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०म०स० २०६ । इसी प्रकार तृतीय मन्त्र (आ नो मित्रावरुणा इत्यादि) का पूर्ण विवेचन आश्वयुजीकर्म के अन्तर्गत हो चुका है (दे०म०स० ८४४)। द्वितीय मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है —

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्रां स्वस्तये ॥ [१०२५]

स्खलित न होने वाली, निर्दोष, सौ पतवारो वाली शोभन नौकारूपी पृथ्वी पर मैं कल्याणार्थ आरूढ होऊँ ॥

इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (३।१५।१० मे) नौकारोहण मे इसका विनियोग हुआ है। इसकी तुलना तै० स० १।५।११।५ और का० स० २।३ के निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है —

इमां सुनावमारुह शतारित्रां शतस्फ्याम्। अच्छिद्रां पारयिष्णुम् ॥ [१०२६]

---

१ ऋ० ५।८४।१, तै०स० २।२।१२।३, मै०स० ४।१२।२, का०स० १०।१२।

२ तै०स० (अनु०) पृ० १६१, पा०टि० २।

३ [illegible] त्वं भूमिं प्रजिन्वसीति व्यपदेशान्मध्यस्थाना ॥

गायत्री के स्थान पर अनुष्टुम् छन्द बनाने के लिये म श्रा० में इसके आगे यथाम्नाः अथाद्धिति जोड़ा गया है। शा गृ ४।१८।५ में शयनार्थ शय्या बिछाने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। मा० गृ २।७।२ में नये वस्त्र से आच्छादित दर्भास्तरण पर जलाभिषेक करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। भा गृ २।२ के अनुसार जिस स्थान पर उन्हें लेटना हो उसका अभिमन्त्रण इसके द्वारा किया जाना चाहिये। इस मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्रों म अन्य कर्मों में भी किया गया है। मानव और आपस्तम्ब ने वास्तुकर्म के अन्तर्गत गृहनिर्माण के लिये निर्दिष्ट भूमि के स्पर्श के समय इसके उच्चारण का विधान किया है।[1] शां गृ० १।२७।६ में निर्देश है कि अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को भूमि पर बिठाते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (३।१।१६ में) समावर्तन में रथावतरण के लिये इसका विनियोग किया गया है। भा गृ १।१ ।५ के अनुसार विवाह संस्कार में आसन बिछाने के समय भी इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। कौशिक ८ ।३ में अन्त्येष्टि संस्कार के अन्तर्गत शव को भूमि पर उतारने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान है। स्पष्टतया उपर्युक्त सभी स्थलों में किसी न किसी प्रकार इस मन्त्र का सम्बन्ध या तो भूमि से या उस पर किसी पदार्थ के रखने अथवा उतारने की क्रिया से है।

यह मन्त्र प्राय सभी संहिताओं में विद्यमान है।[2] किन्तु त स में इसकी अनुपलब्धि आश्चर्यजनक है। निरुक्त ९।३२ में पृथ्वी को सम्बोधित मन्त्र के उदाहरणरूप इसे उद्धृत किया गया है। पृथ्वी सम्बन्धी कर्मों से इसका सम्बन्ध श्रौत सूत्रों में ही संस्थापित दिखाई देता है। आ श्रौ ८।१४।१८ के अनुसार महानाम्नी अध्ययन के अवसर पर शिष्य को भूमिस्पर्श करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। आप श्रौ १६।१७।१७ में अग्निचयन प्रसंग में आहवनीय-अग्निशाला में पदार्पण करते समय इसके उच्चारण का विधान है। शा श्रौ ९।२८।११ में भी पृथ्वी को आहुति अर्पित करने के लिये इसके उच्चारण का निर्देश है।

हि गृ० २।१७।६ में कुशास्तरण पर शयनार्थ अधोलिखित मन्त्र का भी विनियोग किया गया है —

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि॥ [१०२४]

---

१ मा गृ २।११।६ १ आप गृ ७।१७।३ (मं पा २।१२।२)
२ ऋ १।२२।१५ अथर्व १८।२।१९ वा सं ३५।२१ ३६।१३ म सं
का स ३८।१३

सहित, और पृथ्वी के सातो स्थानो (द्वीपो) सहित (हम) उठते हैं ॥

पृथिव्या सप्तधामभि शब्द ऋ० १।२२।१६ का तृतीय पाद है (दे०म० स० १०३०)। हि०गृ० २।१७।१० मे उपर्युक्त कर्म मे ही इस मन्त्र के अत्यन्त सन्निकट तै० स० १।२।८।१ का विनियोग किया गया है —

उदायुषा स्वायुषोदोषधीना रसेनोत्पर्जन्यस्य शुष्मेणोदस्थाममृतॉं अनु ॥

(समस्त आयुसहित, अपनी आयुसहित, ओषधियो के रससहित, पर्जन्य के बल सहित मैं देवो के प्रति उठता हूँ ॥)

हि०गृ० २।१७।११ मे मन्त्र का आशिक रूपान्तर उदस्थाममृता अभूम उत्थान के पश्चात् उच्चारणार्थ विनियुक्त है। आपस्तम्ब और भारद्वाज के अनुसार इसका उच्चारण उपनयन सस्कार मे बाँह पकडकर शिष्य को उठाते समय आचार्य द्वारा किया जाना चाहिये।[1] अथर्व० ३।३१।१० तथा ११ मन्त्रो के पूर्वार्धो को जोडकर भी यह मन्त्र प्राप्त किया जा सकता है। पाठान्तर सहित यह अन्य यजु सहिताओ मे भी विद्यमान है।[2] जिस प्रकार गृह्यसूत्रो मे सर्वत्र इसका सम्बन्ध उत्थान-क्रिया से है, उसी प्रकार श०ब्रा०, का०श्रौ० और आप०श्रौ० मे भी सोमयाग के अन्तर्गत इसका विनियोग हाथो मे सोम लेकर राजा के उठने के प्रसङ्ग मे किया गया है।[3]

शा०गृ० ४।१८।१३ के अनुसार कुशास्तरण पर से उठने की क्रिया के साथ निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।११३।१६) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

उदीर्ध्वं जीवो असुर्नआगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्था यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयु ॥ [१०२९]

हे उषाओ, तुम सब उठो (जिससे कि) प्राणो के रूप मे जीव हमारे पास आ जाये, अन्धकार दूर चला जाये और प्रकाश आ जाये। सूर्य के जाने के लिये (उस) मार्ग को (अन्धकार) रिक्त कर दे जिमपर हम आयु को पार करते हुए चलते रहे ॥

इसी प्रसङ्ग मे मा०गृ० २।७।५ मे इस मन्त्र का जो रूप उद्धृत किया गया है, उसमे आगादप के स्थान पर आगादप और प्रतिरन्त के स्थान पर प्रतर न. पाठ है। जैसा कि सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है, यहाँ आगादप का विसर्ग भ्रष्ट प्रतीत होता है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इसके गृह्य-विनियोग की प्रेरणा आद्य

१ आप०गृ० ४।११।१८ (म०पा० २।५।११), मा० गृ० १।६।
२ वा०स० ४।२८, वा०स०का० २।७।५, मै०स० १।२।६, का०स० २।६।
३ श०ब्रा० ३।३।३।१४, का०श्रौ० ७।६।३, आप०श्रौ० १०।२७।६।
४ मा०गृ० (अनु०) ड्रेस्डन, पृ० १३३, पा० टि० १४।

इस सौ पतवारों वाली, सौ तलवारो वाली छिद्ररहित पार कराने वाली शोभन नाव (रूपी पृथ्वी) पर मैंने आरोहण किया है ॥

यह और वा स मन्त्र दोनो ही लाक्षणिक रूप मे शोभन नाव कही गई पृथ्वी को सम्बोधित है ।[1] कुशास्तरण पर लेटने की क्रिया मे इसका विनियोग करते हुए पा गृ ३।२।८ मे भी अप्रत्यक्षरूप से पृथ्वी की ओर ही सकेत किया गया है क्योकि वस्तुत यहाँ अभिप्राय भूमि पर अवरोहण का ही है। किन्तु नौकारोहण के प्रसङ्ग मे विनियोग करते समय इसके रचयिता को सम्भवतया सुनावम् शब्द से प्रेरणा प्राप्त हुई ।

आ गृ २।७।४ मे निर्देश है कि गृहस्थ को परिवार के अन्य सदस्यो को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए लेटने को प्रेरित करना चाहिये —

शाम्यन्तु सर्पा स्वधया भवन्तु ये अन्तरिक्ष उत ये दिवि श्रिता ।
इमां महीं प्रत्यवरोहेम ।
शिवामन्वतां शिवां शान्तां सुहेमन्तामुत्तरामुत्तरां समां क्रियावतीम् ॥ [१०२७]

जो सर्प अन्तरिक्ष मे और जो आकाश मे स्थित है वे सब शान्त हो जाय वे अपने आप में ही स्थित रहें। हम इस कल्याणकारिणी निरन्तर कल्याणकारिणी और शान्त तथा शोभन हेमन्त ऋतु वाली प्रत्येक आगामी वर्ष मे क्रियाओ से पूर्ण पृथ्वी पर उतर आयें ॥

यह मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यपरम्परा मे केवल इस विशिष्ट कर्म मे ही इसका विनियोग किया गया है क्योकि मन्त्र मे भी सर्प प्रार्थना है और यह कर्म भी सर्प सम्बन्धी है। साथ ही मन्त्र मे अवरोहण क्रिया का भी उल्लेख है।

कुशास्तरण पर से उत्थान

पा गृ ३।२।१४ मे विधान है कि कुशास्तरण पर से उठते हुए कौटुम्बिकजनो को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥ [१०२८] ... पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्या सप्तधामभि ॥ [१०२८]

समस्त आयु सहित अपनी आयु सहित पर्जन्य की वृष्टि (के सुफल)

1 यज्ञ को भी नाव माना गया है। उव्वट और महीधर ने इस विषय में यह श्रुति वाक्य उद्धृत किया है— तद्दै सम एव यज्ञो नौ स्वर्ग्या ।

2 उत्तरामुत्तरा समाम् शब्द ऋ ४।५७।७ तथा अथर्व १२।१।३१ के चतुर्थ पाद में आते हैं।

होती।"[1] वृहद्देवता (७।६०,८।७७,८७) और सर्वानुक्रमणी मे ऋ० १०।१८५,१७८, ५७ का स्वस्त्ययन सूक्तो के रूप मे उल्लेख किया गया है। ऋग्विधान (४।२३।२-३) में यह नाम इनमे से प्रथम दो सूक्तो का दिया गया है। ऐ० ब्रा० (४।२९) में इनमे से केवल द्वितीय को स्वस्त्ययन कहा गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से वृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी का मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। परन्तु स्वामी दयानन्द ने सस्कार विधि मे स्वस्तिवाचन मन्त्रो के उल्लेख मे नारायण का अभिमत ही स्वीकार किया है।

शूलगव

इस यज्ञ मे रुद्र को वृषभ अथवा गौ की आहुति अर्पित की जाती है। इसके उपर्युक्त नामकरण का कारण यह है कि इसमे वृषभ अथवा गौ के अवयवो (गव्यानि) को लौहशलाकाओ (शूलो) पर पकाया जाता है। गृह्यसूत्रों के वर्णनानुसार इसके वार्षिक अनुष्ठान का अनुमान होता है।[2] इसके उद्देश्य के विषय मे कहा गया है कि इस कर्म से बहुविधसमृद्धि प्राप्त होती है। नीचे के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस कर्म में विनियुक्त अधिकाश मन्त्रो के विनियोग का स्रोत श्रौतसूत्रो मे है क्योकि मूलरूप में यह कम वहाँ वर्णित है।

आ०गृ० ४।८।६ के अनुसार यजमान को पशुकुल मे से श्रेष्ठ बछड़ा लेकर, जल द्वारा उसका अभिषेक करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसका सवधन करना चाहिये —

रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्व ॥[१०३५]

रुद्र महादेव को अर्पित तुम वृद्धि को प्राप्त हो ॥

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है।

आ०गृ० ४।८।१५ मे आगे निर्देश है कि इस बछड़े के दाँत निकलने के पश्चात् यजमान को ग्राम से दूर एक यूप गाढकर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए बछड़े को उससे बांधना चाहिये —

यस्मै नमस्तस्मै त्वा जुष्ट नियुनज्मि ॥ [१०३६]

जिसको नमस्कार है, उसके लिये अर्पित तुम्हे मैं बाँधता हूँ।

शा०श्रौ० ४।१७।६ में इसी प्रसङ्ग मे इससे मिलता जुलता मन्त्र रुद्राय त्वा जुष्ट नियुनज्मि रूप मे प्राप्त होता है।

---

१ ऋ० मन्त्रज इन दि आ०गृ०, पृ० २७।

२ इ०वं०कल्प०, पृ० ४३२।

शब्द उदीच्यम् से प्राप्त हुई होगी। अन्यथा इस मन्त्र की देवता उषा है।

आ गृ २।३।१ मे उत्थान के पश्चात् सभी कौटम्बिको द्वारा निम्नलिखित मन्त्र (ऋ १।२२।१६) के उच्चारण का विधान किया गया है —

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥[१०३०]

जहाँ पृथ्वी के सात स्थानो (द्वीपो) पर विष्णु ने सक्रमण किया है वहाँ देवता हमारी रक्षा करें॥

आ श्रौ १।११।१३ ६।७।२ और शा०श्रौ १३।७।५ मे इसका विनियोग विभिन्न भागो मे आहुति-अर्पणार्थ किया गया है। विचक्रम शब्द मे उत्थान की ध्वनि निकलती है और साथ ही मन्त्र मे भूमि (के सात स्थानो) पर रक्षा की प्रार्थना की ही गई है। यही इसके गृह्यविनियोग का सयोजकसूत्र रहा होगा।

इसी गृह्यसूत्र म आगे चलकर (२।३।१२ मे) यह विधान है कि उपर्युक्त मन्त्र के साथ साथ सूर्य-देवताक सौर्य सूक्तो तथा मङ्गलवाचक स्वस्त्ययन सूक्तो का उच्चारण किया जाना चाहिये। भाष्यकार नारायण ने सौर्य सूक्तों के आद्य शब्द निम्नलिखित दिए हैं —

सूर्यो नो दिव ॥[१०३१]
उदु त्य जातवेदसम् ॥[४७०]
चित्र देवानाम् ॥[६३६]
नमो मित्रस्य ॥[१०३२]

ये चारो सूक्त क्रमश ऋ १०।१५८ १।५०।१-६ १।११५ और १०।३७ है। ऐ ब्रा ४।१०।६ १२ और आ श्रौ ६।२।१८ मे भी इन सूक्तो के उच्चारण का विधान सूर्यस्तुति में किया गया है और उन्हे सौर्य ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थो और आ गृ में इन सूक्तो का क्रम भी एक समान है।

स्वस्त्ययन सूक्तो के निम्नलिखित आद्य शब्दो को उद्धृत करते हुए नारायण ने यह भी कहा है कि उनमें स्वस्ति शब्द प्रत्येक में होता है —

आ नो भद्रा ॥[१०३३]
स्वस्ति नो मिमीताम् ॥[५२७]
परावतो ये दिधिषन्त आप्यम् ॥[१०३४]

ये क्रमश ऋ १।८९ ५।५१।११ १५ और १०।६३ हैं। इनको स्वस्त्ययन मानने में स्टेंज्लर ने नारायण का ही अनुसरण किया है। किन्तु आप्टे का मत है कि इस विषय में नारायण के मत की पुष्टि किसी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती

भवाय देवाय स्वाहा ॥ शर्वाय देवाय स्वाहा ॥ ईशानाय ॥ पशुपतये ॥ रुद्राय ॥ उग्राय ॥ भीमाय ॥ महते ॥ [१०८०-१०८७]

भव देव को यह आहुति अर्पित है ॥ शर्व देव को ॥ ईशान को ॥ पशुपति को ॥ रुद्र को ॥ उग्र को ॥ भीम को ॥ महादेव को ॥

आगे यह विधान है कि वेदी के मध्यभाग में ये ही आहुतियाँ भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा इत्यादि रूप में इन्ही मन्त्रों के उच्चारण सहित अर्पित की जानी चाहियें। इस प्रकार इन मन्त्रों के चतुर्थ्यन्त शब्दों को षष्ठ्यन्त करके स्वाहा से पहले पत्न्यै का उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी प्रकार वेदी के पृष्ठभाग में उपर्युक्त आहुतियाँ अर्पित करने के लिये इन मन्त्रों में पत्न्यै के स्थान पर सुताय शब्द रखा जाना चाहिये। आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० में उन्ही मन्त्रों का विनियोग अग्नि में (मांस छोड़कर) केवल ओदन के अवदानों की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है।[1] ऊपर के समान ही इन गृह्यसूत्रों में भी इन देवों की पत्नियों को आहुतियाँ अर्पित करने के लिये भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा इत्यादि रूपान्तर किये गये हैं। किन्तु इन गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों के पत्न्यै के स्थान पर सुताय सहित तृतीय रूप नहीं दिये गये हैं।

शा०श्रौ० ४।१८।५ में इसी प्रकार के मन्त्रों का विनियोग शूलगव में वपा की आहुति के लिये किया गया है। इसमें रुद्र के भव, शर्व, पशुपति, उग्र, महा, रुद्र, ईशान और अशनि नामों का परिगणन है। यह आश्चर्यजनक बात है कि ऋग्वेदीय आ०गृ० की अपेक्षा यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन नामों को अधिक ग्रहण किया गया है। इनमें अशनि को छोड़कर अन्य सभी नाम ले लिये गये हैं और इनमें केवल भीम जोड़ा गया है। और पा०गृ० में तो अशनि भी ले लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद से दोनों के सम्बद्ध होने पर भी आ०गृ० और शा०श्रौ० की परम्परा इस विषय में परस्परभिन्न है। दूसरी ओर यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों और शा०श्रौ० में एक अन्य समानता यह भी है कि दोनों में रुद्र के विविध नामों की पत्नियों का उल्लेख भी है। उदाहरणार्थ आहुतियों के अभिषिचनार्थ शा०श्रौ० ४।१९।५ में निम्नलिखित मन्त्रों का विनियोग किया गया है —

भवान्यै स्वाहा शर्वाण्यै स्वाहा रुद्राण्यै ईशानान्यै स्वाहा अग्नाय्यै स्वाहा ॥
(यह आहुति भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, ईशानी, अग्नायी को अर्पित है ॥)

आ०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० में निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते

१ आप०गृ० ७।२०।४, म०पा० २।१८।१८-३१, हि०गृ० २।८।६-९, भा०गृ० २।८,९

अगले सूत्र मे आ गृ मे उस पूर्ववर्ती (१।११) वाक्य की ओर सकेत किया गया है जहाँ पशुयाग के पूर्ण नियम दिये गये हैं। वहाँ पशु के स्पर्श और अभिषेक के लिये क्रमश: अधोलिखित दो मन्त्र निर्दिष्ट हैं —

अमुष्मै त्वा जुष्टमुपाकरोमि ॥
अमुष्मै त्वा जुष्ट प्रोक्षामि ॥ [१०३७-१०३८]

अमुक के लिये अर्पित तुम्हारा मैं स्पर्श करता हूँ ॥ अमुक के लिये अर्पित तुम्हारा मैं अभिषेक करता हूँ ॥

इन मन्त्रो मे अमुष्मै के स्थान पर जिस देवता को पशु अर्पित हो उसका नाम दिया जाना चाहिये। बौ गृ २।७।४ ६ और आग्नि गृ २।५।८ मे भी प्रथम मन्त्र का विनियोग पशु-स्पर्श के लिये किया गया है। इन गृह्यसूत्रो मे अमुष्मै के स्थान पर ईशानाय दिया गया है। ये दोनो मन्त्र शा औ ४।१७।७ ८ मे शूलगव के अन्तर्गत ही उपर्युक्त दोनो कर्मों के लिये विनियुक्त हुए हैं। और वहाँ अमुष्मै के स्थान पर इस यज्ञ के देवता रुद्र का नाम दिया गया है।

आ०गृ ४।८।१८ १९ मे उल्लेख है कि पशु का वध करके यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए उसकी वपा की आहुति देनी चाहिये —

हराय मृडाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवाय उग्राय
भीमाय पशुपतये रुद्राय शकराय ईशानाय स्वाहा ॥ [१०३९]

यह आहुति हर मृड शर्व शिव भव महादेव, उग्र भीम पशुपति, रुद्र शकर, ईशान को अर्पित है ॥

इस गृह्यसूत्र(४।८।२ २१)मे अन्तिम छ नाम या केवल रुद्राय स्वाहा बोलने का विकल्प भी दिया गया है। उपरिलिखित मन्त्र मे रुद्र के विभिन्न नामो का परिगणन किया गया है। अन्य गृह्यसूत्रो मे भी इसी प्रकार के मन्त्रो का विनियोग किया गया है। पा गृ ३।८।६ का विधान है कि उसे वपा की आहुति रुद्र को वसा की अन्तरिक्ष को और स्थालीपाकमिश्रित मासखण्डो की आहुतियाँ अग्नि रुद्र शर्व पशुपति उग्र अशनि भव महादेव और ईशान को अर्पित करनी चाहियें। इस मन्त्र से तथा आगामी मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि रुद्र के हर मृड शिव और शकर नाम केवल आ गृ मे दिये गये हैं अन्य किसी गृह्यसूत्र मे नहीं।

बौ गृ २।७।१८ २ और आग्नि गृ २।५।८ मे निर्देश है कि वेदी के अग्रभाग मे ओदन और आज्य मिश्रित मासखण्डो की आहुतियाँ अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये —

यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु ॥[१०५१]

जो रुद्र अग्नि में, जो जल में, जो ओषधियों में है, जो रुद्र सब लोकों में प्रविष्ट है उस रुद्र को नमस्कार हो ॥

कुछ पाठान्तर-सहित यह मन्त्र का०सं० ४०।५ में विद्यमान है। उसमें ओषधीषु के आगे यो वनस्पतिषु जोड़कर उसके आगे विरामचिह्न दिया गया है। अन्त में नमोऽस्तु के स्थान पर नमो अस्तु देवाः पाठ है। यद्यपि तै०सं० के मन्त्र में बत्तीस अक्षर हैं, तथापि उसे पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द नहीं कहा जा सकता। किन्तु का०सं० के मन्त्र में पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ् नामक पूर्ण छन्द बनता है जिसमें अप्सु तक प्रथम पाद में आठ अक्षर हैं और शेष तीनों में से प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर हैं।[1] तै०सं० के इस मन्त्र से बहुत मिलता जुलता निम्नलिखित मन्त्र अथर्व० ७।८७।१ में विद्यमान है —

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ [१०५२]

जो रुद्र अग्नि तथा जल के मध्य है, जो ओषधियों और वनस्पतियों में प्रविष्ट हुआ है, जिसने इन सब लोकों का निर्माण किया है, उस अग्नि (रूप) रुद्र को नमस्कार हो ॥

कौशिक० ५१।२९ के अनुसार समृद्धिकामी व्यक्ति को इसका जाप करना चाहिये। बौ० गृ० तथा आग्नि० गृ० में इस मन्त्र के विनियोग का स्रोत आप०श्रौ० १७।१२।१ और मा०श्रौ० ६।२।४।६ प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके अनुसार वेदीचयन कर्म के अवसर में जिन इष्टकाओं पर रुद्र की आहुतियाँ अर्पित की गई हैं उन पर सविप्रुक घास का आस्तरण करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। श्रौतसूत्रों के घास बिछाने के कर्म में तथा गृह्यसूत्रों के आहुतिशेष रखने के कर्म में परस्पर-साम्य है क्योंकि दोनों कर्मों में कुछ रखने का भाव अन्तर्निहित है।

आ०गृ० ४।८।२२ में विधान है कि वपा की आहुति के पश्चात् गृहस्थ को चार दिशाओं में स्थापित कुशसूनाओं (कुश की रस्सियों) पर बलि अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

यास्ते रुद्र पूर्वस्यां दिशि सेनास्ताभ्य एनन्नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥[१०५३]

---

१ युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा उद्धृत जयदेव, वैदिकछन्दोमीमांसा, पृ० १५७, ११।

हुए एक और आहुति अर्पित करने का विधान है[1] —

जयन्ताय स्वाहा ॥ [१०४८]

यह आहुति जयन्त को अर्पित है ॥

यह मन्त्र अन्यत्र अनुपलब्ध है ।

बौ गृ २।७।१७ और आग्नि गृ २।५।८ के अनुसार मघा की आहुति के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिए —

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥
ईशान त्वा भुवनानामभिश्रियम् ॥[१०४९,५०]

हे रुद्र आपकी भुजाओं के आघात सहस्रों के सहस्रों हैं । हे भगवन् आप ईशान (शासक) उन आघातों को हमसे पराङ्मुख कर दीजिये । सभी लोकों के शोभाभूत शासक आपकी (मैं स्तुति करता हूं) ।

प्रथम मन्त्र यद्यपि सभी यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान है तथापि इसका गृह्यपाठ वा स के एकसम होने के कारण वही इसका सीधा स्रोत प्रतीत होता है ।[2] अन्य संहिताओं में कुछ पाठान्तर हैं । उदाहरणार्थ तै सं० में सहस्रशः के स्थान पर सहस्रधा बाह्वोः के स्थान पर बाह्वोः पाठ हैं तथा मै सं में भगवः के स्थान पर भगवन् पाठ है । इन सभी संहिताओं में तथा आप श्रौ १७।११।४ में इसे शतरुद्रीय स्तोत्र में सम्मिलित किया गया है । द्वितीय मन्त्र तै ब्रा २।५।७।११ में से उद्धृत प्रतीत होता है । वहाँ यह एक अन्य मन्त्र के अंशरूप में विद्यमान है । जिस रूप में यह गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है उससे पूर्ण वाक्य नहीं बनता । तै ब्रा के पूर्ण मन्त्र की सहायता के बिना यह बोधगम्य नहीं । और वहाँ इसमें अग्नि की स्तुति की गई है । वहाँ से स्तौमि क्रिया का यहां अध्याहार करना चाहिये ।

बौ गृ २।७।२३ और आग्नि गृ २।५।२ में आगे विधान है कि ओदनमिश्रित मांस-शकलों की आहुतियों के पश्चात् यजमान को आहुतिशेष को अर्कपर्णों पर रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र (तै स ५।५।१।१२) का पाठ करना चाहिये —

---

१ आप गृ ७।२०।१४ (अ पा २।१८।१४ २१) हि०गृ २।८।६।९ भा गृ २।७ ६ ।

२ वा स १६।५३ तै स ४।५।११।१५ मै स २।९।९ का स १७।१६ । इसका अन्तिम पाठ मैं सं (६ १ १२) के एक समान है ।

विकल्प भी प्रदान किया है। वा० स० की वर्तमान माध्यन्दिन शाखा में अनुवाकों में विभाजन नहीं प्राप्त होता। भाष्यकारों के अनुसार प्रथम अनुवाक में वा०सं० १६ के प्रथम सोलह मन्त्र तथा अन्तिम अनुवाक में इसके अन्तिम बीस मन्त्र आते हैं। किन्तु काण्व शाखा के सत्रहवें अध्याय में ये अनुवाक ठीक उसी प्रकार विभाजित हैं जैसा भाष्यकारों ने उल्लेख किया है। अत यह बहुत सम्भव है कि यहाँ पारस्कर का संकेत वा० स० की काण्व शाखा के प्रति हो। अन्यथा अनुवाकों का उल्लेख निरर्थक हो जायेगा। वा० स० के इस अध्याय के विनियोग का प्राचीनतम उल्लेख श० ब्रा० ९।१।१।१४ और का०श्रौ० १८।१।१-७ में हुआ है। वहाँ शतरुद्रीय होम में आहुतियों के साथ इसके पाठ का विधान है। आप०श्रौ० १७।११।४ में भी वेदीचयन कर्म में रुद्र को आहुतियाँ अर्पित करने के लिये इसका विनियोग किया गया है।

मा०गृ० २।५।३ के अनुसार स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व चार दिशाओं तथा चार अन्तर्दिशाओं में रुद्र को आठ शरावों में रुधिर अर्पित करते हुए यजमान को आठ अनुवाकों (मै०सं० २।९।२-९) का पाठ करना चाहिये। यहाँ अनुवाकों की संख्या का प्रमुख सम्बन्ध शरावों तथा दिशाओं की आठ संख्या से प्रतीत होता है। इसी प्रकार का०गृ० ५२।७ में छः कपालों में रुद्र को छः रुधिर-बलियाँ अर्पित करने के लिये छः अनुवाकों (का० सं० १७।११-१६) का विनियोग किया गया है। बौ० गृ० २।७।२१ और आग्नि०गृ० २।५।८ में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व आज्याहुतियों के साथ

रुद्र अनुवाकों (तै० सं० ४।५) [१०५५]

के उच्चारण का विधान किया गया है। आप० गृ० ७।२०।८-९, हि० गृ० २।८।११ और भा०गृ० २।१० में शूलगव के अन्तर्गत ही वृक्ष की शाखा पर पर्णमञ्जूषा में ओदनपिण्ड लटकाने के पश्चात् इन अनुवाकों के पाठ का निर्देश है। कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं के उपर्युक्त सभी अनुवाक वा०स० १६ के अनुरूप हैं और इन सब में रुद्र की स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ हैं।

आ०गृ० ४।८।२७ में विधान है कि दर्भ घास अथवा कुशास्तरण पर रुधिर प्रवाहित करते हुए यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

श्वासिनीर्घोषिणीर्विचिन्वती समश्नुती सर्पा एतद्वोऽत्र तद्धरध्वम् ॥ [१०५६]

हे श्वास (फूंकार) वाली, घोष करने वाली, (अपने लक्ष्य को) ढूंढने वाली, और (लक्ष्य को) प्राप्त करने वाली सर्पिणियो, यहाँ यह (रुधिर) तुम्हारे लिये है, तुम उसे ग्रहण करो ॥

इसी मन्त्र का विनियोग आ०गृ० द्वारा अपने सूत्र में साँपों को यह रुधिर समर्पित करने के लिये किया गया है। इस मन्त्र की तुलना शा०श्रौ० ४।१९।७-८ में

हे रुद्र तुम्हारी जो सेनाएँ पूर्व दिशा म है उन्हे यह बलि (देता हूँ) तुम्हे नमस्कार हो मेरी हिंसा न करो ।।

जिस जिस दिशा मे बलि अर्पित की जाये उसके अनुसार मन्त्रस्थ दिशावाची शब्द मे भी परिवर्तन किया जाना चाहिये यथा दक्षिणस्याम् इत्यादि ।

पा गृ ३।८।११ मे भी इनसे मिलते-जुलते अधोलिखित मन्त्र का विनियोग चारो दिशाओ तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा म रुधिर बलि देने के लिए किया गया है —

यास्ते रुद्र पुरस्तात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम ।। [१०५४]

हे रुद्र पूर्व दिशा म जो तुम्हारी सेनाएँ है उन्हे यह बलि (अर्पित है) उन्हे और तुम्हे नमस्कार ।।

यहाँ भी बलि के दिशापरिवर्तन के साथ मन्त्रस्थ दिशावाची शब्द को परिवर्तित करके (यथा दक्षिणत पश्चात् इत्यादि) इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । ये मन्त्र किसी भी प्राग् गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे प्राप्य नही है । इस प्रकार इस कर्म के साथ रुद्र के विशेष सम्बन्ध से (जैसा कि आगामी मन्त्रो म भी स्पष्ट है) यह प्रकट होता है कि सम्भवतया इसी सम्बन्ध की परिणति आगे चलकर उसके पशुपति शिव रूप मे हुई होगी ।

आ गृ ४।८।२३ के अनुसार ये बलियाँ अर्पित करके गृहस्थ को चार सूक्तो (ऋ १।४३ ११४ २।३३ ७।४६) का पाठ करते हुए हुए चारो दिशाओ की उपासना करनी चाहिये । इन सभी सूक्तो का देवता रुद्र है। और वही शूलगव का अधिष्ठातृदेव भी है । किन्तु प्रथम सूक्त (ऋ १।४३) मे अन्तिम तीन मन्त्र सोम को सम्बोधित है । इस बात को ध्यान म रखते हुए नारायण ने इस सूक्त के इन तीनो मन्त्रो को छोडने का विधान किया है । द्वितीय सूक्त के विषय मे आ टे का कहना है कि यह सूक्त त सं ४।५।१ ।१ इत्यादि मे और वा स १६।४८ मे शतरुद्रीय स्तोत्र के रूप मे विद्यमान है । किन्तु इस सूक्त के केवल पाँच मन्त्र (१ २ ७ ८ १) त स मे प्राप्त होते है और वा स १६।४८ इस सूक्त का केवल प्रथम मन्त्र है । वा स १६ मे इस सूक्त का कोई अन्य मन्त्र प्राप्त नही होता । शा श्री ४।२ ।२ मे भी इन सूक्तो का विनियोग ठीक उपयुक्त प्रसङ्ग मे ही किया गया है ।

पा गृ ३।८।१३ मे निर्देश है कि पशु के अवशिष्टांशों को वायु की दिशा मे रखकर रुद्रमन्त्रो (अर्थात् वा स १६) द्वारा रुद्र की उपासना करनी चाहिये । पारस्कर ने वा स के इस अध्याय मे से केवल प्रथम और अन्तिम अनुवाकों के पाठ का

---

१ ऋ मन्त्रज इन वि आ गृ सू ५६ ।

जाना चाहिये। वास्तुपरीक्षा के अन्तर्गत भी इसी गृह्यसूत्र (२।८।११) में गृहनिर्माणार्थ निश्चित भूमि की परिक्रमा के लिये इसके उच्चारण का निर्देश है। और उसी कर्म में आगे चलकर (आ०गृ० २।९।७ में) यह उल्लेख है कि जलपूर्ण कलश की प्रदक्षिणा करते समय जल का प्रोक्षण करते हुए इस सूक्त का उच्चारण किया जाना चाहिये। शा०गृ० ५।१०।३ में विधान है कि यजमान के घर में मधुमक्खियो का छत्ता बन जाने पर अनुष्ठित कर्म में इसका जाप किया जाना चाहिये। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि किसी भी कर्म की घोषणा हो जाने पर उसमें इसका जाप किया जाना चाहिये (सर्वेषु च कर्मसु प्रतिश्रुतादिषु)। आ० श्रौ० ८।१४।१८ में इसका विनियोग महानाम्नीव्रत में किया गया है। शा०श्रौ० ११।६।१२ में पडह याग के षष्ठ दिवस इसके उच्चारण का विधान है। शा०श्रौ० १६।१३।६ में शन्तातीय सूक्त नाम से इसका उल्लेख किया गया है।

आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० अन्य गृह्यसूत्रो से इस बात मे भिन्न है कि इनमे किसी पशु की बलि का विधान नहीं है। इन गृह्यसूत्रो के अनुसार यजमान को स्थालीपाक बनाकर अग्नि की पश्चिम दिशा मे दो कुटीर बनाने चाहिये और फिर शूलगव (आपस्तम्ब के अनुसार ईशान) को दक्षिण कुटीर मे ले जाते हुए निम्नलिखित मन्त्र (मै०स० २।९।१) का पाठ करना चाहिये[1] —

आ त्वा वहन्तु हरय सुचेतस. श्वेतैरश्वैरिह केतुमद्भि ।
वातजवैर्बलवद्भिर्मनोजवैरस्मिन् यज्ञे हव्याय शर्व ॥ [१०५९]

हे शर्व, आहुति (प्राप्त करने) के लिय तुम्हें इस यज्ञ में (सूय के) शोभन चेतनायुक्त अश्व (अर्थात् किरणे) प्रकाशचिह्नो से युक्त, वायु के वेग वाले, बलवान्, मन के समान वेगवान् श्वेत अश्वो (अर्थात् किरणो) के साथ यहाँ ले आयें।

इस मन्त्र के चार आद्य शब्द ऋ० १।१६।१ का प्रथम पाद भी है। बौ०गृ० २।७।१६ और आग्नि०गृ० २।५।८ के अनुसार भी यजमान को पशु की वपा की आहुति से ठीक पूव इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए इस कर्म के अधिष्ठातृ-देव को यज्ञ-स्थली पर ले जाना चाहिये। म०पा० के अतिरिक्त अन्य सभी गृह्यसूत्रो में इस मन्त्र के अन्त मे ओम् जोडा गया है। हि०गृ० मे मन्त्र का पाठ मै०स० के पाठ के लगभग एकसम है। सभी गृह्यसूत्रो मे उपरिलिखित मै०स० के सुचेतस, इह तथा वातजवै पाठो क स्थान पर क्रमश सचेतस, सह तथा वाताजिर शब्द दिये गये हैं। हि०गृ० और आग्नि०गृ० म अस्मिन् यज्ञे के स्थान पर आयाहि शीघ्रम् पाठ है। म०पा० और

1 आप०गृ० ७।२०।१ (म०पा० २।१८।१०), हि०गृ० २।८।२, भा०गृ० २।८।

शूलगव के अन्तर्गत रुद्र-सेनाओं को पत्तों पर यज्ञपशु का रुधिर अर्पित करने के लिये विनियुक्त निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है —

> घोषिण्य प्रतिघोषिण्य संघोषिण्यो विचिन्वत्य श्वसना क्रव्याद
> एष वो भागस्त जुषध्व स्वाहा ॥ [१०५७]

हे घोष करने वाली प्रतिघोष करने वाली तीव्र घोष करने वाली (लक्ष्य का) ढूंढने वाली फुंकारने वाली मांसभक्षिणी (सर्पिणियो) यह तुम्हारा भाग है उसे स्वीकार करो ॥

आ गृ के मन्त्र की भाषा शा श्रौ के मन्त्र की भाषा से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है क्योंकि उसमे विचिन्वत्य इत्यादि के स्थान पर सम्बोधन के विचिन्वती इत्यादि अपवादात्मक रूप दिये गये हैं। यह बहुत सम्भव है कि इस मन्त्र की गृह्य परम्परा श्रौत परम्परा से नितान्त भिन्न हो और उपरिनिर्दिष्ट आर्ष प्रयोगो का कारण आश्वलायन का शाङ्खायन से पूर्ववर्ती होना ही। प्रत्युत जैसा कि डॉ राम गोपाल ने दिखाया है यह तथ्य आश्वलायन को शाङ्खायन का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिये एक और तर्क हो सकता है।[1]

आ गृ ४।८।३६ मे मन्त्र से यह निर्देश है कि यजमान को शन्तातीय सूक्त ऋ ७।३५ का पाठ करते हुए अपने घर लौट आना चाहिये। उस सूक्त का आद्य मन्त्र यथोलिखित है —

> शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभि शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
> शमिन्द्रासोमा सुविताय शयो शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ [१०५८]

इन्द्र और अग्नि रक्षा के द्वारा हमारे लिये शान्तिप्रद हो जिनको आहुति प्रदान की गई है ऐसे इन्द्र और वरुण हमारे लिये शान्तिप्रद हों। इन्द्र और सोम हमारी सन्तान के लिये शान्तिप्रद और सुखकर हों इन्द्र और पूषा युद्ध मे हमारे लिये शान्ति (धैर्य) प्रद हों ॥

ऋग्वेद के इस सूक्त मे अथर्ववेद का सूक्त (१६।१० ११) समाविष्ट हैं। वा स (३६।११) मे इसका केवल प्रथम मन्त्र विद्यमान है। इस सूक्त के सभी मन्त्रो में विभिन्न देवताओ से शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। सम्भवतया शान्ति की इस सामान्य प्रार्थना के आधार पर इस गृह्यसूत्र मे और शा० गृ मे भी इसका विनियोग अन्य कर्मों मे भी किया गया है। आ गृ ४।८।४३ में विधान है कि यजमान के पशुओ के रोगग्रस्त हो जाने पर अनुष्ठित कर्म मे इसका पाठ किया

---

१ हि० व कल्प० पृ० ७१-७२।

करते हुए यजमान को इस कर्म के सभी आवश्यक उपकरणों की परिक्रमा करनी चाहिये —

पूर्णमुख परिक्रामन्तु ॥ [१०६४]

ये सभी उपकरण पूर्णमुख अर्थात् पूरित उदर वाले ईशान के पास जायें अर्थात् उसे समर्पित हों ॥

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में से कोई भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है।



पञ्चदश अध्याय

अष्टकाएँ

इस कर्म में विनियुक्त मन्त्रों से प्रकट होता है कि इसे भी नववर्षोत्सव माना जाता था। अधिकांश गृह्यसूत्र एक वर्ष में तीन अष्टकाएँ मनाने के विषय में एकमत हैं। विभिन्न गृह्यसूत्रों के अनुसार इन अष्टकाओं के अनुष्ठान के विभिन्न समय हैं। अष्टकाओं की अनुष्ठानविधि के सम्बन्ध में भी गृह्यसूत्रों में मतभेद है। किन्तु साधारणतया सम्मति यह है कि प्रथमाष्टका का अनुष्ठान अपूपों के द्वारा, द्वितीय का मांस के द्वारा और तृतीय का शाक के द्वारा किया जाना चाहिये।[1]

प्रथमाष्टका

हि०गृ० २।१४।३ और आग्नि०गृ० ३।२।१ में इस अष्टका की तैयारी के रूप में यह विधान है कि उससे पहले दिन पुरोडाश बनाने के निमित्त चार शरावों में से व्रीहि (चावल) उँडेलते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये —

> इममपूपं चतुःशरावं निर्वपामि क्लेशावहं पितॄणां साम्पराये देवेन सवित्रा प्रसूतः। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो वो जुष्टं निर्वपामि ॥[१०६५]

सवितृदेव की प्रेरणा से मैं परलोक में पितरों के क्लेश दूर करने वाले चार शरावों में निर्मित इस अपूप को यहाँ रखता हूँ। हे अपूप, पितरों, पितामहों, प्रपितामहों के लिये निर्दिष्ट तुम्हें मैं सवितृदेव की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से और पूषा के हाथों से रखता हूँ।

---

१ इस विषय में विस्तृत विवेचनार्थ दे०, इ०वै०कल्प०, पृ० ४१५-४१७।

मा०गृ० मे उसराम मे बलवद्विमनोजवरस्मिन् यज्ञ शु० ो का अभाव है। इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का स्रोत सम्भवतया मा श्रौ ११।७।१।१४ है क्योंकि वहाँ भी रुद्रजापयाग के अन्तगत रुद्र को निमन्त्रित करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।[1]

आप गृ हि गृ और भा गृ म निदश है कि शूलगव, मीढषी और जयन्त को तीन पृथक कुटीरा म उनको क्रमश अर्पित करने के पश्चात् उसे तीनो देवताओ द्वारा ओदन-खण्डा का स्पश कराते हुए क्रमश निम्नलिखित तीन मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिये[2] —

उपस्पृशतु मीढ्वान् मीढुषे स्वाहा ॥
उपस्पृशतु मीढुषी मीढुष्यै स्वाहा ॥
जयन्तोपस्पृश जयन्ताय स्वाहा ॥ [१०६० ६२]

समृद्धियुक्त (शूलगव) स्पश करे उस समृद्धि युक्त को यह अर्पित ह ॥ समृद्धियुक्त (उसकी पत्नी) स्पश करे उसको यह अर्पित है ॥ हे जयन्त इसका स्पश करो यह जयन्त को अर्पित है ॥

यह मन्त्र किसी अन्य गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है।

इसके पश्चात् भवाय देवाय स्वाहा इत्यादि मन्त्रो का उच्चारण करते हुए भव उसकी पत्नी और जयन्त को ओदन-खण्ड अर्पित किये जाने चाहिये। उन मन्त्रो के विवेचनाथ दे म स १ ४ १ ४८।

आप गृ ७।२ ।४(म पा २।१८।१२) और भा गृ २।६ मे विधान है कि तत्पश्चात् अधोलिखित मन्त्र के द्वारा ईशान की उपासना की जानी चाहिये —

स्वस्ति न पूर्णमुख परिक्रामतु ॥ [१०६३]

पूर्णमुख अर्थात् पूरित उदरवाला ईशान कल्याणकर होकर हमारी ओर आये ॥

हि गृ २।८।११ के अनुसार इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का पाठ

---

१ यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा कि मा श्रौ में 'आ त्वा वहन्तु' इत्यादि मन्त्र को रुद्रगायत्री कहा गया है किन्तु (आय उद्धृत—दे गेल्डर अनु पृ २२१) वस्तुत यह मन्त्र गायत्री नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि गायत्रीछन्दस्क तथा रुद्रदेवताक 'आ त्वा वहन्तु' इत्यादि कोई मन्त्र वर्तमान संहिताओं में से किसी में भी उपलब्ध नहीं है।

२ आप गृ० ७।२ ।४ (म पा २।१८।११ १३) हि गृ २।८।५ भा

उसका स्पर्श करने के लिये किया गया है। तृतीय मन्त्र किसी भी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ मे उपलब्ध नही है।

कुछ गृह्यसूत्रों मे प्रथम मन्त्र का किञ्चिद् भिन्न प्रयोग किया गया है। आग्नि० गृ० ३।२।७ के अनुसार अष्टका से पहले दिन अपूप खण्डो की आहुतियो के साथ उच्चारित होने वाले छ मन्त्रो मे से यह एक है। इसी गृह्यसूत्र (३।२।६) मे इसका विनियोग अग्नि मे गोमास की आहुतियाँ अर्पित करने के लिए भी किया गया है। इसमे उलूखला और हवि के स्थान पर क्रमश औलूखला और अप पितृभ्य पाठ है तथा अन्त मे स्वधा नम न पूर्व कामं जोडा गया है। गोभिल और आपस्तम्ब ने गोमास के अवदानो के साथ अर्पित की जाने वाली ओदन की एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान किया है।[1] म०ब्रा० और म०पा० मे इसका पाठ हि०गृ० मे इसके पाठ के एकसम ही है—केवल उलूखला के स्थान पर औलूखला का अन्तर है। मा०गृ० (२।८।४) मे प्रथमाष्टका मे पायस के अवदानो की आहुति देते समय उच्चारणीय चार मन्त्रो मे से एक यह दिया गया है। इसके पूर्वार्ध मे अक्रत और परिवत्सरीणम् के स्थान पर क्रमश अकुवत और परिवत्सरीयम् पाठ है। उत्तरार्ध मे सुप्रजा वीरवन्त के स्थान पर सुप्रजस सुवीरा पाठ है और तत्पश्चात् ज्योग्जीवेम बलिहृतो वय ते पाठ है। इसके अतिरिक्त इसमे इस मन्त्र के पश्चात् सुराधसे स्वाहा शब्दो के उच्चारण का निर्देश भी है। यह मन्त्र पाठान्तरसहित अथर्व० मे विद्यमान है।[2] अथर्व० मे यह अष्टका देवता वाले सूक्त का एक मन्त्र है।

आ० गृ० (२।४।६) के अनुसार अष्टका से पहले दिन गृहस्थ को ऋग्वेद के १०।१५ सूक्त के प्रथम आठ अथवा जितनी इच्छा हो उतने मन्त्रो का जाप करते हुए पितरो को ओदन, तिलौदन, पायस अथवा चतु शरावपरिमित धान के अपूपो की आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। उक्त सूक्त का आद्यमन्त्र निम्नलिखित है —

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमा पितर सोम्यास ।
असु य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ [१०६६]

सोमसम्पादन करने वाले पृथ्वीस्थानीय पितर यहाँ आये, द्युस्थानीय पितर यहाँ आये, अन्तरिक्षस्थानीय पितर यहाँ आये। जो (स्थूल शरीर त्यागकर प्राण (-रूप सूक्ष्मशरीर) को प्राप्त हुए हैं, वे शत्रुरहित (अथवा

---

१ गो० गृ० ४।१।१६ (म० ब्रा० २।२।१३), आप० गृ० ८।२२।५ (म० पा० २।२०।३४)।

२ अथर्व० ३।१०।५—उलूखला के स्थान पर वानस्पत्या और सुप्रजा वीरवन्त के स्थान पर सुप्रजस सुवीरा (दे० ऊपर मा०गृ०)।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नही है । उत्तरार्ध त०स ७।१।११।१ में विद्यमान है । इस का विवेचन उपनयन के अन्तर्गत हो चुका है । दे०म स ५४१

हि०गृ २।१४।४ के अनुसार उस चावल का पुरोडाश बनाकर उसे उसके अवदानो की आहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित तीन मन्त्रो का उच्चारण करना चाहिये —

उलूखला ग्रावाणो घोषमक्रत हविः कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ स्वधानम ॥
[१०६६]

अपूपं देव घृतवन्तमग्ने स्वधावन्तं पितृभ्यस्तर्पणाय ।
यथातथं वह हव्यमग्ने पुत्रः पितृभ्य आहुतिं जुहोमि ॥ स्वधानम ॥
[१०६७]

अयं चतुश्शरावो घृतवानपूपः पयस्वानग्ने रयिमान्पुष्टिमांश्च ।
प्रतिनन्दन्तु पितरः संविदानाः स्विष्टोऽयं सुहुतो ममास्तु ॥ स्वधानम ॥
[१०६८]

वार्षिक आहुति बनाते हुए ऊखलो और पाषाणो ने शब्द किया है । हे एकाष्टके शोभन सन्तति वाले तथा वीरो से युक्त हम धन के स्वामी हो जाय ॥ हे अग्निदेव पितरो के तर्पण के लिये स्वधायुक्त और घृतयुक्त अपूप रूप आहुति को ठीक इसी रूप मे ले जाओ मैं पुत्र पितरो को आहुति अर्पित करता हूँ । स्वधा नमस्कार ॥ हे अग्नि चार शरावो से बना हुआ यह अपूप घृतयुक्त दुग्धयुक्त समृद्धियुक्त और पोषणयुक्त है । इसको प्राप्त करने वाले पितर आनन्दित हों शोभन प्रकार से अर्पित यह मेरे लिये शोभन यज्ञ हो ॥ स्वधा नमस्कार ॥

भा गृ २।१५ मे इसी प्रसङ्ग मे केवल प्रथम और तृतीय मन्त्रो का विनियोग किया गया है । तृतीय मन्त्र मे इसमे प्रतिनन्दन्तु के स्थान पर प्रतिगृह्णन्तु पाठ है और अन्त मे पितृभ्य स्वाहा जोडा गया है । केवल द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद सुप्रसिद्ध वात्सप्र सूक्त के एक मन्त्र के द्वितीय पाद के रूप मे विद्यमान है ।[1] इस सूक्त का विनियोग आप गृ ६।१५।१(म०पा २।११।२८) द्वारा शिशु जन्म के तत्काल पश्चात्

---

१ ऋ १०।४५।६ का स १२।२६ तै०स ४।२।२।३ म स २।७।६ का स १६।६ ।

(६।१४,६) मे भी ये तीनो मन्त्र पाठान्तर सहित उद्धृत किये गये है। तदनुसार प्रथम मन्त्र मे अन्तरस्याम् और जजान के स्थान पर क्रमश सा वस्वन्त और मिमाय पाठ हैं तथा तृतीय मन्त्र मे प्रथम पाद प्रथमा ह व्युवास ह और धुक्ष व स्थान पर दुहाम् पाठ है। इसका द्वितीय मन्त्र उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र से एकगम है जहाँ तक इनके विनियोग का प्रश्न है, प्रथम मन्त्र के उच्चारण का विधान तृतीय अष्टका में एक आज्याहुति के साथ किया गया है। अन्तिम दोना मन्त्रो का विनियोग स्थालीपाक आहुति के साथ किया गया है। ये दाना मन्त्र पा०गृ० (३।३।५) म प्रथम अष्टका के आरम्भ मे दो आज्याहुतिया क साथ उच्चारणार्थ उद्धृत किय गये हैं। शा०गृ०, आप०गृ० और आग्नि०गृ० मे इनम से कवल प्रथम मन्त्र ही लिया गया है।[1] शा०गृ० मे इसका विनियोग प्रथमाष्टका मे शाक की एक आहुति के लिये किया गया है। इनमे व्यौच्छत्, नवगत् तथा सचन्ते क स्थान पर क्रमश व्युच्छत्, नवकृत् और सचन्ताम् पाठ ह। किन्तु कौ०गृ० (३।१५।३) मे ये शब्द क्रमश व्यौच्छत्, नवकम् और सचन्ताम् है। आप०गृ० के अनुसार एकाष्टका के दिन गोमास सहित ओदन की आहुति देते हुए इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। आग्नि०गृ० मे उसका विनियोग अपूपावदान की द्वितीय आहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। इसमे मन्त्र के अन्त म कामै स्वधा नम शब्द जोड गये ह। गोभिल और खादिर के मतानुसार द्वितीय मन्त्र का उच्चारण एक विशेष कर्म मे इन्द्राणी के लिये उद्दिष्ट स्थालीपाक की आहुति अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये।[2] म०ब्रा० मे इसके तृतीय पाद का पाठ तेन देवा असहन्त शत्रून् है। यद्यपि इस मन्त्र की देवता एकाष्टका है और इसीलिये भाष्यकारो ने इसे एकाष्टका कर्म स सम्बद्ध किया है, तथापि पहले के सूत्रो के प्रसङ्ग से इस सम्बन्ध की पुष्टि नही होती। अत इस विषय मे ओल्डनबर्ग के साथ सहमत होते हुए इस मन्त्र को किसी ग्राम्य उत्सव से सम्बद्ध करना अधिक समीचीन होगा।[3]

ये तीनों मन्त्र स्वल्प पाठान्तरसहित अथर्व० के एक ही सूक्त (३।१०।४,१२,१)

---

१ शा०गृ० ३।१२।२, आप०गृ० ८।२२।५ (म०पा० २।२०।३०), आग्नि०गृ० ३।२।२।

२ गो०गृ० ४।४।३२ (म०ब्रा० २।३।२१), खा०गृ० ३।५।४०।

३ से०बु०ई०, ख० ३०, पृ० ११४, सूत्र ३२-३४ पर पा०टि०, दे० ओल्डनबर्ग के शब्द-"गृह्यकर्मों मे प्राय यह देखने मे आता है कि मन्त्रों का प्रयोग उन कर्मो मे किया जाता है जिनका उन कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं जिनके लिये मूलरूप मे उन मन्त्रों की रचना हुई थी।"

इच्छा रहित) सत्य (यज्ञ अथवा वृष्ट्युदक) के ज्ञाता पितर आह्वान करने पर हमारी रक्षा करें ॥ ह० मि०

यह सम्पूर्ण सूक्त तो नहीं किन्तु इसके कुछ मन्त्र अथर्व और यजुर्वेद की संहिताओं में भी लगभग साथ साथ ही विद्यमान हैं।[1] ऐ० ब्रा० ३।३७।१२ में एक ही स्थान पर इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्र उद्धृत हैं। आ० श्रौ० (२।१६।२२) में महा पितृयाग के प्रसङ्ग में इस सूक्त के अनेक मन्त्रोंका विनियोग किया गया है। शा० श्रौ० (३।१६।५) में भी साकमेध के अंगरूप अनुष्ठित पित्र्येष्टि में इस सूक्त के कई मन्त्रों के पाठ का विधान है। यह ऋग्वेद का एक पितृसूक्त है। अतः स्वाभाविक रूप से श्रौत तथा गृह्य दोनों ही कर्मों में पितरों से यह सम्बद्ध है।

हि० गृ० (२।१४।५) में निर्देश है कि पुरोडाश के अवदानों की आहुतियों के पश्चात् स्थालीपाक की आहुतियाँ अर्पित करते समय अधोलिखित तीन मन्त्रों (तै० सं० ४।३।११।१ ३ ५) का उच्चारण किया जाना चाहिये —

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा ।
वधूर्जजान नवगज्जनित्री त्रय एनां महिमानः सचन्ते ॥
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन दस्यून् व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः ॥
या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ [१०७०-७२]

जो सर्वप्रथम प्रकाशित हुई वह यही (पृथ्वी है) इस (पृथ्वी) में प्रविष्ट होकर वह चल रही है। नव प्रजनन करने वाली माता इस वधू ने (शिशुओं को) जन्म दिया है तीन शक्तियाँ उनका अनुसरण करें ॥ तपस्या के द्वारा परिश्रम करती हुई एकाष्टका ने इन्द्र की महिमारूप शिशु को जन्म दिया है। उसके द्वारा देवों ने दस्युओं को परास्त किया वह (इन्द्र) अपनी दिव्य शक्तियों के द्वारा असुरों का संहारक हो गया ॥ जो सर्वप्रथम प्रकाशित हुई वह यम के राज्य में गौ बन गई। वह दुग्ध में समृद्ध तुम हमें वर्ष प्रतिवर्ष दुग्ध प्रदान करो ॥ओ० ब०

आ० गृ० २।१७ में अष्टका कर्म के अन्त में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व कुछ गौण आहुतियों के लिये इन तीनों मन्त्रों का विनियोग किया गया है। का० गृ०

---

१ अथर्व १८।१।४४ ४६ ५१ ५२ का० सं० २१।४९ ५१ ५५ ५७ ५९ ६ ६२ ६३ ६६ ६८ तै० सं० २।६।१२।२ ४ मै० सं० ४।१ ।६।

सम्बद्ध न हो। तै०स० में इस मन्त्रसमूह का विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत व्युष्टि-इष्टकाओं के आधान के लिये किया गया है। इष्टकाधान के उस श्रौतकर्म में और आज्याहुति-अर्पण करने के गृह्यकर्म में यदि कोई साम्य है तो वह यही कि दोनों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अग्नि से है। परन्तु आगे के मन्त्रों में अष्टका के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का गृह्यविनियोग इनकी मूलभावना के निकट है।

बौ०गृ० २।११।३५, हि०गृ०, २।१४।६ और भा०गृ० २।१५ में विधान है कि सर्पि-मिश्रित अपूप और अन्न के अवदानों की आहुति के साथ अग्नये कव्यवाहनाय इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। श्राद्ध कर्म के अन्तर्गत इसका विस्तृत विवेचन हो चुका है। (दे०म०स०८०६)

मा०गृ० (२।८।४) में प्रत्येक अष्टका पर दूध में पकाये गये स्थालीपाक की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है। उनमें से द्वितीय (उलूखला इत्यादि) का विवेचन ऊपर किया जा चुका है (दे०म०स १०६६)। अवशिष्ट तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं —

या देव्यष्टकेष्वपसापस्तमा स्वपा अवया असि।
त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि तस्यै त एना हविषा विधेम ॥ [१०७४]

यां जना प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ [१००३]

संवत्सरस्य प्रतिमा ये त्वा रात्रीमुपासते।
तेषामायुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृजस्व ॥ [१००४]

हे देवि, जो तुम अष्टकों (आठ दिनों के समूहों) में अपने कार्य के कारण सबसे अधिक कार्यशील, शोभन कर्म वाली आयु रहित हो, तथा जो तुम वरुण के यज्ञ में आयुरहित हो, उस तुम्हारा हम इस आहुति द्वारा सम्मान करते हैं।[1]

इनमें से प्रथम मन्त्र की तुलना का०स० ३५।१२ के एक मन्त्र से की जा सकती है। शेष दोनों मन्त्रों का विनियोग पाठान्तर-सहित विभिन्न गृह्यसूत्रों द्वारा अष्टका के विभिन्न कर्मों में किया गया है। गो०गृ० ४।१।१३ में ये आज्याहुतियों में विनियुक्त हैं। म०ब्रा० २।२।१६ में इनमें से प्रथम मन्त्र में जना के स्थान पर देवा पाठ है और उत्तरार्ध सा न पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरां समाम है। म०ब्रा० २।२।१७

1 शेष दोनों मन्त्रों का अर्थ पहले किया जा चुका है। (दे०म०स० १००३-४)

मे विद्यमान है। वे पाठान्तर भी ऐसे हैं जिनसे अर्थ प्राय अपरिवर्तित रहता है। कौशिक (१६।२८) मे इस समस्त सूक्त का विनियोग अष्टका के अन्तर्गत वपा और स्थालीपाक की आहुतियाँ प्रदान करने के लिये किया गया है। अन्यत्र (१३८।४ में) भी इसी सूत्र मे इसी सूक्त के अनेक मन्त्र इसी क्रम मे अन्य आहुतियाँ प्रदान करने के निमित्त विनियुक्त हुए हैं। का स० (३६।१) म भी ये मन्त्र एक ही स्थल पर विद्यमान है। मै स (२।१३।१) म केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र है। प्रथम मे स्वय प्रथम मन्त्र अन्यत्र (८।६।११ म) भी विद्यमान है। आप श्रौ (१७।२।१२) मे चयन कर्म के अन्तर्गत व्युष्टि इष्टकाओ के आधान के लिये इन मन्त्रो का विनियोग किया गया है। मन्त्रो मे आने वाले अष्टका नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी मूल रचना अष्टका कर्म के लिये ही हुई थी।

पा गृ (३।३।५) के अनुसार स्थालीपाक बनाकर और आज्यभाग आहुतियाँ प्रदान करके त स के एक अनुवाक (४।३।११) के प्रधान अश का पाठ करते हुए आज्याहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। उस अनुवाकाश का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्र से होना है —

त्रिंशत् स्वसार उपयन्ति निष्कृत समान केतु प्रतिमुञ्चमाना ।
ऋतूंस्तन्वते कवय प्रजानतीमध्ये छन्दस परियन्ति भास्वती ॥ [१०७३]

(अष्टका की) तीस बहिन (तिथियाँ) शुद्ध तथा समान चन्द्रादिरूप चिह्न धारण किये हुए (हविर्भाग ग्रहण करने के लिये अष्टका के) पास जाती है। पूर्वकाल के स्वरूप को जानती हुई कालात्मना वे (हिमन्तादि) ऋतुओ का विस्तार करती है। दीप्तिमती वे व्यापक सवत्सर के मध्य आती रहती है ॥[1] अ रा०

इस अनुवाकाश के दो मन्त्र तो उपरिविवेचित द्वितीय और तृतीय मन्त्र हैं। का स (३६।१) मे इस अश के सभी मन्त्र विद्यमान हैं परन्तु उनका क्रम भिन्न है। कुछेक मन्त्र मै स (२।१३।१) मे भी आते है। यह आश्चर्यजनक है कि इन कृष्णयजुर्वेदीय सहिताओ मे इस मन्त्र समूह के विद्यमान होने पर भी किसी कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र म इसका सामूहिक विनियोग नहीं किया गया। इस विषय मे पा गृ से गृह्यसूत्रो की इस सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान होता है कि कोई भी आवश्यक तत्त्व अन्य सहिताओ स ग्रहण किया जा सकता है जिनसे कोई विशेष गृह्यसूत्र सीधा

---

१ यहाँ त्रिंशत् स्वसार का अर्थ मास की तीस उषायें भी हो सकता है। तदनुसार केतु सूर्य होगा और छन्द ससार को आच्छादित करने वाला व्यापक आकाश होगा।

शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्ष द्यौर्नो देव्यभय कृणोतु ।
शिवा दिश प्रदिश आदिशो न आपो विद्युत परिपान्त्वायु ॥ [१०७६]

आपो मरीची परिपान्तु विश्वतो धाता समुद्रो अभय कृणोतु ।
भूत भविष्यदुत भद्रमस्तु मे ब्रह्माभिगूर्तं स्वराक्षाण ॥ [१०७७]

कविरग्निरिन्द्र सोम. सूर्यो वायुरस्तु मे अग्निर्वैश्वानरो अपहन्तु पापम् ।
बृहस्पति सविता शर्म यच्छतु श्रिय विराज मयि पूषा दधातु ॥ [१०७८]

विश्व आदित्या वसवश्च सर्वे रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु ।
ऊर्जं प्रजाममृत दीर्घमायु प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु ॥ [१०७९]

हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म ऋतुएँ हमारे लिये कल्याणकर हो, चिरकाल तक वर्षा हमारे लिये भयरहित और कल्याणकर हो। (सब देवताओ का) अधिपति वैश्वानर अग्नि हमें प्राणदान करे, दिनरात हमारी आयु दीर्घ करें॥ शान्त पृथ्वी, कल्याणकर अन्तरिक्ष और आकाश देवता हमें अभय दान दें। कल्याणकर दिशाएँ, उपदिशाएँ और ऊपर नीचे की दिशाएँ, जल तथा विद्युत् हमारी आयु की सब ओर से रक्षा करे॥ रश्मियुक्त जल सब ओर से रक्षा करे, धारक समुद्र अभय करे। भूत और भविष्य तथा स्वर्ग अथवा सुख मे स्थित (स्व आक्षाण[1] ?), सर्वव्यापी ब्रह्म मेरे लिये कल्याणकर हो॥ क्रान्तदर्शी अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य, वायु मेरे लिये (सुखकर) हो, वैश्वानर अग्नि पाप नष्ट करे। बृहस्पति और सविता शरण प्रदान करे, पूषा मुझमे विराट् शोभा स्थापित करे। सभी आदित्य और वसु तथा सभी रुद्र और मरुत् (हमारे) रक्षक हो। सर्वोच्च स्थान का निवासी प्रजापति मुझमे ऊर्जा, प्रजननशक्ति, अमरत्व और दीर्घ आयु स्थापित करे॥

चतुर्थ मन्त्र छोडकर आ०गृ० २।४।१४ मे अन्य सभी मन्त्रों का विनियोग पशु की वपा की आहुति के पश्चात् पशु के अवयवो और स्थालीपाक की आहुतियाँ प्रदान करने के लिये किया गया है। किन्तु इस गृह्यसूत्र मे मन्त्रो का पाठ किञ्चिद् भिन्न है। तदनुसार प्रथम मन्त्र में वसन्त का अभाव है, हेमन्त और ग्रीष्म का क्रमविपर्यय हो गया है, वर्षा से पूर्व शिवा न निकालकर उसके पश्चात् शिवा जोडा गया है और चिरम् के स्थान पर शरत् पाठ है। द्वितीय मन्त्र मे कृणोतु, आदिश और आयु के स्थान पर क्रमश नो अस्तु, उद्दिश और सर्वत पाठ हैं। आ० गृ० में तृतीय मन्त्र का पाठ अधोलिखित है —

---

१ अन्तिम पाद और विशेषतया अन्तिम शब्द अस्पष्ट है।

मे इनमे से दूसरे मन्त्र का पाठ बहुत भिन्न है। केवल प्रथम पाद एकसम है। अन्तिम पाद मे ससस्त्र के स्थान पर ससुब पाठ होने से वह पूर्ण अनुष्टुभ् हो गया है। द्वितीय और तृतीय पाद क्रमश यां त्वा रात्रि यजामहे और प्रजाममर्या न कुरु हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इन पाठान्तरो से भी मन्त्र के भाव मे परिवर्तन नही हुआ है। अत सम्भव है कि इस मन्त्र की म श्रा की परम्परा मा गृ की परम्परा से भिन्न रही हो। आग्नि ग ३।२।७ के अनुसार इन दोनो मन्त्रो का उच्चारण अष्टका के तृतीय दिवस मन्त्र की आहुतियो के साथ किया जाना चाहिये। इनमे से प्रथम (या जना इत्यादि) मन्त्र का पाठ भी इसम मा०गृ० से एकसम है। द्वितीय मन्त्र मे धे के स्थान पर धाम और रात्रीम् के स्थान पर रात्रि पाठ है तथा उत्तरार्ध प्रजां सुवीरां कृत्वा विश्वमायुर्व्यश्नवत् काम स्वधा नम स्वाहा है।

इसी गृह्यसूत्र मे अन्यत्र (३।२ २ मे)प्रथम(या जना इत्यादि) मन्त्र का विनियोग अपूपावदानो की एक आहुति के लिये किया गया है। पुन इसी गृह्यसूत्र (३।२।६) मे इसका विनियोग मास की आहुतियो मे से एक के लिये किया गया है। आ० गृ २।१७ मे केवल द्वितीय (संवत्सरस्य प्रतिमाम् इत्यादि) मन्त्र का विनियोग अष्टका मे आहुति के लिये किया गया है। यहाँ यह प्रतीकेन उद्धृत है। आप गृ और हि० गृ के अनुसार एकाष्टका कर्म मे केवल प्रथम मन्त्र का उच्चारण मासहित ओदन की और अपूप की आहुतियो के साथ किया जाना चाहिये।[1] कुछ गृह्यसूत्रो मे इन मन्त्रो का विनियोग प्रत्यवरोहण मे भी किया गया है। (दे म स १ ३ १ ४)

इन दोनो मन्त्रो का प्राचीनतम स्रोत अथर्व (३।१ ।२ ३) है। तै स ५।७।२।१ और का स ४ ।२ मे केवल अन्तिम मन्त्र विद्यमान है। यद्यपि इन संहिताओ मे इन मन्त्रो के पाठान्तर है तथापि उनसे अर्थ मे अधिक अन्तर नही पडता। आप श्रौ १७।६।३ मे अन्तिम मन्त्र का विनियोग वेदीचयन कर्म के अन्तर्गत प्रजापति-इष्टका का आधान करने के लिये किया गया है। इस श्रौत विनियोग का गृह्य विनियोग से कोई साम्य नही है।

मा गृ (२।८।६) मे विधान है कि इन चार स्थालीपाक आहुतियो के पश्चात् उसे निम्नलिखित पाँच मन्त्रो का उच्चारण करते हुए पाँच आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें —

हेमन्तो वसन्तो ग्रीष्म ऋतव शिवा न शिवा नो वर्षा अभयाश्शिवर नः।
वैश्वानरोऽधिपति प्राणदो नो अहोरात्रे कृणुतां दीर्घमायु ॥ [१०७५]

---

१ आप गृ ८।२२।१ ५ (अ पा २।२ ।१७ २१) हि गृ २।१५।

मैं पितरो के लिये इस जायुयुक्त, घृतयुक्त, और स्वधायुक्त गौ का स्पर्श करता हूँ। मेरी इस गौ को पितर संयुक्त रूप मे स्वीकार करें। वह गौ मेरे पितरो को परलोक मे (आनन्दार्थ) प्रेरित करे॥ स्वधा नमस्कार॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ हि०गृ० मे से उद्धृत है। भा०गृ० मे उपाकरोमि के स्थान पर उपाकरोति पाठ है और उसके पश्चात् ऊर्जस्वती पयस्वतीम् जोड़ा गया है तथा समेता और जुषन्ताम् का क्रम-विपर्यय हो गया है। इस प्रकार भा०गृ० मे पूर्ण त्रिष्टुभ् छन्द विकृत हो गया है। और निस्सन्देह यजमान के मुख से उपाकरोमि (हि०गृ०)ही उचित है। उत्तरार्ध म प्रथम तीन शब्द द्वितीयान्त के स्थान पर प्रथमान्त दिये गये हैं और साम्परायें के स्थान पर साम्परायं पाठ है। इस प्रकार इनका अन्वय सा के साथ किया जा सकता है, अन्यथा इनका सम्बन्ध पितर (पूर्वार्ध) से होता है। परन्तु कुल मिलाकर पाठान्तरोसे भी इस मन्त्रके अर्थमे अन्तर नही होता। आग्नि०गृ० मे पूर्वार्ध का पाठ लगभग भा०गृ० के समान है। आग्नि०गृ० मे पयस्वतीम्, ताम् और समेता के स्थान पर क्रमश स्वधावतीम्, तत् और परेता पाठ है। उत्तरार्ध मे प्रथम तीन शब्दो का नितान्त अभाव है तथा शेष हि०गृ० के समान है। भा०गृ० का साम्परायं भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। अन्यत्र अनुपलब्ध होने के कारण यह गृह्यपरम्परा का मन्त्र प्रतीत होता है।

इस आहुति के पश्चात् हि० गृ० और आग्नि० गृ० मे विधान है कि गौ का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये —

पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमि॥ [१०८६]

पितरो को समर्पित तुम्हारा मैं स्पर्श करता हूँ।

भा०गृ० मे भी इसका विनियोग गौ के स्पर्श के लिये किया गया है, किन्तु उसके अनुसार यह क्रिया उपर्युक्त आहुति से पूर्व की जानी चाहिये। यह वाक्य भी गृह्य परम्परा का प्रतीत होता है।

कुछ गृह्यसूत्रो मे निर्देश है कि निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए इस गौ का जलाभिषेक भी किया जाना चाहिये[1] —

पितृभ्यस्त्वा जुष्टां प्रोक्षामि॥ [१०८७]

पितरो को समर्पित तुम पर जल छिड़कता हूँ।

वस्तुत उपाकरोमि के स्थान पर प्रोक्षामि सहित यह पूर्वोक्त वाक्य ही है। गो०गृ० ३।१०।१६ और मा०गृ० २।४।४ मे भी इस क्रिया के लिए ऐसे ही वाक्य का

[1] भा०गृ० २।११।७,८, हि०गृ० २।१५।३, मा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।२।१,५।

अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राताऽनु सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य ॥[१०८३]

हे गौ तुम्हारे माता पिता, भ्राता सहोदर तथा समान समूह वाला तुम्हारा मित्र तुम्हे यज्ञ मे प्रयुक्त होने की अनुमति प्रदान कर ॥

यह मन्त्र सभी यजुर्वेद संहिताओ मे अनेक बार आया है ।[1] यह मन्त्र ब्राह्मण और श्रौत साहित्य मे ही गौ के साथ सम्बद्ध हो चुका था । श०ब्रा और का श्रौ मे लगभग गृह्यसूत्रो के समान ही इसका विनियोग यज्ञ धेनु को यूप से बाँधकर उसका जलाभिषेक करने के निमित्त किया गया है ।[2] इन्ही ग्रन्थो मे अन्यत्र भी सोमयाग के अन्तर्गत इस मन्त्र द्वारा सोमक्रयणी गौ का अभिमन्त्रण करने का विधान है ।[3] यहाँ भी गौ के साथ इसका सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है । त ब्रा और आ श्रौ म इसका उल्लेख होता द्वारा उच्चारित अध्रिगु प्रैष क रूप मे किया गया है ।[4] यहाँ भी गौ क साथ ही इसका सम्बन्ध है । यास्क के मतानुसार भी गौ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही अध्रिगु मन्त्र होता है ।[5] ऐ ब्रा (२।६।१२) मे पुन इसका विनियोग पशुयाग मे आलम्भन करने हेतु पशु के अभिग्रहण के अवसर पर किया गया है ।

कुछेक गृह्यसूत्रो के अनुसार इस अष्टका के अवसर पर अरण्य मे कक्ष (काष्ठ-विशेष) जलाते समय अधोलिखित वाक्य का पाठ करना चाहिये[6] —

एषा मे अष्टका ॥[१०८४] यह मेरी अष्टका है ।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे निर्देश है कि आलम्भन से पूर्व गौ का स्पर्श करते हुए यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उपाकरणीयाहुति अर्पित करनी चाहिये[7]

इमां पितृभ्यो गामुपाकरोमि तां मे समेता पितरो जुषन्ताम् ॥
मेदस्वती घृतवतीं स्वधावतीं सा मे पितृन् साम्पराये धिनोतु ॥ स्वधा नम ॥ [१०८५]

---

१ वा स ४।२ ६।६ त स १।३।४।२ ६।१।७।७ म स १।२।४ १५ ३।७।६ ४।६ का स २।५ ४।५ १६।२१ २४।३ २६।८।
२ श ब्रा ३।७।४।५ का श्रौ ६।३।३ ।
३ श ब्रा ३।२।४।२ का श्रौ ७।६।१५।
४ त ब्रा ३।६।६।१ आ श्रौ ३।३।१।
५ नि ५।२।११—अध्रिगुमन्त्रो भवति गव्यविकृतत्वात् ।
६ शा गृ ३।१४।५ आ गृ २।४।१ गो गृ ४।१।२१
७ हि गृ २।१५।२ भा गृ २।१६ आग्नि गृ ३।२।५।

जहाँ तक इन मन्त्रोके स्रोतका सम्बन्ध है, केवल द्वितीय मन्त्र कीतुलना अथर्व० १६।६।१ मे की जा सकती है। शेष मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थमे उपलब्ध नही।

शा०गृ० (३।१२।५) मे प्रथमाष्टका के अन्त मे अर्पणीय स्विष्टकृत् आहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है —

यस्या वैवस्वतो यम सर्वे देवा समाहिता।
अष्टका सर्वतोमुखी सा मे कामानतीतृपत्।
आहुस्ते ग्रावाणो दन्तानूध पवमान।
मासाश्चार्धमासाश्च नमस्ते सुमनामुखि स्वाहा॥ [१०८१]

जिममे विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र यम तथा सभी देव समाहित है, उस सर्वतोमुखी अष्टका ने मेरी कामनाएँ तृप्त की है। पत्थरो को तुम्हारे दाँत कहते हैं पवमान (सोम) तुम्हारा ऊध है। (और उससे) मास और पक्ष (उत्पन्न हुए हैं)। हे प्रसन्नचित्त-मुख वाली तुम्हे नमस्कार है॥

सम्भव है कि यह मन्त्र किसी ऐसी सहिता मे से उद्धृत हो जो अब अनुपलब्ध है। इस मन्त्र मे काव्यात्मक ढग से अष्टका को सारे काल की नियन्त्रक शक्ति बताया गया है। सूर्यपुत्र यम स्वय यहाँ काल का द्योतक प्रतीत होता है।

द्वितीयाष्टका

यह अष्टका मासाष्टका के रूप में विख्यात है। गो०गृ० और खा०गृ० मे विधान है कि प्रात सन्ध्या के ठीक पूर्व आलम्भनीय गौ को अग्नि के पूर्व मे स्थापित करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए आज्याहुति अर्पित की जानी चाहिए[1] —

यत्पशव प्रध्यायत मनसा हृदयेन च।
वाचा सहस्रपाशया मयि बध्नामि वो मन॥ [१०८२]

हे पशुओ, जो तुम अपने मन और बुद्धि से (अपने मरण का) चिन्तन करते हो, तुम्हारे उस चिन्तायुक्त मन को मैं अपरिमित बन्धन वाली (मन्त्र-रूप) वाणी से अपने मे बाँधता हूँ॥ सा०

यह मन्त्र अन्यत्र अनुपलब्ध है। सम्भवतया यह शुद्ध गृह्य परम्परा का मन्त्र है।

इन्ही गृह्यसूत्रो के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र द्वारा आलम्भनीय गौ का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये[2] —

१ गो०गृ० ३।१०।१७ (म०ब्रा २।२।७), खा०गृ० ३।४।२।
२. गो०गृ० ३।१०।१८(म०ब्रा० २।२।६), खा०गृ० ३।४।३।

आपो मरीचो प्रवहन्तु नो धियो धाता समुद्रोऽवहन्तु पापम् ।
भूत भविष्यदभय विश्वमस्तु मे ब्रह्माऽधिगुप्त स्वाराक्षराणि ॥ [१०८०]

दीप्तिमती अबादि देवता हमारी बुद्धियों (अथवा कर्मों) को उत्कृष्ट स्थान पर ले जाय धाता और समुद्र हमारे पाप को नीचे धकेल दे (अथवा नष्ट कर दे)। भूत भविष्य और वतमान से सम्बद्ध सब कुछ मेरे लिये अभय हो वेद (अथवा परमात्मा) द्वारा अभिरक्षित मै अपनी (शक्तियों की ?) रक्षा करने म समथ होऊँ (स्वा रक्षाणि) ॥ ह०मि०

यहाँ हरदत्त मिश्र ने अन्तिम शब्द का स्वा रक्षाणि पाठ लेकर जो स्वा स्वकीया रक्षित समर्थो भूयासम् व्याख्या की है उसमे स्वकीया अस्पष्ट है। परन्तु श्राम्टे ने उपरिलिखित पाठ स्वीकार करते हुए ही स्वाराक्षराणि मन्त्र करके मै स्वारो अर्थात् सामान्य गीतो को प्रवाहित करूँ अथ किया है। इस अथ की व्याख्या करते हुए आगे बताया गया है कि स्वार स्वरित मे अन्त होने वाले साम का नाम है।[1] पचम मन्त्र मे आ गृ मे सर्वे च सन्तु और दीघमायु के स्थान पर क्रमश देवा सदन्तु और विश्वमान पाठ हैं तथा पूर्वार्ध के अन्त मे न जोडा गया है।

पा गृ ३।३।६ मे आज्याहुतियो के पश्चात् स्थालीपाकाहुतियो के साथ द्वितीय तृतीय और पञ्चम मन्त्रो के पाठ का विधान है। यहाँ द्वितीय मन्त्र म दोनों देवी के स्थान पर शन्नो वो पाठ है और चतुथ पाद (अन्त मे व्यञ्जन सहित) प्रथम मन्त्र का चतुथ पाद है। तृतीय मन्त्र मे विश्वत के स्थान पर सवत पाठ है द्वितीय पाद आ गृ के मन्त्र के द्वितीय पाद के समान है—केवल अवहन्तु के स्थान पर अपहन्तु पाठ है। मन्त्र का उत्तरार्ध भी आ गृ के पाठ के अधिक निकट है—अभयम् अधिगुप्त और स्वाराक्षराणि के स्थान पर क्रमश अकृन्तत् परिगुप्त और सुरक्षित स्याम पाठान्तर हैं। पचम मन्त्र का पूर्वार्ध (आ गृ के च सन्तु सहित) तो आ गृ के पाठ के समरूप है और उत्तराध मा गृ क पाठ के समरूप।

कुछ गृह्यसूत्रो मे इन मन्त्रो का विनियोग अन्य कर्मों मे भी किया गया है। प्रथम मन्त्र के अनुरूप मन्त्र का विनियोग शा गृ और पा गृ मे प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत किया गया है। गो गृ और खा गृ मे भी इसके अनुरूप मन्त्र का विनियोग आग्रयण कर्म मे हुआ है (दे म स ८६६)। मा गृ १।११।१६ मे पचम मन्त्र को विवाह संस्कार मे जय अभ्यातान और राष्ट्रभृत् के पश्चात् आहुतियो के साथ उच्चारणीय माङ्गल्य मन्त्रों मे से एक के रूप मे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है।

---

१ नोंनेन्द्र अग्रज द्वन दि आ गृ पृ ३६।

मैं पितरो के लिये इस वायुयुक्त, घृतयुक्त, और स्वधायुक्त गौ का स्पर्श करता हू। मेरी इस गौ को पितर सयुक्त रूप मे स्वीकार करें। वह गौ मेरे पितरो को परलोक मे (आनन्दार्थ) प्रेरित करे॥ स्वधा नमस्कार॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ हि०गृ० में से उद्धृत है। भा०गृ० मे उपाकरोमि के स्थान पर उपाकरोति पाठ है और उसके पश्चात् ऊर्जस्वती पयस्वतीम् जोडा गया है तथा समेता और जुषन्ताम् का क्रम-विपर्यय हो गया है। इस प्रकार भा०गृ० में पूर्ण त्रिष्टुभ् छन्द विकृत हो गया है। और निस्सन्देह यजमान के मुख से उपाकरोमि (हि०गृ०)ही उचित है। उत्तरार्ध मे प्रथम तीन शब्द द्वितीयान्त के स्थान पर प्रथमान्त दिये गये हैं और साम्पराये के स्थान पर साम्परायं पाठ है। इस प्रकार इनका अन्वय सा के साथ किया जा सकता है, अन्यथा इनका सम्बन्ध पितर (पूर्वार्ध) से होता है। परन्तु कुल मिलाकर पाठान्तरोंसे भी इस मन्त्रके अर्थमे अन्तर नहीं होता। आग्नि०गृ० मे पूर्वार्ध का पाठ लगभग भा०गृ० के समान है। आग्नि०गृ० मे पयस्वतीम्, ताम् और समेता के स्थान पर क्रमश स्वधावतीम्, तत् और परेता पाठ है। उत्तरार्ध मे प्रथम तीन शब्दो का नितान्त अभाव है तथा शेष हि०गृ० के समान है। भा०गृ० का साम्परायं भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। अन्यत्र अनुपलब्ध होने के कारण यह गृह्यपरम्परा का मन्त्र प्रतीत होता है।

इस आहुति के पश्चात् हि० गृ० और आग्नि० गृ० मे विधान है कि गौ का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये —

पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमि॥ [१०८६]

पितरो को समर्पित तुम्हारा मैं स्पर्श करता हूँ।

भा०गृ० मे भी इसका विनियोग गौ के स्पर्श के लिये किया गया है, कि उसके अनुसार यह क्रिया उपयु क्त आहुति से पूर्व की जानी चाहिये। यह वाक्य गृह्य-परम्परा का प्रतीत होता है।

कुछ गृह्यसूत्रो में निर्देश है कि निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते इस गौ का जलाभिषेक भी किया जाना चाहिये[1] —

पितृभ्यस्त्वा जुष्टां प्रोक्षामि॥ [१०८७]

पितरो को समर्पित तुम पर जल छिडकता हूँ।

वस्तुत उपाकरोमि के स्थान पर प्रोक्षामि सहित यह पूर्वोक्त वाक्य ही है। गो०गृ० ३।१०।१९ और खा०गृ० ३।४।४ मे भी इस क्रिया के लिये ऐसे ही वाक्य का

1 बौ०गृ० २।११।७,८, हि०गृ० २।१५।३, भा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।३।१,५।

अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राताऽनु सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य ॥[१०८३]

हे गौ तुम्हारे माता पिता, भ्राता, सहोदर तथा समान समूह वाला तुम्हारा मित्र तुम्हे यज्ञ मे प्रयक्त होने की अनुमति प्रदान कर ॥

यह मन्त्र सभी यजुर्वेद संहिताओ मे अनेक बार आया है।[1] यह मन्त्र ब्राह्मण और श्रौत साहित्य मे ही गौ के साथ सम्बद्ध हो चुका था। श ब्रा और का श्रौ मे लगभग गृह्यसूत्रो के समान ही इसका विनियोग यज्ञ धेनु को यूप से बाँधकर उसका जलाभिषेक करने के निमित्त किया गया है।[2] इन्ही ग्रन्थो मे अन्यत्र भी सोमयाग के अन्तर्गत इस मन्त्र द्वारा सोमक्रयणी गौ का अभिमन्त्रण करने का विधान है।[3] यहाँ भी गौ के साथ इसका सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। त ब्रा और आ श्रौ मे इसका उल्लेख होता द्वारा उच्चारित अध्रिगु प्रयक रूप मे किया गया है।[4] यहाँ भी गौ के साथ ही इसका सम्बन्ध है। यास्क के मतानुसार भी गौ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही अध्रिगु मन्त्र होता है।[5] ऐ ब्रा (२।६।१२) मे पुन इसका विनियोग पशुयाग मे आलम्भन करने हेतु पशु के अधिग्रहण के अवसर पर किया गया है।

कुछेक गृह्यसूत्रो के अनुसार इस अष्टका के अवसर पर अरण्य मे कक्ष (काष्ठ विशेष) जलाते समय अधोलिखित वाक्य का पाठ करना चाहिये[6] —

एषा मे अष्टका ॥[१०८४] यह मेरी अष्टका है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रो मे निर्देश है कि आलम्भन से पूर्व गौ का स्पर्श करते हुए यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उपाकरणीयाहुति अर्पित करनी चाहिये[7]

इमां पितृभ्यो गामुपाकरोमि तां मे समेता पितरो जुषन्ताम् ॥
मेदस्वती घृतवतीं स्वधावतीं सा मे पितृन् साम्पराये धिनोतु ॥ स्वधा नम ॥ [१०८५]

---

१ वा स ४।२ ६।९ त स १।२।४।२ ६।१।७।७ म स १।२।४ १५ ३।७।६ ४।६ का स २।५ ३।५ १६।२१ २४।३ २६।८।
२ श ब्रा ३।७।४।५ का श्रौ ६।३।३।
३ श ब्रा ३।२।४।२ का श्रौ ७।६।१५।
४ त ब्रा ३।६।६।१ आ श्रौ ३।३।१।
५ नि ५।२।११—अध्रिगुर्मन्त्रो भवति गव्यधिकृत वाद्।
६ शां गृ ३।१४।५ आ गृ २।४।९ गो गृ ४।१।२१
७ हि गृ २।१५।२ भा गृ २।१६ आग्नि गृ ३।२।५।

है।[1] परन्तु सायण ने मया को ग्रालम् का कर्ता मानते हुए निम्नलिखित व्याख्या की है —यतस्त्वदीयमङ्ग देवेभ्यो देवार्थमालं स्वीकृत मया। केवलभक्षणार्थहिंसाभावाद्देवतार्थमुपयुक्तत्वात्। तत सर्वेऽप्यनुमतिं कुर्वन्त्वित्यभिप्राय ॥ (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा शरीर देवताओ के लिये स्वीकार किया गया है, अत केवल भक्षणार्थ हिंसा के अभाव से देवताओ के लिये उपयुक्त होने के कारण सभी अनुमति प्रदान करे।)

वपाहुति

प्राय सभी गृह्यसूत्रो म वपा की आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र (वा०स० ३०.२०) का विनियोग किया गया है[2]—

वह वपा जातवेद पितृभ्यो यत्रैतान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदस कुल्या उप तान् स्रवन्तु सत्या एषामाशिष सन्नमन्ताम् ॥ [१०६०]

हे जातवेदा अग्नि, परलोक मे जहाँ तुम इन पितरो को स्थिति जानते हो, वहाँ इनके लिये वपा का वहन करो। उनके पास चर्वी की धाराएँ प्रवाहित हो, (फलस्वरूप) इनके सत्य आशीर्वाद हमारे पास पहुचे।

पा०गृ० और का०गृ० मे यह मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत है और सम्भवतया वा०स० का उपर्युक्त पाठ ही निर्दिष्ट है। अन्य गृह्यसूत्रो मे कुछ पाठान्तर है। आगामी विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो मे न्यूनतम पाठान्तर हैं। हि०गृ० और आग्नि०गृ० मे पूर्वार्ध उपरिलिखित मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है। उत्तरार्ध म स्रवन्तु तथा सन्नमन्ताम् के स्थान पर क्रमश क्षरन्तु और सन्तु कामे पाठ है। म०पा० और भा०गृ० मे भी ये ही पाठान्तर हैं, केवल पूर्वार्ध मे एतान् के स्थान पर एनान् पाठ है। किन्तु मा०गृ० की परम्परा इन सबसे भिन्न है। पूर्वार्ध मे तो यह वा०स० के एकसम है। उत्तरार्ध मे मेदस के आगे घृतस्य जोडा गया है, उप ता के स्थान पर अभिनि पाठ है तथा चतुर्थ पाद सत्या सन्तु यजमानस्य कामा है। शा०गृ० मे भी इस पाद का यही पाठ है, किन्तु तृतीय पाद वा०स० के एकसम है, और पूर्वार्ध मे एतान् तथा निहितान् पराके के स्थान पर क्रमश एनान् और सुकृतस्य लोके पाठ हैं। आ०गृ० मे भी एनान् तो है किन्तु निहितान् के स्थान पर निहिता है और उत्तरार्ध मे तान्, एषाम् तथा सन्नमन्ताम् के स्थान पर क्रमश एनान्, एता और सन्तु सर्वा

---

१ गुणविष्णु —हे पशो आलं गृहीत त्वया देवेभ्यो देवार्थं हविर्भक्ष्यमिति ॥

२ शा०गृ० ३।१३।३, आ०गृ० २।४।१३, पा०गृ० ३।३।९, मा०गृ० २।९।४, का०गृ० ६२।२, आप०गृ० ८।२२।४ (म०पा० २।२०।२८), हि०गृ० २।१५।७, भा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।२।५।

विनियोग किया गया है। वहाँ पितृभ्य के स्थान पर अम्काय पाठ है।

गो० गृ० ३।१।२२ में विधान है कि गौ के चारों ओर एक जलती हुई लकड़ी घुमाते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये :—

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद् रत्नानि दाशुषे ॥ [१०८८]

अन्नपति क्रान्तदर्शी अग्नि दानशील व्यक्ति को सम्पत्ति प्रदान करते हुए आहुतियों की परिक्रमा कर रहा है।

यह मन्त्र अथर्व० को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं में विद्यमान है।[1] न तो यह गृह्यसूत्र में सकलपाठेन उद्धृत है और न ही यह मं० ब्रा० में दिया गया है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि अन्य संहिताओं के साथ साथ यह गो० गृ० की संहिता सामवेद में भी विद्यमान है।

लगभग गृह्यसूत्र के समान ही श० ब्रा० ३।६।४।१ और आप० श्रौ० ११।६।७ में भी जलती हुई लकड़ी द्वारा किसी पदार्थ की प्रदक्षिणा करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। श० ब्रा० का श्रौ० और आप० श्रौ० के विनियोगों में भी परिक्रमा का भाव विद्यमान प्रतीत होता है क्योंकि तदनुसार वेदीचयन के अवसर पर उखा (अग्नि पात्र) बनाने के लिए खोदी जाने वाली मिट्टी के चारों ओर रेखाएं खींचते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।[2] इन सभी गृह्य और श्रौत विनियोगों में मन्त्र के 'परि...अक्रमीत्' शब्द का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है यद्यपि मन्त्र में केवल अग्नि द्वारा परिक्रमा की बात कही गई है।

इसके पश्चात् गौ को जल दिये जाने पर और उसके द्वारा उसे पी लिये जाने पर गो० गृ० ३।१।२२ के मतानुसार अवशिष्ट जल को पशु के नीचे प्रवाहित करते हुए अधोलिखित वाक्य (श० ब्रा० २।२।७) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

आत्त देवेभ्यो हविः [१०८९]

देवताओं के लिये आहुति ग्रहण कर ली गई।

ओल्डनबर्ग ने इसका अनुवाद 'आहुति देवताओं से दूर ले ली गई' किया है। किन्तु भारतीय भाष्यकारों के समान 'देवेभ्यः' को चतुर्थ्यन्त मानते हुए 'हे पशु तुमने देवताओं के लिये आहुति ग्रहण करली है' अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता

---

१ ऋ० ४।१५।३ साम० १।३ का० स० ११।२५ तै० स० ४।१।२।५ मै० स० १।१।९ ४।१३।४ का० स० १६।२।२१ १८।३ ३७।१२।

२ श० ब्रा० ६।३।३।२६, का० श्रौ० १६।२।२३ आप० श्रौ० १६।३।१२

द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध मं०पा० में पितर तक तो उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र के समान है, परन्तु उसके पश्चात् सहस्रधारमपुष्मिल्लोके स्वाहा पाठ है। भा०गृ० में प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध अक्षय्यम् तक मं०पा० के समान है और उसके पश्चात् में अस्तु स्वधा नम पितृभ्य पाठ है। द्वितीय मन्त्र का चतुर्थ पाद उसमें सहस्रधा मुच्यमाना पुरस्तात् स्वधा नम पितृभ्य स्वाहा है। आग्नि०गृ० में प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध मं०पा० के अनुरूप है—केवल मे पितृभ्य के स्थान पर कामं स्वधा नम पाठ है। इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध उसमें भा०गृ० के अनुरूप है—केवल पुरस्तात् के स्थान पर कामं पाठ है और पितृभ्य का अभाव है।

द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद एक अन्य मन्त्र के प्रथम पाद के समान है (वै०म०स० १०७१)। ये दोनों मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

का०गृ० (६२।५) में निर्देश है कि एक स्थालीपाक की और एक गौ की मांसपेशियों की आहुति अर्पित करने के लिये रा०म १६।४५,४६ का उच्चारण किया जाना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों का विस्तृत विवेचन एकादश अध्याय में सपिण्डीकरण में किया जा चुका है। (द०म०स० ७७६,७८०)

आ०गृ० (२।४।१४) के अनुसार अग्ने नय सुपथा इत्यादि तथा अग्ने त्व पारया इत्यादि (ऋ० १।१८६।१-२) का उच्चारण स्थालीपाक तथा मांस की प्रथम दो आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये। इन मन्त्रों का विवेचन पहले भी किया जा चुका है (द०म०स० ६२६-६३०)। प्रथम मन्त्र प्रसिद्धतम मन्त्रों में से एक है क्योंकि यह समस्त वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है।[1] तै०सं०१।१।१४।३-४ और मै०स०४।१०।४।३ में ये दोनों मन्त्र साथ-साथ आते हैं। तै०ब्रा० (२।८।२।३,५) के अनुसार प्रथम मन्त्र का उच्चारण मरुतो गौ की वपा की आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप में, और द्वितीय का ब्रह्मवर्चस की कामना वाले के द्वारा हवि अर्पित करने के लिये किया जाना चाहिये। शा०श्रौ० (५।५।२) में इन दोनों का विनियोग सोमयाग के अंगरूप प्रायणीय इष्टि अर्पित करने के लिये किया गया है। तै०ब्रा० का विनियोग इन मन्त्रों के गृह्यविनियोग के समानान्तर है क्योंकि दोनों में पशु का आलम्भन अन्तर्निहित है।

स्थालीपाक और मांस की ही अन्तिम आहुति के लिये आ०गृ० (२।४।१४) में प्रजापते न त्वदेतानि इत्यादि (ऋ० १०।१२१) का विनियोग किया गया है। इस मन्त्र का अधिकांश विवेचन भी पहले किया जा चुका है (दे०म०स० २३ और ३६२ तथा ३६३ के मध्य)। हि०गृ०, भा०गृ० और आग्नि०गृ० के अनुसार इसका उच्चारण विभिन्न अष्टकाओं के अन्त में अपणीय आहुतियों में से एक के साथ किया

१. वै०वै०कॉन्०, पृ० २४-२५।

पाठ है। भा गृ और आग्नि गृ मे आवश्यक परिवर्तन-सहित इस मन्त्र का विनियोग अपूपाष्टका और शाकाष्टका मे भी किया गया है। तदनुसार भा०गृ० (२।१५) मे प्रथमाष्टका के अवसर पर वपाम और मेदस को क्रमश अपूपम् और अपूपस्य मे परिवर्तित किया गया है। आग्नि०गृ (३।१।२) म इन दोनो शब्दो के स्थान पर क्रमश आज्यम् और आज्यस्य रखे गये है। शाकाष्टका के प्रसङ्ग मे इन दोनो गृह्य सूत्रो (भा०गृ २।१७ आग्नि गृ ३।२।७) मे इन शब्दो के स्थान पर क्रमश अन्नम् और अन्नस्य दिये गये हैं। गो गृ और खा गृ म पिण्डपितृयज्ञ म पाठान्तर सहित इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[1] पूर्वार्ध म म ब्रा मे पराकै के स्थान पर पराच तथा उत्तरार्ध मे उप और सन्नमन्ताम् के स्थान पर क्रमश अभि और सन्तु कामाद् पाठ है। कुछेक गृह्यसूत्रो म इसका विनियोग मासिक श्राद्ध की आहुतियो मे से एक के लिये किया गया है (दे म स ८ ७)। यह मन्त्र वा स के अतिरिक्त किसी अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ म उपलब्ध नही होता।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रो म घृतमिश्रित ओदन और मास के अवदानो की आहुतियो के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रो का विनियोग किया गया है[2] —

एकाष्टका पश्यत दोहमानामन्न मांसवद्घृतवत्स्वधावत्।
तद् ब्राह्मणैरतिपूतमन्न समक्षित तन्मे अस्तु स्वधा नम ॥ [१०६१]
एकाष्टका तपसा तप्यमाना सवत्सरस्य पत्नी दुदुहे प्रपीना।
त दोहमुपजीवाथ पितर सविदाना स्विष्टोऽयं सुहुतो ममास्तु ॥

मासयुक्त घृतयुक्त और स्वधायुक्त अन्न को उत्पन्न करती हुई एकाष्टका को देखो। ब्राह्मणों के द्वारा अत्यधिक पवित्रित वह अन्न मेरे लिये क्षीण न हो स्वधा नमस्कार ॥ तपस्या से तृप्त होती हुई सवत्सर की स्थूल पत्नी एकाष्टका ने दुग्ध दिया है। परस्पर समन्वित पितर उस दुग्ध का उपभोग करते है। यह (दुग्ध) मेरे लिये शोभन यज्ञ तथा शोभन आहुति रूप हो जाये ॥

मन्त्रो का उपरिलिखित पाठ हि गृ मे से उद्धृत है। इन मन्त्रो के पूर्वार्ध सभी गृह्यसूत्रो मे समान हैं। म पा मे प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध मे अतिपूतम के पश्चात् अनन्तमक्षय्यममुष्मिंल्लोके स्फीति गच्छतु मे पितृभ्य स्वाहा पाठ है। परन्तु इस पाठ से छन्दोभङ्ग हो गया है और उत्तरार्ध गद्य-वाक्य के रूप मे परिणत हो गया है।

---

१ गो गृ ४।४।२२ (म ब्रा २।३।१८) खा गृ ३।४।२८।
२ आप०गृ ८।२२।५ (म पा २।२ ।११,२४) हि गृ २।१४।८ भा गृ २।१७ आग्नि गृ ३।२।६।

और श्रौत साहित्य में इसका सुविस्तृत विनियोग हुआ है। वहाँ यज्ञसम्बन्धी विभिन्न त्रुटियों के प्रायश्चित्तार्थ अर्पित आहुतियों में से एक के साथ इसका उच्चारण का विधान है।[1] इसके गृह्यविनियोग में भी यही भावना विद्यमान है।

शा०गृ० ३।१४।२ और कौ०गृ० ३।१५।६ में विधान है कि अंतिम अष्टका में एक अपूपाहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र बोलना चाहिये —

उक्थ्यश्चातिरात्रश्च सद्यस्क्रीश्छन्दसा सह।
अपूपकृदष्टके नमस्ते सुमनामुखि स्वाहा ॥ [१०९३]

(यह कम) उक्थ्य और अतिरात्र तथा छन्द सहित सद्यस्क्री है। हे अपूपनिर्मात्रि, शोभनचित्त मुख वाली अष्टके, तुम्हें नमस्कार स्वाहा ॥

आप०गृ० ८।२२।६ (म०पा० २।२१।१) में भी अंतिम अष्टका में अन्न में दुग्ध में पकाये गये पिष्ट अन्न की आहुति अर्पित करने के लिए इसका विनियोग किया गया है। म०पा० में च और अतिरात्र के मध्य असि का समावेश है तथा सद्यस्क्री के स्थान पर साद्यस्क्री पाठ है। इसमें उत्तरार्ध का पाठ अपूपघृताहुते नमस्ते अस्तु मासपिप्पले स्वाहा है।

तै०ब्रा० (३।१०।१।८) में उक्थ्य और अतिरात्र का उल्लेख दो विशिष्ट यज्ञों के रूप में किया गया है। इस मन्त्र के द्वितीय पाद की तुलना अथर्व० १९।७।८,१० के द्वितीय पाद से की जा सकती है।

आप०गृ० ८।२२।७ (म०पा० २।२१।२-९) के निर्देशानुसार उपर्युक्त आहुति के पश्चात् निम्नलिखित आठ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आठ आज्याहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें —

भूः पृथिव्याग्निनर्चामुं मयि कामं नियुनज्मि स्वाहा ॥
भुवो वायुनान्तरिक्षेण साम्नामुं मयि ॥
स्वर्दिवादित्येन यजुषामुं मयि ॥
जनदद्भिरथर्वाङ्गिरोभिरमुं मयि ॥
रोचनायाजिरायाग्नये देवजातवे स्वाहा ॥
केतवे मनवे ब्रह्मणे देवजातवे स्वाहा ॥
स्वधा स्वाहा ॥ [१०९४-११००]
अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा स्वाहा ॥

---

१ तै०ब्रा० ३।७।११।३, १२।६, तै०ब्रा० २।३।१,४।१,४।२०।३, शा०श्रौ० ३।१९।३, आ०श्रौ० १।११।१३, का०श्रौ० २५।१।११, आप०श्रौ० ३।११।२, ९।१२।४।

जाना चाहिये।[1] कौशिक (५।६) में इसका विनियोग दर्शपौर्णमासयाग की आहुतियों में से एक के लिये किया गया है। किन्तु आ गृ के इसके विनियोग की तुलना का श्रौ (४।१८।४) के विनियोग से की जा सकती है क्योंकि वहाँ शूलगव के अन्तर्गत पशु की वपा में अविधपण तथा अग्नि द्वारा उसके अभिषेक के पश्चात् आज्याहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।

हि गृ २।१५।३ और भा गृ २।१५ के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अष्टका के अन्त में एक अन्य आहुति देनी चाहिये —

त्वमग्ने अयास्ययासन् मनसा हित ।
अयासन् हव्यमूहिषेऽया नो धेहि भेषजम् ॥ [१०९२]

हे अग्नि तुम गमनशील हो (और इसीलिये) बिना प्रयास के भी तुम मन के द्वारा (हमारे लिये) हितकर हो गमनशील तुम आहुति वहन करते हो हे गमनशील हमें भेषज प्रदान करो ॥

अधिकांश गृह्यसूत्रों में पाकयज्ञों की प्रकृतिभूत आज्याहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[2] कौ गृ और पा गृ में इस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ प्राप्त होता है —

अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि ।
अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजम् ॥

हे अग्नि तुम गमनशील हो और आक्रामक के अरक्षक हो सत्य ही तुम गमनशील हो। गमनशील तुम हमारे यज्ञ (आहुतियों) का वहन करते हो। हे गमनशील तुम हमें भेषज प्रदान करो ॥

का गृ में इन दोनों पाठों का मिश्रण हो गया है—पूर्वार्ध तो पा गृ के समान है और उत्तरार्ध अन्य गृह्यसूत्रों के समान। पूर्वार्ध में अनभिशस्तिपा के स्थान पर अनभिशस्ति पाठ है तथा अन्त में अया और असि का सन्धि विच्छेद कर दिया गया है। उत्तरार्ध में प्रारम्भ में अयासन् के पूर्व अयासा मनसा कृत जोड़ा गया है।

यह मन्त्र मै स १।४।३ और का स ३४।१९ में विद्यमान है। ब्राह्मण

१ हि गृ २।१५।१३ भा गृ २।१५ १७ आग्नि गृ ३।२।२ ९ ७।

२ कौ गृ १ ५।२६ शा गृ १।२।८ आप गृ २।५।२ (मं०पा १।४।१६) का गृ ४७।१४ भा गृ ।२।२३ जा गृ १।३ हि गृ १।३।१ आग्नि गृ २।७।२।

भूमि! पृथ्वी अग्नि ऋचा के द्वारा इस कामना को अपने आपमें स्थापित करता हूँ॥ अन्तरिक्ष! वायु अन्तरिक्ष साम के द्वारा॥ आकाश! आकाश आदित्य यजु के द्वारा॥ उत्पादक जल अथर्वाङ्गिरासों के द्वारा॥ दीप्तिमान् पुराने न होने वाले देवताओं के जन्मरूप अग्नि का यह आहुति समर्पित है॥ केतु (सब मानवों के चिह्न) मनु देवताओं के जन्मरूप ब्रह्म को॥ स्वधा यह आहुति समर्पित है॥ कव्य वाहन अग्नि को स्वधा यह आहुति समर्पित है॥

प्रथम चार मन्त्र परस्पर समान हैं और एक ही मन्त्र के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। पञ्चम और षष्ठ मन्त्रों मे भी यही विशेषता है। गो गृ और खा गृ के अनुसार अन्वष्टक्यकर्म के अन्त मे हविर्भागों की आहुतियों के साथ अन्तिम मन्त्र तथा एक अन्य मन्त्र (स्वाहा सोमाय पितृमते) का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] इस अन्तिम मन्त्र का विनियोग हि गृ २।१५।१ और भा गृ २।१७ द्वारा अष्टकाकर्म के अन्त मे स्विष्टकृत् आहुति के लिये भी किया गया है। तदनुसार कव्यवाहनाय शब्द के आगे स्विष्टकृते भी जोड़ा जाना चाहिये। कुछ गृह्यसूत्रों म श्राद्धकर्म मे भी इसका विनियोग किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। (दे म स ८६)। स्वाहा सोमाय पितृमते मन्त्र का विनियोग भी कुछेक गृह्यसूत्रों द्वारा श्राद्ध मे किया गया है।[2]

मा गृ (२।८।७ ८) मे प्रत्येक अष्टका क अन्त मे स्विष्टकृत् आहुति के साथ इडामग्ने पुरुदंसं इत्यादि मन्त्र के उच्चारण का विधान है। वा श्रौ (५।१।६।६) मे इसका विनियोग मा गृ के विनियोग के समानान्तर है क्योंकि वहाँ पशुयाग मे स्विष्टकृत् आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप मे इसका उल्लेख हुआ है। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय म किया जा चुका है। (दे म स २४१)

श्राद्धकर्म

गो गृ ४।२।३३ और खा गृ ३।५।१६ मे विधान है कि निमन्त्रित ब्राह्मणों को साधारण जल प्रदान कर यजमान को उन्हे तिलोदक प्रदान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

असावेतत्त तिलोदकं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा ॥[११०१]

हे अमुक यह तिलोदक आपके लिये है तथा यहाँ जो आपके अनु

---

१ गो गृ ४।३।२६ (म ब्रा २।३।१ २) खा गृ ३।५।१२।
२ हि गृ २।१०।७ जै गृ २।१ मा गृ २।६।१३।

मन्त्रानुक्रमणिका

(मन्त्रो के आगे पुस्तक मे विवेचित मन्त्रो की क्रम-सख्या है। विवेचन स्थल पर क्रम सख्या मन्त्र के अन्त मे बडे कोष्ठक [ ] म दी है।)

अ

गामी हैं, और जिनके आप अनुगामी हैं (उनके लिये है), उस प्रकार के आपको स्वधा।

असौ के स्थान पर उसे अपने पिता का नमोच्चारण करना चाहिये। यह मन्त्र गृह्यपरम्परा से ही आया प्रतीत होता है।

गो०गृ० (४।२।२६) मे विधान है कि जब वह आहुतियाँ अर्पित करने लगे तो उमे निम्नलिखित वाक्य द्वारा ब्राह्मणों को सम्बोधित करना चाहिये —

अग्नौ करिष्यामि ॥[११०२]

अग्नि मे (अर्पित) करूगा।

मा०श्रौ० (११।६।१।६) मे भी दोनो शब्दो के मध्य करणम् सहित इस वाक्य का विनियोग श्राद्धकल्प म आहुतियाँ अर्पित करने क हेतु ब्राह्मणो की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिये किया गया है।

इस प्रसङ्ग म यह ध्यान देने योग्य है कि अष्टका क अनेक मन्त्र श्राद्धमन्त्रो के बहुत समान ह। इसीलिय का०गृ० (६६।१-२) मे कहा गया है कि अष्टका के द्वारा ही श्राद्ध के नियमो की व्याख्या हो जाती है। अष्टका म विनियुक्त मन्त्रों का ही एकवचन म यहा ऊह किया जाना चाहिय।[1] इस मन्त्रसाम्य का कारण प्रकटरूप म यह है कि दोनो म पूर्णतया अथवा आंशिकरूप स पितर ही उपासना के विषय हैं।

का० गृ० (६५।६,७) मे कपुओ (नालियो) मे दूध भरकर उसे पितरो को अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है —

ये चात्र रसा स्युरेतद् भवद्भ्य । तृप्यन्तु भवन्त ॥ [११०३]

जो भी रस यहाँ हो, वह आपको (अर्पित है), आप तृप्त हो जाये।

स्त्रियों को अर्पण करते समय भवद्भ्य और भवन्त के स्थान पर क्रमश भवतीभ्य और भवत्य प्रयोग किया जाना चाहिये। यह मन्त्र भी गृह्यपरम्परागत ही प्रतीत होता है।

---

१ अथ प्रथमश्राद्धस्याष्टकया धर्मो व्याख्यात । एकवन्मन्त्रानूहेत् ॥

भूमि ! पृथ्वी अग्नि ऋचा के द्वारा इस कामना को अपने आपमें स्थापित करता हूँ ॥ अन्तरिक्ष ! वायु, अन्तरिक्ष साम के द्वारा ॥ आकाश ! आकाश आदित्य यजु के द्वारा ॥ उत्पादक जल अथर्वाङ्गिराओ के द्वारा ॥ दीप्तिमान् पुराने न होने वाले देवताओ के जन्मरूप अग्नि का यह आहुति समर्पित है ॥ केतु (सब मानवो के चिह्न), मनु, देवताओं के जन्मरूप ब्रह्म को ॥ स्वधा यह आहुति समर्पित है ॥ कव्यवाहन अग्नि को स्वधा यह आहुति समर्पित है ॥

प्रथम चार मन्त्र परस्पर समान हैं और एक ही मन्त्र के रूपान्तर प्रतीत होते है। पञ्चम और षष्ठ मन्त्रो मे भी यही विशेषता है। गो गृ और खा गृ के अनुसार अन्वष्टक्यकर्म के अन्त मे हविर्भागो की आहुतियो के साथ अन्तिम मन्त्र तथा एक अन्य मन्त्र (स्वाहा सोमाय पितृमते) का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] इस अन्तिम मन्त्र का विनियोग हि गृ २।१५।१ और भा गृ २।१७ द्वारा अष्टकाकर्म के अन्त मे स्विष्टकृत् आहुति के लिये भी किया गया है। तदनुसार कव्यवाहनाय शब्द के आगे स्विष्टकृते भी जोडा जाना चाहिये। कुछ गृह्यसूत्रो मे श्राद्धकर्म मे भी इसका विनियोग किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। (दे म स ८ ६)। स्वाहा सोमाय पितृमते मन्त्र का विनियोग भी कुछेक गृह्यसूत्रो द्वारा श्राद्ध मे किया गया है।

मा गृ (२।८।७ ८) मे प्रत्येक अष्टका के अन्त मे स्विष्टकृत् आहुति के साथ इहमन्ते पुत्रवसु इत्यादि मन्त्र के उच्चारण का विधान है। शा श्रौ० (५।१६।६) मे इसका विनियोग मा गृ के विनियोग के समानान्तर है क्योकि वहाँ पशुयाग मे स्विष्टकृत् आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप मे इसका उल्लेख हुआ है। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय मे किया जा चुका है। (दे म स २४३)

अन्वष्टक्य

गो गृ ४।२।३३ और खा गृ ३।५।१६ मे विधान है कि निमन्त्रित ब्राह्मणो को साधारण जल प्रदान कर यजमान को उन्हे तिलोदक प्रदान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये —

असावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा ॥ [११०१]

हे अमुक यह तिलोदक आपके लिये है तथा यहाँ जो आपके अनु

---

१ गो गृ ४।३।३६ (अ का २।३।१ २) खा गृ ३।५।१२।
२ हि०गृ २।१०।७ आ गृ २।१ मा गृ २।६।१३।

मन्त्रानुक्रमणिका

(मन्त्रो के आगे पुस्तक मे विवेचित मन्त्रो की क्रम-संख्या है। विवेचन स्थल पर क्रम संख्या मन्त्र के अन्त मे बड़े कोष्ठक [ ] म दी है।)

म

वैरो, आर एच दी रोमन्ज ।
ब्लॉख, टीएच उबर दास गृह्यउन्द धमसूत्र देर वेगाशाम, लीप्जिग, १८९६ ।
ब्लूमफील्ड, मोरिस दी अथर्ववेद एंड दी गोपथब्राह्मण, स्ट्रासबर्ग १८९९ ।
,, दी रिलिजन ऑफ दी वेद, न्यूयार्क, १९०८ ।
,, ऋग्वेद रेपिटिशन्स हार्वर्ड ओ सिरीज, ग्र० २०-२४ ।
,, ए वैदिक कॉन्कार्डेन्स, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ।
,, एड्गटन, एफ और एमेनाऊ एम बी वैदिक वेरिएंट्स ।
भगवद्दत्त वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग, लाहौर, १९३५ ।
मजुमदार, आर सी वैदिक एज, लन्दन, १९५१ ।
मैक्डोनल, ए ए ए हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९०० ।
,, वैदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रासबर्ग, १८९७ ।
,, वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स लन्दन, १९५३ ।
,, और कीथ, ए बी वैदिक इंडेक्स, दो खंड, लन्दन, १९
मैक्सम्युलर हिस्टरी ऑफ एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर, इलाहाबाद, १९२६ ।
युधिष्ठिर मीमांसक वैदिकछन्दोमीमांसा, अमृतसर, १९५९ ।
रघुनन्दन शर्मा वैदिक सम्पत्ति, बम्बई, वि०सं० २०१६ ।
राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कारज वाराणसी, १९४९ ।
राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली दी हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ लन्दन, १९२७ ।
राम गोपाल इंडिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्रज, दिल्ली, १९५९ ।
राम गोपाल वैदिक व्याकरण, दिल्ली, १९६७,६९ ।
लक्ष्मीधर आर्यन सेक्रामेंट्स्, दिल्ली, १९३८ ।
लेले, वी सी सम आथर्वणिक पोर्शन्स् इन दी गृह्यसूत्रज, बॉन, १९२७ ।
विन्तरनित्स, एम ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, ख १, कलकत्ता, १९२७ ।
विन्तरनित्स, एम दास आल्तिन्दिशें हॉख्त्जाइतरित्युअल—नख देम आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र उन्त आइनिगॅन आदेरॅन फेरवान्देतॅन वेर्कॅन, विॲन्ना, १८९२ ।
विलियम्स, मोनियर हिन्दुइज्म ।
विश्वबन्धु वैदिकपदानुक्रमकोश, होशियारपुर ।
वेबर, ए इंडिशॅ स्टूडियन, ख० १-१५ ।
वेस्टरमार्क, ई० हिस्टरी ऑफ ह्यूमन मैरिज, ख० १-३, लन्दन, १९२१
वैद्य, सी० वी० हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर (वैदिक), पूना, १९३० ।
वोगल, जे० पी०एच० इंडियन सर्पेंट लोर, लन्दन, १९२६ ।

सहायक-ग्रन्थ

अरविन्द वेदरहस्य प्रथम खण्ड पाण्डीचेरी १९४८।

अल्तेकर ए एस एजुकेशन इन एन्शेंट इण्डिया वाराणसी १९४८।

दी पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन वाराणसी १९३८।

आप्टे वी एम नॉन ऋग्वैदिक मन्त्रज एम्बिकेटड इन दी आश्वलायन गृह्यसूत्र सोर्सेज एण्ड इंटरप्रिटेशन न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी ख० ३ अंक २७ में से पुनर्मुद्रित।

ऋग्वैदिक मन्त्रज इन देयर रिचुअल सटिंग इन दी गृह्यसूत्रज (विद स्पेशल रेफरेंस टू दी आ गृ) बुलेटिन ऑफ दी डेकन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीच्यूट के ख १ पृ १४ ४४ १२७ १५२ में से पुनर्मुद्रित।

सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन दी गृह्यसूत्रज बम्बई १९५४।

आयंगर पी टी एस—लाइफ इन एन्शेंट इण्डिया मद्रास १९१२।

ओल्डनबर्ग हरमन सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट ख २९ ३० ऑक्सफोर्ड १८९२।

दी रिलिजन डस वेद बर्लिन १८९४।

कीथ ए बी—दी रिलिजन एण्ड फिलॉसोफी ऑफ दी वेद एण्ड दी उपनिषद्स् कम्ब्रिज मसाचुसेट्स १९२५।

कलॅण्ड विलेम आल्तिन्दिशेस आह्नेनकुल्ट लेडन १८९३।

दी आल्तिन्दिशेन् तोदतेन उन्द बेस्तातुन्ग्सगेब्राउख आम्स्टर्डम १८९६।

उबर दास रिचुअलसूत्र देस बोधायन लीप्जिग १९ १।

गङ्गानाथ झा पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज वाराणसी १९४२।

दुबोई, ए जे ए हिन्दू मैनर्स कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज ऑक्सफोर्ड १९०६।

त्रिपाठी जी एम मैरिज फॉर्म्स अण्डर एन्शेंट हिन्दू लॉ बम्बई १९ ९।

दयानन्द सरस्वती संस्कारविधि वाराणसी वि सं २०२१।

दास ए सी ऋग्वैदिक कल्चर कलकत्ता १९२५।

दास एस के दी एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दी एन्शेंट हिन्दूज् कलकत्ता १९३ ।

देशपाण्डे कमलाबाई दी चाइल्ड इन एन्शेंट इण्डिया पूना १९३६।

पिल्ले पी के नारायण नॉन ऋग्वैदिक मन्त्रज इन दी मैरिज सेरेमनीज् त्रिवेन्द्रम, १९५८।

पिशल आर और गेल्डनर वेदिशे स्टूडियेन स्टुट्गार्ट १८८९ १९ १।

प्रियरत्न आर्ष यमपितृपरिचय दिल्ली वि स १९९ ।

फ म् ई आप्टू दी ऋग्वेद मन्त्रज इन दी गृह्यसूत्रज रोयनोक १८९९।

बनर्जी, जी दी हिन्दू लॉ ऑफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, कलकत्ता १९२३।

शास्त्री ए चिन्नस्वामी यज्ञतत्त्वप्रकाश मद्रास १९५३।
श्राम आर दास आल्तिदिशे तौफर् ऑफर मैरलागॅन १८८६।
हॉग मार्टिन ऐतरेय ब्राह्मण (अंग्रेजी अनुवाद) इलाहाबाद १९२२।
हिल्लब्राट ए रिचुअल लितरातुर वेदिशे ऑफर उन्त् त्सॉबर, स्ट्रास्बग १८९७
दास आल्तिदिश नोय् उन्द् फौल्मान्दस् ऑफर येना १८७९।
इण्डियन एण्टिक्वेरी।
इण्डियन कल्चर कलकत्ता।
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली कलकत्ता।
एनाल्स ऑफ दी भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना।
एनाल्स ऑफ दी वेंकटेश्वर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट तिरुपति।
जर्नल ऑफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी।
जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल कलकत्ता।
जर्नल ऑफ ओरिएण्टल रिसर्च मद्रास।
जर्नल ऑफ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी।
जर्नल ऑफ दी बाम्बे ब्रांच ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई।
जर्नल ऑफ दी बॉम्बे हिस्टोरिकल सोसाइटी बम्बई।
जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड लन्दन।
जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज लाहौर।
न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी।
पूना ओरिएण्टलिस्ट पूना।
प्रोसीडिंग्ज ऑफ दी ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फरेंसज।
विश्वेश्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल होशियारपुर।

सहायक-ग्रन्थ

अरविन्द　वेदरहस्य प्रथम खण्ड पाण्डीचेरी १९४८।
अल्तेकर ए एस　एजुकेशन इन एन्शॅट इण्डिया वाराणसी १९४८।
दी पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन वाराणसी १९३८।
आप्टे वी एम　नॉन ऋग्वैदिक मन्त्रज रुब्रिकेटेड इन दी आश्वलायन गृह्यसूत्र सोसज एण्ड इंटरप्रिटेशन न्यू इण्डियन एंटिक्वेरी ख० ३ अंक २७ मे से पुनर्मुद्रित।
ऋग्वैदिक मन्त्रज इन देयर रिचुयल सटिंग इन दी गृह्यसूत्रज (विद स्पेशल रेफरेंस टू दी आ गृ) बुलेटिन ऑफ दी डेकन कॉलेज रिसर्च इंस्टीच्यूट के ख १ पृ १४ ४४ १२७ १५२ मे से पुनर्मुद्रित।
सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन दी गृह्यसूत्रज बम्बई १९५४।
आयंगर पी टी एस—लाइफ इन एन्शॅट इण्डिया मद्रास १९१२।
ओल्डनबर्ग हर्मन　सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट ख २९ ३　ऑक्सफोर्ड १८९२।
दी रिलिजन डेस वेद बर्लिन १८९४।
कीथ ए बी—दी रिलिजन एण्ड फिलॉसॉफी ऑफ दी वेद एण्ड दी उपनिषद्स् कम्ब्रिज मसाचुसेट्स १९२५।
कलॅण्ड विलेम　आल्तिण्डिशेस आह्नेनकुल्ट लेडन १८९३।
दी आल्तिण्डिशेन् तॉद्तेन उन्ट् बेस्तात्तुग्स्गेब्राउख　आम्सटर्डम १८९६।
उबर दास रिचुअॅल्ले सूत्र देस बौधायन लीप्जिग १९ १।
गङ्गानाथ झा　पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज वाराणसी १९४२।
दुबोई, ए जे ए　हिन्दू मनर्ज कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज ऑक्सफोर्ड १९०६।
त्रिपाठी जी एम　मैरिज फॉर्म्स अण्डर एन्शॅट हिन्दू लॉ　बम्बई १९ ६।
दयानन्द सरस्वती　संस्कारविधि वाराणसी वि सं २०२१।
दास ए सी　ऋग्वैदिक कल्चर कलकत्ता १९२५।
दास एस के　दी एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दी एन्शॅट हिन्दूज कलकत्ता १९३ ।
देशपांडे कमलाबाई　दी चाइल्ड इन एन्शॅट इण्डिया पूना १९३६।
पिल्ले पी के नारायण　नॉन ऋग्वैदिक मन्त्रज इन दी मैरिज सेरेमनीज त्रिवेन्द्रम्, १९५८।
पिण्शल आर और गेल्डनर　वेदिशे स्टूडिएॅन स्टुट्गार्ट १८८९ १९ १।
प्रियरत्न आर्ष　यमपितृपरिचय दिल्ली वि स १९९ ।
फ म् ई डब्लू　ऋग्वेद मन्त्रज इन दी गृह्यसूत्रज रोमनोफ १८९९।
बनर्जी, जी　दी हिन्दू लॉ ऑफ मैरिज एंड स्त्रीधन, कलकत्ता १९२३।

वैरो, आर एच   दी रोमन्ज ।

ब्लॉख, टीएच   उबर दास गृह्यउन्द् धममूत्र देर वैगाम, लीप्जिग, १८९६ ।

ब्लूमफील्ड, मॉरिस   दी अथर्ववेद एंड दी गोपथब्राह्मण, स्ट्रासबर्ग १८९९ ।

,,   दी रिलिजन ऑफ दी वेद, न्यूयॉर्क, १९०८ ।

,,   ऋग्वेद रेपिटिशंस हार्वर्ड ओ सिरीज, न० २०-२४ ।

,,   ए वैदिक कॉन्कॉर्डेंस, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ।

,,   एड्गर्टन, एफ और एमेनाऊ एम बी   वैदिक वेरिएंट्स ।

भगवद्दत्त   वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग, लाहौर, १९३५ ।

मजुमदार, आर सी   वैदिक एज, लन्दन, १९५१ ।

मैक्डोनल, ए ए   ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९०० ।

,,   वैदिक माइथोलॉजी, स्ट्रासबर्ग, १८९७ ।

,,   वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स लन्दन, १९५३ ।

,,   और कीथ, ए बी   वैदिक इंडेक्स, दो खंड, लन्दन, १९१

मैक्समूलर   हिस्टरी ऑफ एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर, इलाहाबाद, १९२६ ।

युधिष्ठिर मीमांसक   वैदिकछन्दोमीमांसा, अमृतसर, १९५९ ।

रघुनन्दन शर्मा   वैदिक सम्पत्ति, बम्बई, वि०सं० २०१६ ।

राजबली पाण्डेय   हिन्दू संस्कारज वाराणसी, १९४९ ।

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली   दी हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ लन्दन, १९२७ ।

राम गोपाल   इंडिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्रज, दिल्ली, १९५९ ।

राम गोपाल   वैदिक व्याकरण, दिल्ली, १९६७,६९ ।

लक्ष्मीधर   आयन सेक्रामेंट्स्, दिल्ली, १९३८ ।

लेले, वी सी   सम आथर्वनिक पोर्शन्स् इन दी गृह्यसूत्रज, बॉन, १९२७ ।

विन्तरनित्स, एम   ए हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर, खं १, कलकत्ता, १९२७ ।

विन्तरनित्स, एम   दास आल्तिन्दिशें हॉख्त्जाइतरिचुअल—नख देम आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र उन्द् आइनिगॅन आदेरॅन फेरवान्दतॅन वॅर्कॅन, विअॅन्ना, १८९२ ।

विलियम्स, मोनियर   हिन्दुइज्म ।

विश्वबन्धु   वैदिकपदानुक्रमकोश, होशियारपुर ।

वेबर, ए   इंडिशॅ स्टूडियन, खं० १-१५ ।

वेस्टरमार्क, ई०   हिस्टरी ऑफ ह्यूमन मैरिज, ख० १-३, लन्दन, १९२१

वैद्य, सी० वी०   हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर (वैदिक), पूना, १९३० ।

वोगल, जे० पी०एच०   इंडियन सर्पेंट लोर, लन्दन, १९२६ ।

शास्त्री ए चिन्नस्वामी यज्ञतत्त्वप्रकाश मद्रास १९५३।
श्वाब भार दास प्राल्तिदिशें तीअर् प्रॉप्फर मैंरलागॅन १८८६।
हॉग मार्टिन ऐतरेय ब्राह्मण (अंग्रेजी अनुवाद) इलाहाबाद १९२२।
हिल्लब्राट ए रितुअल लितरातुर वेदिशें प्रॉप्फर उन्द् त्सॉबर, स्ट्रास्बग १८९७
दास प्राल्तिदिश नॉय् उ द् फौल्मा दस् प्रॉप्फर येना १८७९।
इंडियन एंटिक्वेरी।
इंडियन कल्चर कलकत्ता।
इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली कलकत्ता।
एनाल्स ऑफ दी भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना।
एनाल्स ऑफ दी वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट तिरुपति।
जर्नल ऑफ दी अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी।
जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल कलकत्ता।
जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च मद्रास।
जर्नल ऑफ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी।
जर्नल ऑफ दी बाम्बे ब्रांच ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई।
जर्नल ऑफ दी बॉम्बे हिस्टोरिकल सोसाइटी बम्बई।
जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड लन्दन।
जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज लाहौर।
न्यू इंडियन एंटिक्वेरी।
पूना ओरिएंटलिस्ट पूना।
प्रोसीडिंग्ज ऑफ दी ऑल इंडिया ओरिएंटल कॉन्फरेंसज।
विश्वेश्वरानन्द इंडोलॉजिकल जर्नल होशियारपुर।